Indian Economic Policy

DECO502

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

भारतीय आर्थिक नीति

INDIAN ECONOMICS POLICY

Copyright © 2012
All rights reserved with publishers

Produced & Printed by
USI PUBLICATIONS
2/31, Nehru Enclave, Kalkaji Extn.,
New Delhi-110019
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम (SYLLABUS)

भारतीय आर्थिक नीति

(Indian Economics Policy)

उद्देश्य: इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य विद्यार्थियों को भारतीय आर्थिक नीति, उसका का वर्तमान एवं भविष्य तथा भारतीय परिप्रेक्ष्य में व्यापारिक वातावरण को भारतीय आर्थिक नीति किस प्रकार प्रभावित करती है, की जानकारी प्रदान करना है।।

Objectives:

Objective of this course is to acquaint students of the Indian Economy, present and future of Indian Economics, and how the Indian Economy is influencing the business environment in India context.

Sr. No.	Content
1	Characteristics of Indian Economy on the eve of independence, **Development Strategies in India:** Planning in India: Objectives Strategies and Evaluation, 11th five year plan.
2	Trend and Structure of National Income since 1951, Economic Reforms in India since 1991, Critique of Indian Economic Policies-Pre and Post Reforms
3	Demographic Features and Indicators of Development, Poverty: Concept, Causes and Government policies, **Unemployment in India:** Concept, Causes and Government policies, Inflation: Nature and extent
4	**Sectoral performance I:Agriculture:** Growth, Productivity Trends and Crop Patterns, Green Revolution, Recent Issues in Indian Agriculture
5	**Growth ,Trends and patterns in Agriculture:** Rural Credit & Marketing, WTO & Agriculture
6	Industrial Sector in Pre-reform Period, Industrial Sector in Post-reform Period, Issues and Problems of Public Sector
7	**Sectoral performance II:** Role of Infrastructure in economic development, Indian Financial System: Money Market and Monetary Policy, Capital Market in India and Working of SEBI
8	**Sectoral performance III:** Foreign Trade and Balance of Payment, Role of Foreign Capital-FDI and Multinational Corporations
9	Fiscal Federalism in India, Government Finance : Union and States, 12th and 13th Finance Commissions
10	**Governance of the Economy:** Implementation of Economic Policies, Parallel Economy, Role of Bureaucracy and Delivery Mechanism in Implementation of

विषय-सूची

इकाई (Units)	(CONTENTS)	पृष्ठ संख्या (Page No.)
1.	स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ (Charactristics of Indian Economy on the Eve of Independence)	1
2.	भारत में योजना की रणनीति (Development Strategies in India)	12
3.	ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (11th Five year Plan)	37
4.	भारत में आर्थिक सुधार–1991 (Economic Reforms in India Since 1991)	52
5.	1951 के दौरान राष्ट्रीय आय का ढाँचा एवं संरचना (Trend and Structure of National Income Since 1951)	65
6.	आर्थिक विकास के सूचक एवं जनांकिकीय विशेषताएँ (Demographic Features and Indicators of Development)	78
7.	गरीबी : अवधारणा, कारण एवं सरकार की आर्थिक नीतियाँ (Poverty : Concept, Causes and Government policies)	93
8.	भारत में बेरोजगारी : अवधारणाएँ, कारण एवं सरकार की नीतियाँ (Unemployment in India : Concept, Causes and Government Policies)	105
9.	मुद्रास्फीति : प्रकृति एवं प्रसार (Inflation : Nature and Extent)	119
10.	भारतीय आर्थिक नीतियों की समीक्षा: सुधार के पहले और सुधार के बाद (Critique of Indian Economic Policies: Pre and Post Reforms)	137
11.	क्षेत्रीय प्रर्दशन: कृषि, वृद्धि, उत्पादिता, प्रवृत्तियाँ और फसल प्रतिरूप (Sectoral Performance: Agriculture, Growth, Productivity Trends and Crop Patterns)	151
12.	हरित क्रान्ति (Green Revolution)	163
13.	भारतीय कृषि में तत्कालीन मुद्दे (Recent Issues in Indian Agriculture)	179
14.	कृषि वित्त एवं विपणन (Rural Credit and Marketing)	191
15.	विश्व व्यापार संगठन और कृषि (WTO and Agriculture)	205
16.	पूर्व सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Pre-Reform Period)	212

17.	उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Post-Reform Period)	219
18.	सार्वजनिक क्षेत्र की समस्यायें एवं मुद्दे (Issues and Problems of Public Sector)	236
19.	भारतीय अर्थव्यवस्था में आधार संरचना (Infrastructure in the Indian Economy)	246
20.	भारतीय वित्तीय प्रणाली : मुद्रा बाजार एवं मौद्रिक नीति (Indian Financial System : Money Market and Monetary Policy)	276
21.	भारत में पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि (Capital Market in India and Working of SEBI)	288
22.	क्षेत्रीय प्रदर्शन III: विदेशी व्यापार एवं भुगतान संतुलन (Sectoral Performance III—Foreign Trade and Balance of Payment)	302
23.	विदेशी पूँजी की भूमिका : एफ.डी.आई. और बहुराष्ट्रीय निगम (Role of Foreign Capital: FDI and Multinational Corporation)	321
24.	भारत में संघीय वित्त व्यवस्था (Fiscal Federalism in India)	338
25.	सरकारी वित्त—संघ और राज्य (Government Finance : Union and States)	349
26.	बारहवां एवं तेरहवां वित्त आयोग (12^{th} and 13^{th} Finance Commissions)	365
27.	अर्थव्यवस्था का शासन : आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन (Governance of the Economy: Implementation of Economic Policies)	378
28.	समानान्तर अर्थव्यवस्था (Parallel Economy)	392
29.	आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में हस्तान्तरण प्रक्रिया और नौकरशाही की भूमिका (Role of Bureaucracy and Delivery Mechanism in Implementation of Economic Policies)	403
30.	आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन : पंचायत और दबाव समूह की भूमिका (Implementation of Economic Policies : Role of Panchayat and Pressure Groups)	415

नोट

इकाई–1: स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Indian Economy on the Eve of Independence)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 बाजार अर्थव्यवस्था (Market Economy)

1.2 भारतीय पूँजीवादी वर्ग का विकास (Development of Indian Capitalist Class)

1.3 स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था का स्तर (Status of Indian Economy on the Eve of Independence)

1.4 सारांश (Summary)

1.5 शब्दकोश (Keywords)

1.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- बाजार अर्थव्यवस्था को समझने में।
- भारतीय पूँजीवादी वर्ग का विकास किस प्रकार हुआ को, जानने में।
- स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था का स्तर क्या था इसकी व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

ब्रिटिश शासन की शुरूआत भारत में 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1757 से 1858 तक शासन किया। 1858 के बाद, अधिकारों का हस्तांतरण ब्रिटिश सम्राट को हो गया, ब्रिटिश सरकार ने 1947 तक शासन चलाया। यह वह वर्ष था जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस विदेशी शासन को हटा फेंकने में सफल हुई।

1.1 बाजार अर्थव्यवस्था (Market Economy)

एक अर्थव्यवस्था जिसमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तत्व पाए जाते हों बाजार अर्थव्यवस्था के रूप में जानी जा सकती है।

(*i*) वस्तुओं का उत्पादन विनिमय के लिए किया जाता है, आत्म-उपयोग या स्व-उपभोग के लिए नहीं।

नोट

(*ii*) उत्पादन की सेवाओं और कारकों का भी क्रय विक्रय किया जाता हो।

(*iii*) प्रत्येक उत्पादन क्रिया के पीछे लाभ की प्रेरणा होनी चाहिए।

(*iv*) वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का निर्धारण उनकी माँग और पूर्ति के द्वारा किया जाता है।

(*v*) जहाँ क्रेता और विक्रेता, कर्मचारी तथा निवेशकर्ता में प्रतियोगिता पाई जाती हो।

(*vi*) जहाँ वस्तुओं, सेवाओं और कारकों को विभिन्न क्रियाओं और क्षेत्रों में नि:शुल्क गति प्रदान की जाती हो।

भारत में ब्रिटिश शासन के बाद, राजनैतिक एकीकरण, एकीकृत करेंसी, केंद्रीकृत प्रशासनिक पद्धति और एकीकृत राष्ट्रीय बाजार का उत्थान हुआ। कृषि का वाणिज्यीकरण, ग्रामीण ऋणग्रस्तता, परिवहन के साधनों का विकास, संचार और आधुनिक बैंकिंग पद्धति भी पाई जाती थी। कृषकों को भू-राजस्व का भुगतान, लगान और ब्याज आदि के भुगतान के लिए पूँजी की आवश्यकता थी। ये कारक बाजार अर्थव्यवस्था की ओर हमारी गतिशीलता को बताते हैं।

नोट्स बाजार अर्थव्यवस्था से तात्पर्य पूँजी अर्थव्यवस्था से हो सकता है, जहाँ वस्तुओं, सेवाओं और साधनों का पूँजी के रूप में नि:शुल्क मूल्यांकन तथा लाभ की प्रेरणा के साथ प्रतियोगात्मक कीमतों पर विनिमयकरण किया जाता है।

1.2.1 बाजार अर्थव्यवस्था के उदय के लिए उत्तरदायी कारक

1. **मौद्रिक अर्थव्यवस्था का फैलाव** (Spread of Money Economy)–बारंटर पद्धति यानि वस्तुओं के लिए वस्तुओं का विनिमय अब अपनी जगह खो रहा था तथा मुद्रा लेन-देन की अर्थव्यवस्था में प्रधानता थी। अब, मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा खातों की इकाई थी। लेन-देन का मूल्यांकन सामान्यत: मुद्रा के रूप में किया जाता था जिसने मूल्यों हेतु संग्रह की तरह भी कार्य किया। ऋण (Loans) मुद्रा के रूप में दिए जाते थे और जिनका पुनर्भुगतान भी ब्याज के साथ मुद्रा रूप में किया जाता था। मजदूरी, वेतनों, किरायों, ब्याजों, सेवाओं, विभिन्न वस्तुओं और यंत्रों का भुगतान निरंतर रूप से मुद्रा में किया जाता था। मुद्रा का बढ़ता हुआ प्रयोग, मुद्रा अर्थव्यवस्था के विस्तार का एक संकेत था।

2. **प्रतियोगिता द्वारा संस्कृतियों और परंपराओं का पुनर्विस्थापन** (Replacement of Customs and Traditions by Competition)– हमारी पारंपरिक अर्थव्यवस्था की संस्कृति तथा परंपरा ने लेन-देन की शर्तों, सेवाओं के भुगतान तथा ब्याज की दर आदि के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत, प्रतियोगिता तथा समझौतों ने संस्कृति तथा परंपराओं की जगह ले ली। यह प्रतियोगिता थी जिसने माँग और पूर्ति की शक्ति, द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों का अंतसंबंध तथा निर्धारण किया। शहरी क्षेत्रों में यह परिवर्तन अधिक देखा गया।

3. **कृषि का वाणिज्यीकरण** (Commercialisation of Agriculture)–ब्रिटिशों ने पूँजी फसलों की कृषि को प्रोत्साहन देने की नीति का अनुसरण किया जैसे, सूत, जूट, नील, कागज, गन्ना, तंबाकू, तेल के बीज आदि। पूँजी फसलों की खेती का प्रमुख उद्देश्य विक्रय के लिए इसकी अधिक उपज करना था। इस उद्देश्य ने इस फसल के विक्रय को व्यापारियों, निर्यात एजेंटों तथा अन्य व्यापारिक कार्यवाहियों के लिए बढ़ाया। पारंपरिक ग्रामीण समूह (जो स्व-उपभोग के लिए खाद्य तथा कच्चे माल का अधिक उत्पादन करते थे।) के विरुद्ध, वाणिज्यिक कृषि का आधार बाजार के लिए उत्पादन करना था। यहाँ तक कि खाद्य पदार्थों को भी बाजार में विक्रय के लिए भेजा जाता था।

   वाणिज्यिक कृषि में विकास चाय, कॉफी और रबड़ प्लांटेशन में पाया जाता है, जहाँ अधिकांशत: शत-प्रतिशत उत्पादन बाजार के लिए किया जाता था।

नोट

उपभोक्ता वस्तु उद्योगों का विकास जैसे सूत, जूट, कपड़ा, कागज, माचिस, चीनी आदि ने भी वाणिज्यिकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। अत: घर पर फैक्ट्री उत्पादन की आवश्यकाताओं और प्राथमिक उत्पादों के निर्यातों के लिए ब्रिटिश सरकार के बढ़ावे के फलस्वरूप बाजार का विस्तार हुआ। इसने व्यापारिक लेन–देन में पूँजी के प्रयोग को भी बढ़ाया।

4. **एकीकृत राष्ट्रीय बाजार का उदय** (Emergence of Unified National Market)–ब्रिटिश काल के दौरान भारत ना केवल राजनैतिक रूप से बल्कि आर्थिक रूप से भी विखंडित था। वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर नि:शुल्क रूप से गतिमान नहीं होती थीं। नवाबों तथा महाराजाओं द्वारा बाधाएँ लगाई जाती थी। समान वस्तु या एक ही प्रकार की वस्तु के लिए अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग कीमत लगाई जाती थी। आत्म सक्षम ग्रामीण अर्थव्यवस्था भी राष्ट्रीय बाजार के निर्माण के लिए एक बाधा थी। वहाँ स्थानीय बाजार भी थे। कहीं–कहीं वस्तुएँ बहुतायत में थीं तथा कहीं उनकी कमी थी।

   ब्रिटिश शासन के अंतर्गत परिस्थितियाँ बदलने लगीं। ग्रामों की आत्म सक्षमता का खात्मा किया जाने लगा। स्थानीय बाजारों को बड़े राष्ट्रीय बाजारों में मिलाया जाने लगा। राष्ट्रीय बाजारों का निर्माण हमें बाजार अर्थव्यवस्था की ओर ले गया।

5. **देश का राजनैतिक एकीकरण** (Political Unification of the Country)–ब्रिटिश विजय के पहले भारत छोटे–छोटे राज्यों में विखंडित था। ये राज्य स्थानीय राजाओं, नवाबों और महाराजाओं के द्वारा शासित किए जाते थे। एक के बाद एक, इन शासकों ने आत्म समर्पण कर दिया और ब्रिटिश विजय ने संपूर्ण भारत को एक केंद्रीय शक्ति के अंतर्गत ला दिया। कुछ शासक जो स्वतंत्र बने रहे उन्होंने ब्रिटिश सर्वोच्चता को स्वीकारा। अत:, देश की तीन चौथाई के करीब जनसंख्या ब्रिटिशों के प्रत्यक्ष प्रशासन के अंतर्गत थी। ये जनसंख्या **'ब्रिटिश भारत'** (British India) के नाम से तथा एक चौथाई जनसंख्या जो स्थानीय शासकों के अधीन थी वो **'राज्यिक भारत'** (States India) के नाम से जानी जाती थी। यहाँ तक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है कि इन समस्त भारतीय नवाबों, महाराजाओं और राजाओं ने ब्रिटिशों की सर्वोच्चता की स्वीकारा था, जिससे वे एक निश्चित स्तर पर आंतरिक प्रशासन के मामले मं स्वतंत्र थे। यद्यपि, सुरक्षा और आदेशों के मामलों में ब्रिटिश शासक ही सर्वप्रमुख थे।

   इसके अलावा, एकीकृत प्रशासन की स्थापना ने स्थानीय शासकों के मध्य होने वाले निरंतर झगड़ों को समाप्त कर दिया। इस तरह ब्रिटिश शासन ने देश के भीतर बेहतर कानून और व्यवस्था बनाए रखने में सहायता की। एक स्थिर सरकार जिसने आंतरिक शांति और व्यवस्था को बनाए रखा तथा व्यापार और वाणिज्य के विस्तार के लिए अत्यंत अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान कीं।

6. **केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था** (Centralised Administrative System)–मुगल साम्राज्य के विखंडन के बाद, भारत बड़ी संख्या में छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था। यह ब्रिटिश प्रशासन था, जिसने केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की। ब्रिटिशों ने नए सिविल कोड तथा नई व्यवस्थाएँ व्यक्तिगत अधिकारों के लिए बनाए। ग्रामीण पंचायत ने अपना Quasi judiciary status खो दिया था। परिस्थितिवश, आर्थिक संबंधों के ढाँचे में परिवर्तन तथा बाजार अर्थव्यवस्था की वृद्धि में प्रोत्साहन मिला।

7. **एकीकृत करेंसी व्यवस्था** (Unified Currency System)–ब्रिटिश विजय के समय, भारत के पास अधिक संख्या में राज्य थे जो **नवाबों** और **महाराजाओं** के द्वारा शासित किए जाते थे तथा जिन्होंने अपने स्वयं के सिक्के बनवाए तथा लागू किए थे, जो उनके स्तर का प्रतीक था। यह अनुमान लगाया गया था कि **''अधिक से अधिक 994 विभिन्न भारों व आकृतियों के सोने व चाँदी के सिक्के प्रवाहित किए गए।''** इसने लोगों के दिलों में घबराहट पैदा की और सामान्य जनता व्यावसायिक पूँजी परिवर्तनकर्ता द्वारा ठगे जाते थे।

   ब्रिटिश राजनैतिक सर्वोच्चता के बाद 1806 में एक चाँदी का सिक्का एक **मानक सिक्के** (Standard Coin) के रूप में लागू किया और धीरे–धीरे समस्त करेंसियाँ गायब हो गई।

नोट

एकीकृत करेंसी का परिचय व्यापार की वृद्धि तथा बैंकिंग के लिए उत्तरदायी था और इस प्रकार इसने भारत में बाजार अर्थव्यवस्था की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया।

8. **भू-राजस्व का भार** (Burden of Land Revenue)–ब्रिटिश शासन के प्रारंभिक चरण में, भू-राजस्व करारोपण (Taxation) का मुख्य स्रोत था। अत: भू-राजस्व की तरह समग्र उत्पाद का एक उच्च अनुपात निश्चित कर लिया गया। सामान्यत: यह उत्पादन के एक तिहाई से लेकर आधे के बीच में बदलता रहता था।

   चूँकि, **भू-राजस्व का भुगतान नकद रूप में माँगा जाता था, इस परिस्थिति ने कृषकों व जमींदारों के लिए, भू-राजस्व की माँगों को पूरा करने के लिए अपने उत्पादों का विक्रय आवश्यक कर दिया।** ब्रिटिश सरकार भू-राजस्व को निकलवाने में अत्यंत सख्त थी, क्योंकि यह राज्य के राजस्व का मुख्य स्रोत था। परिस्थितिवश, कृषक अपने उत्पाद को बाजार में लाने के लिए मजबूर हो गए। यदि काश्तकार जमींदारों को लगान किसी अन्य रूप में देते थे तो जमींदार उससे प्राप्त उत्पादन के उस भाग को फौरन बेचकर राज्य के भू-राजस्व की अदायगी करता था। भू-राजस्व ने बाजार तथा कृषि वस्तुओं के क्रय विक्रय के लिए पूँजी के प्रयोग के विकास में एक मुख्य भूमिका निभाई।

9. **लगान का भार** (Burden of Rent)–लगान के भार ने भी किसानों को अपने उत्पाद बड़ी मात्रा में विक्रय करने के लिए बाध्य किया। जमींदार तथा उनके एजेंट भूमि के वास्तविक किसानों, जो किरायेदार या Tenant की तरह जाने जाते थे, से अधिक लगान वसूल करते थे। बढ़ती हुई जनसंख्या और काश्तकारों तथा हस्तशिल्पियों का अपने उद्योगों के पतन के फलस्वरूप भूमि की ओर झुकाव के कारण भूमि की माँग भिन्न रूप में बढ़ने लगी। भूमि के लिए बढ़ती हुई प्रतियेगिता के कारण लगान में बढ़ोतरी हुई। काश्तकार को अपने कृषि उत्पादों को बाजार में बेचना होता था और इसने बाजार अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन दिया।

10. **ग्रामीण ऋणग्रस्तता** (Rural Indebtedness)–कृषकों की पूँजी आवश्यकता विभिन्न कारकों के कारण बढ़ी जैसे–**पहला कारक,** कृषकों को पूँजी की आवश्यकता किराये की उच्च भू-राजस्व की माँग को पूरा करने के लिए होती है। **दूसरा कारक,** अकालों और सूखे आदि ने फसलां को नष्ट कर दिया जिससे किसानों को अपने परिवार के भरण पोषण के लिए पूँजी की आवश्यकता होती थी। **तीसरा कारक,** कृषकों के कृषि में प्रयोग होने वाले उसके पालतू पशुओं की मृत्यु भी उन्हें ऋण लेने के लिए बाध्य करती थी। **अंतिम कारक,** सामाजिक अनुष्ठानों जैसे–शादी, बच्चे का जन्म उत्सव, सगे संबंधी की मृत्यु आदि में व्यय की आवश्यकता होती थी।

    कृषि ऋणग्रस्तता से छुटकारा पाने के उद्देश्य से, कृषकों को अपनी उपज का एक प्रमुख भाग बाजार में विक्रय करना होता था, जिससे उन्हें पूँजी प्राप्त होती थी तथा वे ऋणों का किश्तों में भुगतान करते थे।

11. **परिवहन तथा संचार के साधनों का विकास** (Development of Means of Transportation and Communication)–उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से, वहाँ आंतरिक और बाह्य परिवहन और संचार पद्धति में तीव्र सुधार हुआ। इसने कई स्थानीय बाजारों का एकीकरण करके उन्हें एक राष्ट्रीय बाजर में मिलाया। इसने आंतरिक तथा बाह्य व्यापार की बड़ी मात्रा तथा किस्मों, कृषि का वाणिज्यीकरण, उच्च स्तर के औद्योगिक उद्यम के निर्माण तथा वाणिज्यिक और औद्योगिक शहरों की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया। इस बात में कोई संदेह नहीं कि इसने बाजार अर्थव्यवस्था के निर्माण की गति को बढ़ाया।

12. **आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था** (Modern Banking System)–भारत में बाजार अर्थव्यवस्था के प्रोत्साहन में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का विकास एक महत्वपूर्ण चिन्ह था। प्रेसीडेंसी बैंकों की स्थापना बंगाल (1840), बंबई (1840), मद्रास (1843) में शेयर मुद्रा में ईस्ट इंडिया कंपनी की भागीदारी के साथ की गई। 1921 में, तीन प्रेसीडेंसी बैंकों का ईम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया (Impirial Bank of India) के निर्माण के लिए एक में मिलाया गया। यह एक वाणिज्यिक बैंक था जो एक सरकारी बैंक की तरह भी कार्य करता था। 1935 में, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना की गई। RBI की स्थापना के समय तक भारत में

नोट

आधुनिक बैंकिंग के विकास की शुरूआत हो चुकी थी। इसने भारत में बाजार अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहित करने की गति को बढ़ाया। सही मायने में **एक विकसित अर्थव्यवस्था पर्याप्त बैंकिंग व्यवस्था के बिना कल्पना से परे है।**

13. **भूमि और श्रम का वस्तु में परिवर्तन** (Transformation of Land and Labour into Commodity)–भूमि, ग्रामीण समाज में अत्यंत महत्त्वपूर्ण आय-अर्जन संपत्ति होते हुए, वस्तु के रूप में अत्यंत खोजनीय बन गई। जमींदार जिन्होंने ब्रिटिश बंदोबस्तों में भूमि पाई थी वे उससे अधिक से अधिक अर्जित करना चाहते थे। सामान्यत:, जमींदारों ने भी गरीब किसानों के द्वारा ऋणों का भुगतान ना करने पर भूमि हड़पने की प्रक्रिया को शुरू कर दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे गरीब किसानों ने भूमि पर से अपने स्वामित्व को खो दिया और इसके फलस्वरूप जमींदारों और साहूकारों के मध्य भूमि का अधिक केंद्रीयकरण होने लगा।

समस्त काश्तकारों जिन्होंने अपने उद्योगों को खो दिया तथा भूमि भी प्राप्त नहीं कर सके वे रोजगार की तलाश में शहरों की ओर आए। उनमें से कुछ ने फैक्ट्री में रोजगार प्राप्त कर लिया, कुछ व्यापारी कुली बन गए तथा कुछ ने घरेलू नौकरों की तरह रोजगार प्राप्त किया। इस प्रकार से यदि देखा जाए तो उनके मामलों में श्रम शक्ति ने एक वस्तु की तरह कार्य किया।

टास्क बाजार अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं?

इस विकास के साथ ही भारतीय अर्थव्यवस्था ने उत्पादन के पूँजीवादी पक्ष के चरण की ओर प्रवेश किया **जिसमें श्रमिक अपनी संपदा से वंचित हो गए तथा उन्होंने अपने उत्पादन के यंत्रों को भी खो दिया।** यद्यपि कृषि में, कृषि के पूँजीवादी तरीके की ओर पूर्ण रूप से स्थानांतरण ने अपना स्थान बनाया था। उद्योगों, व्यापार, परिवहन तथा संचार में मजदूरी-श्रम के उत्थान ने पूँजीवाद की ओर बढ़ते हुए कदमों को उजागर किया। अत: वस्तु बाजार की वृद्धि के अलावा, भूमि तथा श्रम-उत्पादन के दो कारक–भी बाजार अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण अंश बन गए।

अंत में हम यह कह सकते हैं कि ब्रिटिश काल के दौरान बाजार अर्थव्यवस्था में वृद्धि हुई थी। यहाँ तक कि जब ब्रिटिश विजय ने अपना स्थान प्राप्त नहीं किया था तब भी बाजार अर्थव्यवस्था, भारत में उत्पन्न हो चुकी थी। ब्रिटिश काल का निर्धारण तत्व यह था कि एक तरफ तो इसने बाजार अर्थव्यवस्था की वृद्धि को इस प्रकार से प्रोत्साहन किया कि इससे इन्हें शासकों द्वारा **उपनिवेशिक शोषण की प्रक्रिया** में सहायता मिली तथा दूसरी तरफ **जमींदार–व्यापारियों–पूँजीवादी वर्ग** की पकड़ को और अधिक मजबूत किया। **इन सबके कारण कष्ट सहने वाले थे–किसान तथा काश्तकार।** किसानों ने भूमि पर खेती करने के अधिकार को खो दिया था तथा धीरे-धीरे जमींदारों और साहूकारों द्वारा सामूहिक रूप से उनका जमीन पर से स्वामित्व खत्म कर दिया गया। इस प्रकार उनको एक **निम्न सामाजिक स्तर, किरायेदार तथा भूमिहीन श्रमिकों** के रूप में स्वीकार करना पड़ा। काश्तकारों ने अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा को खो दिया और व्यापारियों तथा पूँजीवादियों (भारतीय तथा ब्रिटिश दोनों) के द्वारा चलाई जाने वाली दुकानों तथा फैक्ट्रियां में मजदूरी पर कार्य करने वाले श्रमिक बन गए। बाजार अर्थव्यवस्था की वृद्धि ने विनिमय की प्रक्रिया को सरल बनाया और इस प्रकार आंतरिक और बाह्य व्यापार का विकास, फैक्ट्रियों की वृद्धि, उत्पादन के नए तरीके, आधुनिक बैंकिंग आदि को बढ़ावा दिया लेकिन साथ ही इसने भारत में श्रमिक वर्ग के शोषण की प्रक्रिया को भी सरल बनाया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose Correct Option)–

1. उपनिवेशिक शोषण के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं-

(क) उपनिवेशिक शोषण (ख) आर्थिक दोहन (ग) विखंडित विकास पद्धति (घ) उपर्युक्त सभी।

नोट

2. आर्थिक दोहन शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसके द्वारा किया गया–
   (क) दादाभाई नौरोजी (ख) लैजिस्लेटिव (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. बाजार अर्थव्यवस्था के उदय के लिए उत्तरदायी कारक हैं–
   (क) मौद्रिक अर्थव्यवस्था का फैलाव (ख) लगान का भार
   (ग) ग्रामीण ऋणग्रस्तता (घ) उपर्युक्त सभी।
4. किस सन् में एक चाँदी का सिक्का मानक सिक्के के रूप में लागू किया गया–
   (क) 1802 में (ख) 1804 में (ग) 1806 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. विनिमय की प्रक्रिया को सरल बनाया है–
   (क) बाजार अर्थव्यवस्था ने (ख) आधुनिक बैंकिक व्यवस्था ने
   (ग) ग्रामीण ऋण ग्रस्तता ने (घ) इनमें से कोई नहीं।

1.2 भारतीय पूँजीवादी वर्ग का विकास (Development of Indian Capitalist Class)

भारत के ब्रिटिश उपनिवेश बनने के बाद, इसके व्यापार, वाणिज्य और उदार बैंकिग आदि ने अपने आपको उपनिवेशिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया तथा पुनः क्रियाशील होने और प्रगति की शुरूआत की। साहूकारों ने भूमि राजस्व, किराया और ब्याज आदि की अदायगी के लिए ऋण आदि को बढ़ावा दिया। किसानों ने अपने उत्पाद को बाजार में पूँजी के लिए बेचा जिससे वे ऋण की अदायगी तथा अन्य आवश्यकाताओं की संतुष्टि कर सकें। व्यापारियों ने **दोहरी भूमिका** निभानी शुरू कर दी। एक तरफ उन्होंने आयातित वस्तुओं को संपूर्ण देश में वितरित करने की जिम्मेदारी सँभाली तथा दूसरी ओर कृषि उत्पादों के ग्रामीण क्षेत्रों से संग्रहण और इनको शहरी क्षेत्रों में भेजने की प्रक्रिया को सँभाला। इस तरीके से इस वर्ग ने अपनी पूँजी को दुगुना किया, जिसका प्रयोग बाद में व्यापार और उद्योग को देश भर में प्रोत्साहन के लिए किया गया। इस अवधि के दौरान पारसी और गुजराती व्यापारियों ने अमेरिकी सिविल वार (American civil war) के कारण उत्पन्न आर्थिक परिस्थितियों से बड़ी मात्रा में लाभ अर्जित किया। इन व्यापारियों ने अपनी बचत को सूती मिलों में निवेशित किया। **भारतीय पूँजीवादी उद्यम के विकास में निम्नलिखित घटनाओं ने योगदान दिया–**

(*i*) स्वदेशी आंदोलन (1950–1908)
(*ii*) प्रथम विश्व युद्ध (1914–1919)
(*iii*) उद्योगों के लिए विभिन्न प्रकार की सुरक्षा
(*iv*) द्वितीय विश्व युद्ध (1939–1945)

(*i*) स्वदेशी आंदोलन (Swadeshi Movement) (1905–1908): इस आंदोलन के अंतर्गत विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया, जिससे भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ी। इसने भारतीय उद्योगों की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया। इस काल के दौरान सूती मिलों की संख्या जो 1904 में 206 थी 1908 में बढ़कर 227 हो गई। Tata iron & steel company, जमशेदपुर (बिहार), भी 1907 में स्थापित की गई। इसने 1911 में लोहा (iron) तथा 1918 में अयस्क (steel) को उत्पादित किया। इस घटना ने भारत को भारी उद्योगों के क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया।

(*ii*) प्रथम विश्व युद्ध (First World War) (1914–1919): यह युद्ध भारतीय उद्योगों के लिए वरदान की तरह सिद्ध हुआ, क्योंकि इसने वस्तुओं की कीमतों को बढ़ाया। जर्मनी से होने वाले आयात बंद हो गए। ब्रिटेन तथा भारत से संबंधित उसके सहयोगी देशों से होने वाले आयात में गिरावट आई, आयात कर (Import Duty) में वृद्धि हुई। ब्रिटेन को किये जाने वाले कच्चे माल के निर्यात में भी गिरावट आई थी।

नोट

इस काल के दौरान मजदूरी दर समान रही। इस कारण भारतीय तथा यूरोपीय दोनों मिलों के मालिकों ने भारी लाभ कमाया। इस सब ने भारतीय उद्योगों को बढ़ावा दिया। युद्ध ने भी राजनैतिक जागरूकता को उत्साहित किया तथा जिसने औद्योगीकरण की गति को अधिक क्रियाशील किया।

(*iii*) **उद्योगों के लिए विभिन्न प्रकार की सुरक्षा (Discriminating Protection for Industries):** युद्ध के अंत में, विदेशी प्रतियोगिता का पुनरुत्थान तथा युद्ध के उद्देश्यों के लिए वस्तुओं की बढ़ी हुई माँग खत्म हो गई। भारतीय उद्योगों के लिए अनुचित प्रतियोगिता के सामने खड़े रहना अत्यंत मुश्किल हो गया। इससे भारतीय उद्योगों को राज्य संरक्षण की आवश्यकता हुई। युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार के व्यवहार में भी परिवर्तन हुआ था। भारत के औद्योगिक विकास के लिए मुक्त व्यापार की नीति को त्याग दिया गया। उन्होंने प्रथम वित्तीय कमीशन की माँग को स्वीकार कर लिया तथा उद्योगों के लिए विभिन्न संरक्षण की नीति को अपनाया। उद्योगों को स्वीकृति प्रदान करने के लिए योग्यता सिद्ध करने वाले मापदंड निम्नलिखित थे–

(*a*) **प्राकृतिक लाभों का स्वामित्व** (Possession of natural advantages)–इसके अंतर्गत पर्याप्त कच्चे माल की पूर्ति, शक्ति श्रम तथा आंतरिक बाजार को शामिल किया जाता था।

(*b*) **विकास के लिए संरक्षण की आवश्यकता** (Protection essential for development)–संरक्षण केवल उन उद्योगों को प्रदान किया जाता था जो विकास कर ही नहीं सकते थे या संरक्षण के बिना तीव्र दरों पर विकास नहीं कर सकते थे।

(*c*) **प्रतियोगात्मक शक्ति** (Competitive strength)–उद्योगों को विश्व प्रतियोगिता का सामना करने की क्षमता की योग्यता रखना आवश्यक था।

यद्यपि ये तीनों समीकरण अत्यंत अविवेकपूर्ण थे परंतु इसके व्यवहारिक उपयोग की व्याख्या तथा इसकी कठोर और असहानुभूतिपूर्ण प्रवृत्ति के कारण इसकी उपयोगिता में कमी आई। इस नीति के आधार पर Iron and steel industry (1924), Tin plate industry (1924), Paper industry (1925), Cotton Textile industry (1930) और Sugar industry (1932), को संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण के कारण चीनी उद्योग में विकास हुआ। चीनी मिलों की संख्या जो 1930–31 में 29 थी, 1936–37 में बढ़कर 140 हो गई। इस काल के दौरान Cotton Textile में 2.5 गुना की वृद्धि तथा तैयार इस्पात में 8 गुना की वृद्धि हुई।

(*iv*) **द्वितीय विश्व युद्ध (Second World War) (1939–1945):** द्वितीय विश्व युद्ध भी भारतीय औद्योगिक विकास के लिए वरदान सिद्ध हुआ। जर्मनी तथा जापान से होने वाले आयात बंद हो गये तथा दूसरे देशों से भी होने वाले आयातों में गिरावट आई। भारतीय वस्तुओं की माँग देश तथा विदेश दोनों में बढ़ गई। इन समस्त कारकों ने औद्योगिकरण की गति को निश्चय ही बढ़ाया। भारतीय उद्योगां के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के योगदान को निम्नलिखित रूप से संक्षेप में देखा जा सकता है–

(*a*) Joint Stock Companies की संख्या में वृद्धि।

(*b*) बड़े औद्योगिक स्थलों का विकास

(*c*) आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण

(*d*) हथकरघा तथा यंत्रचालित फैक्ट्रियों की स्थापना।

(*e*) जमा ओर संपत्ति के रूप में भारतीय Joint stock bodies की वृद्धि।

(*f*) भारतीय उद्योगों का सभी दिशाओं में फैलाव जैसे–फैक्ट्रियों, उद्योगों, बैंकों, व्यापारिक संस्थाओं, बीमा कंपनियों, सेवा एजेंसियों तथा यहाँ तक कि इनकी bullions तथा stocks में परिकल्पना या अनुमान।

बड़े भारतीय उद्योगों की बढ़ती हुई शक्ति ने विदेशी सहयोगी कंपनियों को अपनी ओर आकर्षित किया तथा जिसने हमारे उद्योगपतियों की सहायता, आधुनिक तकनीकी तथा प्रबंध कुशलता के रूप में की। भारतीय पूँजीवाद, जो सदियों से अपनी शैशवावस्था में था, अब स्वस्थ या अच्छी बुनियाद पर

नोट

आधारित था। भारतीय पूँजीवाद वर्ग ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए बढ़ते हुए आंदोलनों से शक्ति प्राप्त की तथा बदले में इन आंदोलनों को सहारा दिया। ब्रिटिश काल के अंत तक भारतीय औद्योगिक पूँजीवाद अत्यंत सुरक्षित तथा शक्तिपूर्ण हो गया था।

1.3 स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था का स्तर (Status of Indian Economy on the Eve of Independence)

सर्वप्रथम हम स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की एक झलक देखते हैं–

1. **उपनिवेशिक अर्थव्यवस्था (Colonial Economy):** ब्रिटिश राजनैतिक प्रधानता ने हमें आर्थिक निर्भरता दिलाई, फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था घटकर एक ब्रिटिश उपनिवेश बनकर रह गई। यह निम्नलिखित कारकों से साबित होता है।

   भारतीय अर्थव्यवस्था घटकर एक **कच्चे माल की पूर्ति करने वाली तथा ब्रिटिशों द्वारा निर्मित माल के लिए एक बाजार बनकर रह गई।** म्यांमार (बर्मा) से होने वाले चावल के अतिरिक्त उत्पादन, भारत से इसके अप्रैल 1937 में हुए विभाजन के बाद से, पंजाब से होने वाले गेहूँ की अधिकता और पूर्वी बंगाल में होने वाले चावल की अधिकता आदि की हानि ने हमारी अर्थव्यवस्था को एक ब्रिटिश उपनिवेश बनाए रखने में मदद की।

   हमारी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विदेशी पूँजी की अधिकता भी अर्थव्यवस्था की उपनिवेशिक विशेषता को दर्शाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि द्वितीय विश्व युद्ध में विदेशी पूँजी की पकड़ को ढीला कर दिया था लेकिन यह स्वतंत्रता के समय तक बनी रही।

2. **अर्थ सामंती अर्थव्यवस्था** (Semi Feudal Economy): ब्रिटिश सरकार ने भूमि के स्वामित्व के अधिकार को जमींदारों को सौंप दिया, जो सरकार को अत्यंत अल्प स्थायी किराया या लगान देते थे परंतु काश्तकारों से (जो किराये पर भूमि का इस्तेमाल करते थे) बड़ी मात्रा में लगान वसूल करते थे। बढ़ती हुई जनसंख्या ने भूमि पर और दबाव डाला, जिसकी वजह से लगान की कीमत लगातार बढ़ रही थी। इसके कारण अनेकों बिचौलियों (intermediaries) की अधिकता सरकार और काश्तकारों के मध्य उत्पन्न हुई। अतः परिवर्तनीय रूप में सामंती संबंध स्थापित थे। जिस प्रकार से भरतीय पूँजीवादी वर्ग भी उजागर हो रहा था, इसे अधिकांशः रूप से अर्थ सामंती अर्थव्यवस्था कहा जा सकता है।

   पूँजीपतियों ने भी कृषि के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा बड़ी मात्रा में श्रमिकों को रोजगार प्रदान किये। लेकिन यह बंधुआ मजदूरी को भी दर्शाता है। श्रमिकों की चिरस्थायी ऋणग्रस्तता ने उन्हें जीवनपर्यंत सेवक बना दिया था। इस प्रकार सामंतवाद एक या दूसरे रूप में उपस्थित था।

3. **पिछड़ी अर्थव्यवस्था** (Backward Economy): ब्रिटिश शासन के अंत में भारत की प्रधान रूप से पिछड़ी हुई कृषि की अर्थव्यवस्था थी। लगभग 68 से 72% जनसंख्या कृषि से जुड़ी हुई थी। वे अपने रहन-सहन के लिए जरूरी वस्तुओं को कृषि या उससे संबंधित व्यवसायों से अर्जित करते थे। तबाह हो चुके काश्तकारों के पास भी कृषि के अलावा दूसरा विकल्प नहीं था। कृषि के अलावा अन्य क्षेत्र बहुत छोटे तथा विभिन्न सेवाओं और व्यवसायों में विभक्त थे। पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था के अन्य लक्षणों में अत्यधिक गरीबी, अपर्याप्त तथा असंतुलित भोजन, निम्न आय और बहुत असमान रूप से वितरण, प्राचीन किस्म का या कभी ना के बराबर आवासीकरण, नंगे पैर, फटे हुए कपड़े, वर्ग और जाति के नाम पर अत्याचार, बेरोजगारी तथा अल्प रोजगार, लगान तथा कर्जों का अधिक बोझ, बढ़ते हुए निरंतर अकाल, बाढ़, सूखा, अशिक्षा, खाद्य पदार्थ की सीमितता तथा जनसंख्या विस्फोट आदि।

क्या आप जानते हैं शहरीकरण का निम्न स्तर तथा लगभग संपूर्ण रूप से समस्त विश्व पर निर्भर अर्थव्यवस्था, पिछडी हुई अर्थव्यवस्था के अन्य संकेत हैं।

नोट

4. **स्थिर अर्थव्यवस्था** (Stagnant Economy): भारतीय अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था तक सीमित न होकर यह एक स्थिर अर्थव्यवस्था भी बन गई। पिछड़ेपन को तो आर्थिक विकास की बढ़ती हुई गति से दूर किया जा सकता है परंतु स्थिरीकरण को दूर करना अत्यंत मुश्किल बात है। **Mr. M. Mukerjee** के एक अनुमान के अनुसार, उस काल के दौरान प्रति व्यक्ति आय 0.5% बढ़ गई। राष्ट्रीय आय में हुई लघु वृद्धि बढ़ती हुई जनसंख्या के बराबर हो गई। उपनिवेशिक तथा सामंती शोषण, Laissez faire की असंगत नीतियों, अत्याचारी राजनैतिक तरीकों, तथा असंवेदनशील ब्रिटिश प्रवृत्तियों ने अर्थव्यवस्था को विकास नहीं करने दिया तथा यह स्थिर बनी रही।

5. **रिक्त अर्थव्यवस्था** (Depleted Economy): युद्ध काल के दौरान, भारतीय उद्योगां ने बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए दिन-रात काम किया। मशीन, प्लांट तथा यंत्र आदि अत्यधिक प्रयोग से शोषित थे एवं भरपूर प्रयोग किए जा चुके थे। देश के पास कोई आधारभूत भारी इंजीनियरिंग उद्योग नहीं था। आयात तथा विस्थापन उपलब्ध नहीं थे। अत: देश ने वास्तविक पूँजी की हानि को सहन किया इसके बिना अर्थव्यवस्था की रिक्तता की भरपाई नहीं की जा सकी।

6. **विखंडित अर्थव्यवस्था** (Amputated Economy): 'ब्रिटिशों ने फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाकर विभिन्न समूहों के बीच धर्म, जाति, भाषा और सभ्यता के आधार पर भेदभाव को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को समाप्त कर दिया और भारत का विभाजन हो गया।

   विभाजन हमारी अर्थव्यवस्था के लिए एक बहुत बड़ा आघात सिद्ध हुआ जैसाकि अर्थव्यवस्था के किसी महत्त्वपूर्ण अंग को उससे अलग कर दिया गया हो। कोलकाता की जूट मिलों को पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान का भाग, अब बांग्लादेश) से प्राप्त होने वाला कच्चा जूट मिलना बंद हो गया। मुंबई तथा अहमदाबाद की सूती वस्त्रों की मिलों को पंजाब तथा सिंध से मिलने वाली कपास भी बंद हो गयी। हमें पश्चिम के कुछ क्षेत्रों से प्राप्त होने वाले खाद्य पदार्थ की कमी को भी सहना पड़ा। खाद्य पदार्थों की कमी महसूस की जाने लगी। हमारी अर्थव्यवस्था को आर्थिक तथा संवेदनात्मक रूप से विखंडित करने वाले अन्य कारक थे–सांप्रदायिक दुर्भावना, दंगे, खून-खराबा तथा लोगों का सामूहिक रूप से अन्य स्थानों को प्रवास (migration)। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हमें पुनर्वासन (rehabilitation), विकास तथा पुनर्निर्माण (reconstruction) जैसी मुश्किल समस्याओं का सामना करना पड़ा।

1.3.1 भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश शासन के लाभकारी प्रभाव (Beneficial Effects of British Rule on Indian Economy)

यद्यपि ब्रिटिश नीति का आधारभूत उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास नहीं था, परंतु इसने स्वभाविक रूप से कुछ लाभकारी प्रभाव भी छोड़े। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

(*i*) देश का राजनैतिक और आर्थिक एकीकरण।

(*ii*) परिवहन (मुख्यत: रेलवे) तथा संचार के साधनों का विकास।

(*iii*) बैंकिंग और मौद्रिक पद्धतियों का विकास।

(*iv*) उत्पादन तथा प्रबंध की आधुनिक तकनीकियों का परिचय।

(*v*) तर्क तथा प्रगतिशीलता पर आधारित नये सामाजिक ढाँचे का विकास।

(*vi*) नागरिक कानून (Civil laws) और कोर्ट की स्थापना।

(*vii*) शिक्षा की नई पद्धति की स्थापना।

(*viii*) बाज़ार अर्थव्यवस्था तथा पूँजीवादी उद्यम की उत्पत्ति।

(*ix*) स्थिरता, शांति तथा कानून।

नोट

1.3.2 भारतीय अर्थव्यवस्था पर विभाजन के बुरे प्रभाव (Adverse Effects of Partition on Indian Economy)

1947 में भारत दो अलग-अलग देशों-भारत और पाकिस्तान में विभाजित हो गया था। **स्वंतत्र भारत को 77% क्षेत्र-82% जनसंख्या के साथ प्राप्त हुआ था।** विभाजन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए बहुत बड़ा आघात सिद्ध हुआ। विभाजन ने राष्ट्रीय विकास को क्षति पहुँचाई। इसने कोलकाता की जूट-मिलों तथा मुंबई और अहमदाबाद की कपड़े की मिलों के लिए **कच्चे माल की समस्या** को जन्म दिया। विभाजन के परिणामस्वरूप पश्चिमी पंजाब तथा सिंध भारत से अलग हो गये। ये भारत के अनाज भंडार थे। इनके अलग होने के कारण भारत को खाद्य पदार्थों की कमी की समस्या झेलनी पड़ी। इनसे अथाह संपत्ति की भी हानि हुई। बड़े पैमाने पर दंगों और खून-खराबों ने हमारी कमर ही तोड़ दी। जनता में भी बिखराब हुआ। लोगों के एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक देश से दूसरे देश में आने-जाने का लंबा सिलसिला शुरू हुआ। इस स्थिति से पुनर्स्थापना की समस्या का उदय हुआ। इसके कारण एक दूसरे पर अविश्वास होने लगा। राष्ट्रीय सुरक्षा और एकीकरण की समस्या भी इन्हीं की देन है। इन सभी समस्याओं के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था चकनाचूर हो गई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)-

1. ..... के अंतर्गत विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया जिससे भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ी।
2. ब्रिटिश शासन के अंत में भारत की पिछड़ी हुई ..... की अर्थव्यवस्था थी।
3. ..... ने राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को समाप्त कर दिया और भारत का विभाजन हो गया।
4. ब्रिटिश नीति का आधारभूत उद्देश्य ..... का विकास नहीं था।
5. स्वतंत्र भारत को 7790 क्षेत्र ..... जनसंख्या के साथ प्राप्त हुआ था।

1.4 सारांश (Summary)

- ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियाँ भारतीय व्यापार से **अत्यधिक लाभ निकालने** के उद्देश्य से बनाई जाती थीं। यह वह काल भी था जब इंग्लैंड औद्योगिक क्रांति के दौर से गुजर रहा था।
- भारत में ब्रिटिश शासन की सुरक्षित स्थापना के पश्चात अंग्रेजों ने उपनिवेशिक शोषण की साम्राज्यिक प्रथा (imperial system of colonial exploitation) को अपनाया, ना कि पहले की तरह ''खुली और बेशर्म लूट'' ("open and unashamed plunder")।
- 1947 में भारत दो अलग-अलग देशों-भारत और पाकिस्तान में विभाजित हो गया था। **स्वंतत्र भारत को 77% क्षेत्र-82% जनसंख्या के साथ प्राप्त हुआ था।** विभाजन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए बहुत बड़ा आघात सिद्ध हुआ।
- दादाभाई नौरोजी के अनुसार, 1835 से 1872 के दौरान आर्थिक दोहन की मात्रा लगभग 50 करोड़ पाउंड थी। दूसरे अनुमानों के अनुसार 1757 तथा 1939 के काल के दौरान आर्थिक दोहन की मात्रा 120 करोड़ पाउंड थी।
- 1859 तक यूरोपीय देशों से आयात पर, ब्रिटेन से किए गए आयात की तुलना में दोगुना आयात कर वसूल किया जाता था।
- 1932 में Ottawa Pact की तरह जाने वाली एक कांफ्रेस जो Ottawa (Canada) में संपादित की गई थी, में पक्षपाती करों का परिचय दिया गया था।
- स्वतंत्रता से पूर्व जनसंख्या सर्वेक्षण (Surveys) के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि असमान (Uneven) थी।

नोट

1921 तक हम जनसंख्या परिवर्तन (Demographic transition) की पहली अवस्था में थे। इस स्थिति में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों की ही दर ऊँची थी, इसलिए जनसंख्या की वृद्धि दर कम थी। आर्थिक और सामाजिक कारणों की वजह से जन्म-दर अधिक थी। गरीबी, कम आय, चिकित्सा सुविधा के अभाव, कुपोषण आदि के कारण मृत्यु-दर भी अधिक थी।

- भारत में ब्रिटिश शासन के बाद, राजनैतिक एकीकरण, एकीकृत करेंसी, केंद्रीकृत प्रशासनिक पद्धति और एकीकृत राष्ट्रीय बाजार का उत्थान हुआ। कृषि का वाणिज्यीकरण, ग्रामीण ऋणग्रस्तता, परिवहन के साधनों का विकास, संचार और आधुनिक बैंकिंग पद्धति भी पाई जाती थी।
- भारत के ब्रिटिश उपनिवेश बनने के बाद, इसके व्यापार, वाणिज्य और उदार बैंकिग आदि ने अपने आपको उपनिवेशिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया तथा पुनः क्रियाशील होने और प्रगति की शुरूआत की। साहूकारों ने भूमि राजस्व, किराया और ब्याज आदि की अदायगी के लिए ऋण आदि को बढ़ावा दिया।
- ब्रिटिश राजनैतिक प्रधानता ने हमें आर्थिक निर्भरता दिलाई, फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था घटकर एक ब्रिटिश उपनिवेश बनकर रह गई। यह निम्नलिखित कारकों से साबित होता है।
- हमारी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विदेशी पूँजी की अधिकता भी अर्थव्यवस्था की उपनिवेशिक विशेषता को दर्शाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि द्वितीय विश्व युद्ध में विदेशी पूँजी की पकड़ को ढीला कर दिया था लेकिन यह स्वतंत्रता के समय तक बनी रही।

1.5 शब्दकोश (Keywords)

- **कमीशंन–** चुना गया, आयोग
- **आक्रामक–** तीव्र तुरंत, हमला या प्रहार करने वाला
- **काश्तकार–** किसान

1.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. ब्रिटिशों ने युद्ध के लिए भारतीय संसाधन का शोषण कैसे किया? समझाइये।

2. भारतीय पूँजीवादी वर्ग का विकास कैसे हुआ? समझाइये।

3. स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था के स्तर का विवेचन कीजिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (घ) 2. (क) 3. (घ) 4. (ग)
   5. (क)
2. 1. स्वदेशी आंदोलन 2. कृषि 3. ब्रिटिशों 4. भारतीय अर्थव्यवस्था
   5. 82%

1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ–* वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था–* रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन–* ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–2: भारत में योजना की रणनीति (Development Strategies in India)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 भारत में योजना (Planning in India)

2.2 योजना की रणनीति, मूल्यांकन एवं उद्देश्य (Strategies, Evaluation and Objectives of Planning)

2.3 सारांश (Summary)

2.4 शब्दकोश (Keywords)

2.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

2.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में योजना, योजना की रणनीति, मूल्यांकन एवं उद्देश्य की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारत में आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया प्रथम पंचवर्षीय योजना के साथ। अप्रैल, 1951 को प्रारम्भ हुई। वैसे उससे पहले ही देश में योजना के मार्ग को अपनाने की बातें विभिन्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा सोची जा रही थी। सबसे पहले श्री एम. विश्वेश्वररैया ने सन् 1934 में 'लांड इकॉनमी फॉर इण्डिया (Planned Economy for India) नामक पुस्तक में योजना की प्रमुख रूपरेखा रखी थी। बाद में सन् 1938 में श्री जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में नेशनल प्लानिंग कमेटी की नियुक्ति की गई जिसमें देश के आर्थिक विकास के लिए योजना का एक मसौदा तैयार किया गया।

2.1 भारत में योजना (Planning in India)

1947 के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था में राज्य की प्रमुख भूमिका निर्धारित की गयी। स्वतंत्रता के पूर्व भी स्वतंत्र भारत के लिए कई योजना बनायी गयी थी। गांधीयन योजना में राज्य की भूमिका बहुत सीमित, इसमें विकन्द्रीकृत योजना की सकल्पना, ग्रामीण क्षेत्रों पर मुख्य बल, लघु उद्योगों को प्राथमिकता, शेष सभी योजना में राज्य को महत्वपूर्ण भूमिका, औद्योगिकरण को प्राथमिकता, गांधीवादियों को छोड़ इसमें सभी लोगों में आम सहमति थी। Bombay Plan निजी क्षेत्र को व्यापक स्वतंत्रता की मांग, जबकि People Plan में निजी क्षेत्र में अकुंश पर बल। नेहरू पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव था। भारत की गरीबी और पिछड़ापन में समाजवादी सिद्धांतों का आकर्षण था। दूसरे महायुद्ध का अनुभव-इससे राज्य की आर्थिक भूमिका का तीव्र विस्तार-UK, USA में जबकि ये Classical पूंजीवादी देश थे।

नोट

इन सब अनुभवों को लेकर भारत में स्वतंत्रता के बाद नियोजित आर्थिक विकास की नीति अपनायी गयी। नियोजन–लोकतांत्रिक परिप्रेक्ष्य में अपनाया गया। एक आर्थिक और सामाजिक क्रांति का लक्ष्य था। इसी ढांचे (Frame work) के अन्तर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास हुआ और मिश्रित अर्थव्यवस्था को आधार बनाया गया। जिसमें निजी क्षेत्र को भी पर्याप्त महत्व दिया गया। इसमे परिवर्तन भी हुए, 60–70 के दशक में, विशेषकर 80 के दशक (6वीं व 7वीं योजना) में काफी परिवर्तन, लेकिन आधारभूत दृष्टिकोण में कोई बदलाव नहीं। परिस्थितियों, समस्याओं तथा आंतरिक एवं बाह्य दबावों के कारण कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता महसूस की गई और परिवर्तन की भी गई जिसे 80 के दशक मे इन परिवर्तनों को उदारीकरण कहा गया।

1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए। 1990–91 के आर्थिक संकट के कारण–अर्थव्यवस्था में आधारभूत (Fundamental Change) किये गये और इसे संरचनात्मक परिवर्तन (Structural change) कहा गया और भारतीय अर्थव्यवस्था की पूरी दिशा बदल गयी। पुराने Model को Nehru-Mahalnovis Development Model कहा जाता है, जबकि 91 के परिवर्तन को राव–मनमोहन मॉडल कहा जाता है। इससे औद्योगिक नीति में बदलाव किया गया। उस समय जनमानस परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे इसलिए छद्म परिवर्तन किए गए।

आमतौर पर Economic Reforms का मुद्दा राजनीतिक मुद्दा नहीं रहा है, जब कि भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किया गया। 2004 के आम चुनाव को इसका अपवाद माना जा सकता है, जैसे India's Shining का मुद्दा।

इन सुधारों में State-Market की सापेक्ष भूमिका में आधारभूत परिवर्तन और New Industrial Policy में बाजारोन्मुख नीति को अपनाया गया। इस परिवर्तन के पीछे राष्ट्रीय अनुभव, सवृद्धिदर का कम होना, आर्थिक संकट का पैदा होना मुख्य कारण था। अंतर्राष्ट्रीय परिवर्तन–USSR का Model विफल हो गया, जो प्रमुख साम्यवादी देश थे उन्होंने अपनी नीति में परिवर्तन कर लिया–विशेषतौर पर चीन, जिसको काफी सफलता मिली। वियतनाम में भी परिवर्तन हुआ।

आर्थिक सुधार (Economic Reforms) की जो प्रक्रिया 1991 से शुरू हुई इसमें काफी परिवर्तन हुये है। कई क्षेत्रों में लाभ भी हुआ है। GDP में उछाल, भारतीय अर्थव्यवस्था का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धात्मक बनाना। इसके बावजूद कूछ समस्यायें बनी हुयी है। बहुत से लोगों का मानना है कि आर्थिक सुधार कार्यक्रम अपूर्ण रहा है। शुरूआती दौर से तेज लेकिन बाद में धीमा, इस कारण भारत अपनी पूरी क्षमता के अनुरूप प्रगति नहीं कर रहा है। दूसरी और यह तथ्य है कि आज भी भारत में गरीबी बहुत व्यापक है। बहुत सारे लोगों का जीवन स्तर काफी निम्न, कुपोषण, निरक्षता, क्षेत्रीय असमानता की समस्यायें भी गंभीर है।

इस दौरान कृषि क्षेत्र सबसे कम लाभान्वित हुआ है। जबकि आज भी 60 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या कृषि से जुड़ी हुई है जो संरचना आर नीतियों दोनों से जुड़ा है।

सुधार पर दो विचार हैं–

1. **सकारात्मक–**आर्थिक सुधार कार्यक्रमों को आगे बढ़ाना, जिससे इसका लाभ समाज के सभी लोगों तक पहुंच पाये प्रधानमंत्री ने इसे Inclusive Development कहा, अर्थात् जो समुदाय विकास के बाहर रहे हैं, उन्हें भी इसका लाभ मिले। 11वीं योजना में यही उद्देश्य शमिल है।
2. **नकारात्मक–**आर्थिक सुधार कार्यक्रम जनता के हित में नहीं, यही सभी समस्याओं की जड़ है और इसको आगे बढ़ाने का बड़ा हिस्सा बाहर है। गरीबी की स्थिति में तो सुधार हुआ है। लेकिन असमानता में इजाफा हुआ है, और कहा जा रहा है कि दो तरह का भारत उभर कर आ रहा है, इण्डिया और भारत।

2.2 योजना की रणनीति, मूल्यांकन एवं उद्देश्य (Strategies, Evaluation and Objectives of Planning)

पहली योजना–तदर्थ प्रकार की योजना थी, इसके पीछे कोई निर्देशित रणनीति आरम्भिक दौर में नहीं था। द्वितीय योजना रणनीति योजना (Strategic Planning) की शुरूआत हुई और नेहरू–महालनोविस मॉडल इसका आधार था। माना गया कि आर्थिक समृद्धि में मुख्य भूमिका निवेश की है, निवेश के लिए मुख्य समस्या–पूंजीगत वस्तुओं की उपलब्धता,

नोट

जो कि उस समय भारत में नहीं थी। पूंजीगत वस्तुओं की उपलब्धता बढ़ाने के लिए विदेशों से आयात की संभावना कम थी, कारण विदेशी मुद्रा की कमी निर्यात बढ़ाने की भी संभावना थी। इसी कारण योजनाकारों ने घरेलू क्षेत्र में पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन पर बल दिया। माना गया कि इसी क्षेत्र में बड़े पैमाने पर निवेश करके भारत सवृद्धि दर को बढ़ा सकता है तथा सतत् विकास के रास्ते पर चल सकता है। इनमें निवेश के लिए काफी पूंजी की आवश्यकता तथा उच्च तकनीक की भी आवश्यकता थी, परियोजनाएं लंबी थी, इन्हीं कारणों से ऐसे क्षेत्रों में निजी ईकाइयां निवेश के इच्छुक नहीं थी। वह तीव्र मुनाफा चाहती हैं, इसलिए सार्वजनिक ईकाइयों को मुख्य भूमिका निभानी पड़ी। राजनीतिक दृष्टिकोण से भी यही निष्कर्ष निकला। 1955 में समाजवादी प्रकार का समाज (Socialistic Pattern of Society) को कांग्रेस पार्टी ने अपना राष्ट्रीय लक्ष्य स्वीकार किया तथा बाद में संसद भी स्वीकार की। सार्वजनिक क्षेत्र की ईकाइयों को इसी से समर्थन मिला और 1956 की औद्योगिक नीति इसी पर आधारित है। यही नीति 1991 तक भारत के आर्थिक विकास का आधार रही। औद्योगिक नीति-1956 में उद्योगों को दो श्रेणियों में बांटा गया, बचे हुए अन्य श्रेणी में–

1. Public Sector को Exclusive Status दिया गया। (क) सार्वजनिक इकाइयों के लिए आरक्षित, (ख) जो पहले से कार्यरत थे निजी क्षेत्र के Plant उनमें रोक नहीं।
2. मुख्य भूमिका सार्वजनिक ईकाइयों परंतु अनुपूरक (Complementry) भूमिका निजी इकाइयों की-Mixed Economy.
3. अन्य क्षेत्रों में निजी ईकाइयां प्रवेश करने के लिए स्वतंत्र थी।

नियोजन की रणनीति में विभिन्न क्षेत्रों के लिए संख्यात्मक लक्ष्यों का निर्धारण Multi Sectoral Planning Model के आधार पर किया गया। यह नेहरू महालनोविस मॉडल पर आधारित है। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार द्वारा-एक तो प्रत्यक्ष निवेश, सार्वजनिक इकाइयों की स्थापना करना, उनके लिए धनराशि की व्यवस्था करना, साथ में विभिन्न प्रकार के केन्द्रीय नियंत्रण (Central Instruments) का उपयोग की ताकि निजी ईकाइयों पर नियंत्रण रखा जा सके और उनको भी नियोजन के लक्ष्यों से जोड़ा जा सके। केन्द्रीय उपायों में सबसे महत्वपूर्ण Industrial Development Regulation (IDR) Act. के अन्तर्गत औद्योगिक लाइसेसिंग, इसके अलावा अन्य माध्यम, जैसे वित्तीय क्षेत्र पर नियंत्रण जिसके माध्यम से पूंजी की उपलब्धता को नियंत्रित किया जाता है। विदेश व्यापार पर नियंत्रण जिसके माध्यम से पूंजी की उपलब्धता को नियंत्रित किया जाता है। विदेश व्यापार पर नियंत्रण वहां कि लाइसेसिंग नीति तथा सार्वजनिक वित्त के औजारों के माध्यम से किया जाता है।

लक्ष्य

नियोजन के आधारभूत लक्ष्य माने गये तीव्र आर्थिक समृद्धि, विशेषतौर पर सामाजिक व्यय का लक्ष्य-गरीबी उन्मूलन एवं विभिन्न क्षेत्रों के बीच विषमताओं को कम करना तथा आम लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना है।

आत्मनिर्भरता प्राप्त करना

(क) नकारात्मक पहलू यह है कि यह हमारी आत्मनिर्भरता को कम करता है,

(ख) आत्मनिर्भरता का सकारात्मक मतलब है–विदेशी रियायती सहायता पर निर्भर न रहना, क्योंकि खाद्य सहायता (PL-480) पर भारत की निर्भरता बहुत बढ़ गयी थी। अमेरिका ने बुरी तरह शर्ते लगायी। इसी का परिणाम था हरित क्रांति के रूप में आत्म निर्भरता प्राप्त करने की कोशिश की गई।

अन्य देशों के साथ सम्पर्क कम से कम करना, अपनी क्षमता, शर्तों पर विकास करने की कोशिश, विदेशी व्यापार भी न्यूनतम करना। इसी संदर्भ में रणनीति का एक और भाग आयात प्रतिस्थापन (Import Substitution) की नीति थी। अपने देश में जरूरी चीजों, मशीनरी का उत्पादन। बाद में इसे एक गंभीर कमजोरी माना गया आर्थिक उदारीकरण मे इस दृष्टिकोण को पूर्णत: छोड़ दिया गया।

2.2.1 रणनीति का मूल्यांकन

लक्ष्यों के प्राप्ति के दृष्टिकोण से रणनीति काफी हद तक विफल रही जैसे–तृतीय योजना में 5.6 प्रतिशत के लक्ष्य के स्थान पर 2.7 प्रतिशत की प्राप्ति हुई।

नोट

यहां पर लक्ष्य से उपलब्धियां काफी कम रही, यहां ऐसे कारकों का प्रभाव भी था कि व्ययों पर नियोजकों का नियंत्रण नहीं था। 1962 में भारत-चीन युद्ध, 1965 में भारत-पाक युद्ध, मौसम का प्रतिकूल असर, इसके अलावा रणनीतिक विफलता भी थी, इस कारण निवेश की मात्रा बढ़ाने पर बल दिया गया।

भारत में प्रतिव्यक्ति आय कम जबकि बचत दर ऊंची-इसका कारण आय का असमान वितरण, सम्पन्न वर्ग के पास बचत की काफी क्षमता। इसीलिए निम्न आय के बावजूद बचत दर अपेक्षाकृत ज्यादा था। दूसरी और निवेश दर काफी होने के बाद भी सवृद्धि दर कम थी, कारण-व्यापक आर्थिक नियंत्रणों का लगातार जारी रहना, जिससे अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता मे गिरावट आयी। जिससे उत्पादन का स्तर निची रही, तकनीक का चययन भी निम्नस्तरीय रहा तथा आर्थिक नीतियों के कारण प्रतिस्पर्धा पर प्रतिकूल असर जिससे समृद्धि कम रही। यही कारण था कि भारत में ऊंचे निवेश के बाद भी समृद्धि दर काफी कम रहा।

इसी करण आर्थिक नीतियों में, मुख्यत: 80 के दशक से ये परिवर्तन किये गये–जिससे दक्षिण पूर्व एशिया के अनुभव का प्रभाव भी भारत पर पड़ा। ये देश भारत से काफी पिछड़े थे, 90 के दशक में ये भारत से काफी आगे पहुंच गये। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में जो दृष्टिकोण अपनाया गया था। वह बाह्य उन्मुख था जबकि भारत की नीति अन्तरोन्मुख थी।

नीतिगत परिवर्तनों में-निजी क्षेत्र को थोड़ी अधिक लचीलापन प्रदान किया गया। इसके लिए कई तरह के कदम उठाये गये जैसे–MRTP Act. के नियंत्रणों में कुछ छुट देना। निर्यातकों के लिए आयातों के मामलें में भी छुट दी गई। साथ में मुद्रा विनिमय दर के प्रबंधन में भी सुधार किया गया। ऐसे कदमों से 80 के दशक में काफी सुधार हुआ। 6वीं एवं 7वीं योजनाओं के दौरान सवृद्धि दर में काफी इजाफा हुआ। लेकिन इस दौरान कुछ समस्यायें भी पैदा हुई जैसे सरकार के वित्तीय घाटों की स्थिति बहुत तेजी से बढ़ी (RD, FD) निर्यात में वृद्धि धीमीं जब कि अल्पकालिक विदेशी वाणिज्यिक ऋणों पर भारत की निर्भरता काफी तेजी से बढ़ी, जिससे 1990-91 का मौद्रिक संकट पैदा हुआ।

भारत का विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष बहुत कम हो गया और विदेशी दायित्वों के पुनर्भुगतान पर प्रश्नचिन्ह लग गया। इसका तात्कालिक मुख्य कारण अन्तर्राष्ट्रीय तेल संकट था, यद्यपि यह अल्पकालिक था, जब दीर्घकालिक कारण पहले नीतियाँ थी। इस दौरान अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास खत्म हो गया और विदेशी प्रवाहों की दिशा उल्टी हो गयी। और भारत की क्षमता 6 दिन के आयात के बराबर बची थी।

नोट्स 1990-91 के संकट का मुख्य तत्व भुगतान-संतुलन का संकट था।

अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के लिए वाणिज्यिक स्त्रोतों से IMF/WB से सहायता ली गयी। बिना गिरवी के ऋण देने की कोई तैयार नहीं था। इसी संकट से व्यापक आर्थिक सुधारों की नींव रखी गयी। यही सुधारों का तात्कालिक कारण था। IMF/WB का दबाव था, भारत के नेताओं, अर्थशास्त्रियों में भारत की आर्थिक कमजोरी की समझ पैदा होना तथा कुछ हद तक यह सहमति बनना कि बिना सुधारों के अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ नहीं किया जा सकता है और आर्थिक विकास को प्राप्त नहीं किया जा सकता। आर्थिक संकट ने भारत को एक अवसर दिया अपनी आर्थिक नीतियों में सुधार करने का। राव मनमोहन मॉडल लाने का कारण यही था, इसमें मुख्य तत्व–निजी ईकाइयों की भूमिका पर ज्यादा निर्भरता, अर्थव्यवस्था को विदेशी निवेश और व्यापार के लिए खोलना, सरकार की भूमिका में परिवर्तन करना तथा विशेषतौर पर ऐसे क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करना जहाँ बाजार व्यवस्था सामान्यत: प्रभावी नहीं हुयी हो। जैसे–प्राथमिक शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवायें, आधारिक संरचना आदि। बाजार व्यवस्था को आधार के तौर पर स्वीकार करना, ये माना गया कि बाजार व्यवस्था आर्थिक कुशलता और आर्थिक समृद्धि में निर्णायक भूमिका अदा करती है। लेकिन सरकार को बाजार व्यवस्था का विनियमन तथा प्रतिस्पर्धा बनाए रखने के लिए उचित कदम उठाना चाहिए। यह माना गया कि सरकार वृहद सार्वजनिक वित्त, सरकारी घाटों पर नियंत्रण के संदर्भ में सन्तुलन बनाये रखे और वित्तीय क्षेत्र की कार्य कुशलता में सुधार लाये।

नोट

उपरोक्त नीतिगत परिवर्तनों का नियोजन पर प्रभाव स्थायित्व लाने के लिए कदम

तात्कालिक कदम जो उठाये गये उन्हें स्थायित्व लाने वाला कदम कहा जाता है। इनका दीर्घकालिक महत्व नहीं है, जैसे–मुद्रा का अवमूल्यन आयातों को नियंत्रित करने में सहायता मिली, मौद्रिक कदम भी उठाये गये तथा मुद्रा आपूर्ति को नियंत्रित करने के लिए ब्याज दरों में वृद्धि की गयी।

संरचनात्मक सुधार द्वारा परिवर्तन (Change by Structural Reforms)

इनका दीर्घकालिक महत्व है। औद्योगिक नीति 1956 भारतीय औद्योगिक नीति का आधार था। 1980 के दशक में इसमें कुछ उदारीकरण किया गया। 1991 में नयी औद्योगिक नीति अपनायी गयी, जो एक व्यापक बदलाव था, यह निम्न तरीके से किया गया।

निजी ईकाइयों को लगभग पूरी स्वतंत्रता प्रदान करना और उन पर से नियंत्रणों को हटा देना। अधिकतर क्षेत्रों में औद्योगिक लाइसेंसों की व्यवस्था खत्म कर देना तथा धीरे-धीरे बचे हुये क्षेत्रों का भी Delicensing किया जाना। MRTP Act. के अन्तर्गत नियंत्रणों को खत्म करने की कोशिश, प्रतिस्पर्धा बनाये रखना तथा एकाधिकार न स्थापित हो, इसके लिए कदम उठाये गये, लेकिन अन्य प्रकार के नियंत्रण समाप्त किये गए। 1991 की औद्योगिक नीति में प्रवेश बाधा को खत्म कर दिया गया। Small Scale Industry (SSI) के आरक्षण को चरण बद्ध तरीके से खत्म करने के लिए कदम उठाये गये हैं।

सार्वजनिक इकाइयों के सन्दर्भ में

सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के लिए आरक्षण प्रणाली को बहुत सीमित कर देना और मुख्यत: सामरिक महत्व के क्षेत्रों तक और यह माना गया कि सार्वजनिक ईकाइयों को भी प्रतिस्पर्धा का सामना करना चाहिए। सार्वजनिक ईकाइयों के कामकाज में सुधार की भी आवश्यकता है।

विदेशी निवेश के प्रति भारत का रवैया प्रारंभ से ही काफी नकारात्मक था। इसके सैद्धान्तिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक कारण थे। इसमें 80 के दशक में थोड़ी ढील दी गयी, लेकिन 1991 की नीति के द्वारा भारत ने अपने रवैये को पूर्णत: बदल दिया। कहा गया कि नकारात्मक सूची (Negative list) को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में विदेशी निवेश की अनुमति रहेगी और यह निवेश सामान्यत: 51% तक हो सकेगा। इस प्रकार बहुमत और नियंत्रण का अधिकार विदेशी निवेशकों को दिया गया, जब कि इसके पहले निवेश सीमा 40% थी। चुने हुए मामलों में इससे अधिक अनुमति भी देने का निर्णय किया गया। अत: औद्योगिक नीति में विदेशी निवेश के मामले में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया गया। भारत अब विदेशी निवेश को सकारात्मक और लाभदायक मानने लगा। इसके पीछे एक कारण चीन में 80 के दशक में विदेशी पूंजी काफी बढ़ा और आर्थिक विकास भी हुआ।

1991 के पश्चात् इसमें उदारीकरण किया गया है। जैसे लाइसेंस की आवश्यकता वाले क्षेत्रों में और कमी की गयी है। अब केवल 5 क्षेत्रों में ही लाइसेंस की जरूरत है, मुख्यत: पर्यावरणिक या खतरनाक उद्योगों के मामले में। विदेशी निवेश के मामलें में भी नकारात्मक सूची (Negative List) के दायरे को कम किया गया है और बहुत से क्षेत्रों में निवेश सीमा को बढ़ाकर 51% से 100% कर दिया गया है। लेकिन कुछ क्षेत्र विदेशी निवेश के दृष्टिकोण से अभी भी विवादास्पद बने हुए हैं, और उनमें विशेष सीमाओं पर नियंत्रण है, जैसे–बीमा में 26%, परंतु अब इसे बढ़ाकर 49% करना चाहते हैं।

1991 के बाद आर्थिक सुधार धीरे-धीरे हुये हैं, इसका कारण यह है कि यह मुद्दा Political Economy से जुड़ा हुआ है। हमारे यहाँ जनसहभागिता पर आधारित मुद्दों पर विवाद होते हैं। 1991 के बाद जो सरकारे रही है वे गठबंधन या बाह्य समर्थन पर निर्भर थी, इसके फलस्वरूप आर्थिक सुधारों को लागू करने के लिए सहमति बनाने की प्रक्रिया अक्सर धीमी थी। इसके कारण आर्थिक सुधारों से होने वाले लाभ भी मंद रहा। मूलत: चीन और भारत में मुख्य अन्तर यही है कि वहां जो भी परिवर्तन हो रहे हैं वे व्यापक तौर पर स्वीकार्य है तथा सोच समझकर हो रहे हैं।

नयी आर्थिक नीति का मिश्रित प्रभाव रहा है, तात्कालिक संकट तो हल हो गया और संकट से भारत ने सफलता पूर्वक निपट लिया।

इसके कई कारण थे–कुछ आंतरिक कारण जैसे–मानसून की स्थिति का संतोषजनक न होना, आर्थिक सुधारों की

नोट

प्रक्रिया धीमी होना, राजनीतिक अस्थिरता का प्रभाव, साथ में ही इसी दौरान राजकोषीय स्थिति भी कमजोर हो गयी। वेतन आयोग की अनुशंसाओं के कार्यान्वयन से केन्द्र व राज्य की वित्तीय स्थिति के ऊपर भारी दबाव बना। बाह्य कारणों में मुख्यत: दक्षिण-पूर्व एशिया और अन्य क्षेत्रों के आर्थिक संकट के प्रभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी निवेश पर प्रतिकूल असर, और 9वीं योजना के दौरान संवृद्धि दर 5.7% रह गयी। लेकिन आर्थिक सुधार की प्रक्रिया 2000 से फिर शुरू हुई और इसका असर 9वीं योजना के अंत तथा दसवीं योजना में इसका प्रभाव दिखने लगा। 10वीं योजना में 7.8% तक संवृद्धि रही है। साथ ही निवेश दर में काफी सुधार हुआ है। निवेश 30 प्रतिशत के स्तर को पार कर गया है, लेकिन चीन और द. पू. एशिया के देशों से काफी कम है।

क्या आप जानते हैं भारत में निवेश की कार्यकुशलता से भारतीय औद्योगिक क्षेत्र तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धात्मक बन रहा है और अर्थव्यवस्था काफी सुदृढ़ हो रही है।

2.2.2 उद्देश्य–नियोजन में बदलाव

90 के दशक से भारत निदेशात्मक योजना (Indicative Planning) को महत्व दे रहा है। कारण-आर्थिक सुधार कार्यक्रम-बाजार शक्तियों के संकेत के आधार पर होना चाहिए, उद्यमियों को तकनीकी के चयन में स्वतंत्रता होनी चाहिए। योजना तैयार करने में स्वतंत्रता होनी चाहिए, क्योंकि इसी से आर्थिक कुशलता सुधरेगी। संसाधनों का बेहतर उपयोग होता तथा आर्थिक समृद्धि भी तेज होगी।

नियोजन का बल (Focus) अब वृहद् लक्ष्यों पर है जैसे–संवृद्धि, गरीबी उन्मूलन, समाजिक क्षेत्र का विकास। नियोजन का दृष्टिकोण अब (Economy के Micro Managements) पर नहीं हैं लेकिन साथ में योजना के माध्यम से नीतिगत परिवेश में बदलाव लाने की कोशिश हो रही है जिसने निजी ईकाइयों को पूरी जिम्मेदारी निभाने का मौका मिले, उनके लिए उपयुक्त परिवेश पैदा हो। सार्वजनिक हस्तक्षेप के दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण है सामाजिक सेवायें। पूरे तौर पर अब नियोजन को बाजार का अनुपूरक माना जाता है, (Supplementry to the market) इस दृष्टिकोण में यह निहित है कि राज्य की आर्थिक भूमिका का पुनर्निर्धारण होना चाहिए। राज्य के संसाधन और क्षमता सीमित हैं, राज्य को अपना ध्यान उन्हीं क्षेत्रों पर केन्द्रित करना चाहिए जो अत्यावश्यक है। जहाँ बाजार शक्तियों पर पूर्णत: निर्भर नहीं किया जा सकता है। यहाँ भी यह दृष्टिकोण है कि जहाँ तक संभव हो निजी ईकाइयों को भी सहयोगी भूमिका दी जाए, जैसे–Public-Private Partnership (PPP)। सार्वजनिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक-निजी सहभागिता पर बल दिया जा रहा है। योजना में प्राथमिकता के क्षेत्र का निर्धारण किया जा रहा है जैसे आधारीय संरचना (Infrastructure)। क्योंकि आज भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए सबसे बड़ी बाधा, अच्छी गुणवत्ता की आधारीय संरचना की कमी है जैसे–विद्युत, सड़क, रेल, बन्दरगाह, एअरपोर्ट, इत्यादि।

भारतीय आयोजन में विकास की रणनीति को 4 अवयवों की सहायता से समझा जा सकता है–

1. नेहरू महालनोविस प्रारुप (टपकन सिद्धांत पर आधारित)
2. गांधीवादी मॉडल
3. राव मनमोहन प्रारुप
4. नव-गाँधीयन विकास मॉडल-पूरा (PURA)

नेहरू महालनोविस प्रारुप (Nehru Mahalnobis Model)

नेहरू विकास मॉडल की विशिष्ट उपलब्धियां इस प्रकार हैं–

1. कृषि उत्पादकता में भारी वृद्धि के कारण उर्वरक व तकनीकी का प्रयोग जिससे देश में खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता।

नोट

2. भारत में औद्योगिक क्षमता के विस्तार को कारण पूंजी वस्तुओं में कामगार व सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका।
3. संचालन शक्ति, सिंचाई, परिवहन एवं संचार आदि के रूप में आर्थिक अवसंरचना का विकास।
4. आधुनिक औद्योगिक ढांचे को चलाने हेतु विकास एवं अनुसंधान और तकनीकी व प्रबन्धकीय कार्यों की स्थापना।

नेहरू महालनोविस में औद्योगिकरण पर बल देने का कारण

1. आधारिक व मूलभूत उद्योगों के विकास द्वारा ही तीव्र औद्योगिकरण को प्राप्त किया जा सकता है। यह आगामी विकास की पृष्ठभूमि को तैयार करते हैं।
2. औद्योगिक क्षेत्र के विकास से अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों को मदद मिलती है जैसे औद्योगिक क्षेत्र में कृषिजन्य वस्तुओं की मांग तो बढ़ती है साथ ही साथ कृषि विकास के लिए भी कृषि आदानों से सम्बन्धित उद्योगों का विकास होता है।
3. कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता कम करने हेतु औद्योगिक विकास आवश्यक था।
4. 1956 में अर्थव्यवस्था में असंतुलन व्याप्त था, औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ापन था इसलिए नये उद्योगों की स्थापना और विद्यमान उद्योगों का विकास एवं विस्तार आवश्यक था। इसके लिये उत्पादन तथा तकनीकी क्षमता को बढ़ाने हेतु औद्योगिकरण की नीति को अपनाना आवश्यक था।
5. उद्योगों की स्थापना से रोजगार संभावनाओं का सृजन किया जा सके और साथ ही प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ायी जा सके।
6. औद्योगिक विकास के द्वारा यातायात एवं संवहन के साधनों और शक्ति के उत्पादकता को भी गति प्रदान कर सके।

नेहरू-महालनोविस मॉडल की कमियां

भारी उद्योगों पर आधारित नेहरू विकास मॉडल में कई कमजोरियां थी। तीन दशकों के आयोजन के बावजूद यह राष्ट्रीय न्यूनतम जीवन स्तर उपलब्ध कराने में असफल रहा। 40 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या निर्धनता स्तर के नीचे रह रही थी। बेरोजगार और अल्प रोजगार व्यक्तियों की संख्या बहुत ज्यादा रही, और यह लगातार बढ़ रही थी। आय तथा सम्पत्ति की असमानतायें और गंभीर होती जा रही थी। कुछ लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति का सकेन्द्रण बढ़ता जा रहा था। भू-सुधारों को सही ढंग से लागू नहीं किया गया और इस कारण ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत अधिक असंतोष रही। इन सबके अतिरिक्त देश में कभी एक और कभी दूसरी वस्तु का अभाव बना रहा है। और इसके परिणामस्वरूप देश में एक भयंकर स्फीतिकारी दबाव पैदा हो गया। इन परिस्थितियों के देखते हुए टपकन सिद्धांत को स्पष्ट किया जा सकता है।

टपकन सिद्धांत (Trikle Down Theory)

यह सिद्धान्त वस्तुतः परकोलेशन सिद्धांत (Percolation Theory) Filtration Theory व' आर्थिक वृद्धि के आय-वितरण पर प्रभाव' के रूप में जाना जाता है। इस बात का आधार यह है कि आर्थिक विकास या उच्च संवृद्धि दर (high growth rate) से उत्पन्न लाभ का अंश स्वतः रिसाव के द्वारा अन्य निम्नतर प्राथमिकताओं के उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायक होंगे। जैसे गरीबी निवारण, रोजगार, सृजन, आय असमानता में कमी, जीवन की गुणवत्ता में सुधार, आत्मनिर्भरता आदि। यह समझा जाता है कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय का आकार बड़ा होता जायेगा वैसे-वैसे गरीबों की आय का हिस्सा बड़ा होता जायेगा और निर्धनता स्वतः दूर हो जायेगी। संवृद्धि स्वतः संचालित होगी।

टपकन सिद्धान्त की असफलता के कारण

टपकन सिद्धान्त परिकल्पना की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि यह निर्धनता निवारण व रोजगार सृजन में सहायक हुई या नहीं। इस प्रकार इसे दो तरिके से स्पष्ट किया जा सकता है।

1. प्रथम, निजी क्षेत्र में होने वाले विनियोग तथा उसके फलस्वरूप रोजगार सृजन में अंश के द्वारा लाभ के फैलाव की सीमा निर्धारित करके। यदि रोजगार सृजन अंश अधिक रहा तब आर्थिक विकास से उत्पन्न लाभ धीरे-धीरे

नोट

समयान्तर में नीचे की और रिस कर चला जायेगा। ज्ञातव्य है कि निजी क्षेत्र द्वारा किये जाने वाले निवेश का रोजगार सृजन भाग अत्यन्त ही कमजोर होगा। इसलिए टपकन (रिसाव) सिद्धांत आवश्यक रूप से गलत सिद्ध होगा।

2. द्वितीय, निजी क्षेत्र प्रदत्त उत्पादन के ढांचा के कारण आर्थिक विकास की दर अत्यन्त ही अधिक हो पर राष्ट्रीय उत्पाद में मजदूरी वस्तुओं का हिस्सा कम हो। यह सामान्यतया बाजार निर्देशित उत्पादन व्यवस्था में होगा तो भी सिद्धांत गलत सिद्ध होगा।

अन्ततः यह महसूस किया गया कि FYP-6 में रिसाव सिद्धांत का प्रभाव निर्धनों तक नहीं पहुंच रहा है तभी निर्धारण निवारण कार्यक्रमों का प्रारम्भ हुआ। नवीन आर्थिक सुधारों के दौर में रिसाव सिद्धान्त असफल रहा है फलस्वरूप निर्धनता निवारण में आर्थिक सुधार की भूमिका नहीं रही है।

गांधीवादी मॉडल

इसमें ग्रामीण विकास, कृषि एवं लघु एवं कुटीर उद्योग के विकास के माध्यम से करने पर बल था। आर्थिक विकेन्द्रीकरण की नीति पर आधारित था। इसमें लोगों को रोजगार प्रदान कर आत्मनिर्भर बनाने पर बल दिया गया था। 1977 के औद्योगिक नीति में इस दिशा में बल दिया गया।

राव-मनमोहन प्रारूप (Rao-Manmohan Model)

विकास का राव-मनमोहन प्रारूप भारत में आर्थिक संकट (1990-91) के बाद 1991 में अपनाया गया। 90 के दशक में एक नवीन रणनीति राव-मनमोहन प्रारूप अपनाने से नेहरू महालनोविस प्रारूप पूर्ण रूप से अपनी महत्ता खो दी। यह संवृद्धि एवं विकास में एक नये रणनीति का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें उदारीकरण एवं वैश्वीकरण पर बल है। इसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के खोले जाने एवं बाजार की शक्तियों के महत्वपूर्ण भूमिका पर बल है। इस रणनीति में अर्थव्यवस्था के संवृद्धि एवं विकास में निजी क्षेत्रों की भूमिका बहुत सीमाओं तक सार्वजनिक क्षेत्रों की भूमिका को प्रतिस्थापित करती है। राव-मनमोहन प्रारूप में 'निर्यात-प्रेरित संवृद्धि' के रणनीति को अपनाया गया है। आयात-प्रतिस्थापन (Import Subtitution) के रणनीति के स्थान पर इसे स्वीकार किया गया है।

राव-मनमोहन मॉडल द्वारा निम्न परिवर्तन लाये गये

(1) सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योग निजी उद्योग के लिए खोल दिये गये। सरकार हानि-उठाने वाले सार्वजनिक उद्यमों को निजी क्षेत्र को सौंपना चाहती थी परंतु वह इस लक्ष्य मे विफल रही। प्रारंभ में विनिवेश से प्राप्त राशि का उपयोग राजकोषीय घाटा का कम करने हेतु उपयोग किया गया।

(2) लाइसेंस राज का उदारीकरण किया गया, बिना लाइसेंसे प्राप्त किये निजी क्षेत्र को औद्योगिक इकाइयां स्थापित करने की अनुमति देकर सरकार ने निजी क्षेत्र के निवेश में रूकावटों को समाप्त किया।

(3) MRTP कंपनियों के संदर्भ में सरकार ने परिसम्पत्तियों की सीमा को समाप्त करके व्यावसायिक तन्त्र को स्वतन्त्र बना दिया। इस प्रकार एकाधिकार आयोग की अनुमति लिए बिना असीमित निवेश कर सकते हैं।

(4) FDI को सुविधाजनक बनाने हेतु सरकार ने उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को 51 प्रतिशत तथा उससे अधिक करने की स्वीकृति का निर्णय लिया।

(5) विदेशी तकनीकों के संदर्भ में देश में विकसित तकनीकी के विदेशी परीक्षण के लिए कोई स्वीकृति लेने की जरूरत नहीं होगी।

(6) बीमार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) के अन्तर्गत लाया गया ताकि वह उनके पुनर्वास सम्बन्धी योजनाएं तैयार करे।

(7) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निष्पादन को उन्नत बनाने हेतु सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबन्धकों और सरकारी कर्मचारियों के बोर्डों को अधिक स्वायत्तता बाद में दी गयी।

(8) विश्व के शेष देशों से निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अर्थव्यवस्था में ढील दिया गया। विदेशी पूंजी, तकनीकी और आयात को सुविधाजनक बनाने हेतु आयात-शुल्क तथा अन्य अवरोधक घटाये गये।

नोट

नवगांधीयन विकास प्रारूप-पूरा (PURA) (Neo-Gandhian Approach of Development)

ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी क्षेत्रों जैसी मूलभूत सुविधाओं को उपलब्ध कराने के लिए 2004 से विकसित किये गये एक प्रारूप को -PURA-Providing Urban Aminities In Rural Areas 'पूरा' नाम दिया गया है। मूलत: यह प्रोफेसर डॉ, कलाम द्वारा दिया गया सुझाव है जोकि उन्होंने राष्ट्रीय विज्ञान कांग्रेस के 90वें अधिवेशन चंडीगढ़, जनवरी 2004 में प्रस्तुत किया। इसमें ग्रामीण क्षेत्र के समन्वित एवं समयबद्ध आर्थिक विकास के लिए तैयार किये गये दस्तावेज विजन 2020 में इस मॉडल के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रोफेसर कलाम ने ग्रामीण विकास की परम्परागत तकनीक के एक बेहतर विकल्प के रूप में 'पूरा' का जो अभिनव प्रारूप प्रस्तुत किया है उसमें 4 प्रकार के सम्पर्कों की बात कही गयी है।

1. सड़क परिवार एवं विद्युत संयोजन के रूप में भौतिक संपर्क।
2. विश्वसनीय, दक्ष एवं त्वरित दूरसंचार, इंटरनेट एवं सूचना प्रौद्योगिकी सेवाओं के रूप में इलेक्ट्रॉनिक्स संपर्क।
3. अच्छी शिक्षण एवं प्रशिक्षण के रूप में ज्ञान संपर्क।
4. ग्रामीण क्षेत्र के उत्पादकों, कृषकों एवं अन्य को उनके उत्पादन का अधिकतम संभव मूल्य दिलाने में सक्षम आर्थिक संपर्क।

क्षेत्र और विकास की वर्तमान अवस्था को देखते हुए 'पूरा' का वर्गीकरण 3 वर्गों में किया जा सकता है।

1. Type A: यह किसी शहर क्षेत्र के समीप होता है जहां न्यूनतम बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध होती हैं।
2. Type B: यह भी शहरी क्षेत्र के समीप होता है, लेकिन वहां अपर्याप्त एवं बिखरे रूप में बुनियादी सुविधाएं होती हैं।
3. Typc C: यह भीतरी क्षेत्र में पिछड़े रूप में होता है, जहां बुनियादी सुविधाएं नहीं होती हैं। पूरा बहुत सी ग्रामीण समस्याओं का सुलभ समाधान उपलब्ध करता है। तथा बेरोजगारी, बाजार से अलगांव, संपर्क सुविधा का अभाव आदि। प्रक्रियानुसार उत्पादन का विस्तार एवं रोजगार के नये अवसरों का सृजन किया जायेगा।

अन्तत: 'पूरा' एक विकसित एवं क्रांतिकारी कदम है जो केन्द्र एवं राज्य सरकारों तथा स्थानीय निकायों के बीच समन्वय और निजी क्षेत्र एवं सामुदायिक भागीदारी के सम्मिलित प्रयासों द्वारा ही सम्भव है। **'पूरा'** से चहुँमुखी लाभ संभावित है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में संरचनात्मक उन्नयन द्वारा रोजगार एवं विकास के अवसरों का सृजन होगा। गांवों से शहरों को पलायन की दर घटने से महानगरों पर बढ़ते जनसंख्या दबाव पर नियंत्रण पाया जा सकेगा। आत्मनिर्भर एवं प्रगतिशील ग्राम्य विकास से नगर ग्राम्य संबंध भी प्रभावित होंगे। ग्रामीण क्षेत्र जिनकी विशिष्ट भौगोलिक एवं पर्यावरणिक स्थिति है पर्यटकों को आकर्षित करने में समर्थ हो सकेंगे। विविधीकरण, मूल्यवर्धन एवं बाजार विस्तार द्वारा कृषि क्षेत्र रोजगार सृजन करके साथ ही निर्यात आधिक्य सृजित करके देश के विकास में अपना योगदान दे सकता है। इससे ग्रामीण भारत को प्रति व्यक्ति आय, प्रति व्यक्ति उत्पादन एवं जीवन स्तर में भी वृद्धि होगी।

नोट्स National Commission on Enterprise in unorganized Sector informal Sector ने 'पूरा' की तर्ज़ पर कुछ च्पसवज च्तवरमबज शुरू किये गये हैं जिनका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में 'संवृद्धि ध्रुव' (Growth Pole) बनाना है।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाएँ एक दृष्टि में

पंचवर्षीय योजनाएँ	*अवधि*	*मॉडल*	*केन्द्र बिन्दु*	*उद्देश्य*	*लक्ष्य*	*प्राप्ति*
प्रथम	1951–1956	हैरोड–डोमर मॉडल	कृषि क्षेत्र का विकास	**ww-II** तथा देश विभाजन की समस्याओं का समाधान तथा अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण	2.1%	3.6
द्वितीय	1956–1961	प्रो. पी.सी. महालनोनिवस का क्षेत्रीय मॉडल	आधारभूत एवं भारी उद्योगों का विकास	तीव्र औद्योगिकरण	4.5%	4.2
तृतीय	1961–1966	प्रो. सेडी व सुब्रयम चक्रवर्ती मॉडल	स्वालंबी तथा स्वत: अर्थव्यवस्था का निर्माण	स्वालंबी एवं स्वयं स्फूर्ति अर्थव्यवस्था का निर्माण	5.6%	2.7
चतुर्थ	1969–1974	एलन मान्ने तथा अशोक रूद्र मॉडल	स्थिरता के साथ विकास	स्थिरता के साथ विकास तथा आत्मनिर्भरता प्राप्ति	5.7%	**2.1 (Min)**
पांचवीं	1974–1979	योजना आयोग की प्रारूप पत्र	निर्धानता उन्मूलन तथा आत्मनिर्भरता	निर्धनता उन्मूलन तथा आत्मनिर्भरता की प्राप्ति	4.4%	4.8
छठवीं	1980–1995	निवेश मॉडल	आधुनिकीकरण पर बल	निर्धनता निवारक तथा बेरोजगारी उन्मूलन	5.2%	5.4
सातवीं	1985–1990	दीर्घकालीन विकास विधि का	भोजन, काम, उत्पादकता	तीव्र विकास, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता तथा उदरीकृत मॉडल सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति	5.0%	6.0
आठवीं	1992–1997	डब्ल्यू. मिलर मॉडल	मानवीय संसाधनों का विकास	समग्र आर्थिक विकास	5.6%	6.7
नौवीं	1977–2002	योजना आयोग का अधिगम पत्र	न्यायपूर्ण तथा समानता के साथ विकास	सामाजिक न्याय तथा समानता के साथ विकास	6.5%	5.4
10वीं	2002–2007	योजना आयोग का पत्र	कृषि पर बल द्वारा मानव विकास	21वीं सदी में भारत को विश्व शक्ति बनाना	7.0%	7.8
11वीं	2007–2012	योजना आयोग का पत्र	तीव्रततम और समावेशी विकास	सामाजिक विकास	8.1%	8.2 (अनंतिम)
12वीं	2012–2017	योजना आयोग का पत्र	तीव्र, धारणीय एवं अधिक	–	9%	–

नोट

नोट

लक्ष्य से अधिक प्राप्ति होने वाले पंचवर्षीय योजना-घटते क्रम

योजना	वास्तविक प्राप्ति दर
11वीं पंचवर्षीय योजना	**8.2 (अनंतिम)**
10वीं पंचवर्षीया योजना	7.8
आठवीं पंचवर्षीया योजना	6.68
सातवीं पंचवर्षीया योजना	6.02
छठी पंचवर्षीया योजना	5.54
पांचवीं पंचवर्षीया योजना	4.83
प्रथम पंचवर्षीया योजना	3.60

नोट–दसवीं पंचवर्षीय योजना की मध्यावधि समीक्षा में भारत का विकास दर 8 प्रतिशत को संशोधित करके 7 प्रतिशत रखा गया।

प्रधानमंत्री ने 11वीं पंचवर्षीय योजना के 9% के लक्ष्य को संशोधित कर 8.1 प्रतिशत रखा है।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का उद्देश्य 2007 तक 15-35 आयु वर्ग के व्यक्तियों को कामकाज करने लायक साक्षर बनाना तय किया गया, ताकि 2007 तक स्थायित्व का स्तर 75% तक पहुंचाया जा सके। 2001 की जनगणना में आरंभिक परिणामों के अनुसार साक्षरता अनुपात 1991 में 52.21% से बढ़कर 2001 में 64.84% हो गया। महिला साक्षरता, जोकि 1991 में 64.13% थी, 11.13% अंक बढ़कर 2001 में 75.26% हो गई। इस तरह पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की साक्षरता दर में तेजी से वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन ने कार्यक्रमों में महिलाओं की भागीदारी (60%) पर विशेष बल दिया गया है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का राष्ट्रीय महिला साक्षरता मिशन में परिवर्तित कर दिया जाएगा।

11वीं योजना 'सक्सेस' (माध्यामिक स्तर पर शिक्षा का सर्वव्यापीकरण तथा उसकी गुणवत्ता में सुधार) नामक एक केंद्र-प्रवर्तित सर्वसमाहित योजना शुरू करने के लिए प्रावधान करती है। इस योजना के मुख्य लक्ष्य हैं–

1. स्कूलों में प्रवेश, पढ़ाई बीच में छोड़ने और पढ़ाई जारी रखने के मामलों में लिंग-आधारित, सामाजिक और क्षेत्रीय असमानताओं में भारी कमी लाने के साथ माध्यमिक शिक्षा का सर्वव्यापी बनाना।
2. विज्ञान और गणित की पढ़ाई पर फोकस करते हुए गुणवत्ता में सुधार करना।
3. माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में उत्कृष्टता के मानक स्थापित करने के लिए ब्लॉक स्तर पर उच्च गुणवत्ता वाले 600 आदर्श स्कूल स्थापित करना।
4. मौजूदा 15,000 स्कूलों को माध्यमिक स्कूलों में उन्नत करना।
5. 44,000 मौजूदा माध्यमिक स्कूलों की शिक्षण क्षमता बढ़ाना।
6. अतिरिक्त कक्षाओं और अतिरिक्त शिक्षकों के साथ मौजूदा स्कूलों की बुनियादी संरचना को मजबूत बनाना।
7. शिक्षा का अभाव झेल रहे इलाकों में सरकारी तथा पीपीपी दोनों स्वरूपों में अच्छी गुणवत्ता वाले स्कूलों की स्थापना को प्रोत्साहित करना।
8. बालिकाओं की शिक्षा को प्रोत्साहित करने वाले सभी स्कूलों को 100% प्रशिक्षित शिक्षक उपलब्ध कराना तथा
9. माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में आईसीटी को मजबूत बनाना।

भारत सरकार ने राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान, उत्कृष्टता मानकों के रूप में केंद्रीय विद्यालयों की तर्ज पर शिक्षा के स्तर पर 2,500 आदर्श स्कूलों, राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति-सह-योग्यता स्कॉलरशिप योजना, माध्यमिक शिक्षा के लिए लड़कियों को प्रात्साहन देने की राष्ट्रीय योजना माध्यमिक स्कूलों में अपंगों की समावेशी शिक्षा और माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के लिए बालिका होस्टलों के निर्माण एवं संचालन योजना के लिए एक केंद्र प्रायोजित योजना को स्वीकृति दी है।

नोट

11वीं योजना के निगरानी योग्य सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य

आय और गरीबी

- स.घ.उ. (जीडीपी) की वृद्धि दर को 8 प्रतिशत से 10 प्रतिशत तक बढ़ाना और प्रति व्यक्ति आय को 2016-17 तक दुगुना करने के लिए 12वीं योजना में इसे 10 प्रतिशत बनाए रखना।
- लाभों का विस्तृत दायरा सुनिश्चित करने हेतु कृषि की विकास दर बढ़ाकर प्रतिवर्ष सघउ (जीडीपी) 4 प्रतिशत करना।
- 7 करोड़ नये रोजगार अवसरों का सृजन।
- शिक्षित बेरोजगारी घटाकर 5 प्रतिशत से कम करना।
- अकुशल श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी दर में 20 प्रतिशत वृद्धि करना।
- खपत की अनुपात संख्या में 10 प्रतिशत अंकों तक कमी।

शिक्षा

- प्राथमिक विद्यालय में विद्यालय छोड़ने वाले बच्चों की दर, जो 2003-04 में 52.2 थी, में कमी लाकर 2011-12 तक 20 प्रतिशत करना।
- प्राथमिक विद्यालय में शिक्षा प्राप्ति के न्यूनतम मानकों का विकास तथा गुणवत्ता सुनिश्चित करने हेतु शिक्षा की प्रभावोत्पदकता की नियमित जांच तथा मॉनीटर करना।
- 7 वर्ष या उससे अधिक के व्यक्तियों के लिएये साक्षरता दर बढ़ाकर 85 प्रतिशत करना।
- साक्षरता के लिंग आधारित अंतर में 10 प्रतिशत अंकों तक कमी।
- 11वीं योजना के अंत तक उच्च शिक्षा हेतु जाने वाले प्रत्येक दस्ते के स्वास्थ्य प्रतिशत में वृद्धि लाकर वर्तमान 10 प्रतिशत से 15 प्रतिशत करना।

स्वास्थ्य

- प्रत्येक 1,000 जीवित बच्चों के जन्म पर शिशु मृत्युदर (आईएमआर) में कमी लाकर 28 और मातृ मृत्युदर एक (एमएमआर) करना।
- कुल प्रजनन दर में कमी लाकर 2.1 करना।
- 2009 तक सब के लिये स्वच्छ पेयजल का प्रावधान और यह सुनिश्चित करना कि 11वीं योजना के अंत तक कोई पिछड़ न गया हो।
- 0-3 वर्ष आयु समूह के बच्चों के कुपोषण के वर्तमान स्तर में आधे की कमी लाना।
- 11वीं योजना के अंत तक महिलाओं एवं लड़कियों की एनेमिया में 50 प्रतिशत की कमी लाना।

महिलाएं एवं बच्चे

- 0-6 आयु समूह के लिंग अनुपात में वृद्धि कर 2011-12 तक 935 तथा 2016-17 तक 950 करना।
- यह सुनिश्चित करना कि सभी सरकारी योजनाओं के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लाभार्थियों का 33 प्रतिशत महिलाएं एवं बालिकाएं हों।
- यह सुनिश्चित करना कि काम करने की बाध्यता के बगैर सभी बच्चों का बालपन सुरक्षित रहे।

आधारभूत संरचना

- 2009 तक सभी गांवों और गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों में बिजली का कनेक्शन और योजना के अंत तक रात-दिन बिजली की व्यवस्था।
- 1,000 या उससे अधिक आबादी वाल सभी गांवों (पहाड़ी और जनजातीय क्षेत्रों में 500) में 2009 तक सभी

नोट

मौसम के लायक सड़क सम्पर्क सुनिश्चित करना तथा 2015 तक सभी महत्वपूर्ण आवास-स्थलों को इससे जोड़ना।

- नवम्बर 2007 तक सभी गांवों को टेलीफोन से जोड़ना तथा 2012 तक सभी गांवों को ब्राडबैंड से जोड़ना।
- 2012 तक सभी को वासभूमि प्रदान करना तथा ग्रामीण गरीबों के लिए गृह निर्माण की गति तीव्र कर 2016-17 तक सभी गरीबों को आवास देना।

पर्यावरण

- वन एवं वृक्षाच्छादन में 5 प्रतिशत अंकों की वृद्धि।
- सभी प्रमुख शहरों में 2011-12 तक डब्ल्यूएचओ के मानक के अनुरूप वायु गुणवत्ता प्राप्त करना।
- नदी जलों को स्वच्छ रखने के लिए 2011-12 तक सभी गंदे जल का परिशोधन।
- 2016-17 तक ऊर्जा दक्षता में 20 प्रतिशत अंको की वृद्धि।

उच्चतर शिक्षा

भारतीय उच्चतर शिक्षा व्यवस्था विकसित होकर दुनिया की सबसे बड़ी शिक्षा व्यवस्थाओं में से एक हो गई है। वर्ष 2007-08 में 24 केंद्रीय विश्वविद्यालय, 251 राज्य विश्वविद्यालय, 103 डीम्ड युनिवर्सिटी, 11 विश्वविद्यालय। 2006-07 में उच्चतर शिखा में 12.39% जीईआर को 11वीं योजना के अंत तक 5% ता बिंदुओं तक बढ़ाने का लक्ष्य है। 12वीं योजना के अंत तक जीईआर को और अधिक बढ़ाकर 21% तक ले जाने की मंशा है। योजना में शामिल नए कदम इस प्रकार हैं–उन राज्यों में, जहां एक भी केंद्रीय विश्वविद्यालय नहीं है, 16 नए केंद्रीय विश्वविद्यालय, विश्व स्तर के 14 विश्वविद्यालय, कम जीईआर वाले जिलों में राज्यों की भागीदारी में 374 कॉलेजों की स्थापना।

स्वास्थ्य और परिवार कल्याण

11वीं पंचवर्षीय योजनाए का एक लक्ष्य जनता विशेष रूप से गरीब और शोषित लोगों को अच्छा स्वास्थ्य उपलब्ध कराना है। ऐसा करने के लिए एक व्यापक रणनीति अपनाई गई है। जिसमें व्यक्तिगत चिकित्सा सुविधाएं, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्वच्छता, साफ पीने का पानी, भोजन की उपलब्धता, स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान और आहार प्रणालियां शामिल हैं। यह योजना सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणालियों और सेवाओं जो लोगों की स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों और उम्मीदों के प्रति सजग हों का लक्ष्योन्मुख और विकसित होना सुगम बनाती है। किशोरवय लड़कियों, सभी आयु वर्ग की महिलाओं, तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों, बुजुर्गों, विकलांगों और आदिवासियों जैसे हाशिए पर स्थित लोगों के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिए जाने की जरूरत हैं। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली को मजबूत बनाने के लिए केंद्र और राज्यों द्वारा स्वास्थ्य पर किए जाने वाले कुछ खर्च में भारी वृद्धि जरूरी है। स्वास्थ्य सेवाएं जनता तक पहुंचे, इसकी जवाबदेही तय करने में पी.आर.आई., समाजसेवी समूहों का सहयोग जरूरी है। यह योजना स्वास्थ्य को सभी नागरिकों का अधिकार बनाने के लक्ष्य की और अग्रसर है और 11वीं पंचवर्षीय योजना के लिए समयबद्ध लक्ष्य इस प्रकार है–

- मातृ अनुपात को 1/प्रति 1000 जीवित बच्चों के जन्म तक कम करना।
- शिशु मृत्यु दर को 28/प्रति 1000 जीवित बच्चों के जन्म तक कम करना।
- कुल जनन क्षमता दर को 2.1 तक कम करना।
- 2009 तक सभी को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराना और यह सुनिश्चित करना कि लोग फिर से पूर्व स्थिति में न पहुंचे।
- महिलाओं और लड़कियों में खून में कमी को 50% तक कम करना।
- 0-6 वर्ष के आयु वर्ग में लिंग अनुपात को 2011-12 तक 935 और 2016-17 तक 950 तक बढ़ाना।

12 अप्रैल 2005 को शुरू किया गया राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (2005-12) का उद्देश्य कमजोर स्वास्थ्य सूचकांक और कमजोर ढांचे वाले 18 राज्यों पर विशेष ध्यान देते हुए देश की ग्रामीण जनसंख्या को प्रभावी स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध

नोट

कराना है। ये 18 राज्य हैं: अरूणाचल प्रदेश, असम, बिहार, छत्तीसगढ़, हिमाचल प्रदेश, झारखंड, जम्मू और कश्मीर, मणिपुर, मेघालय, मध्यप्रदेश, नागालैंड, उड़ीसा, राजस्थान, सिक्कि, त्रिपुरा, उत्तरांचल और उत्तर प्रदेश। यह मिशन सरकार की स्वास्थ्य पर सार्वजनिक व्यय सकल घरेलू उत्पाद के 0.9% से बढ़ाकर 2–3% करने की प्रतिबद्धता का द्योतक है।

इसका प्रमुख घटक हर गांव में एक महिला स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता होती है। इसका उद्देश्य पंचायत की स्वास्थ्य और सफाई समिति द्वारा तैयार योजना, ग्रामीण अस्पताल को प्रभावी निदानात्मक देखभाल के लिए मजबूत बनाना और भारतीय सार्वजनिक स्वास्थ्य मानकों के माध्यम से समुदाय के प्रति उत्तरदायी बनना, और स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण कार्यक्रम और धनराशि तथा ढांचे का अधिकतम उपयोग और प्राथमिक स्वास्थय परंपराओं तथा आयुष को सार्वजनिक स्वास्थ्य में पुनजीवित करना है। इसका उद्देश्य स्वास्थ्य-चिंता को सफाई और स्वास्थ्य विज्ञान, पोषण और जिला स्वास्थ्य योजना के माध्यम से सुरक्षित पेयजल के साथ एकीकृत करना है।

निम्नलिखित गतिविधियों को संचालित करते हुए 11वीं योजना

- घरों में ही नवजात शिशु की देखभाल के जरिए शिशु मृत्यु दर में कमी लाना (गड़चिरोली मॉडल)।
- प्रसव के समय (घर और स्वास्थ्य केंद्र, दोनों जगह) दक्ष देखभाल तथा दो घंटों की यात्रा के भीतर दक्ष देखभाल तथा आपातकालीन प्रासूतिक देखभाल की उपलब्धता के जरिए मातृ दर में कमी लाना।
- पुरूषों की ज्यादा भागीदारी तथा परिवार नियोजन की उपेक्षित जरूरतों पर ध्यान देकर कुल जनन क्षमता को कम करना।
- महिलाओं को अधिक धनशक्ति उपलब्ध कराकर उनमें खून की कमी और कुपोषण्या की समस्या से निपटना।
- ग्रामीण चिकित्सा और 'आयुष' पर काम करने वाले लोगों के सहयोग से सस्ती चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध कराना।
- चिकित्सा पर होने वाले खर्च, विशेष रूप से गरीबों के द्वारा और इलाज पर बढ़ते खर्चों में कमी लाने के तरीके खोजना।

टास्क गाँधीवादी मॉडल क्या है?

आर्थिक सुधारों के संदर्भ में योजना की प्रासंगिकता (Planning in the Context of Economic Reform)

आर्थिक सुधारों के इस युग में जहां एक ओर राज्य के नियमन एवं नियंत्रण में काफी सीमा तक कमी आ रही है। वहीं बाजार की शक्तियों का महत्वपूर्ण भूमिका दी जा रही है, इससे योजना की प्रासांगिता पर राष्ट्रीय बहस भी हो रही है। पंचवर्षीय योजनाओं में सरकारी निवेश के अनुपात में भी कमी आ रही है।

यह सत्य है कि अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण के परिप्रेक्ष्य में योजना के परिमाणात्मक पक्ष विशिष्ट रूप से खत्म किये जा रहे हैं और योजना प्रक्रिया की प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है।

योजना की प्रकृति में हो रह बदलाव इस रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

1. संघीय लोकतंत्र में योजना का मुख्य कार्य न केवल संघीय इकाइयों बल्कि आर्थिक एजेंडों में विचारों की सहभागिता को विकसित करना है ताकि सभी कारकों के प्रयास राष्ट्रीय प्राथमिकता की ओर अनुगामी हो।
2. निगमित क्षेत्र को बहुत सीमा तक विकास प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी बनाया जा सकता है तो दूसरी तरफ उसकी दिशा और वितरण को योजनाबद्ध लोकहस्तक्षेप द्वारा तीव्र किया जा रहा है ताकि क्षेत्रीय असंतुलन कम किया जा सके और सामाजिक आर्थिक असमानता को दूर किया जा सके।

नोट

योजनाकारों के याजनाओं के क्रियान्वयन हेतु उपलब्ध विलेख की प्रकृति में बदलाव आया है। योजना प्रक्रिया को योजना पर केंद्रित होने की आवश्यकता है ताकि बाजार में संकेतों को भेजकर विभिन्न एजेंडों को तैयार किया जा सके ताकि वे राष्ट्रीय लक्ष्यों के साथ विकास में सहभागी बने। भारत में संघात्मक व्यवस्था के बावजूद, योजना की भूमिका राज्यों को प्रोत्साहित करने की है ताकि वे आर्थिक सुधारों को आगे बढ़ा सके। कृषि में सुधार की आवश्यकता तो पूरे राष्ट्र से सम्बद्ध है किंतु कृषि राज्य सूची का विषय है।

आधारभूत स्तर पर बनने वाली योजनाओं में संसाधनों के उचित अपयोग और वितरण प्रणाली में सुधार के लिए भागीदारी बहुत आवश्यक है। इसलिए सरकार की भूमिका भागीदारी वाली याजनाओं को सुविधाएं देने की है। आर्थिक सुधारों के नये परिप्रेक्ष्य में अनेक बदलाव देखे जा सकते हैं। सरकार योजना प्रक्रियाओं को दिशा-निर्देश देती थी जबकि वर्तमान में सरकार केवल लक्ष्यों को बतलाती है तथा वृद्धि या विकास हेतु सुविधाएं प्रदान करती हैं इस प्रकार अब सरकारी भूमिका में कमी आयी है जिसका संकेत पंचवषीय योजना के दौरान स्पष्ट होता है।

उदारीकरण में योजना के प्रतिमान परिवर्तित होते रहते हैं ताकि मानव विकास हेतु सामाजिक आधारभूत संरचना के निर्माण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके, पारिस्थितिकी की रक्षा की जा सके, वातावरण एवं प्राकृतिक संसाधनों का पुनर्निर्माण किया जा सके, असुरक्षित वर्गों की रक्षा की जा सके और संतुलित क्षेणी का विकास किया जा सके।

चूंकि बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था की समस्या है कि वह अल्पकालिक आवश्यकताओं के प्रबन्धन हेतु समृद्ध वर्गों की ओर लक्षित होता है तथा अधिक विकसित क्षेत्रों पर ही ध्यान देता है। बड़ी समस्याओं, जिन पर राष्ट्रीय प्रयास की आवश्यकता होती है, यह बहुत कम संवेदनशील होता है। इसलिए योजना का प्रयोग करना जरूरी है। इसके अलावा संघीय वित्त के संदर्भ में योजना के प्रयोग का प्रासांगिक होना जारी है क्योंकि संसाधनों की साझेदारी, वृद्धि एवं स्रोत को अच्छे तरीके से समझा जा सकता है। विद्यमान उदारीकरण की प्रक्रिया की प्रवृत्ति कमजोर राज्यों को कम महत्व देती है और इसलिए विकास योजना प्रक्रिया की आवश्यकता है ताकि बाजारोन्मुखी विकास से क्षेत्रीय आर्थिक असंतुलन न हो सके।

समाज के विभिन्न वर्गों के बीच संसाधनों का उचित आवंटन योजना का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य है। इसका महत्व इसलिए बढ़ जाता है क्योंकि यह एकाधिकार बाजारोन्मुखी अर्थव्यवस्था के मूलभूत भाग हैं।

दूरसंचार

11वीं योजना की अवधि (2007-12) में दूरसंचार क्षेत्र के लिए मोटे तौर पर ये लक्ष्य होंगे–

- दूरसंचार सुविधाओं के उपभोक्ता आधार को 60 करोड़ तक ले जाना।
- 2012 तक ग्रामीण क्षेत्रों में 20 करोड़ टेलीफोन कनेक्शन उपलब्ध कराना, अर्थात् ग्रामीण टेलीडेंसिटी को 25 तक ले जाना।
- पूरे देश में सस्ती दरों पर मांग पर टेलीफोन कनेक्शन उपलब्या करना।
- 2004 की ब्रॉडबैंड नीति के अनुसार 2010 तक 2 करोड़ रुपए ब्रॉडबैंड कनेक्शन और 4 करोड़ इंटरनेट कनेक्शन देने का लक्ष्य प्राप्त करना।
- 2012 तक पूरे देश में मांग पर ब्रॉडबैंड कनेक्शन उपलब्ध कराना।
- 1 लाख से अधिक जनसंख्या वाले सभी शहरों/कस्बों में तीसरी पीढ़ी (3जी) की सेवाएं उपलब्ध कराना।
- मोबाइल टी.वी. को बाजार में उतारने के सुविधाएं प्रदान करना।
- दो वर्षों में प्रत्येक माध्यमिक स्कूल, स्वास्थ्य केंद्र, जी.पी. को मांग पर ब्रॉडबैंड कनेक्टिविटी उपलब्ध करना।
- विशेष रूप से दूरसंचार क्षेत्र के लिए विशेष आर्थिक जोन्स की स्थापना को सुगम बनाकर भारत को दूरसंचार उपकरणों के विनिर्माण का केंद्र बनाना।

नोट

11वी पंचवर्षीय योजना और समावेशी विकास

'समावेशी विकास की धारणा वस्तुत: पहले से चली आ रही है। यह 'सामाजिक न्याय के साथ विकास' (Growth with Social justice) की धारणा का नया वाक्य विन्यास (para phrasing) है। आर्थिक विकास का वितरणात्मक पहलू या समावेशी विकास का पहलू आर्थिक विकास की प्रक्रियास में रोजगार गुणांक (Employment Coefficient) पर निर्भर करेगा। क्योंकि रोजगार वह माध्यम है जो आर्थिक विकास की प्रक्रिया में ही लोगों को आय हस्तान्तरित करता है परन्तु बाजार व्यवस्था पर आधारित आर्थिक विकास का रोजगार पहलू अत्यन्त ही कमजोर है। फिर ऐसी अर्थव्यवस्था में 'समावेशी विकास' लेने का तरीका (Mechanism) क्या हो? वैसे यह माना जाता है बाजार व्यवस्था पर आधारित आर्थिक विकास प्रणाली में राज्य की भूमिका नगण्य होगी पर इस प्रणाली में 'समावेशी विकास' सुनिश्चित करने में राज्य की भूमिका या 'सार्वजनिक व्यय नीति' की भूमिका आवश्यक होगी। बिना इसके समावेशी विकास हो ही नहीं सकता।

समावेशी विकास स्थापित करने के निम्नांकित महत्वपूर्ण घटक होंगे

ऐसे राज्य जहाँ वित्तीय विकास अधिक है, जनसंख्या में शिक्षित जनसंख्या की मात्रा अधिक है, जहाँ अधोसंरचना का अधिक विकास हुआ है, श्रम बाजार अधिक लोचशील है वहाँ आर्थिक विकास प्रक्रिया में गरीब अधिक लाभान्वित हुए हैं। इसलिए समावेशी विकास के लिए इन पर बल आवश्यक है।

(*i*) आधारभूत आवश्यक वस्तुओं तक सभी की पहुँच

(*ii*) शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले सभी बेरोजगारों के लिए सामान्य रूप से तथा कमजोर वर्ग के लोगों के लिए विशेष रूप से रोजगार के अवसर में वृद्धि। **रोजगार में वृद्धि को विकास की प्रक्रिया के साथ जोड़ना।**

(*iii*) कृषि तथा ग्रामीण, विकास सुनिश्चित करना जिसके लिए इस क्षेत्र में कमजोर तथा निर्धनों, महिलाओं तथा बच्चों का सामाजिक तथा आर्थिक सशक्तीकरण

(*iv*) अनूसूचित जाति/जनजाति, अल्पसंख्यकों या किसी वर्ग के कमजोर तथा निर्धनों, महिलनाओं तथा बच्चों का सामाजिक तथा आर्थिक सशक्तिरण।

(*v*) शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास तथा खाद्यसुरक्षा पर अधिक सार्वजनिक व्यय।

(*vi*) कमजोर वर्ग के सभी लोगों के सम्बन्ध में ऐसे उपाय सुनिश्चित करना जिससे उनके उपर मूल्य स्तर में स्फीतिक वृद्धि का प्रभाव कम से कम हो।

उच्च संवृद्धि पथ' पर पहुंचने के बाद भी लोगों ने यह निश्चित रूप से यह महसूस कर लिया कि बाजार पर आधारित

आर्थिक विकास मॉडल उच्च संवृद्धि दर तो दे सकता है परन्तु समावेशी विकास नहीं।

आय के स्तर के आधार पर अवश्य निचले दस-दस प्रतिशत के दो वर्ग के लिए यदि हम विभिन्न अवधियों में मानव विकास सूचकांक (जिसमें लिए गए चरों को और अधिक बढ़ाकर व्यापक करें तो), तैयार करें, या रोजागार अवसर वक्र तथा जेन्डर डिसपैरिटी इन्डेक्स, सेन्स्टिविटी इन्डेक्स तैयार करें, तथा विभिन्न अवधियों में इनमें हुए परिवर्तनों का अध्ययन करें तो सुनिश्चित कर सकते हैं कि समावेशी आर्थिक विकास हुआ है या नहीं।

समग्र विकास के दो प्रमुख घटक हैं–सामाजिक और वित्तीय समावेश। सामाजिक एवं वित्तीय समावेशन के बीच गहरा संबंध है। तदनुसार, सरकार के अनु. जाति, अनु-जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग तथा अशक्त व्यक्तियों जैसे सामाजिक रूप से बहिष्कृत वर्गों को वित्तीय तौर पर सशक्त बनाने के लिए कई स्कीमें बनाई हैं। समावेशी विकास के एक बड़े कदम के रूप में "स्वाभिमान" 10 फरवरी 2011 को शुरू किया गया जिसका उद्देश्य प्रौद्योगिकी का प्रयोग करते हुए शाखारहित बैंकिंग सुविधाएं मुहैया कराना है। बैंक करोबारी सुविधाकर्ता (बैंक साथी) की सेवाओं

नोट

को इस्तेमाल करके जमा करने, आहरण और विप्रेषण जैसी बुनियासदी सेवाएं मुहैया कराएंगे। इस कदम से सरकारी सब्सिडियां और सामाजिक सुरक्षा के लाभ लाभार्थियासें के खातों में सीधे जमा कराए जा सकेंगे जिससे वे अपने गांव में ही कारोबारी सुविधाकर्ता की मदद से पैसा निकाल पाएंगे। वित्तीय समायोजन की दृष्टि से अब भी काफी पीछे हैं। जनजातीय आबादी, जो जनसंख्या का एक बड़ा वर्ग है, देश के शेष हिस्सों में दिखाई देने वाले सामाजिक-आर्थिक विकास से कोसों दूर है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक पूर्वोत्तर राज्य में उनकी अपनी गैर-ईसाई (एथेनिक) एवं सामाजिक-आर्थिक समस्याएं हैं, जिनका कोई सर्वमान्य समाधान नहीं है। पूर्वोत्तर में सामाजिक समावेशन वित्तीय समावेशन से एकदम सम्बद्ध है तथा इस दिशा में सुधारात्मक कदम उठाने की जरूरत है।

शहरी परिवहन

रेल– लगभग 63,630 किमी. रूट के साथ माल ढ़ोने के मामले में अमेरिका, चीन और जापान के बाद चौथा सबस बड़ा और यात्री परिवहन में जापान के बाद दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा रेल नेटवर्क है। माल ढोने की क्षमता बढ़ाने के लिए दो डेडीकेरिट फ्रेट कॉरिडोर बनाने का फैसला किया गया है: पूर्वी गलियारा-लुधियाना-मुगलसराय-डंकुनी (1,806 किमी.) और पश्चिमी गलियारा-जवाहरलाल नेहरू पोर्ट-बड़ोदरा-रेवाड़ी-तुगलकाबाद/दादरी (1,483 किमी)।

यद्यपि, वर्तमान में दिल्ली, बेंगलुरू तथा कोलकाता मास रेपिड ट्रांजिट सिस्टम परियोजनाएं लागू होने के चरण में हैं, चेन्नई मेट्रो रेल परिवहन भी अनुमोदित हो गई हे। दिल्ली एमआरटीएस में पूंजी निवेश इक्विटी के जरिए तथा भूमि अर्जन के लिए अधीनस्थ ऋण तथा केंद्रीय करों का भुगतान भारत सरकार और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (एनसीआर) दिल्ली सरकार द्वारा बराबर-बराबर किया जा रहा है। साथ ही जापान इंटरनेशनल कॉरपोरेशन एजेंसी (जेआईसीए) की तरफ से हल्की ऋण सहायता प्रदान की जा रही है। जेआईसीए की तरफ से धन अनुभव के रूप में मुहैया कराया जा रहा है। इसके अतिरिक्त, गुड़गांव और नोएडा तक मेट्रो के विस्तार कार्य के लिए हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा भारत सरकार द्वारा 80:20 के अनुपात में सहायता प्रदान की जा रही है। दिल्ली एमआरटीस के पहले चरण का कार्य पूरा हो चुका है।

दिल्ली मेट्रो रेल परियोजना की तर्ज पर ही बंगलुरू, कोलकाला तथा चेन्नई मेट्रो रेल परियोजनाएं क्रियान्वित की जा रही हैं। निर्माण के साथ ही संचालन तथा रख-रखाव का कार्य भी भारत सरकार और संबंधित राज्य सरकारों की संयुक्त कंपनियों के जरिए किया जा रहा है। परियोजना के सफल क्रियान्वयन के लिए एक स्पेशल परपज व्हीकल (एसपीवी) का गठन किया गया है। भारत सरकार तथा राज्य सरकार की पूंजी भागीदारी 50:50 के आधार पर है। चूंकि सार्वजनिक का प्रमुख रूप बस ही बनी हुई हैं। सभी राज्य सरकारों और शहरों में आधुनिक आईटीएसव संपन्न सार्वजनिक-निजी भागीदारी के आधार पर नगर बस सेवा शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है और ऐसी गुणवत्ता जिसे जनता के समकक्ष 'ब्रांडेड उत्पाद' के रूप में पेश किया जा सके। भोपाल, जोधपुर, उदयपुर, लुधियाना तथा जयपुर जैसे शहरों में आधुनिक नगर बसे सेवा शुरू और विचारित की गई है। इसके अतिरिक्त, लागत प्रभाविकता पूरा किए जाने योग्य की संभावना को ध्यान में रखते हुए बहुत से शहरों ने बीआरटी प्रणाली को चुना है जो दिल्ली, अहमदाबाद, सूरत, राजकोट, इंदौर, भोपाल, पुणे, पिंपरी-चिंचवाड़, जयपुर, विजयवाड़ा और विशाखापट्टनम में लागू की जा रही है।

नागरिक उड्डयन– इस क्षेत्र का मुख्य उद्देश्य सुरक्षित, विश्वसनीय और सस्ती हवाई सेवाएं प्रदान करना तथा देश का संतुलित और समावेशी विकास करना भी है।

उपरोक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए बहुत से कार्यक्रम शुरू किए गए हैं। इन कार्यक्रमों में शामिल हैं: (1) विमान हासिल करना,(2) महानगरीय और अन्य हवाई अड्डों का आधुनिकीकरण और पुनर्संरचना, (3)गीन फील्ड हवाई अड्डों का निर्माण और (4)पूर्वोत्तर क्षेत्रों और अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों में हवाई संपर्क की स्थिति में सुधार करना।

नोट

11 वीं योजना के लिए ग्रोथ रेट लक्ष्य घटाकर 8.1 किया गया

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के अनुसार गरीबी दूर करने और रोजगार के अधिक अवसर पैदा करने के लिए देश को 12वीं योजना के दौरान 10 प्रतिशत की जीडीपी वृद्धि दर का लक्ष्य तय करना चाहिए। योजना अयोग ने 11वीं योजना की मध्यवर्ती समीक्षा में जीडीपी वृद्धि दर का लक्ष्य 9 प्रतिशत से घटाकर 8.1 प्रतिशत कर दिया है।

इस मुकाम तक पहुंचाने में बिजली क्षेत्र की भूमिका महत्वपूर्ण होगी। किसी भी खरीददार को बिजली बेचने की छुट देने से ऐसा बाजार बनाया जा सकेगा जिससे निवेश आकर्षित करने और प्रतिस्पर्धा के जरिए बिजली की दरें कम करने में मदद मिलेगी। इंफ्रास्ट्रक्चर में अधिक निवेश हेतु निजी भागीदारी से बुनियादी ढांचे का विस्तार करने में मदद मिलेगी।

इंफ्रास्ट्रक्चर में निजी निवेश 2008-09 के दौरान जीडीपी का 2.42 प्रतिशत रहा। इसी अवधि में इंफ्रास्ट्रक्चर में कुल निवेश जीडीपी का 7.18 प्रतिशत था। 11वीं योजना के लिए निजी निवेश की हिस्सेदारी जीडीपी की 2.73 प्रतिशत आंकी गई है। 12वीं योजना के लिए इंफ्रास्ट्रक्चर में निवेश जीडीपी के 9.95 प्रतिशत होने का लक्ष्य तय किया गया है। अर्थव्यवस्था में ऊंची वृद्धि दर हासिल करने के लिए आयोग ने सुझाव दिया कि सरकार को राजकोषीय घाटा कम करने और निवेश को बढ़ावा देने वाला आर्थिक वतावरण बनाने पर ध्यान देना चाहिए।

12वीं पंचवर्षीय योजना का दृष्टिकोण

लक्ष्य: तीव्रतर, सतत और अधिक समावेशी विकास। (ग्रोथ रेट का लक्ष्य–सकल घरेलू उत्पाद का 9 प्रतिशत)।

- घरेलू मांग से अभिप्रेरित विकास पुनरूत्थान पर ध्यान केन्द्रित करना;
- निजी निवेश में उच्च वृद्धि के तीव्र पुनरूत्थान हेतु स्थितियां पैदा करना;
- कृषि, ऊर्जा और परिवहन क्षेत्रों, विशेषकर कोयला, विद्युत, राष्ट्रीय राजमार्ग, रेलवे और नागर विमानन में आपूर्ति संबंधी बाधाओं पर ध्यान देना;
- विशेषकर कुपोषण की समस्या से अत्यधिक ग्रस्त 200 जिलों में कुपोषण की समस्या से निजात पाने के लिए निर्णायक उपाय करना; और
- वितरण प्रणालियों, गवर्नेंस और पारदर्शिता में सुधार लाने; और काले धन तथा सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार की समस्या से निपटने के लिए किए जा रहे निर्णयों के समन्वित कार्यान्वयन में तेजी लाना।

विकास के साथ अनुभव

ग्यारहवीं पंच वर्षीय योजना (2007-08-2011-12) का उद्देश्य तीव्र तथा और अधिक समावेशी विकास प्राप्त करना, तीव्र जीडीपी वृद्धि, 9 प्रतिशत प्रति वर्ष के लक्ष्य के साथ, दो कारणों से आवश्यक समझी गई थी: प्रथमत: आय और रोजगार अवसर पैदा करना जो अधिकांश आबादी के लिए रहन-सहन के स्तर में सुधार करने के लिए जरूरी थे और दूसरे, गरीबी को कम करने और समावेशिता प्राप्त करने के उद्देश्य से सामाजिक क्षेत्रक कार्यक्रमों के वित्त पोषण के लिए जरूरी संसाधन सृजित करने के लिए।

ग्यारहवीं योजना के दौरान अर्थव्यवस्था में औसतन लगभग 8.2 प्रतिशत का विकास होने की संभावना है जो 9.0 प्रतिशत के मूल लक्ष्य से कम है किन्तु दसवीं योजना में प्रतिशत के मुकाबले तीव्र है। इसका अर्थ इस अवधि में प्रति व्यक्ति जीडीपी में लगभग 35 प्रतिशत की वृद्धि है। इसकी वजह से सरकारी रजस्व में भी केन्द्र और राज्य दोनों में पर्याप्त वृद्धि हुई है जिससे समावेशिता के उद्देश्य से कार्यक्रमों के लिए संसाधनों में पर्याप्त रूप बढ़ोतरी हुई है। औसत बचतों और निवेश दरों में उत्तम वृद्धि विशेष रूप से निजी क्षेत्रक में हमारी अर्थव्यवस्था की मजबूती का संकेत है।

नोट

समावेशिता

समावेशिता की दृष्टि से प्रगति का अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि समावेशिता एक बहु-आयामी अवधारणा है। समावेशी एक बहु-आयामीय अवधारणा है। समावेशी विकास से गरीबी के भार में कमी आनी चाहिए स्वास्थ्य परिणामों में व्यापक आधारित और महत्वपूर्ण सुधार होना चाहिए, स्कूल तक बच्चों की सर्वसुलभ पहुँच, उच्चतर शिक्षा तक बच्चों की सर्वसुलभ पहुँच, उच्चतर शिक्षा की अधिक सुलभता और शिक्षा के सुधरे स्तर, विकास सहित। यह, मजदूरी रोजगार और आजीविकाओं, दोनों में बेहतर अवसरों, और पानी, बिजली, सड़कें सफाई और आवासन जैसे बुनियादी सुविधाओं की व्यवस्था में सुधार परिलक्षित होना चाहिए। अनु.जातियों और अ.पि. वर्गो की जरूरतों पर खास देने की जरूरत है। महिलाओं और बच्चों की संख्या हमारी आबादी की 70 प्रतिशत है तथा कई क्षेत्रकों में संगत स्कीमों तक इनकी पहुंच के लिए ये विशेष ध्यान देने के पात्र है। अल्पसंख्यकों व अन्य छोड़े गए समूहों को भी मुख्य धारा में लाने के लिए विशेष ध्यान दिए जाने की जरूरत है। इन सभी दिशाओं में समावेशिता प्राप्त करने के लिए अनेक उपायों की आवश्यकता है और सफलता न केवल नई नीतियों और सरकारी कार्यक्रम लागू करने पर बल्कि संस्थागत और अभिवृत्तिमूलक परिवर्तनों पर निर्भर करती है। जिसमें समय लगता है।

बारहवीं योजना के लिए विकास लक्ष्य

- 9 प्रतिशत लक्ष्य के लिए कृषि में, बिजली, गैस और जलापूर्ति में तथा विनिर्माण में भी महत्वपूर्ण तेजी लाए जाने की आवश्यकता है।
- केन्द्र के लिए निवल कर राजस्व में 2011-12 (ब.अ.) में 7.40 प्रतिशत से बढ़कर 2016-17 में जीडीपी के 8.91 प्रतिशत होने की उम्मीद है, 1.51 प्रतिशतांक की वृद्धि।
- कर-भिन्न राजस्व के 2011-12 मे जीडीपी के 1.40 प्रतिशत से कम होकर 2016-17 में जीडीपी के 0. 88% होने की उम्मीद है (मुख्यत: किसी बड़े राजस्व की सम्भावना के अभाव कारण जैसे की स्पेक्ट्रम प्राप्तियाँ)
- कर्ज-भिन्न पूँजी प्राप्तियों के योगदान में (मुख्यत:विनिवेश प्राप्तियां) भी कम होने की उम्मीद हैं, अंशत: क्योंकि विनिवेश की गुजांइश की गुजांइश अब सीमित है यदि सरकारी इक्विटी को 51% से कम नहीं किया जा सकता।
- राजकोषीय घाटा सरकारी की राजकोषीय समेकन योजना के अनुरूप जीडीपी के 4.6 प्रतिशत से कम होकर जीडीपी का 3.0 प्रतिशत होने की उम्मीद है।

व्यापक वृहद-आर्थिक प्राचल-पिछली योजनाएं और बारहवीं योजना के लिए लक्ष्य

	बारहवीं योजना	**9.0**
1.	निवेश दर	
	(त्रुटियों और चूकों के लिए समायोजित सकल पूंजी निर्माण	38.7
2.	निश्चित निवेश जिसमें से	33.5
	परिवार क्षेत्रक	12.0
	निजी कारपोरेट क्षेत्रक	12.4
	सरकारी क्षेत्रक	9.1
3.	बचत दर निश्चित निवेश जिसमें से	36.2
	परिवार क्षेत्रक	24.0
	निजी कारपोरेट क्षेत्रक	8.5

नोट

	सरकारी बचत जिसमें से	3.7
	सरकारी प्रशासन	–0.5
	सरकारी उद्यम	4.0
4.	चालू खाता शेष जिसमें से	–2.5
	व्यापार शेष	–4.5
	पूंजी खात शेष	5.0
5.	डब्युपीआई मुद्रास्फीति दर	4.5–5.0

प्रक्षेपित ऊर्जा की मांग

(तेल समतुल्य का लाखों टन)

	2010–11*	2016–17@
तेल	164.32	204.80
जिसका आयात	125.5 (76.4%)	164.8 (80.5%)
प्राकृतिक गैस एवं एलपीजी	57.99	87.22
जिसका आयात	10.99 (19%)	24.8 (28.4%)
कोयला	272.86	406.78
जिसका आयात	54 (19.8%)	90 (22.1%)
भूरा कोयला	9.52	14.00
हाइड्रो	10.31	14.85
जिसका आयात	0.48 (4.6%)	0.52 (3.5%)
नाभिकीय	6.86	9.14
नवीकरणीय या अक्षय	0.95	1.29
कुल ऊर्जा	522.81	738.07
कुल आयात	190.97	280.12
कुल ऊर्जा का %	36.53	37.95

जनसंख्या स्थिरीकरण

जनसंख्या के क्षेत्रक में, हालांकि 2001–2011 के दौरान दशकीय वृद्धि (17.6 प्रतिशत) 1991–2001 के दौरान दशकीय वृद्धि (21.5 प्रतिशत) से कम थी परंतु सकल प्रजनन दर (एसडीआर–2009) 2.6 के उच्च स्तर पर कायम है जो ग्यारहवीं योजना के अंत तक प्राप्त की जाने वाली 2.1 प्रतिशत की प्रतिस्थापन दर से काफी अधिक है। दम्पत्ति सुरक्षा दर लगभग 40 प्रतिशत पर स्थिर हो गई है। दक्षिण के सभी और दस अन्य राज्यों ने प्रजनन के प्रतिस्थापन स्तरों से नीचे के स्तरों को प्राप्त कर लिया है। परंतु चार बड़े उत्तर भारतीय राज्यों नामत: बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान में टीएफआर अभी भी 3.3 से अधिक बनी हुई है।

स्वास्थ्य अवसंरचना

लंबी अवधि तक स्वास्थ्य क्षेत्रक में पूंजीगत निवेश का अभाव है। यद्यपि राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन ने ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य अवसंरचना का कार्य शुरू किया है तथापि, शहरी स्तर पर सामान्य व्यक्ति के लिए ऐसा कोई सार्वजनिक स्वास्थ्य परिचर्या अवसंरचना उपलब्ध नहीं है।

नोट

माध्यमिक शिक्षा का विस्तार

जनगणना 2011 के अनुसार 2001 में साक्षरता दर 64.8% थी जो बढ़कर 2011 में 74% हो गई है। महिला साक्षरता में साक्षरता संबंधी सुधार पुरूष साक्षरता से अधिक देखा गया हैं तथा 2001 में जैंडर अंतराल 21.6% था जो कि 2011 में घटकर 16.7% तक आ गया है। कार्य करने वाली जनता की आयु में स्कूलिंग संबंधी औसत वर्ष (15 वर्ष से अधिक) में 2000 के मुकाबले 4.2 वर्ष से बढ़कर 5.12 वर्ष 2010 में हो गया है। फिर भी यह उभरते अन्य बाजारी देशों से काफी कम हैं जैसे चीन (8.17 वर्ष), ब्राजील (7.54 वर्ष)। सौभाग्यवश विगत 10 वर्षों के दौरान शिक्षा की पहुँच संबंधी विस्तार हेतु बल किये गए प्रयास युवा रूप में दृष्टिगत होंगे। श्रम में अधिक शिक्षित लोग दिखाई देंगे और रिटायर होने वाले/सेवानिवृत होने वाले बुजुर्ग तथा कम पढ़े लिखे लोगों की संख्या में कमी आएगी तेरहवीं योजना के अंत तक 8 वर्षों की औसत तक पहुंचने के अच्छे आसार दिखाई दे रहे हैं।

योजना के भीतर योजना बनाना

बारहवीं योजना में योजना के भीतर योजना बनाने की विशेष प्रयासों की आवश्यकता है। पहले ही से कुछ कार्यक्रम चल रहे हैं जैसे–पिछड़ा क्षेत्र अनुदान निधि (बीआरजीएफ) सीमावर्ती क्षेत्र विकास कार्यक्रम (बी.ए.डी.पी.), पर्वतीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम (एच.ए.डी.पी.), कालाहांडी, बोलांगिर और कोरापुट (के.बी.के) योजना, बिहार विशिष्ट योजना, बुंदेलखण्ड विशिष्ट पैकेज एवं एकदम हाल ही वाम पंथ उग्रवाद (एल.डब्लू.ई) प्रभावित क्षेत्रों के लिए एकीकृत कार्रवाई योजना (आई.ए.पी.) बारहवीं योजना में इन सभी विशिष्ट योजनाओं के बीच और अधिक तालमेल रहना चाहिए।

पूर्वोत्तर

पूर्वोत्तर क्षेत्र की अपनी कुछ विशिष्ट चुनौतियां है जिनके लिये विशेष दिमाग लगाने की जरूरत है। इसके पास पर्याप्त मात्रा में विकास की क्षमता है लेकिन इसका विकास धीमी गति से हो रहा है। अवसंरचना विकास बेहतरीन सर्म्पकता, देश के शेष भागों से व्यापार के लिये व्यापक रूप से परिष्कृत सुलभता, पूर्व की और देखी विंडो टू बंगला देश और साउथ एशिया से काफी परिणाम समाने आएगे क्षेत्र में निजी निवेश की कम मात्रा का कारण है कि वहां सीमित अवसर का दृष्टिकोण रखा जा रहा है और उन्हें वहां पहुंच और बन्दोबस्त का कार्यक्रम मुश्किल माना जा रहा है। यह जटिल और संवेदनशील मुद्दे है जिसकी लिये बारहवीं योजना के दौरान कल्पना के अनुसार समाधान जरूरी है।

इनमें से अनेक पावर परियोजनाओं के तीव्र कार्यान्वयन के लिए सड़क अवसंरचना का विकास महत्वपूर्ण है क्योंकि भारी उपस्कारों का आवागमन दुर्गम क्षेत्रों में करना, बिना प्रभावी सड़क संपर्क सूत्र के संभव नहीं है। अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र इस क्षेत्र में संचरण ग्रिड के क्रमोन्नयन और विस्तारण का है ताकि यहाँ से देश के शेष भागों के लिए विद्युत ली जा सके और उसे आगे संचरित किया जा सके।

बढ़ती हुई शहरी जनसंख्या

वर्ष 2001 में भारत की शहरी जनसंख्या लगभग 285 मिलियन थी, जो लगभग 5200 शहरी समूहों में निवास कर रही थी। वर्ष 2011 में यह बढ़कर लगभग 400 मिलियन हो गई। ऐसा अनुमान है कि वर्ष 2030 तक कुल 1. 4 बिलियन जनसंख्या में से 600 मिलियन से अधिक लोग शहरी क्षेत्रों में रह रहे होंगे

उत्तम अभिशासन और सरकारी कार्यक्रमों का कार्यान्वयन

पर्याप्त रूप से सामर्थ्यवान नहीं होते। यह स्थिति इस तथ्य से बावजूद है कि सूचना का अधिकार अधिनियम, वन अधिकार अधिनियम, शिक्षा का अधिकार अधिनियम, महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गांरटी अधिनियम और शीघ्र ही लागू किए जाने वाले राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के माध्यम से भारतीय लोगों को कानूनी रूप से गांरटीकृत अधिकार दिलाने के लिए अनेक कानून मौजूद है।

नोट

संघर्ष समाधान के संस्थागत तंत्र

हमारे कोयले का 90 प्रतिशत, अधिकांश खनिज पदार्थों का 50 प्रतिशत से अधिक हिस्सा तथा सर्वाधिक संभावित बांध स्थल जन-जातीय क्षेत्रों में हैं, इसलिए जिन क्षेत्रों में हमारे अधिक सर्वाधिक वंचित लोग रहते हैं उनमें भूमि अधिग्रहण जैसे मुद्दों के अधिकाधिक रूप से विवादपूर्ण होने की संभावना हैं।

नवाचार

अत्याधिक कम खर्च वाले आंखों के आप्रेरशन जिनके लिए सर्जीकल मानकों के साथ कोई समझौता नहीं किया जाता और अमेरिका में 1650 अमेरिकी डालर की तुलना में 50 अमेरिकी डालर में कर दिए जाते हैं। वहनीय नवाचारों के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं–हेपेटाइस बी का टीका जिसकी लागत पूर्व उत्पादों की तुलना में 1/13 वां हिस्सा बैठती है, 2500 अमेरिकी डालर से कम लागत की जनता कार 75 अमेरिकी डालर से कम मूल्य में तापीय-विद्युत प्रशीतन का प्रयोग करने वाला नवाचारी रेफ्रिरेटर, पांच व्यक्तियों के परिवार के लिए 0.02 अमेरिकी डालर प्रतिदिन के हिसाब से सुरक्षित पेयजल उपलब्ध कराने के लिए नैनो प्रौद्योगिकी तथा चावल की भूसी को मिलाने वाला वाटर प्यूरीफायर 200 अमेरिकी डालर पर ग्रामीण घरों के लिए सौर प्रकाश प्रणाली तथा एक सौर शक्तियुक्त एटीएम मशीन जिसमें परम्परागत एटीएम की कुल ऊर्जा अपेक्षा की तुलना में मात्र 4 प्रतिशत की जरूरत होती है।

सरकार में नवचार

सरकार की न्यायिक प्रणाली में अनिर्णीत मामलों में संख्या घटाने, ई-अभिशासन, ई-अधिप्राप्ति तथा ई-टैंडरिंग की और बढ़ने को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से आईसीटी का लाभ उठा रही है। इसके अलावा सरकार 250,000 पंचायतों को फाइबर-आधारित ब्राडबैंड से जोड़ने की एक महत्वाकांक्षी पहल शुरू कर रही है जिसमें कि अंतिम स्तर तक अभिशासन और आपूर्ति में सुधार लाया जा सके। भूमि अभिलेख प्रबंध तथा शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में सेवाओं की आपूर्ति में सुधार लाने के वास्ते जीआईएस मानचित्रण का प्रयोग और व्यापक रूप में किया जाएगा।

सूचना एवं संचार प्रोद्यौगिकी

यूआईडीएआई के माध्यम से आधार संख्या का विस्तार तथा बैंक खाताओं की संबंधित ओपनिंग जो दूरस्थ क्षेत्रों में भी सुलभ हो सकती है, वह लाभार्थियों को लाभों का अंतरण करने की सीधी संभावना प्रदान करती हैं। कैरोसिन, एलपीजी तथा ऊर्वरक के लिए इसे लागू करने हेतु प्रायोगिक कार्यक्रम का डिजाइन किया जा रहा है। यदि हुआ तो प्रयोग का विस्तार पीडीएस तक किया जा सकता है। इसमें से संपर्कता ब्रॉडबैंड सेवाएं भारत के गांव तक लाने में सुधार की आवश्यकता होगी। नवप्रर्वत्तनकारी सेवा प्रदायगी और बिजनेस मॉडलों का विकास भी आवश्यकता होगा। साफ्टवेयर इंडस्ट्री में भारतीय क्षमताओं को पूरे संसार में मान्यता हैं। तथापि इन क्षमताओं को घरेलू अवसरों पर अभी तक सुदृढ़ रूप से लागू नहीं किया गया तथापि भारत में आईसीटी सेवाओं के विस्तार हेतु बड़े अवसरों को विदेशी प्रौद्योगिकी योग्यताओं का आकर्षित करना चाहिए। 12वाँ पंचवर्षीय योजना में समावेशी विकास को तेज करने के लिए देश में आईसीटी की व्यापक तैनाती को निर्धारित किया जाना चाहिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन कब हुए थे–
   (क) 1990 में (ख) 1991 में (ग) 1992 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. भारत में योजना आयोग का गठन कब किया गया–
   (क) 15 मार्च 1950 में (ख) 15 मार्च 1956 में
   (ग) 15 1958 में (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

3. किस दशक से भारत निदेशात्मक योजना को महत्त्व दे रहा है–
   (क) 70 के दशक से (ख) 80 के दशक से
   (ग) 90 के दशक से (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. विकास का राव-मनमोहन प्रारूप भारत में कब अपनाया गया–
   (क) आर्थिक संकट के पूर्व (ख) आर्थिक संकट के बाद
   (ग) आर्थिक अयोजन के पहले (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. गरीबी हटाना किस योजना का मुख्य लक्ष्य था–
   (क) प्रथम योजना का (ख) चौथी योजना का
   (ग) छठी योजना का (घ) इनमें से कोई नहीं।
6. राष्ट्रीय ग्रामीण स्वस्थ मिशन कब शुरू किया गया था–
   (क) 12 अप्रैल 2005 को (ख) 12 मई 2005 को
   (ग) 12 जून 2005 को (घ) इनमें से कोई नहीं।
7. भारत में वर्ष भर में कितनी वर्षा होती है–
   (क) 1,200 मिमी. (ख) 1,500 मिमी.
   (ग) 1,700 मिमी. (घ) इनमें से कोई नहीं।

2.3 सारांश (Summary)

- 1947 के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था में राज्य की प्रमुख भूमिका निर्धारित की गयी। स्वतंत्रता के पूर्व भी स्वतंत्र भारत के लिए कई योजना बनायी गयी थी। गांधीयन योजना में राज्य की भूमिका बहुत सीमित, इसमें विकन्द्रीकृत योजना की सकल्पना, ग्रामीण क्षेत्रों पर मुख्य बल, लघु उद्योगों को प्राथमिकता, शेष सभी योजना में राज्य को महत्वपूर्ण भूमिका, औद्योगिकरण को प्राथमिकता, गांधीवादियों को छोड़ इसमें सभी लोगों में आम सहमति थी।
- आमतौर पर Economic Reforms का मुद्दा राजनीतिक मुद्दा नहीं रहा है, जब कि भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किया गया। 2004 के आम चुनाव को इसका अपवाद माना जा सकता है, जैसे India's Shining का मुद्दा।
- आर्थिक सुधार (Economic Reforms) की जो प्रक्रिया 1991 से शुरू हुई इसमें काफी परिवर्तन हुये हैं। कई क्षेत्रों में लाभ भी हुआ है। GDP में उछाल, भारतीय अर्थव्यवस्था का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धात्मक बनाना। इसके बावजूद कूछ समस्यायें बनी हुयी है। बहुत से लोगों का मानना है कि आर्थिक सुधार कार्यक्रम अपूर्ण रहा है।
- पहली योजना-तदर्थ प्रकार की योजना थी, इसके पीछे कोई निर्देशित रणनीति आरम्भिक दौर में नहीं था। द्वितीय योजना में रणनीति योजना (Strategic Planning) की शुरूआत हुई और नेहरू-महालनोविस मॉडल इसका आधार था।
- नियोजन की रणनीति में विभिन्न क्षेत्रों के लिए संख्यात्मक लक्ष्यों का निर्धारण Multi Sectoral Planning Model के आधार पर किया गया। यह नेहरू महालनोविस मॉडल पर आधारित है। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार द्वारा-एक तो प्रत्यक्ष निवेश, सार्वजनिक इकाइयों की स्थापना करना, उनके लिए धनराशि की व्यवस्था करना, साथ में विभिन्न प्रकार के केन्द्रीय नियंत्रण (Central Instruments) का उपयोग की ताकि निजी ईकाइयों पर नियंत्रण रखा जा सके और उनको भी नियोजन के लक्ष्यों से जोड़ा जा सके।
- लक्ष्यों के प्राप्ति के दृष्टिकोण से रणनीति काफी हद तक विफल रही जैसे-तृतीय योजना में 5.6 प्रतिशत

नोट

के लक्ष्य के स्थान पर 2.7 प्रतिशत की प्राप्ति हुई।

- यहां पर लक्ष्य से उपलब्धियां काफी कम रही, यहां ऐसे कारकों का प्रभाव भी था कि व्ययों पर नियोजकों का नियंत्रण नहीं था। 1962 में भारत–चीन युद्ध, 1965 में भारत–पाक युद्ध, मौसम का प्रतिकूल असर, इसके अलावा रणनीतिक विफलता भी थी, इस कारण निवेश की मात्रा बढ़ाने पर बल दिया गया।
- 1990–91 के संकट का मुख्य तत्व भुगतान–संतुलन का संकट था। भारत का विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष बहुत कम हो गया और विदेशी दायित्वों के पुनर्भुगतान पर प्रश्नचिन्ह लग गया। इसका तात्कालिक मुख्य कारण अन्तर्राष्ट्रीय तेल संकट था, यद्यपि यह अल्पविकसित था, जब दीर्घकालिक कारण पहले नीतियाँ थी।
- सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के लिए आरक्षण प्रणाली को बहुत सीमित कर देना और मुख्यत: सामरिक महत्व के क्षेत्रों तक और यह माना गया कि सार्वजनिक ईकाइयों को भी प्रतिस्पर्धा का सामना करना चाहिए। सार्वजनिक ईकाइयों के कामकाज में सुधार की भी आवश्यकता है।
- 1991 के पश्चात् इसमें उदारीकरण किया गया है। जैसे लाइसेंस की आवश्यकता वाले क्षेत्रों में और कमी की गयी है। अब केवल 5 क्षेत्रों में ही लाइसेंस की जरूरत है, मुख्यत: पर्यावरणिक या खतरनाक उद्योगों के मामले में। विदेशी निवेश के मामलें में भी नकारात्मक सूची (Negative List) के दायरे को कम किया गया है।
- 90 के दशक से भारत निदेशात्मक योजना (Indicative Planning) को महत्त्व दे रहा है। कारण–आर्थिक सुधार कार्यक्रम–बाजार शक्तियों के संकेत के आधार पर होना चाहिए, उद्यमियों को तकनीकी के चयन में स्वतंत्रता होनी चाहिए। योजना तैयार करने में स्वतंत्रता होनी चाहिए, क्योंकि इसी से आर्थिक कुशलता सुधरेगी। संसाधनों का बेहतर उपयोग होता तथा आर्थिक समृद्धि भी तेज होगी।
- भारतीय आयोजन में विकास की रणनीति को 4 अवयवों की सहायता से समझा जा सकता है–
  1. नेहरू महालनोविस प्रारुप (टपकन सिद्धांत पर आधारित)
  2. गांधीवादी मॉडल
  3. राव मनमोहन प्रारुप
  4. नव–गाँधीयन विकास मॉडल–पूरा (PURA)
- वर्ष 1951 में बड़ी मात्रा में खद्यान्न के आयात तथा अर्थव्यवस्था पर मुद्रास्फीति के दबाव को ध्यान में रखते हुए पहली योजना (1951–56) में कृषि सहित सिंचाई तथा बिजली परियोजनाओं को सर्वोचच प्राथमिकता दी गई। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय के लिए निर्धारित 2,069 करोड़ रुपये का लगभग 44.6 प्रतिशत इन कार्यों के लिए रखा गया था।
- बीस सूत्री कार्यक्रम ग्रामीण लोगों और विशेष रूप से गरीबी रेखा से नीचे के लोगों के जीवन–स्तर में तेजी से सुधार लाने के लिए शुरू किया गया था।
- दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956–57 से 1960–61) में विकास के एक ऐसे ढांचे को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया, जिससे देश में समाजवादी स्वरूप के समाज का निर्माण हो सके।
- गरीबी हटाना छठी योजना (1980–85) का मुख्य लक्ष्य था। योजना की कार्यनीति बुनियादी तौर पर यह थी कि कृषि और उद्योग, दोनों के आधारभूत ढांचे को एक साथ मजबूत किया जाए।
- सातवीं योजना (1985–90) में विकास, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय जैसे आयोजना के मूलभूत सिद्धांतों का पालन करते हुए खाद्यान्न उत्पादन, रोजगार और उत्पादकता बढ़ाने की नीतियों और कार्यक्रमों पर अधिक बल दिया गया।
- केंद्र में तेजी से बदलते राजनीतिक घटनाक्रम के चलते आठवीं पंचवर्षीय योजना (1990–95) को समय कार्यान्वित नहीं किया जा सका और 1990–91 तथा 1991–92 दो एक वर्षीय योजना चलाई गई और वर्ष 1992 से आठवीं योजना शुरू की गई।

नोट

- नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2000) भारत की स्वतंत्रता की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर शुरू की गई। योजना का उद्देश्य सकल घरेलू उत्पाद में सात प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर हासिल करना रखा गया। तथा चुनी हुई सात 'बुनियादी न्यूनतम सेवाओं' पर जोर दिया दिया गया और इन सेवाओं के वास्ते अतिरिक्त केंद्रीय सहायता आवंटित की गई, जोकि चरणबद्ध तरीके से समूची आबादी को बुनियादी न्यूनतम सेवाएं प्रदान की जा सकें।
- दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-07) को राष्ट्रीय विकास परिषद् ने 21 दिसम्बर 2002 को अपनी मंजूरी दी। योजना में और सुधार करते हुए इसमें राष्ट्रीय विकास परिषद के इन उद्देश्यों को शामिल किया गया।
- 11वीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा 19 दिसंबर 2007 को अनुमोदित की गई थी। यह अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई शक्ति पर आधारित समग्र विकास की एक व्यापक रणनीति प्रस्तुत करती है।
- समावेशिता की दृष्टि से प्रगति का अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि समावेशिता एक बहु-आयामी अवधारणा है। समावेशी एक बहु-आयामीय अवधारणा है।

2.4 शब्दकोश (Keywords)

- **रियायती**–छूट देना।
- **उदरीकरण**–सरलीकरण।
- **प्रारूप**–मॉडल।
- **सूत्री**–क्रमवार।

2.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में योजना के स्वारूप का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. भारत में योजना की क्या रणनीति बनाई गई थी? इसका मूल्यांकन कीजिए।
3. भारत में योजना के उद्देश्य क्या थे? व्याख्या कीजिए।
4. नेहरू महालनोविस मॉडल क्या हैं? इस मॉडल में क्या कमियाँ।
5. भारत की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं का वर्णन कीजिए।
6. बारहवी योजना के विकास लक्ष्य पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. (ख)	2. (क)	3. (ग)	4. (ख)
5. (ग)	6. (क)	7. (क)	

2.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–3: ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (11th Five Year Plan)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य, लक्ष्य एवं नीतियों की रूपरेखा (Objective, Targets and Policies Outlined of 11th Five Year Plan)

3.2 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के दिशा-निर्देश पत्र की समीक्षा का मूल्यांकन (Approach Paper of 11th Five Year Plan and its Evaluation)

3.3 सारांश (Summary)

3.4 शब्दकोश (Keywords)

3.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

3.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य, लक्ष्य एवं नीतियों की रूपरेखा को समझने में।
- ग्यारहवीं योजना के दिशा-निर्देश पत्र की समीक्षा करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

योजना आयोग ने जनवरी 2006 में ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) का दिशा-निर्देश पत्र प्रतिपादित किया। दिशा-निर्देश पत्र का शीर्षक 'तीव्र और अधिक समावेशी विकास की ओर' रखा गया है।

3.1 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य, लक्ष्य एवं नीतियों की रूपरेखा (Objective, Targets and Policies Outlined of 11th Five Year Plan)

योजना आयोग ने 11वीं पंचवर्षीय योजना के दिशा-निर्देश पत्र (Approach) की रूपरेखा जनवरी 2006 में प्रस्तुत की। इस प्रारूप पर राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) ने विचार किया। अत: दिशानिर्देश पत्र का अन्तिम विवरण दिसम्बर 2006 में पेश किया गया जिसका शीर्षक था, "तेज और अधिक समावेशी विकास की ओर" (Towards faster and more inclusive growth)। इस प्रलेख में यह बात स्वीकार की गयी है कि दसवीं योजना (2002-07) में चाहे औसत वार्षिक सकल देशीय उत्पाद (Gross Domestic Prouduct) की वृद्धिदर त्वरित करके 7.2 प्रतिशत कर ली गई है परन्तु यह आम आदमी की समस्याओं का समाधान नहीं कर पायी। 11वीं पंचवर्षीय योजना के शब्दों में "यह निष्पादन हमारी अर्थव्यवस्था की मजबूती

नोट

और निजी क्षेत्र की गत्यात्मकता को प्रतिबिम्बित करता है। इसके साथ, यह भी सच है कि आर्थिक विकास, विशेषकर नब्बे के दशक के मध्य के पश्चात् पर्याप्त रूप में समावेशी (Inclusive) बनने में विफल रहा है। कृषि ने इस समय के पश्चात् अपने विकास की गति खोई है और तत्पश्चात् वह लगभग संकट की स्थिति में है। तेज विकास होने के बावजूद संगठित क्षेत्र में नौकरियों में वृद्धि नहीं हुई है। गरीबी रेखा (Poverty lines) के नीचे हमारी जनसंख्या के अनुपात में कमी हुई है, परन्तु यह केवल एक मर्यादित गति से। कुपोषण के स्तरों में भी थोड़ी कमी हुई है परन्तु इस समस्या का आकार अभी भी बहुत अधिक है। जनसामान्य का एक बड़ा भाग बुनियादी सेवाओं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, पीने का साफ पानी और सफाई से वंचित है जिनके बिना वे विकास के लाभों में अपने भाग का दावा नहीं कर सकते।"

प्रलेख फिर भी इस बात पर बल देता है–"तीव्र विकास हमारी रणनीति के लिए दो कारणों से अनिवार्य है। पहला, केवल तेजी से विकसित हो रही अर्थव्यवस्था में यह आशा की जा सकती है कि हम अपनी जनसंख्या के अधिकतर भाग की आय बढ़ा सकेंगे ताकि जीवन स्तर में सामान्य उन्नति हो सके। दूसरे, तेज विकास इसलिए भी अनिवार्य है ताकि बुनियादी सेवाएं (Basic services) उपलब्ध करायी जा सकें।"

योजना आयोग ने प्रस्ताव किया है कि "आर्थिक विकास की वृद्धि दर बढ़ाकर ग्यारहवीं योजना में 9 प्रतिशत के इर्द गिर्द की जा सकती है, यदि उचित नीतियां तय कर ली जाएं। जनसंख्या की वृद्धिदर 1.5 प्रतिशत होने के साथ, जी.डी.पी. की 9 प्रतिशत वृद्धि द्वारा वास्तविक प्रति व्यक्ति आय 10 वर्षों में दुगुनी की जा सकती है। इसके साथ ऐसी नीतियों को जोड़ना होगा जो यह सुनिश्चित करें कि विकास विस्तृत आधार वाला है जिससे जनसंख्या के सभी वर्गों को लाभ हो, विशेषकर उनको जो अभी तक वंचित रहे हैं।"

जी.डी.पी. को 9 प्रतिशत समग्र वृद्धिदर के साथ, कृषि के विकास की दर 4 प्रतिशत निश्चित की गयी है, उद्योग की 10.5 प्रतिशत और सेवाओं की 9.9 प्रतिशत। 10वीं योजना में प्राप्त वृद्धिदर की तुलना में कृषि की वृद्धिदर दुगुने से भी अधिक की जाएगी, परन्तु उद्योग में 8.3 प्रतिशत से दर मामूली बढ़ा कर 10.5 प्रतिशत और सेवाओं में 9 प्रतिशत से 9.9 प्रतिशत की गई है।

ग्यारहवीं योजना के समष्टि–आर्थिक सूचक (Macro-Economic Indicators) तालिका 1 में दिए गए हैं–

योजना में यह अनुमान लगाया गया है कि 9 प्रतिशत की वृद्धिदर निवेश की 35.1 प्रतिशत दर के साथ प्राप्त की जा सकती है। अत: पूंजी–उत्पाद अनुपात 3.9 कल्पित किया गया है।

निवेश दर को 35.1 प्रतिशत तक बढ़ाने के लिए, देशीय बचत दर को उन्नत करके 32.3 प्रतिशत करना होगा। अत: विदेशी निवेश से 2.8 प्रतिशत साधन प्राप्त किए जाएंगे।

योजना प्रलेख में यह उल्लेख किया गया है–"एक व्यवहार्य लक्ष्य यह होगा कि 10वीं योजना के अन्त तक प्राप्त 8 प्रतिशत की वृद्धिदर को बढ़ा कर 11वीं योजना के अन्त तक 10 प्रतिशत किया जाए, तभी 11वीं योजना में औसतन लगभग 9 प्रतिशत औसत वृद्धिदर प्राप्त की जा सकेगी। विकास की संरचना ऐसी होनी चाहिए जिसके लाभ विस्तृत रूप में फैले हुए हों। इस संदर्भ में कृषि की वृद्धि दर लगभग दुगुनी करने का विशेष महत्त्व है। इसके साथ–साथ गैर–कृषि रोजगार का तीव्र विकास करना होगा ताकि 7 करोड़ नयी नौकरियां कायम की जा सकें। यदि ये लक्ष्य प्राप्त कर लिये जाते हैं, तो गरीबी स्तर के नीचे रहने वाली जनसंख्या के अनुपात में योजना के अन्त तक 10 प्रतिशत की कमी प्राप्त की जा सकती है।"

नोट्स विदेशी क्षेत्र में, दिशानिर्देश पत्र में अनुमान लगाया गया है कि चालू खाते पर घाटा (Current Account Deficit) जी.डी.पी. का 2.8 प्रतिशत हो जाएगा।

सर्व शिक्षा अभियान (Education for all)–6-14 वर्ग की आयु के बच्चों में सर्वशिक्षा अभियान के तहत 100 प्रतिशत नामांकन 2007 तक प्राप्त कर लिया जाएगा। किन्तु नामांकन केवल पहला कदम है। बच्चों को आठ वर्ष

नोट

की पढ़ायी पूरी करनी होगी और यह चुनौती अब भी बनी हुई है। 2003-04 में स्कूल छोड़ने वाले बच्चों का समग्र देश में अनुपात लगभग 31 प्रतिशत था और यह कुछ राज्यों में और भी अधिक था। स्कूल छोड़ने वाले लड़कों एवं लड़कियों का अनुपात सभी सामाजिक वर्गों में कम करना होगा, यदि यह पूर्णतया समाप्त न भी किया जाए।

भौतिक और मानवीय आधारसंरचना (Physical and Human Infrastructure) को ध्यान में रखते हुए 11वीं योजना उल्लेख करती है–"हमें यह भी दृष्टि में रखना होगा कि हमारे स्कूलों में केवल 28 प्रतिशत स्कूलों को बिजली प्राप्त है और लगभग आधे स्कूलों में दो अध्यापक और दो कमरे हैं। हमारे प्राथमिक स्कूलों में केवल 40 प्रतिशत अध्यापक ग्रेजुएट थे और 30 प्रतिशत ने हायर सेकेण्डरी भी पूरा नहीं किया था। एक गैर-सरकारी संस्था **प्रथम** को उद्धरित करते हुए, योजना प्रलेख में उल्लेख किया गया–"चौथी तक शिक्षा प्राप्त 38 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं जो छोटे वाक्यों वाला छोटा-सा पैराग्राफ भी पढ़ नहीं सकते जो दूसरी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त बच्चों के लिए है। लगभग 55 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं जो तीन अंकों वाली संख्या को एक अंक वाली संख्या से भाग नहीं दे सकते।"

माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education)–केवल प्राथमिक शिक्षा का सर्वव्यापीकरण (Universalisation) ज्ञान अर्थव्यवस्था (Knowledge Economy) के लिए काफी नहीं। ऐसा व्यक्ति जिसने केवल 8 वर्षों की पढ़ायी की हो, ज्ञान अर्थव्यवस्था में जिसमें सूचना एवं संचार टेक्नोलॉजी का प्रभुत्व है जो आधुनिक उद्योगों और सेवाओं का प्रयोग करती है, अनपढ़ ही माना जाएगा और उसे अलाभ ही होगा। 11वीं योजना में शिक्षा के न्यूनतम स्तर को बढ़ाकर हाईस्कूल या 10वीं कक्षा के स्तर तक ले जाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

योजना में यह बात जान ली गयी है कि सेकेन्डरी स्कूलों का लगभग 58 प्रतिशत निजी सहायता-प्राप्त या गैर-सहायता प्राप्त स्कूल हैं जिनमें विद्यार्थी जनसंख्या का 25 प्रतिशत शिक्षा प्राप्त करता है। परन्तु चूंकि पब्लिक स्कूलों में पढ़ायी की लागत अधिक है, सरकारी स्कूलों में 75 प्रतिशत बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं। गरीब परिवारों से आने वाले बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जो प्राथमिक शिक्षा पूरी कर लेते हैं, यह जरूरी है कि सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता उन्नत की जाए।

तकनीकी या व्यावसायिक शिक्षा (Technical or Vocational Training)–भारत में 5,000 औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान (ITIs) श्रम मंत्रालय के अधीन हैं और 7,000 व्यावसायिक स्कूल मानव संसाधन विकास मंत्रालय की देखरेख में कार्य करते हैं। 11वीं योजना के अनुसार, इन व्यावसायिक प्रशिक्षण संस्थानों की कुल सामर्थ्य 20 से 30 लाख है और इस सामर्थ्य को बढ़ा कर 150 लाख करने की आवश्यकता है। भारत में आई.टी.आई. संस्थानों में केवल 40 प्रकार के कौशल का प्रावधान है जबकि चीन में यह 4,000 प्रकार के कारीगरी के काम सिखाते हैं। इनमें सार्वजनिक-निजी मॉडल को मजबूत बनाने की आवश्यकता है और उद्योग को भी साथ लेना होगा ताकि नवीनतम प्रकार की तकनालॉजी का प्रशिक्षण दिया जाए जो उद्योगों में आज इस्तेमाल हो रही है या जिसकी निकट भविष्य में जरूरत है।

उच्च शिक्षा और तकनीकी शिक्षा (Higher and Technical Education)–चाहे भारत में एक सुविकसित और व्यापक उच्च शिक्षा प्रणाली है, परन्तु इसके द्वारा कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के लिए प्रासंगिक आयुवर्ग के 10 प्रतिशत के लिए प्रावधान है जबकि बहुत से विकासशील देशों में यह आंकड़ा 20 से 25 प्रतिशत है।

इस सम्बन्ध में तीन उद्देश्य होने चाहिए–विस्तार, समावेश और श्रेष्ठता (Expansion, inclusion and excellence) यह बात बड़ी चिन्ता का विषय है कि 6 से 8 राज्यों में ही इंजीनियरिंग कॉलेजों या जैव-तकनालॉजी प्रयोगशालाओं का 60 प्रतिशत है। 11वीं योजना में उच्च शिक्षा का विस्तार करते समय इस क्षेत्रीय विभाजन का ध्यान रखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, उच्च शिक्षा को विभिन्न उपायों के प्रयोग द्वारा अधिक समावेशी बनाने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में केन्द्र सरकार, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण (Reservations) का विस्तार करने का प्रयास कर रही है। किन्तु ऐसा करते समय यह ध्यान रखना होगा कि सभी वंचित वर्गों में मलाईदार परत (Creamy layer) को बाहर रखा जाए ताकि यह आरक्षण के लाभ हड़प न जाए। इसके अतिरिक्त, उच्च वर्गों में गरीबों को भी उच्च शिक्षा का लाभ उपलब्ध कराने के लिए आरक्षण देना चाहिए। साथ ही गरीब बच्चों के लिए शिक्षा सम्बन्धी ऋण और छात्रवृत्तियों का प्रावधान करने की जरूरत है ताकि वे उच्च शिक्षा प्राप्त कर सामाजिक सीढ़ी के उच्च पायदान पर पहुँच सकें। तीसरे, निजी-प्रबंध और सार्वजनिक प्रबन्ध के आधीन

नोट

उच्च शिक्षा संस्थानों में शिक्षा की गुणवत्ता (Quality) विकसित करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों के लाभार्थियों (Beneficiaries) अर्थात् राज्य सरकार और निगम क्षेत्र को इस उद्देश्य के लिए आवश्यक संसाधनों का प्रावधान करना चाहिए।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में, स्वास्थ्य सेवाओं अर्थात् मातृ एवं बाल स्वास्थ्य देखरेख, शुद्ध पेयजल और मूल सफाई सेवाओं की उपलब्धि की हमारी अधिकतर जनसंख्या के लिए भारी कमी है, विशेषकर गरीब वर्गों के लिए तो इनकी न्यूनतम मात्रा भी उपलब्ध नहीं।

कुछ सेवाएं जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य देखरेख निजी क्षेत्र में उपलब्ध हैं परन्तु उनकी पूर्ति बहुत महंगी है और वे आम आदमी की पहुंच के बाहर हैं। जाहिर है कि इन सेवाओं को उपलब्ध कराने के लिए वित्त-पोषण का अधिकतर भाग सार्वजनिक क्षेत्र को उठाना होगा।

दसवीं योजना ने भी इस सम्बन्ध में उल्लेख किया–"इन सेवाओं की उपलब्धि घटिया है और जिन लोगों को इन्हें उपलब्ध कराने का दायित्व सौंपा जाता है, उनकी जवाबदेही नहीं हो पाती।" ग्रामीण क्षेत्रों में, जवाबदेही में सुधार लाने के लिये योजना में यह सुझाव दिया गया है कि इनका अधिक सक्रिय निरीक्षण पंचायती राज संस्थानों द्वारा किया जाए। शहरी क्षेत्रों में गैर-सरकारी संस्थाओं की सहायता ली जा सकती है। सैकेन्डरी एवं उच्च शिक्षा और तृतीयक स्तर की स्वास्थ्य देखरेख (Tertiary healthcare) के लिए जवाबदेही लाने के अन्य तरीके ढूंढने होंगे।

शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सम्बन्धित अनिवार्य सेवाओं की गुणवत्ता (Quality) का विस्तार करने तथा इन्हें विस्तार करने तथा इन्हें उन्नत करने के लिए सार्वजनिक व्यय को बढ़ाना अनिवार्य है। केन्द्र एवं राज्य सरकारों को इन सेवाओं के लिए बजट-आवंटन (Budget allocations) बढ़ाने होंगे।

11वीं योजना में परीक्षण-योग्य समाजार्थिक लक्ष्य आय और गरीबी

- जी.डी.पी की वृद्धिदर को 8 प्रतिशत से 10 प्रतिशत करना और इसे 12वीं योजना के दौरान बनाए रखना ताकि 2016-17 तक प्रति व्यक्ति आय दुगुनी की जा सके।
- लाभों के विस्तृत प्रयास के लिए कृषि की जी.डी.पी. की वृद्धि दर को 4 प्रतिशत करना।
- रोजगार के 7 करोड़ नये अवसर कायम करना
- शिक्षित-बेरोजगारी को 5 प्रतिशत के नीचे लाना
- अकुशल श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी दर में 20 प्रतिशत वृद्धि प्राप्त करना
- उपभोग-निर्धनता के व्यक्ति-गणना अनुपात को 10 प्रतिशत कम करना

शिक्षा

- प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की दरों को 2003-04 में 52.2 प्रतिशत थी घटाकर 2011-12 तक 20 प्रतिशत करना
- सात वर्ष से अधिक वाले व्यक्तियों की साक्षरता दर को 85 प्रतिशत या इससे अधिक करना
- साक्षरता में पुरुष-स्त्री अन्तर को 10 प्रतिशत अंक कम करना
- उच्च शिक्षा के लिए प्रासंगिक आयु-वर्ग के युवकों के अनुपात को वर्तमान 10 प्रतिशत से बढ़ाकर 11वीं योजना के अन्त तक 15 प्रतिशत करना

स्वास्थ्य

- प्रति 1000 जीवित जन्मों पर शिशु मृत्युदर को 28 और मातृ मृत्यु दर को 1 के स्तर पर लाना
- सकल प्रजनन दर को 2.1 तक कम करना
- 2009 तक सभी को पीने का पानी उपलब्ध कराना
- 0-3 वर्ष के आयुवर्ग के बच्चों में कुपोषण के वर्तमान स्तर को आधा करना।
- स्त्रियों एवं लड़कियों में रक्तक्षीणता (Anaemia) को 11वीं योजना के अन्त तक 50 प्रतिशत कम करना

नोट

आधारसंरचना

- सभी ग्रामों और गरीबी रेखा के नीचे परिवारों को 2009 तक बिजली का कनेक्शन उपलब्ध कराना और योजना के अन्त तक 24 घण्टे बिजली मुहैया कराना
- 1000 से अधिक जनसंख्या को (पहाड़ी और जनजाति क्षेत्रों में 500 से अधिक आबादी वाले) बारहमासी स्थानों की सड़कों से 2009 तक जोड़ना और सभी महत्त्वपूर्ण निकास-स्थानों के 2015 तक जुड़ाव को सुनिश्चित करना
- नवम्बर 2007 तक सभी गांवों को टेलीफोन से जोड़ना और सभी गांवों को 2012 तक ब्राडबैंड सम्पर्क की व्यवस्था करना
- 2012 तक सभी को वासभूमि (Homestead sites) उपलब्ध कराना और ग्रामीण-गरीबों के लिए आवास-निर्माण की गति को तेज करना ताकि 2016-17 तक सभी गरीबों को मकान उपलब्ध कराए जा सकें।

कृषि-वृद्धिदर को त्वरित कर 4 प्रतिशत तक ले जाना

कृषि की वृद्धि-दर को त्वरित कर सकल देशीय उत्पाद के 4 प्रतिशत तक ले जाना कोई आसान काम नहीं। दसवीं योजना के पहले तीन वर्षों के दौरान, कृषि–जी.डी.पी. (जिससे वाणिकी एवं मत्स्य भी शामिल हैं) की वृद्धि दर केवल 1.7 प्रतिशत रही है। अत: 11वीं योजना में कृषि-वृद्धिदर को दुगुना करने की चुनौती का सामना करने के लिए बहुत से क्षेत्रों में विशेष प्रयास करने होंगे–

प्रथम, लागतों में वृद्धि की तुलना में कृषि-वस्तुओं की कीमतों में साक्षेप वृद्धि नहीं हुई और इसके परिणामस्वरूप, कृषि की लाभदायकता (Profitability) गिर रही है। कृषि-वस्तुओं की कीमतों को उन्नत करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप करना होगा। इस उद्देश्य के लिए, 11वीं योजना में कृषि उपज विपणन समिति कानूनों (Agricultural Produce Marketing Committee Acts) में संशोधन करना होगा।

दूसरे, यह आवश्यक है कि हम अपनी दृष्टि विशेष फसल की उत्पादिता (Productivity) से हटा कर इसे फार्म-आय (Farm income) की ओर मोड़ें, इसके लिए फार्म को एक बहु-उत्पाद प्रणाली (Multi-product system) मानना होगा।

तीसरे किसानों पर राष्ट्रीय आयोग ने यह सिफारिश की है कि कृषि में सार्वजनिक निवेश (Public investment) बढ़ाया जाए, विशेषकर सिंचाई, वाटरशैट विकास, ग्रामीण सड़कों में जुड़ाव (Connectivity) और ग्रामीण बिजलीकरण पर।

11वीं योजना के दिशानिर्देश पत्र में 110 लाख हैक्टेयर अतिरिक्त भूमि सिंचाई के आधीन लायी जाएगी–55 लाख हैक्टेयर बड़ी और मध्यम सिंचाई द्वारा, 35 लाख हैक्टेयर छोटी सिंचाई द्वारा और लगभग 20 लाख हैक्टेयर भूगर्भ जल विकास द्वारा।

योजना में यह अनुमान लगाया गया कि कृषि के पुन: उत्थान के 4 प्रतिशत के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 80,000 करोड़ रुपये की प्रावधान करने की जरूरत है। दिशा निर्देश पत्र ने सुझाव दिया है कि अतिरिक्त आवंटन के अलावा, रोजगार गारंटी प्रोग्राम से संसाधन प्राप्त करने चाहिए।

चौथी, 11वीं योजना के दिशानिर्देश पत्र की एक और मुख्य सिफारिश भू-सुधार की आवश्यकता को स्वीकार करना है। इस सम्बन्ध में, 11वीं योजना उल्लेख करती है–"स्वीकृत काश्तकारी अधिकारों के अभाव के कारण दोषी काश्तकारों को औपचारिक स्रोतों से ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है। ऐसे काश्तकार जिनके पास कानूनी अधिकार नहीं है, उन्हें भूमि उन्नत करने के लिए प्रोत्साहन का अभाव है और इस कारण एक हद तक उत्पादिता में कमी की व्याख्या की जा सकती है।

पांचवें कृषि में ज्ञान-अभाव (Knowledge deficit) की पहचान करना जरूरी है। इसके लिए कृषि-विस्तार प्रणाली (Agricultural Extension System) को पुन: सशक्त करने की जरूरत है और प्रत्येक जिले में कृषि विकास केन्द्रों

नोट

को उन्नत करना होगा। इसके लिए, भूमि परीक्षण (Soil testing) द्वारा किसानों को सूक्ष्म-पोषकों (Micro-nutrients) की कमी सम्बन्धी सूचना देने का भारी विस्तार करना होगा।

छठे, किसानों को मुफ्त बिजली उपलब्ध कराने की नीति की समीक्षा की आवश्यकता है। इसी प्रकार, उर्वरक साहाय्य (Fertilizer subsidy) की वर्तमान प्रणाली स्वसंतुलित नहीं है और इसके परिणामस्वरूप नाइट्रोजन उर्वरक का अत्यधिक प्रयोग होता है जोकि दीर्घकालीन उत्पादिता (Longterm productivity) को कम करता है। दिशानिर्देश पत्र में इस सम्बन्ध में उल्लेख किया गया–"ये राजनीतिक दृष्टि से संवेदनशील मुद्दे हैं परन्तु इनकी उपेक्षा करने से समस्या और भी गंभीर हो जाएगी।"

सातवें, ऋण की अपर्याप्त पहुंच अधिकतर किसानों पर प्रभाव डालती है और उन्हें महाजनों के चंगुल में धकेल देती है जो उनसे अत्यधिक ब्याजदर वसूल करते हैं। ऐसा करने के लिए सहकारी ऋण प्रणाली को पुनः जीवित करना होगा। दिशानिर्देश पत्र के अनुसार, "केन्द्रीय सरकार ने सहकारी प्रणाली को पुनः पूंजीकृत (Recapitalize) करने के लिए अपनी रजामन्दी का संकेत किया है यदि राज्य सरकारें ऐसे ढांचे को स्वीकार कर लें जिसमें ऋण सहकारी समितियों का प्रभावी रूप में अराजनीतिकरण (Depoliticization) किया जा सके।

अन्तिम, दीर्घकाल में, वैज्ञानिक प्रगति के पूर्ण उपयोग के लिए कृषि-अनुसंधान को पुनः जीवित करना होगा जिससे विभिन्न कृषि-जलवायु संबंधी क्षेत्रों (Agro-climatic zones) में उत्पादिता बढ़ सके। केन्द्र सरकार को इस सम्बन्ध में स्वामीनाथन और माशेलकर समितियों की सिफारिशों को लागू करना चाहिए।

औद्योगिक वृद्धि को 10 प्रतिशत करने का लक्ष्य

"11वीं योजना में जी.डी.पी. की औसत वृद्धि दर को 9 प्रतिशत तक ले जाने के लिए आवश्यक है कि उद्योग की वृद्धिदर 10.5 प्रतिशत और विनिर्माण (Manufacturing) की 12 प्रतिशत की जाए। इसके लिए औद्योगिक क्षेत्र में निवेश में भारी वृद्धि करनी होगी और इसके साथ-साथ टेक्नोलॉजिकल उन्नयन (Technoligical upgradation) और आधुनिकीकरण द्वारा कौशल के वे स्तर प्राप्त करने होंगे जिनसे बढ़ते हुए प्रतिद्वन्द्वी विश्व में जीवित रहा जा सके।

दिशानिर्देशपत्र में उल्लेखनीय किया गया है–"भारतीय विनिर्माण अत्यधिक द्वैतवादी (Dualistic) है जिसमें संगठित क्षेत्र विनिर्माण मूल्य का 67 प्रतिशत उत्पन्न करता है परन्तु विनिर्माण द्वारा रोजगार में केवल 12 का योगदान देता है।... 11वीं योजना की स्पष्ट प्राथमिकता उस संगठित क्षेत्र को प्रोत्साहित करने की होगी जो अधिक श्रम को रोजगार प्रदान करे और साथ में असंगठित क्षेत्र की उत्पादिता बढ़ानी होगी।'

"श्रम-प्रदान बड़े पैमाने के विनिर्माण पर आधारित निम्न कौशल के प्रयोग वाले क्षेत्रों द्वारा औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार के विस्तार के अवसर हैं। चीन ने इस संदर्भ में सराहनीय उपलब्धि प्राप्त की है और विश्व बाजार को खोल दिया है जिसमें हम भी प्रभावी रूप से प्रतियोगिता कर सकते हैं।

अतः यह उचित होगा कि अब ध्यान मध्यम और छोटे उद्यमों की ओर केन्द्रित किया जाए। कृषि-संस्करण (Agro-processing), रेशम उत्पादन और अन्य बहुत से उद्योग मध्यम तथा छोटे उद्यमों को प्रोत्साहित कर विकसित किए जा सकते हैं। समूह विकास पद्धति (Cluster development approach) द्वारा इनकी जीवन क्षमता बढ़ायी जा सकती है और समूह में विद्यमान इकाइयों को आधारसंरचना सूचना, उधार और बेहतर किस्म की सहायक सेवाओं का कम लागत पर प्रावधान किया जा सकता है।

11 योजना ने अपना ध्यान विशेष आर्थिक क्षेत्रों की ओर देते हुए लिखा है–"विशेष आर्थिक क्षेत्रों (Special Economic Zones) और देशीय टैरिफ क्षेत्र (Demestic Traiff Area) में विनिर्माण इकाइयों के बीच खेल का हमवार मैदान नहीं है और ऐसी वस्तुओं और सेवाओं को जो पहले ही बिना रियायतों के निर्यात की जा रही हैं, कर-रियायतें (Tax concessions) देने से राजस्व की भारी हानि हो सकती है। इन रियायतों के सम्बन्ध में विचार किया जाना चाहिए और जहां आवश्यक हो उचित रक्षा बचाव उपाय करने होंगे।"

दिशानिर्देश पत्र इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सुधार के और उपायों की सिफारिश करता है–

1. श्रम-लोचशीलता (Labour flexibility) उपलब्ध कराने की आवश्यकता है।" श्रम-कानून में लोचशीलता के

नोट

अभाव के कारण हम संगठित विनिर्माण क्षेत्र में रोजगार के विस्तार के अवसर से वंचित हो जाते हैं। यह संवेदनशील मुद्दा है, परन्तु केन्द्र सरकार को इस पर सहमति प्राप्त करने के लिए श्रम-नेताओं से बातचीत करनी चाहिए।

2. लघु स्तर उत्पादन में लगातार अनारक्षण (Dereservation) की नीति अपनाने से आरक्षित मदों की संख्या 800 से घट कर 326 हो गयी है। इस नीति को 11वीं योजना में और त्वरित करना होगा।

3. चाहे औद्योगिक लाइसेंस नीति अब लगभग समाप्त कर दी गयी है परन्तु कुछ शेष अवरोधक चीनी, पेट्रोलियम परिष्करण और औषध उद्योग में बने हुए हैं। इन्हें भी धीरे-धीरे समाप्त कर देना चाहिए।

आधारसंरचना विकास (Infrastructure development)

आधारसंरचना का अभाव आर्थिक विकास पर एक मुख्य सीमाबन्धन है और इसका समाधान प्राथमिकता के आधार पर केन्द्र एवं राज्यों दोनों को करना होगा। ग्रामीण आधारसंरचना पर कार्य करना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना शहरी आधारसंरचना पर।

"आरम्भिक अनुमानों के अनुसार आधारसंरचना (जिसमें, सड़क, रेल, वायु और जलपरिवहन, पावरजनन, संचारण और टेलीसंचार का वितरण, जल-आपूर्ति, सिंचाई और भंडारण शामिल की जाती हैं) पर निवेश को 11वीं योजना में जी.डी.पी. के 4.6 प्रतिशत से बढ़कर 8 प्रतिशत तक ले जाने की आवश्यकता है।" इससे सार्वजनिक क्षेत्र पर बोझ बढ़ेगा क्योंकि निजी क्षेत्र निवेश इन क्षेत्रों में उपलब्ध होने की संभावना नहीं है।

भारत निर्माण

ग्रामीण आधारसंरचना (Rural Infrastructure) का अभाव समावेशी विकास के लिए उच्च प्राथमिकता है और संप्रग सरकार द्वारा कल्पित भारत निर्माण कार्यक्रम इसकी प्रोन्नति का मुख्य उपकरण है। इसे 11वीं योजना में पूरे जोर से लागू किया जाएगा ताकि सिंचाई, ग्रामीण जुड़ाव (Rural connectivity), ग्रामीण पेयजल, ग्रामीण गृहनिर्माण और ग्रामीण टेलीकाम जुड़ाव के महत्त्वपूर्ण लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें।

शहरी आधारसंरचना (Urban Infrastructure)

तीव्र आर्थिक विकास से स्वाभाविकत: अधिक शहरीकरण (Urbanization) होगा। दुर्भाग्यवश, देश में शहरी आधार संरचना इस हद तक खराब हो चुकी है कि हम इससे प्राप्त होने वाली मितव्ययताओं (Economies) का लाभ नहीं उठा सकते। घटिया शहरी आधारसंरचना जनता के लिए भारी कष्ट का कारण है। भीड़ वाली सड़कें, घटिया सार्वजनिक परिवहन, पानी की अपर्याप्त उपलब्धि, मल का अनुचित समाधान और अत्यन्त अपर्याप्त गृहनिर्माण होने के कारण शहरी जनसंख्या का लगभग 50 प्रतिशत गन्दी बस्तियों में निवास करता है। ये सभी शहरी जनसंख्या के जीवन की गुणवत्ता (Quality) और कल्याण पर प्रभाव डालते हैं। ये विदेशी निवेश पर भी दुष्प्रभाव डालते हैं क्योंकि भारत इनके कारण विदेशी निवेशकों पर अनुकूल प्रभाव नहीं डाल पाता।

शहरी आधारसंरचना को उन्नत करने के लिए, संप्रग सरकार ने 3 दिसम्बर 2005 को जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीकरण मिशन (Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission) 2005-06 से आरम्भ कर 7 वर्षों के लिए चालू किया। यह 63 शहरों में आधारसंरचना सेवाओं के समन्वित विकास करने का लक्ष्य रखता है ताकि शहरी गरीब वर्ग को सर्वव्यापक रूप में नागरिक सुविधाएँ पहुंचायी जा सकें। इस योजना पर 50,000 करोड़ रुपये केन्द्र सरकार द्वारा उपलब्ध कराए जाएंगे। 35 महानगरों (Mega cities) में अतिरिक्त केन्द्रीय सहायता प्रोजैक्ट-लागत के 100 प्रतिशत अनुदान के रूप में दी जाएगी और उत्तर-पूर्वीय राज्यों में 90 प्रतिशत के आधार पर।

पावर क्षेत्र का विकास औद्योगिक विकास के लिए केन्द्रीय महत्त्व रखता है और वास्तविक समस्या वितरण प्रणाली (Distribution system) की है। यह पूर्णतया राज्य सरकारों के हाथ में है और उन्हें सर्वोच्च प्राथमिकता के आधार पर वितरण कम्पनियों का निष्पादन उन्नत करना होगा।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी (Public-private partnership) निजी क्षेत्र के प्रयास के साथ एक वांछनीय पूरक

नोट

है। यह उस समय वाद-विवाद का विषय बन जाती है जब निजी क्षेत्र को जरूरत से ज्यादा अनुकूल व्यवहार प्राप्त होता है। अत: यह अनिवार्य है कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी कुछ सिद्धान्तों के आधार पर कायम की जाए जो यह सुनिश्चित करे कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी सार्वजनिक हित में है। यह तभी किया जा सकता है यदि रियायती समझौतों (Concessional agreements) की शर्तें पारदर्शी बनायी जाएं और इनका लक्ष्य सार्वजनिक हित की सुरक्षा हो। इसके साथ, एक मजबूत प्रतियोगी बोली (Competitive bidding) व्यवस्था कायम की जाए ताकि सब-से-कम लागत वाले विकल्पों का चयन किया जाए। यह पद्धति केन्द्र सरकार द्वारा सड़कों, बन्दरगाहों, हवाईमार्गों और रेलवे में अपनायी गयी है। राज्य सरकारों को भी इसी प्रकार की पारदर्शी पद्धति अपनानी होगी ताकि सार्वजनिक-निजी-साझेदारी सफल हो सके।

टास्क आधार संरचना विकास से आप क्या समझते हैं?

रोजगार (Employment)

"औसत दैनिक स्थिति बेरोजगारी (Daily status unemployment) जो 1993-94 में 6.1 प्रतिशत थी बढ़कर 1999-00 में बढ़कर 7.3 प्रतिशत हो गयी और फिर और बढ़कर 2004-05 में 8.3 प्रतिशत हो गयी। (पृ. 72) एक और गंभीर चिन्ता का विषय यह है कि कृषि श्रम-परिवारों में जोकि समाज का सबसे गरीब वर्ग है, बेरोजगार की दर जो 1993-94 में 9.3 प्रतिशत थी, बढ़कर 2004-05 में 15.3 प्रतिशत हो गयी।"

"गैर-कृषि रोजगार में 1999-2005 के दौरान 4.7 प्रतिशत की महत्वपूर्ण वार्षिक वृद्धि हुई परन्तु यह सारी वृद्धि असंगठित क्षेत्र में हुई और यह मुख्यत: निम्न-उत्पादिता वाले स्वरोजगार में वस्तुत: गिरावट आयी, बावजूद इसके कि इस क्षेत्र में काफी अधिक जी.डी.पी. की वृद्धि हुई।

"उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के अनुसार, वास्तविक मजदूरी संगठित क्षेत्र में या तो अवरुद्ध रही या इसमें गिरावट आयी, चाहे प्रबन्धकीय और तकनीकी स्टॉफ के वेतन में भारी वृद्धि हुई।"

"1980 के दशक के पश्चात हमारे संगठित क्षेत्र में मजदूरी का भाग आधा हो गया है जो कि विश्व में सबसे नीचा है। इसका एक कारण पूंजी-तीव्रता (Capital intensity) में वृद्धि है, दूसरा कारण बहिर्सोत्तीकरण (Outsourcing) है।"

11वीं योजना में श्रमशक्ति में 6.5 करोड़ की वृद्धि का अनुमान है। यदि इसमें अवशिष्ट बेरोजगार व्यक्तियों की 3.5 करोड़ संख्या को जोड़ लिया जाए, तो योजना काल में बेरोजगारों की कुल संख्या 10 करोड़ हो जाएगी। योजना में रोजगार के 6.5 करोड़ अवसर कायम किए जाएंगे। अत: 11वीं योजना के अन्त तक बेरोजगारों की संख्या 3.5 करोड़ होगी जोकि योजना के आरम्भ में थी। रोजगार में प्रत्याशित वृद्धि प्राप्त करने के लिए गैर-कृषि रोजगार बढ़ाने का सारा भार असंगठित क्षेत्र (Unorganised sector) को सहन करना होगा, क्योंकि अत्यन्त आशावादी कल्पनाओं के आधार पर भी संगठित क्षेत्र में रोजगार में केवल 20 लाख की वृद्धि होगी यदि भूतकाल की प्रवृत्ति बनी रहती है।

विकास-रणनीति (Growth strategy) के बारे में चिरस्थायी चिन्ता का सम्बन्ध इस बात से है कि यह गरीबों की उपेक्षा करती है और उन्हें विकास के लाभों से वंचित रखती है। इसका स्पष्ट प्रमाण इस बात से प्राप्त होता है कि गैर-कृषि सकल देशीय उत्पाद (Non-agricultural GDP) की कहीं अधिक वृद्धि का लाभ नीचे गरीबों तक नहीं पहुंचता, क्योंकि कृषि से अब सकल देशीय उत्पाद का केवल 22 प्रतिशत प्राप्त होता है परन्तु यह श्रमशक्ति के 60 प्रतिशत की आजीविका का साधन है। इस परिदृश्य के कारण चाहे जी.डी.पी. की वृद्धि दर 7 प्रतिशत से अधिक हो गयी है परन्तु गरीबी में कमी की दर मन्द हो गयी है, या केवल मर्यादित ही कही जा सकती है। दिशानिर्देश पत्र में उल्लेख किया गया।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. योजना आयोग ने 11वीं पंचवर्षीय योजना के दिशा निर्देश पत्र की रूपरेखा प्रस्तुत की–
   (क) जनवरी 2006 (ख) फरवरी 2006
   (ग) मार्च 2005 (घ) इनमें से कोई नहीं
2. भारत में 5,000 औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान (ITIs) अधीन हैं–
   (क) मानव संसाधन विकास मंत्रालय (ख) श्रम मंत्रालय
   (ग) विधि मंत्रालय (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. जवाहर लाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीकरण मिशन से कितने शहरों में आधार संरचना सेवाओं के समन्वित विकास करने का लक्ष्य रखा है–
   (क) 63 शहरों में (ख) 65 शहरों में
   (ग) 68 शहरों में (घ) इनमें से कोई नहीं
4. ग्रामीण आधार संरचना का अभाव समावेशी विकास के लिए है–
   (क) स्थिर प्राथमिकता (ख) उच्च प्राथमिकता
   (ग) निम्न प्राथमिकता (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. 11वीं योजना ने उल्लेख किया है–
   (क) समृद्ध एवं गरीबी वर्गों के बीच विभाजन को (ख) ग्रामीण-शहरी विभाजन को
   (ग) श्रेत्रीय विभाजन का (घ) उपयुक्त सभी
6. 11वीं योजना में श्रमशक्ति में वृद्धि का अनुमान है–
   (क) 6.5 करोड़ (ख) 6.7 करोड़
   (ग) 6.9 करोड़ (घ) इनमें से कोई नहीं

3.2 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के दिशा-निर्देश पत्र की समीक्षा का मूल्यांकन (Approach Paper of 11th Five Year Plan and its Evaluation)

ग्यारहवीं योजना के दिशा निर्देश पत्र में अपने उद्देश्य के तौर पर "तीव्र और अधिक समावेशी विकास" (Towards Faster and More Inclusive Growth) की कल्पना की गयी है। यह एक अभिनन्दनीय परिवर्तन है जो कि 1991 में आरम्भ किए गए आर्थिक सुधारों के बाद किया जा रहा है। यह बात महसूस की गयी है कि सुधार प्रक्रिया ने समृद्धों एवं गरीबों के बीच खाई को बढ़ा दिया है और 1993-94 और 2004-05 के दौरान गरीबी में कमी की दर मन्द हो कर 0.74 प्रतिशत प्रति वर्ष के मर्यादित स्तर पर आ गयी है। इसके परिणामस्वरूप बेरोजगारी में वृद्धि हुई है जो 1993-94 में 6 प्रतिशत से बढ़ कर 199-00 में 7.32 प्रतिशत हो गयी और फिर बढ़कर 2004-05 में 8.3 प्रतिशत हो गयी। इसके अतिरिक्त, इसने ग्राम-नगर विभाजन (Rural urban divide) को और व्यापक बना दिया है और तीव्र प्रगति करने वाले अगड़े राज्यों और मन्द प्रगति करने वाले पिछड़े राज्यों के बीच क्षेत्रीय असमानताएं (Regional disparities) बढ़ा दी हैं। सुधार-प्रक्रिया द्वारा जनित असमान विकास के परिणामस्वरूप भारतीय समाज की राजनैतिक बुनियाद हिल गयी है और इसलिए इसमें मार्ग-परिवर्तन की आवश्यकता बल पकड़ती जा रही है। यदि संप्रग सरकार ऐसा नहीं करती, तो इसके सामने एक गंभीर खतरा अपने बाजू फैलाए हुए है क्योंकि यह सरकार आम आदमी की दशा उन्नत करने के नारे के आधार पर विजय प्राप्त कर पायी थी।

नोट

प्रश्न उठता है कि क्या दिशानिर्देश पत्र (Approach Paper) में उन चिन्ताओं की ओर ध्यान देने की सोच विद्यमान है जिनका उपचार करने का निर्णय इसमें लिया गया?

दिशा निर्देश पत्र में ग्यारहवीं योजना के दौरान अर्थव्यवस्था की समग्र वृद्धि दर को बढ़ा कर 9 प्रतिशत तक ले जाने का लक्ष्य रखा गया है। इसकी प्राप्ति के लिए कृषि की वृद्धि दर को जो दसवीं योजना के दौरान 1.7 प्रतिशत से बढ़ा कर लगभग 4 प्रतिशत करना होगा और उद्योगों की वृद्धि दर को बढ़ा कर 10.5 प्रतिशत एवं सेवा क्षेत्र की वृद्धि दर को 9.9 प्रतिशत करना होगा। यह बात याद रखने योग्य है कि दसवीं योजना के दौरान उद्योगों की वृद्धि दर 8 प्रतिशत और सेवाओं की वृद्धि दर 8.9 प्रतिशत रहने का संकेत मिलता है। जाहिर है कि 11वीं योजना में उद्योगों एवं सेवाओं की वृद्धिदर तो सीमान्त रूप में ही उन्नत की जाएगी परन्तु यह कृषि की वृद्धिदर को दुगुना करना चाहती है ताकि 9.0 प्रतिशत की समग्र वृद्धिदर का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। इसका अभिप्राय यह कि 11वीं योजना की सफलता कृषि के लिए निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति पर निर्भर करेगी, विशेषकर ऐसा इसलिए भी है क्योंकि कृषि अभी भी हमारी जनसंख्या के 58 प्रतिशत को आजीविका उपलब्ध कराती है।

क्या आप जानते हैं समावेशी विकास की अवधारणा 11वीं योजना के ढांचे का अंग है।

गरीबी में कमी–बुनियादी मुद्दा

परन्तु समावेशी विकास तभी वास्तविक रूप धारण कर सकता है यदि गरीबी में तीव्र कमी होने के साथ-साथ 11वीं योजना के दौरान बेरोजगारी में भी तीव्र कमी व्यक्त हो। दिशा निर्देश पत्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि आयोजकों की इस सम्बन्ध में राजनैतिक इच्छाशक्ति बहुत कमजोर है।

गरीबों में कमी का लक्ष्य निर्धारित करते हुए दिशानिर्देश पत्र ने उल्लेख किया–"हमें इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए औसत भारतीय की वास्तविक आय दस वर्षों से कम समय में दुगुनी करनी होगी और इसी अवधि के दौरान गरीबी को 10 प्रतिशत से कम करने का वायदा करना होगा।"

इस सम्बन्ध में मोहन गुरुस्वामी ने गरीबी रेखा की परिभाषा के बारे में एक और सवाल उठाया है। "जबकि भूख की परिभाषा कैलारिया के रूप में स्थिर रह सकती है, गरीबी की परिभाषा सामान्य समृद्धि के वर्तमान स्तर के संदर्भ में सापेक्ष है। वर्तमान औपचारिक परिभाषा केवल कैलोरी-उपभोग (Calorie intake) पर आधारित है और इसमें और कुछ भी शामिल नहीं है, इसलिए यह व्यक्ति की शारीरिक भूख के सिवाय और कुछ भी नहीं। यह कहीं उचित है कि इसे **'भुखमरी रेखा'** (Starvation line) के रूप में की गयी परिभाषा समझा जाए और यह ठीक वही है।" अत: योजना आयोग केवल "भुखमरी रेखा" को 2017 तक 10 प्रतिशत तक कम करना चाहता है। एक बुनियादी न्यूनतम (Basic minimum) उपलब्ध कराने के लिए, गरीबी रेखा को बुनियादी आवश्यकताओं की दृष्टि से परिभाषित करना होगा। जबकि भारत 2020 तक एक आर्थिक महाशक्ति (Economic superpower) का लक्ष्य रखे हुए है, परन्तु यह उस समय तक केवल भुखमरी को ही दूर कर पाएगा। अत: भारत को अन्तर्राष्ट्रीय गरीबी रेखा अर्थात 2 डालर प्रतिदिन को आधार बनाकर गरीबी के नीचे रहने वाली जनसंख्या का प्रतिशत निर्धारित करना होगा। मानवीय विकास रिपोर्ट (2005) के अनुसार, 1 डालर प्रति दिन के आधार पर 1999-00 में कुल जनसंख्या का 34. 7 प्रतिशत गरीबी रेखा के नीचे था और यदि 2 डालर प्रति दिन के मानदण्ड का प्रयोग किया जाए, तब भारत की 80 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी के नीचे थी। वर्तमान गरीबी रेखा जो कैलारी-उपभोग पर आधारित है, 1 डालर प्रतिदिन के न्यूनतम मानदण्ड पर भी नहीं पहुंचती, बुनियादी आवश्यकता (Basic needs) आधार पर 2 डालर प्रति दिन पर पहुंचने की बात तो दूर रही। अत: योजना आयोग को गरीबी रेखा में संशोधन कर इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लाना चाहिए जैसा कि यह विनिर्माण, सेवा क्षेत्र और कृषि-उत्पादिता पर प्राप्त करने का प्रयास कर रहा है। इसे झूठे भ्रम पर संतोष नहीं करना चाहिए कि इसने प्रभावी रूप में गरीबी कम कर दी है।

बेरोजगारी की समस्या

नोट

11वीं योजना में श्रमशक्ति में 6.5 करोड़ की वृद्धि नवप्रवेशकों के रूप में होगी। यदि इसमें 3.5 करोड़ अवशिष्ट बेरोजगार जोड़ लिए जाएं, तो योजना के दौरान 10 करोड़ नयी नौकरियां कायम करने की आवश्यकता है। योजना में 6.5 करोड़ नयी नौकरियां कायम की जाएंगी। परिणामत: 11वीं योजना के अन्त में 3.5 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार रहेंगे। इन प्रकार बेरोजगारों की संख्या योजना के अन्त पर उतनी ही रहेगी जितनी योजना के आरम्भ में थी। बेरोजगारी में कमी दो कारणतत्वों पर निर्भर है–कृषि की वृद्धि दर को बढ़ाकर 4 प्रतिशत करना और छोटे तथा मध्यम स्तर के उद्यमों में रोजगार–क्षमता बढ़ाना। आयोजकों को संगठित क्षेत्र से कोई उम्मीद नहीं कि वह अधिक रोजगार उपलब्ध कराएगा। जहां कृषि में विकास–लक्ष्य काफी महत्वाकांक्षी है चूंकि इसे योजनाकाल में 10वीं योजना में प्राप्त वृद्धि के दुगुने से भी अधिक बढ़ाना है, यह संभव है कि कृषि में रोजगार की वृद्धि प्रत्याशा से कम रहे। इसके साथ, जहां उद्योग में, 11वीं योजना समस्या की पहचान तो करती है, किन्तु छोटे तथा मध्यम उद्यमों को मजबूत बनाने के लिए ठोस रणनीति का सुझाव नहीं देती। बयानबाजी के साथ नीति सम्बन्धी आलम्बन का अभाव है।

ग्यारहवीं योजना का दिशा निर्देश पत्र **रोजगार अवसरों** पर कार्यदल (Task Force on Employment Opportunities) की रिपोर्ट (2001) का नये रूप में प्रस्तुतिकरण है जिसके अध्यक्ष डॉ. मोंटेक सिंह आहलूवालिया थे, जो तब योजना आयोग के सदस्य थे और अब योजना आयोग के उपाध्यक्ष हैं। कार्यदल के मुख्य सुझाव थे; कृषि क्षेत्र में निजी क्षेत्र के निवेश को बढ़ावा देना, समन्वित कृषि–कामप्लैक्सों (Integrated agricultural complexes) और फूड पार्कों (Food parks) के विकास के लिए निगम क्षेत्र का प्रयोग करना, पतित एवं व्यर्थ भूमियों के विकास के लिए कृषि–कम्पनियों को ठेके देना, खाद्य संसाधन उद्योगों (Food processing industries) के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का सहारा लेना, निर्माण, फुटकर व्यापार, सड़क निर्माण आदि में बड़ी फर्मों का प्रयोग कराना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रोजगारजनन की पूरी जिम्मेदारी निगम क्षेत्र को सौंप दी जानी चाहिए। इस प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिए अगले चार वर्षों में लघु उद्योगों का पूर्ण अनारक्षण (Dereservation) और औद्योगिक विवाद कानून में संशोधन कर श्रम–अधिनियमों में सुधार करना चाहिए ताकि नियोजकों को श्रमिकों को नौकरी पर रखने और उन्हें बर्खास्त करने का बेरोक–टोक अधिकार प्राप्त हो सके। इस रिपोर्ट को श्रम–विरोधी समझा गया और नीति–निर्धारकों ने यह बात स्वीकार की कि इसकी अधिकतर सिफारिशें रोजगार को सीमित करने वाली हैं, न कि इसका विस्तार करने वाली। चाहे योजना आयोग ने औपचारिक रूप में इस रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया परन्तु इसे चुपचाप दफना दिया और 5 सितम्बर 2001 को डॉ. एस. पी. गुप्त, सदस्य योजना आयोग की अध्यक्षता में एक विशेष–दल (Special Group) स्थापित कर दिया जिसको 100 लाख रोजगार प्रति वर्ष कायम करने के लक्ष्य हेतु सिफारिशें करने का कार्य सौंपा गया। डॉ. एस.पी. गुप्त की अध्यक्षता में स्थापित विशेष–दल ने यह तथ्य उजागर किया कि चूंकि कुल श्रम–शक्ति का 93 प्रतिशत असंगठित क्षेत्र (Unorganized sector) में रोजगार प्राप्त है, इसलिए असंगठित क्षेत्र की उत्पादिता एवं नौकरी की गुणवत्ता (Quality of employment) उन्नति करने के लिए सभी प्रयास किए जाने चाहिए। असंगठित क्षेत्र के विकास पर अधिक बल देना चाहिए, इसकी अपेक्षा कि श्रम का पूंजी से प्रतिस्थापन किया जाए। विशेष दल ने यह संकेत दिया कि संगठित क्षेत्र का कुल रोजगार में भाग 7 प्रतिशत है और निजी क्षेत्र का भाग केवल 2.5 प्रतिशत है सार्वजनिक क्षेत्र तो पहले ही अपने अतिरिक्त श्रम को कम कर रहा है। यदि निजी क्षेत्र को श्रम–कानून के संशोधन द्वारा श्रम रोजगार पर रखने और हटाने की छूट दे दी जाती है, तो इसका फौरी परिणाम अतिरिक्त रोजगार कायम करने की अपेक्षा रोजगार से हटाने के रूप में अधिक व्यक्त होगा। अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव को ध्यान में रखते हुए और हमारे देश की भारी जरूरत की दृष्टि से, विशेष दल ने यह नतीजा निकाला कि छोटे एवं मध्यम उद्योगों का बड़े उद्योगों के साथ केवल सह–अस्तित्व ही नहीं बना रहना चाहिए बल्कि उन्हें विकास और रोजगार के मुख्य सहभागियों का कार्यभाग अदा करना होगा। किन्तु 11वीं योजना में छोटे स्तर के उद्यमों में पूर्ण अनारक्षण (Dereservation) करने की सिफारिश की है और इस प्रकार 326 मदों पर उपलब्ध आरक्षण भी समाप्त

नोट

कर दिया जाएगा। यह श्रम विधान में सुधार का राग अलाप रही है जबकि इसने यह बात स्वीकार कर ली है कि संगठित क्षेत्र से अतिरिक्त रोजगार जनन की कोई उम्मीद नहीं।

श्रम-लोचशीलता (Labour Flexibility) का मुद्दा

यदि हम समावेशी विकास के प्रति सम्मान को छोड़ दें, तो ग्यारहवीं योजना का दिशानिर्देश पत्र श्री आहलूवालिया के कार्य-दल की रिपोर्ट का नया अवतार है। दिशानिर्देश पत्र में उल्लेख किया गया है: "इस बात पर बल देना होगा कि श्रम लोचशीलता का अर्थ नौकरी पर "लगाना और हटाना" ही नहीं। श्रम कानूनों के बहुत से ऐसे पहलू हैं जिनमें अधिक लोचशीलता की जरूरत है और यह समग्र श्रम वर्ग के हित में होगा क्योंकि इससे संगठित क्षेत्र में नियोजकों को रोजगार बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा और वास्तव में इससे भारी मात्रा में रोजगार-जनन होगा। इस लोचशीलता की विशेष आवश्यकता है यदि हम निर्यात बाजारों के द्वारा प्रस्तुत भारी अवसरों का लाभ उठाना चाहते हैं। ... हमें श्रम-कानून के सुधार के क्षेत्र पर सहमत प्राप्त करना चाहिए जिसमें विशेष कर औद्योगिक विवाद कानून (Industrial Disputes Act) और ठेका श्रम (विनिमय एवं उन्मूलन) (Contract Labour—Regulation and Abolition—Act) भी शामिल होने चाहिए।" इस वक्तव्य में योजना आयोग के गुप्त एजेन्डा को एक शब्दावली के आडम्बर में छिपाया गया है। इसका कारण संगठित क्षेत्र में हाल ही के वर्षों में किए जाने वाले प्रस्तावों से स्पष्ट हो जाता है। टैक्सटाइल उद्योग मंत्री चाहते हैं कि (1) काम के घण्टे 48 से बढ़ाकर 60 प्रति सप्ताह कर दिए जाएं; (2) स्त्रियों को रात्रि-शिफ्ट में काम करने की अनुमति दी जाए; (3) ठेका श्रम की इजाजत दी जाए और श्रम को नौकरी से हटाने के मानदण्ड (Norms) आसान करने चाहिए और (4) निर्यात उद्योग को औद्योगिक विवाद कानून के लिए एक सार्वजनिक उपयोगिता (Public utility) का दर्जा देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, वाणिज्य मंत्री श्री कमल नाथ चाहते हैं कि विशेष आर्थिक क्षेत्रों (Special Economic Zones) को श्रम-कानूनों से छूट दी जाए। जाहिर है कि वह दिशा जिसकी ओर संप्रग सरकार श्रम-कानूनों को धकेलना चाहती है, इससे एकदम स्पष्ट हो जाती है चाहे यह कितने ही नरम शब्दों में ग्यारहवीं योजना में उसे छिपाना चाहे।

योजना आयोग ने समावेशी विकास का लक्ष्य रखा है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि उत्पादिता में तीव्र वृद्धि के बावजूद श्रम की वास्तविक मजदूरी में गिरावट आयी है अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (ILO) की रिपोर्ट जिसका शीर्षक है—Labour and Social Trends in Asia and the pacific (2006) में यह कठोर सत्य प्रस्तुत किया है कि 1990 और 2002 के बीच, भारत के विनिर्माण क्षेत्र में वास्तविक मजदूरी में 22 प्रतिशत की गिरावट हुई, जबकि इस क्षेत्र की इस अवधि के दौरान उत्पादिता में 84% की वृद्धि हुई। जाहिर है कि आर्थिक सधारों के लाभ निगम क्षेत्र द्वारा हथियार जा रहे हैं जबकि श्रम को उचित मजदूरी प्राप्त नहीं होती। व्यंग्यात्मक बात यह है कि प्रबन्धकीय और तकनीक स्टॉफ के वेतन में 15% प्रतिवर्ष की वृद्धि हो रही है। योजना आयोग के समावेशी विकास की रणनीति ऐसे उपायों का सुझाव देने में विफल हुई जिसके द्वारा तीव्र आर्थिक विकास द्वारा जनित अतिरेक में उन्नति से श्रम के भाग में वृद्धि हो। आलोचकों को 11वीं योजना के साम्यता उद्देश्य (Equity objective) की प्राप्ति के बारे में भारी आशंका है। मजदूरी के निर्धारण को बाजार शक्तियों पर छोड़ देने और श्रम कानून द्वारा थोड़ा-बहुत संरक्षण समाप्त कर देने स संगठन क्षेत्र के बड़े व्यापारिक घरानों एवं उद्योगपतियों को श्रम के शोषण की बरोकटोक शक्ति प्राप्त हो जाएगी। परिणामत: श्रम के हितों का हनन जारी रहेगा।

कृषि के विकास को त्वरित करना

सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा जो 11वीं योजना की सफलता से सम्बन्धित है, वह कृषि की वृद्धिदर को त्वरित कर 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष के स्तर पर लाना है, जबकि इसकी वर्तमान वृद्धिदर 1.7 प्रतिशत है। इस सम्बन्ध में बहुत से उपाय सुझाए गए हैं जैसे किसानों को उनकी फसल पर लाभकर कीमत (Remunerative price) उपलब्ध कराना, विशेष फसल की उत्पादिता की अपेक्षा फार्म-आय सुरक्षा (Farm income security) पर बल देना और इसके लिए कृषि का विविधीकरण करना, सिंचाई, वाटर शैड विकास, ग्रामीण बिजलीकरण, ग्रामीण आधारसंरचना (Rural Infra-structure) आदि में सार्वजनिक निवेश को बढ़ावा देना, किसानों की उधार के लिए पहुंच को उन्नत करना ताकि

नोट

उनको महाजनों के चंगुल में फंसने से बचाया जा सके जो ब्याज की बहुत ऊंची दर पर वसूल करते हैं। इस समस्या का समाधान सरकारी ऋण प्रणाली को पुनः सशक्त करने के रूप में सोचा गया है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस. मुल्लाई नाथन इस सम्बन्ध में साफ शब्दों में उल्लेख करते हैं–"उधार सबसे महत्त्वपूर्ण संसाधन है जिसका ग्राम जनसंख्या को अभाव है... सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्र (Priority sector lending) के रूप में उधार देने के बावजूद किसान स्थानीय महाजनों से ऊंची दरों पर उधार लेते हैं।" **(बिजनेस लाइन,** 12 सितम्बर 2006)। इसके लिए सरकार को सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों और इच्छुक निजी क्षेत्र के बैंकों को मजबूर करना होगा कि वे प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्र को सबसे अधिक महत्व दें। इसके लिए किसानों की पहुंच को बढ़ाने हेतु और शाखाएं खोलनी होंगी जो कि एकदम करना चाहिए। इस समस्या के फौरी स्वभाव पर बल देते हुए प्रोफेसर मुल्लाई नाथन का कहना है–"बैंकों और रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया को गहरा आत्म-निरीक्षण करना होगा कि जनसंख्या के इस भाग को वित्तीय क्षेत्र क्यों पोषित नहीं कर रहा है। मुझे ऐसा लगता है कि इस प्रक्रिया के परिणाम पर अर्थव्यवस्था का स्वरूप निर्धारित होगा। परन्तु हम इसे किस प्रकार करें? यदि महत्वपूर्ण खिलाड़ी सही दशा में आगे बढ़ें, तब हम ग्रामीण भारत में भारी परिवर्तन कर सकते हैं। यदि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक, भारतीय रिजर्व बैंक और गैर-सरकारी बैंक जैसे आई.सी.आई.सी.आई. बैंक इस समस्या को स्वीकार कर लेते हैं, तो मुख्य मुद्दा इस पर फौरी कार्रवाई करने का रह जाता है।" दिशा निर्देश पत्र में इस 'फौरी कार्रवाई' का अभाव है। इसके लिए तो प्रधानमंत्री इंदिरागांधी द्वारा दिखाए गए पक्के इरादे की जरूरत है जिससे प्राथमिकता प्राप्त उधार की उपलब्धि को त्वरित किया जा सके और इससे जनता की एक भारी संख्या जो मुख्यतः कमजोर वर्गों से है, को लाभ पहुंचाया जा सके।

ग्रामीण आधारसंरचना में सामाजिक आधारसंरचना शामिल नहीं

दिशानिर्देश पत्र में ग्रामीण आधारसंरचना जैसे सिंचाई, ग्रामीण सड़कों, ग्रामीण आवास, ग्रामीण जलपूर्ति, बिजलीकरण एवं टेलीफोनी (Telephony) के लिए भारत निर्माण को एक मुख्य प्रक्रिया के रूप में पेश किया गया है। आर्थिक आधारसंरचना के विकास की ओर यह ध्यान अभिनन्दनीय है, परन्तु शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर निवेश के रूप में सामाजिक आधारसंरचना (Social infrastructure) का विकास कैसे होगा।

राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम में यह वचन दिया गया कि शिक्षा पर व्यय को बढ़ाकर सकल देशीय उत्पाद के 6 प्रतिशत तक ले जाया जाएगा और स्वास्थ्य पर व्यय को 2-3 प्रतिशत तक। दिशानिर्देश पत्र में अर्थव्यवस्था में ज्ञान एवं स्वास्थ्य के घाटे (Knowledge and health deficit) के बारे में कोई जिक्र नहीं। डॉ. अमिया कुमार बागची ने दिशानिर्देश पत्र पर इस समस्या की पूर्णरूप में अनदेखी करने का आरोप लगाया है। उन्होंने उल्लेख किया है– "दिशानिदेश पत्र में ग्रामीण आधारसंरचना कायम करने का भारी कार्यक्रम रखा गया है, परन्तु यह बड़ी अजीब बात है इसमें सैकड़ों स्कूलों में शौचालय एवं पेयजल की सुविधाएं बनाने का जिक्र नहीं, जिनकी लगभग सभी राज्यों को आवश्यकता है। न ही प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों या अस्पतालों के निर्माण का काई प्रोग्राम पेश किया गया है।" इस बात के अनेक प्रमाण मौजूद हैं, कि भौतिक पूंजी (Physical capital) के साथ मानवीय पूंजी (Human capital) के विकास से आर्थिक विकास महत्त्वपूर्ण रूप में त्वरित होता है।

सैकेन्डरी शिक्षा का तीव्र विस्तार

इस बात के बावजूद कि दिशानिर्देश पत्र में 'प्रथम'–एक गैर-सरकारी संस्था के अध्ययन का हवाला दिया गया जिसमें 2005 के दौरान यह देखा गया कि "कि चार वर्ष तक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 38 प्रतिशत बच्चे ऐसे थे जो छोटे-छोटे वाक्यों के एक पैराग्राफ भी पढ़ नहीं सकते थे जो कि यह दूसरी कक्षा के बच्चों के पढ़ने के लिए था। लगभग 55 प्रतिशत ऐसे थे जो तीन अंकों की संख्या को एक अंक की संख्या द्वारा भाग देना नहीं जानते थे", फिर भी दिशानिर्देश पत्र बिना प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के सैकेन्डरी शिक्षा के तीव्र विस्तार की ओर बढ़ाना चाहता है। इस उद्देश्य के लिए सार्वजनिक पूर्णतया-वित्त-पोषित स्कूलों में आधारसंरचना और शिक्षा की गुणवत्ता को उन्नत करना अनिवार्य है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि सरकारी स्कूलों में शिक्षकों के गैर-सहायता-प्राप्त स्कूलों में काम करने वाले शिक्षकों की तुलना में अधिक वेतन दिया जाता है, परन्तु जवाबदेही

नोट

(Accountability) की कमी और स्कूल के उचित वातावरण के अभाव के कारण यह दु:खदायी स्थिति विद्यमान है। ग्रामीण स्कूलों में आधारसंरचना के लिए बेहतर वित्तपोषण एक और एक उत्तरदायी प्रणाली की स्थापना द्वारा स्थिति में सुधार लाया जा सकता है ताकि पहली पीढ़ी के शिक्षार्थियों (First generation learners) और ऐसे मां बाप के बच्चों को जो या तो अनपढ़ हैं या कम पढ़े-लिखे हैं, शिक्षा ग्रहण करने में सफल बनाया जा सके।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. दिशा निर्देश पत्र में ..... के दौरान अर्थव्यवस्था की समग्र वृद्धि दर को बढ़ाकर 9 प्रतिशत तक ले जाने का लक्ष्य रखा गया है।
2. ..... ने समावेशी पक्ष का विचार रखा है।
3. दिशा निर्देशन पत्र में अर्थव्यवस्था में ज्ञान एवं ..... के घाटे के बारे में कोई जिक्र नहीं है।
4. ..... में ग्यारहवीं योजना के लिए प्रस्तावित वित्तीय ढांचे को कोई जिक्र तक नहीं है।
5. ..... देशीय उत्पादन में 9.0 प्रतिशत की उच्च वृद्धि दर किस हद तक गरीबी एवं बेरोजगारी की समाप्ति में मदद कर सकेगी, इसके लिए संतोषजनक तस्वीर पेश नहीं की गई।

3.3 सारांश (Summary)

- योजना आयोग ने 11वीं पंचवर्षीय योजना के दिशा निर्देश पत्र (Approach) की रूपरेखा जनवरी 2006 में प्रस्तुत की।
- दिशानिर्देश पत्र का अन्तिम विवरण दिसम्बर 2006 में पेश किया गया जिसका शीर्षक था, "तेज और अधिक समावेशी विकास की ओर" (Towards faster and more inclusive growth)।
- समावेशी विकास का प्रोन्नत करने के लिए ग्यारहवीं योजना को सार्वजनिक सेवाओं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, पीने का साफ़ पानी, सफाई आदि की पहुंच बढ़ानी होगी जोकि अभी तक हमारी जनसंख्या के बड़े भाग को उपलब्ध नहीं।
- शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सम्बन्धित अनिवार्य सेवाओं की गुणवत्ता (Quality) का विस्तार करने तथा इन्हें विस्तार करने तथा इन्हें उन्नत करने के लिए सार्वजनिक व्यय को बढ़ाना अनिवार्य है। केन्द्र एवं राज्य सरकारों को इन सेवाओं के लिए बजट-आवंटन (Budget allocations) बढ़ाने होंगे।
- कृषि की वृद्धि-दर को त्वरित कर सकल देशीय उत्पाद के 4 प्रतिशत तक ले जाना कोई आसान काम नहीं। दसवीं योजना के पहले तीन वर्षों के दौरान, कृषि–जी.डी.पी. (जिससे वाणिकी एवं मत्स्य भी शामिल हैं) की वृद्धि दर केवल 1.7 प्रतिशत रही है। अत: 11वीं योजना में कृषि-वृद्धिदर को दुगुना करने की चुनौती का सामना करने के लिए बहुत से क्षेत्रों में विशेष प्रयास करने होंगे।
- ग्रामीण आधारसंरचना (Rural Infrastructure) का अभाव समावेशी विकास के लिए उच्च प्राथमिकता है और संप्रग सरकार द्वारा कल्पित भारत निर्माण कार्यक्रम इसकी प्रोन्नति का मुख्य उपकरण है।

3.4 शब्दकोश (Keywords)

- **बहिर्स्रोतीकरण–** बाह्य स्रोत
- **वासभूमि–** बसने योग्य भूमि

नोट

3.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य, लक्ष्य एवं नीतियों की विवेचना कीजिए।
2. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के दिशानिर्देश पत्र की समीक्षा कीजिए।
3. गरीबी की समस्या पर एक लेख लिखिए।
4. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के कृषि विकास मुद्दे पर प्रकाश डालिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   (*i*) सर्व शिक्षा अभियान (*ii*) भारत निर्माण
   (*iii*) शहरी आधार संरचना (*iv*) रोजगार
   (*v*) सेकेन्ड्री शिक्षा

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (क) 2. (ख) 3. (क) 4. (ख)
5. (घ) 6. (क)

2. 1. 11वीं योजना 2. योजना आयोग 3. स्वास्थ्य 4. दिशा-निर्देशन पत्र
5. सकल।

3.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–4: भारत में आर्थिक सुधार–1991 (Economic Reforms in India Since 1991)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 भारत में आर्थिक सुधार (Economic Reforms in India Since 1991)

4.2 सारांश (Summary)

4.3 शब्दकोश (Keywords)

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में 1991 में हुए आर्थिक सुधार का विवेचन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

पिछले लगभग 40 वर्षों से सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभुत्व होने के बाद यह महसूस किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र की उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी है और यह विकास की प्रक्रिया में रुकावट पैदा कर रहा है।

इस बात का अनुभव किया गया कि सरकार के खर्च उसकी आय से बहुत अधिक है। वस्तुओं के आयात में तीव्र गति से वृद्धि हुई है, जबकि उसकी तुलना में निर्यात में वृद्धि नहीं हुई है। विदेशी विनिमय संचय दो सप्ताह से अधिक भुगतान करने के लिए अपर्याप्त है। मुद्रा प्रसार दो अंकों के स्तर पर पहुँच चुका है। इस वित्तीय संकट से निकलने के लिए हमने विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (IMF) से 7 बिलियन ऋण की माँग की। विश्व बैंक द्वारा यह परामर्श दिया गया कि भारत वर्ष निजी क्षेत्र पर लगाए गए प्रतिबंधों को समाप्त करे। सरकार की भूमिका को कम करे और व्यापारिक प्रतिबंधों को समाप्त करे एवं अपनी अर्थव्यवस्था को खुली बनाकर उदारीकरण की नीति अपनाए। इसी के आधार पर हमने नई आर्थिक नीति, (जिसे आर्थिक सुधार भी कहते हैं) को अपनाया।

4.1 भारत में आर्थिक सुधार (Economic Reforms in India Since 1991)

भारत सरकार द्वारा जुलाई 1991 से अपनाई गई आर्थिक नीति नई आर्थिक नीति के नाम से जानी जाती है। स्वतंत्रता से जून 1991 तक हमारे द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियाँ तीव्र आर्थिक वृद्धि के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं रहीं। इसने हमें आर्थिक संकट की ओर, राजकोषीय घाटे, प्रतिकूल भुगतान संतुलन, असक्षमता और लाल फीताशाही की तरफ ढकेला। आर्थिक संकट से बाहर आने के लिए और आर्थिक वृद्धि

नोट

की दर को तेज करने के लिए जुलाई 1991 में नई आर्थिक नीति सामने आई। नई आर्थिक नीति निम्नलिखित उद्देश्य प्राप्त करना चाहती है:

1. **सार्वजनिक क्षेत्र के विकास की प्राथमिकता को कम करना** (Reducing Priority Development of Public Sector)– सार्वजनिक क्षेत्र अब उच्च टेक्नोलॉजी और आधारभूत ढाँचे के महत्वपूर्ण क्षेत्र जैसे–सड़कें, रेलवे, ऊर्जा, शिक्षा, स्वास्थ्य, जल आपूर्ति और सीवेज सुविधाओं आदि पर ध्यान देगी। सार्वजनिक क्षेत्र को दी गई 17 उद्योगों में से 9 जुलाई 1991 की औद्योगिक नीति के अंतर्गत आते हैं। ये उद्योग हैं लौह और इस्पात, विद्युत, वायु यातायात, नौका निर्माण, भारी विद्युत मशीनरी, दूर संपर्क, केबल और यंत्र-संयंत्र आदि के हैं। सरकार ने इनके अंशों को वित्तीय संस्थाओं, जनता और श्रमिकों में अंशों का कुछ भाग देने की योजना बनाई।
2. **विदेशी निजी निवेश के लिए खुले दरवाजे** (Open Door to Foreign Private Investment)–नई आर्थिक नीति ने निजी विदेशी निवेश नीति का स्वागत किया और बाहरी निवेश पर लगे प्रतिबंधों को हटाया। पहले विदेशी सहायता, उनकी एजेंसियाँ, एशियन बैंक और IMF पर प्रतिबंध था।
3. **अर्थव्यवस्था का उदारीकरण** (Liberalisation of Economy)–सरकार द्वारा प्रत्यक्ष और भौतिक नियंत्रण को निम्नलिखित के संदर्भ में उदार बनाया गया–
   (*i*) औद्योगिक लाइसेंसिंग
   (*ii*) उत्पादों की कीमत और वितरण नियंत्रण
   (*iii*) आयात लाइसेंसिंग
   (*iv*) विदेशी विनिमय नियंत्रण
   (*v*) कंपनियों द्वारा पूँजीगत व्ययों पर नियंत्रण
   (*vi*) बड़े व्यापार संगठनों द्वारा निवेश पर प्रतिबंध।

उदारीकरण नीति के पीछे मुख्य उद्देश्य कीमतों और प्रतियोगिता को अर्थव्यवस्था में मुख्य भूमिका निभाने देना है। सरकार ने यह महसूस किया कि ये प्रतिबंध उचित नहीं थे। ये सिर्फ भ्रष्टाचार, विलंब और अकुशलता के लिये जिम्मेदार हैं।

4. **अर्थव्यवस्था का विश्व अर्थव्यवस्था से एकीकरण** (Integration of the Economy with the World Economy)–नई आर्थिक नीति का यह मानना है कि भारतीय अर्थव्यवस्था, विश्व अर्थव्यवस्था के साथ गहरा संबंध रखे। इसके परिणामस्वरूप वस्तुओं, टेक्नोलॉजी और अनुभव के विनिमय में आसानी हुई। **अतः आयात लाइसेंसिंग पर लगे मात्रात्मक प्रतिबंधों को हटाया गया।** आयात चुँगी की दर घटा दी गई।

हमारी नीतियों में किए गए ये सभी परिवर्तन हमारे आर्थिक विकास और इससे संबंधित नीतियों पर अपना असर डालेंगे। अत: नई आर्थिक नीति का उद्देश्य अधिक प्रतियोगी और बेहतर वातावरण बनाना है जिससे अर्थव्यवस्था में सुधार किया जा सके।

आर्थिक सुधार/नई आर्थिक नीति की आवश्यकता (Need of the Economic Reforms/New Economic Policy)

अप्रैल 1951 से नियोजित विकासात्मक अर्थव्यवस्था अपनाई गई है। हमारा मुख्य उद्देश्य अधिक सामाजिक कल्याण और पिछड़े गरीब लोगों को ऊपर उठाना था। हमने समाजवादी पद्धति को अपनाया। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आर्थिक प्रणाली की तरह मिश्रित अर्थव्यवथा सामने आई। 1951-1990 के काल के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र को ऊँची प्राथमिकता दी गई। इस काल ने सफलता-असफलता दोनों को पाया। 1951-91 के काल की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

नोट

(*i*) सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक प्राथमिकता।

(*ii*) निजी क्षेत्र के कार्यों पर नियंत्रण।

(*iii*) सार्वजनिक क्षेत्र में अफसरशाही (Bureaucracy) और लाल-फीताशाही (Red Tapism)।

(*iv*) जून 1991 तक आर्थिक संकट की शुरूआत।

(*v*) विदेशी विनिमय में कमी।

(*vi*) नए विदेशी ऋण की अनुपलब्धता।

(*vii*) गैर-निवासियों (Non-Resident) द्वारा अपने खातों को बंद करना।

(*viii*) USSR के बिखराव (Disintegration) और टूटने का बुरा असर।

(*ix*) राजकोषीय घाटे में वृद्धि।

(*x*) भुगतान संतुलन घाटे में वृद्धि

(*xi*) विदेशी विनिमय कोष में भारी गिरावट।

आर्थिक नीति की आवश्यकता

1. **राजकोषीय घाटा** (Fiscal Deficit)—यद्यपि हमने नियोजित विकासात्मक अर्थव्यवस्था को अपनाया है लेकिन हमारे गैर विकासात्मक व्यय कुल व्यय के बहुत अधिक अनुपात में हैं। राजकोषीय घाटा जो 1981-82 में GDP का 5.4% था 1991 में GDP का 8.4% तक बढ़ गया। इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार भारी ऋण लेती है। परिणामस्वरूप ऋण और ब्याज की अदायगी बढ़ती जाती है। राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज जो कुल सरकारी व्यय का 1980-81 में 10% था 1991 में बढ़कर 36% हो गया। उस अवस्था में हमारी अर्थव्यवस्था कर्जो के जाल में फँसी थी। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा फंड जैसे IMF ने हमारी आर्थिक प्रणाली से अपना विश्वास खो दिया। इस तरह की स्थिति ने सरकार को नई आर्थिक नीति बनाने के लिए विवश किया जिससे गैर विकासात्मक व्यय को रोककर ऋणों के जाल से बचा जा सके।

नोट्स राजकोषीय घाटे से हमारा अर्थ अनुमानित व्यय का अनुमानित राजस्व से अधिक होना है। ऐसे में अनुमानित व्यय की अनुमानित राजस्व पर अधिकता होती है।

2. **प्रतिकूल भुगतान शेष** (Unfavourable Balance of Payment)—भुगतान संतुलन, जो हमें विदेशों को भुगतान करना है और जो हमें विदेशों से प्राप्त करना है उसके बीच का अंतर है। प्रतिकूल भुगतान संतुलन की स्थिति में हमें प्राप्त करने से अधिक भुगतान करना पड़ता है। हमारा भुगतान संतुलन घाटा जो 1980-81 में 2,214 करोड़ से 1990-91 में बढ़कर 17,367 करोड़ हो गया। इसे पूरा करने के लिए सरकार के पास बाहरी ऋणों पर निर्भर होने के अलावा कोई चारा नहीं था। परिणामस्वरूप हमारे विदेशी ऋण जो हमारे GDP के 12% थे 1990-91 में बढ़कर 25% हो गए। यह स्थिति अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हुई। इस प्रकार नई आर्थिक नीति की आवश्यकता प्रतिकूल भुगतान संतुलन को कम करने के लिए महसूस की गई।

3. **विदेशी विनिमय कोष में कमी** (Reduction in Foreign Exchange Reserve)—बढ़े हुए राजकोषीय घाटे और प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारण विदेशी विनिमय कोष में कमी आई। 1990-91 में यह स्थिति इतनी खराब हो गई कि हम लोग 10 दिनों तक विदेशी आयात बिलों का भुगतान नहीं कर पाए। यह संकट इस कदर बढ़ा कि चंद्रशेखर सरकार ने देश के रिजर्व कोष से स्वर्ण कोष गिरवी रखा जिससे वह ऋण की अदायगी के लिए ऋण प्राप्त कर सकें। इस संकट ने सरकार पर अंतर्राष्ट्रीय रूप से दबाव डाला कि वह उदारीकरण तथा निजीकरण की नई आर्थिक नीति लागू करे।

नोट

4. **कीमतों में वृद्धि** (Increase in Prices)–1951-91 के काल के दौरान अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी दबाव महसूस किए गए। कृषि और औद्योगिक विकास की दर को बढ़ाने के लिए सरकार अत्यधिक व्यय करने लगी। सामाजिक कल्याण को देखते हुए भी हमारे व्यय बढ़ गए। गैर विकासात्मक व्यय भी अधिक थे। उत्पादन और व्यय में तालमेल कभी भी नहीं बैठ सका। परिणामस्वरूप वस्तुओं की कीमतें बढ़ती रहीं। इस सब ने सरकार पर दबाव डाला कि वह अपने व्ययों को नियंत्रित करे। इसलिए अर्थव्यवस्था में नई आर्थिक नीति की जरूरत हुई जिसे जुलाई 1991 में लागू किया गया।
5. **खाड़ी संकट** (Gulf Crises)–1990-91 के दौरान इराक की लड़ाई चल रही थी। इसने अरब देश को युद्ध में शामिल किया, जिससे पेट्रोल का संकट उत्पन्न हो गया। पेट्रोल की कीमतें अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बढ़ गई। इस संकट से खाड़ी देशों पर हमारे द्वारा किए जाने वाले निर्यात पर भी बुरा असर पड़ा। फलस्वरूप हमारे भुगतान संतुलन की स्थिति बिगड़ने लगी।
6. **सार्वजनिक क्षेत्र की अकुशलता** (Inefficiency of Public Sector)–40 वर्षों के बाद हमने ये अनुभव किया है कि सार्वजनिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार और संसाधनों की बर्बादी हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र में 1100 करोड़ रुपयों का निवेश करने के बाद हमें इससे केवल 3% का लाभ मिला। अत: नई आर्थिक नीति, सार्वजनिक क्षेत्र की सक्षमता और दूसरी इकाइयों के कार्य करने के ढंग में सुधार लाने का प्रयास है।

आर्थिक सुधार (नई आर्थिक नीति) की विशेषताएँ (Main Features of Economic Reforms) (New Economic Policy)

1. **अर्थव्यवस्था का उदारीकरण (Liberalisation of Economy)**-उदारीकरण का अर्थ अनावश्यक व्यापार प्रतिबंधों को हटाकर अर्थव्यवस्था को प्रतियोगी बनाना है। नई आर्थिक नीति ने निजी क्षेत्र से अधिक नियंत्रण और लाइसेंसिंग को हटाकर अर्थव्यवस्था को अधिक उदार बनाया। नई आर्थिक नीति ने उदारीकरण के निम्नलिखित उपाय प्रस्तुत किए हैं–

   (*i*) **लाइसेंसिंग से उद्योगों को छुटकारा** (Exemption of Industries from Licensing)–सरकार ने सभी उद्योगों को लाइसेंस से छुटकारा (exemption) प्रदान करा दिया। आजकल कोई भी व्यापारी बिना किसी प्रतिबंध के अपनी कंपनी बना सकता है।

   (*ii*) **उद्योगों का विस्तार** (Expansion of Industries)–आजकल उद्योग बाजार की जरूरत के अनुसार अपना विस्तार कर सकते है। यहाँ तक कि सरकार की अनुमति की भी जरूरत नहीं होती।

   (*iii*) **उत्पादन की स्वतंत्रता** (Freedom of Production)–नई आर्थिक नीति के अनुसार उत्पादन अपनी मर्जी की वस्तु का उत्पादन कर सकते हैं।

   (*iv*) **MRTP की धारणा से दूर जाना** (Going Away with the Concept of MRTP)–अब MRTP कंपनियाँ नहीं हैं। कंपनियाँ अब अपने निवेश निर्णय और व्यय से संबंधित योजनाएँ खुद बना सकती हैं।

   (*v*) **लघु उद्योगों की निवेश सीमा को बढ़ाना** (Extending Investment Limit of Small Industries)–नई आर्थिक नीति के अनुसार लघु उद्योगों की निवेश सीमा को बढ़ाकर 1 करोड़ कर दिया जाय जिससे वे अपने उद्योग को आधुनिक कर सके।

   (*vi*) **विदेशों से कच्चे माल और मशीनरी का मुक्त आयात** (Free Import of Machinery and Raw Material from Abroad)–अब कंपनियाँ जरूरी विदेशी चीजों को खुले बाजार से खरीद सकती हैं। इसके लिए सरकार से अनुमति लेने की कोई जरूरत नहीं है। ये उदार नीति बाजार में प्रतियोगिता को पैदा करती है जिससे कुशलता में बढ़ोत्तरी होती है।

2. **अर्थव्यवस्था का निजीकरण** (Privatisation of the Economy)–**निजीकरण से हमारा अभिप्राय निजी**

नोट

क्षेत्र पर से कड़े नियंत्रण को हटाकर उन्हें जरूरी निर्णय लेने के लिए मुक्त बनाना है। स्वतंत्रता से हमने सार्वजनिक क्षेत्र को ऊँची प्राथमिकता दी है लेकिन इससे अच्छे परिणाम नहीं मिल सके। अब नई आर्थिक नीति निजी क्षेत्र को बढ़ाना चाहती है। निजी क्षेत्र को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जाते हैं:

अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित करने के उपाय (Measures to encourage Private Sector in the economy)

(*i*) **सुरक्षित सार्वजनिक क्षेत्र उद्योगों की संख्या को कम करना** (Reduction in the number of reserve public sector Industries)–सरकार ने आर्थिक नीति के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र उद्योगों की संख्या को 17 से घटाकर 4 कर दिया। इसका अर्थ है कि निजी क्षेत्र अब अलग-अलग क्षेत्रों में 13 और उद्योग लगा सकता है।

(*ii*) **निजी क्षेत्र निवेश की भागदारी को बढ़ाना** (Increasing the share of private sector Investment) –अब यह योजना बनाई गई है कि सार्वजनिक क्षेत्र निवेश के भाग को कम करके 45% और निजी क्षेत्र के भाग को बढ़ाकर 55% कर दिया जाए।

(*iii*) **सार्वजनिक उद्यमों के अंशों को बेचना** (Selling the Share of Public Enterprise)–अब यह निर्णय लिया गया है कि सामान्य जनता और कर्मचारियों की भागीदारी बढ़ाई जाये और उन्हें सार्वजनिक उद्यमों के अंश बेचे जाएँ।

(*iv*) **परिवर्तन पर जोर ना देना** (No Insistance on Conversion)–अब वित्तीय कॉरपोरेशन उद्योगों को अपने ऋण समता अंशों में तब्दील करने के लिए दबाव नहीं डाल सकते।

निजीकरण के प्रोत्साहन ने निश्चय ही उद्योगों की कुशलता को बढ़ा दिया है।

(*a*) बाह्य साधन सेवाएँ (Outsourcing)

इसका तात्पर्य अपनी व्यवसायिक इकाई से बाहर निकलकर विभिन्न प्रकार की विशिष्ट सेवाएँ विभिन्न साधनों से प्राप्त करना है। साधारणतया से सेवाएँ निरंतर एवं प्रमापित होती हैं। कानूनी परामर्श, कंप्यूटर सेवाएँ, सुरक्षा, विज्ञापन, लेखांकन आदि इसके उदाहरण हैं। संप्रेषण की तेज वृद्धि ने खास तौर पर सूचना तकनीकी ने बाह्य साधन (Outsourcing) सेवाओं को प्रोत्साहित किया है। आज संप्रेषण से संबंधित व्यवसायिक प्रक्रिया को उचित रूप से BPO या Call Centres के नाम से जाने जाते हैं। लेखांकन, बैंकिंग सेवाएँ, संगीत रिकार्ड, फिल्म संपादक (Film Editor), पुस्तकों की नकल (Transcription), चिकित्सा परामर्श का कार्य करती है। विकासात्मक देशों में शिक्षा भी Outsourced की जाती है। आधुनिक Telecommunication जिसमें इंटरनेट, Text, आवाज (Voice), प्रदर्शन (Visual) आदि आँकड़ों की सहायता से सेवाओं (Services) को द्वीपों (Continents) एवं राष्ट्रीय सीमा में वास्तविक समय में हस्तांतरित (Tranismitted) एवं अंकों में परिवर्तित (Digitized) किया जा सकता है। अधिकतर बहुराष्ट्रीय संस्थाएँ (Multinational Corporations) एवं छोटी कंपनियाँ भी अपनी सेवाओं को भारत को Outsourcing द्वारा प्रदान करती है। जहाँ पर वह कम लागत पर उपयुक्त कुशलता एवं शुद्धता के साथ काम कर सकते हैं। भारत, जहाँ पर मजदूरी कम एवं कुशल कर्मचारी बहुत अधिक हैं तो वहाँ प्रतियोगिता का लाभ उठाया जा सकता है।

(*b*) विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation)

नोट

General Agreement on Tariffs and Trade (GATT), के उत्तराधिकारी के रूप में विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना 1995 में की गई।

क्या आप जानते हैं GATT की स्थापना 1948 में 23 देशों के बीच Multilatereal trade agreement के तहत सार्वभौमिक व्यापार संगठन (Global Trade Organisation) के रूप में की गई।

इसका उद्देश्य व्यवसाय के लिए अंतर्राष्ट्रीय बाजार में सभी देश के सदस्यों को समान अवसर प्रदान करता था। आधुनिक WTO की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

WTO की विशेषताएँ (Special Features of WTO)

(*i*) नियम पर आधारित व्यापार की स्थापना करना, जो कि देशों के एकतरफा (Arbitrary) प्रतिबंधों से मुक्त हो।

(*ii*) विश्व के साधनों का आदर्शतम उपयोग किया जाना।

(*iii*) वातावरण की सुरक्षा।

(*iv*) सदस्य देशों को कर एवं गैर-कर प्रतिबंधों से मुक्त करके अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना।

(*v*) भारतवर्ष विश्व व्यापार संगठन का महत्त्वपूर्ण सदस्य होने के कारण विकासशील देशों के हितों की सुरक्षा की वकालत करता है। WTO में लिए गए निर्णय के आधार पर भारतवर्ष में आयात के परिणामात्मक प्रतिबंधों एवं आयात कर में कमी करके अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बना दिया है।

3. **अर्थव्यवस्था का सार्वभौमिकरण** (Globalisation of Economy)–अर्थव्यवस्था के सार्वभौमिकरण का अर्थ विश्व की अर्थव्यवस्थाओं के बीच व्यापार के क्षेत्र में वित्त, उत्पादन, टेक्नोलॉजी और निवेश आदि को लेकर खुले तौर पर पारस्परिक बातचीत एवं व्यवहार करना है। सार्वभौमिकरण, विदेशी व्यापार एवं निजी और संस्थागत विदेशी निवेशों को बढ़ाती है। यह वास्तव में विदेशी व्यापार पर लगे सभी प्रतिबंधों और बाधाओं को हटाता है।

नई आर्थिक नीति का पुनरावलोकन (Review of New Economic Policy)

स्वतंत्रता से 1991 तक आर्थिक नीति को बहुत-सी सफलतायें और असफलता मिलीं। यह अनुभव किया गया कि हमारे यहाँ की आर्थिक वृद्धि पूँजीवादी देशों की आर्थिक वृद्धि की तरह तेज नहीं है। यह नीति हमें आर्थिक संकट की ओर ले जाती है। इसलिए यह जरूरी हो गया कि हमारी नई आर्थिक नीति हमारी जरूरतों के अनुसार हो। यह नहीं कहा जा सकता है कि हमारी पुरानी नीति शत प्रतिशत गलत थी। इसके अपने अलग लाभ थे।

आर्थिक सुधार के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of Economic Reforms)

नई आर्थिक नीति के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं:

1. **आर्थिक वृद्धि की दर में वृद्धि** (Increase in the Rate of Economic Growth)–1991 से पहले के 40 वर्षों के दौरान हमारे काफी प्रयासों और भारी निवेश के बावजूद हमारे घरेलू उत्पाद 3.6% तक और प्रति व्यक्ति आय 1.4% तक बढ़ी। 1981-92 के दौरान ये दरें 5.5% और 3.4% थीं। यह आर्थिक वृद्धि दूसरे एशियाई देशों जैसे–हाँगकाँग, सिंगापुर, ताइवान और मलेशिया से कम थी। आर्थिक विकास की निम्न दर ने हमें आर्थिक सुधार के लिये विवश किया और फलस्वरूप नई आर्थिक नीति इसका परिणाम है।

2. **राजकोषीय घाटे में गिरावट** (Fall in the Fiscal Deficit)–हमारा राजकोषीय घाटा लगातार बढ़ता जाता है। सरंकार ने देश के अंदर और बाहर से काफी ऋण लिया। इन ऋणों के भुगतान का मतलब राजस्व को कम करना था। परिणामस्वरूप, हमारे पास निवेश के लिए पर्याप्त फंड नहीं बचे। इस समस्या को सुलझाने

नोट

के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था लागू की गई जिसके कारण उच्च स्फीति की स्थिति पैदा हुई।

3. **कीमत नियंत्रण** (Price Control)—यह निश्चित किया गया कि नई आर्थिक नीति के परिचय के बाद कर की दरों को कम किया जाएगा। पूर्ति को नियंत्रित किया जाएगा। सरकारी व्यय में भी कभी भी कमी की जाएगी और उत्पादन को बढ़ाया जाएगा। ये सभी उपाय कीमत को नियंत्रित करेंगे।
4. **गरीबी और असमानता में कमी** (Reduction in Poverty and Inequality)—नई आर्थिक नीति सामूहिक शिक्षा के विकास पर जोर देती है जो 20वीं शताब्दी के अंत तक पूर्ण रोजगार ला सके। यह नीति संतुलित क्षेत्रीय विकास को भीा अपना उद्देश्य बनाती है। यह हमारी राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाएगी। फलस्वरूप आय की असमानता और गरीबी कम होगी।
5. **सार्वजनिक क्षेत्र की कुशलता में सुधार लाना** (Improving the Efficiency of Public Sector)—हमने भारत में सार्वजनिक क्षेत्र को विशेष मान्यता दी है, लेकिन दुर्भाग्यवश सार्वजनिक क्षेत्र को सफलता प्राप्त नहीं हुई। समय के साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र अक्षमता और हानियों से भर गया। ये बहुत अजीब बात है कि हम 11000 करोड़ रु. के निवेश के द्वारा सिर्फ 3% लाभ अर्जित करते हैं। नई आर्थिक नीति मुख्य रूप से असफल इकाइयों पर ध्यान देगी। परिणामस्वरूप, केवल कुशल सार्वजनिक क्षेत्र बाजार में रहेंगे। यह अपने आप ही सार्वजनिक क्षेत्र की उत्पादकता को बढ़ाएगा।
6. **छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास** (Development of Small Scale Industries)—छोटे पैमाने के उद्योग सरकारी नियंत्रण और लाइसेंसिंग नीति के कारण विकास नहीं कर पाते हैं। यह आशा की जाती है कि नई आर्थिक नीति छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए अनुकूल स्थितियाँ लाएगी।
7. **प्रतिकूल व्यापार संतुलन में कमी** (Fall in the Unfavaourable Balance of Trade)—हमारा प्रतिकूल व्यापार संतुलन बहुत अधिक बढ़ गया था। नई आर्थिक नीति आयात प्रतिस्थापन पर जोर देती है और निर्यात को भी प्रोत्साहन दिया जाता है। ये दोनों उपाय हमारी बढ़ती हुई कीमतों की समस्या का समाधान करेंगे।
8. **औद्योगिक क्षेत्र की प्रतियोगी शक्ति काा निर्माण** (Building Competitive Strength of industrial Sectors)—नई आर्थिक नीति भारतीय उद्योगों के लिए अपनी क्षमता विश्व की तकनीकी रूप से सक्षम उद्योगों की तरह बनने का अवसर प्रदान करती है। यह अनुभव किया गया है कि भारतीय उद्योग अन्य देशों के उद्योग की अपेक्षा तकनीकी रूप से पिछड़े हुए हैं। यह इसलिए है क्योंकि यहाँ (भारत में) उद्योगों को बहुत अधिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। हमारी नीतियों के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में हमारा शेयर जो 1950 में 2% था 1993 में घटकर 0.5% हो गया। यह सोचा गया है कि नई आर्थिक नीति औद्योगिक क्षेत्र में उत्साह पैदा करेगी और उद्योगों को अधिक लाभ प्राप्त होगा। इस प्रकार हम दूसरे देशों के साथ कड़ी प्रतियोगिता की स्थिति में होंगे।

नई आर्थिक नीति के विपक्ष में तर्क (Argument Against New Economic Policy)

यहाँ कुछ अर्थशास्त्रियों ने नई आर्थिक नीति की आलोचना भी की है। इनके निरीक्षण को निम्नलिखित रूप से संक्षेप में दिया जा सकता है:

1. **कृषि के साथ अन्याय** (Injustice to Agriculture)—भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसलिए कोई भी नीति जो कृषि को नजरअंदाज करती है सफल नहीं हो सकती। नई आर्थिक नीति औद्योगिक विकास में आधुनिकीकरण पर जोर देती है।
2. **विदेशी ऋण पर भारी निर्भरता** (Heavy Dependence on Foreign Debt)—नई आर्थिक नीति आंतरिक संसाधनों के विकास की नजरअंदाज करती है। ये बाहरी सहायता पर बहुत अधिक निर्भर हैं। बाहरी ऋणों पर बहुत अधिक निर्भरता देश के लिए घातक सिद्ध होगी।
3. **विदेशी प्रौद्योगिकी पर निर्भरता** (Dependence on Foreign Technology)—हमारी नई आर्थिक नीति बहुत अधिक विदेशी टेक्नोलॉजी पर निर्भर रहती है। बाहरी देशों से उनकी उन्नत तकनीकी की खरीद बहुत

नोट

महँगा सौदा है। यह हमारी वित्तीय स्थिति के लिए खतरनाक सिद्ध होगा। विदेशी टेक्नोलॉजी देश में एकाधिकार क्षेत्रीय असमानता अनैच्छिक क्षेत्रों मतें निवेश, सार्वजनिक क्षेत्र को कम मान्यता, आय की असमानता और आर्थिक केंद्रीकरण की स्थिति लाती है। बड़े पैमाने के उद्योग जो विदेशी टेक्नोलॉजी की सहायता से स्थापित होते हैं बेरोजगारी की स्थिति को खराब कर देते हैं।

4. **निजीकरण को बहुत ज्यादा महत्व** (Excessive Importance to Privatisation)–यह महसूस किया गया है कि नई आर्थिक नीति निजी क्षेत्र को बढ़ावा देती है और सार्वजनिक क्षेत्रों को हतोत्साहित (Discourage) करती है। यह बात उठाई गई थी कि निजी क्षेत्र अधिक सक्षमता, अच्छी उत्पादकता और अधिक लाभ आदि प्रदान करता है लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि यह एक सार्वजनिक क्षेत्र ही है जो सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं की पूर्ति करता है। ये सेवाएँ पिछड़े लोगों और क्षेत्रों को मुफ्त में प्रदान की जाती हैं। सार्वजनिक क्षेत्र ने अधिक रोजगार अवसर प्रदान करने के लिए लघु पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहित किया। निजी क्षेत्र कभी भी सार्वजनिक क्षेत्र का विकल्प नहीं बन सकता। इसलिए निजी क्षेत्र को शत प्रतिशत सही नहीं कहा जा सकता है। हमारे पास 2.5 लाख खराब हाल की निजी कंपनियाँ हैं जिन पर 12,600 करोड़ रुपए का बैंक ऋण बाकी है। निजी क्षेत्र की समृद्धि एकाधिकार, शोषण, काला धन आदि बुराइयों को पैदा करेगी। इसका अर्थ है कि नई आर्थिक नीति हमारी समस्याओं को सुलझाने की बजाय उन्हें और बढ़ायेगी।

5. **विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा** (Encouragement to the Production of Luxuries) –नई आर्थिक नीति मशीनीकरण और बड़े पैमाने के उत्पादन पर जोर डालती है। उत्पादन के ये तरीके अगर इस्तेमाल किए गए तो श्रमिकों की संख्या को कम कर देंगे। श्रमिकों को काम से निकाला जाएगा और नए श्रमिकों को काम नहीं मिल पाएगा। ये आय की असमानता और वर्ग संघर्ष भी उत्पन्न करेगा।

6. **रोजगार अवसरों में कमी** (Reduction in the Employment Opportunities)–नई आर्थिक नीति मशीनीनकरण एवं बड़े पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहित करती है। इन उद्योगों में रोजगार के अवसर कम होते हैं। परिणामस्वरूप काम में लगे हुए कर्मचारियों की छटनी और बंकर प्रत्याशियों को रोजगार न मिलना इसकी विशेषता है।

7. **नई आर्थिक नीति में नया क्या है?** (What is New is New Economic Policy)–डा. जे. डी. सेठी के अनुसार नई आर्थिक नीति में कुछ भी नया नहीं है। इसमें केवल कुछ संरचनात्मक परिवर्तन किए गए हैं।

टास्क रुपये के अवमूल्यन से आप क्या समझते हैं?

नई आर्थिक नीति की उपलब्धियाँ (Achievements of New Economic Policy)

1. **राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि** (Increase in National Product)–नई आर्थिक नीति की इन सब अलोचनाओं के बावजूद, इस बात से पीछे हटा नहीं जा सकता है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि जो 1990–91 में 4.7% थी। 1996–97 में बढ़कर 7% हो गई। 1997–98 में यह फिर से गिरकर 4.9% हो गई। आठवीं योजना की वास्तविक वृद्धि दर 6.6% तक बढ़ी। 1998–99 में वृद्धि दर 6.8% थी।

2. **कृषि उत्पादन में वृद्धि** (Increase in the Agricultural Production)–कृषि उत्पादन की वृद्धि दर जो 1990–91 में केवल 3% थी 1998–97 में बढ़कर 9.3% हो गई। आठवीं योजना के दौरान कृषि उत्पादन बढ़कर 7.5% हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसमें काफी उतार–चढ़ाव आए हैं। वृद्धि दर धनात्मक (+) वृद्धि दर को दर्शाती है।

3. **औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Industrial Production)–हमारी नई नीति का उद्देश्य उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि करना है परंतु हम अभी तक इसे प्राप्त नहीं कर सके हैं।

नोट

4. **कीमत स्तर पर प्रभाव** (Effect on Price Level)—हमारी नई आर्थिक नीतियों की कीमतों में कमी लाने में सफलता मिली है। वृद्धि की दर कीमत स्तर में 1990-91 में 12% थी से बढ़कर 1991-92 में 13.6% हो गई। लेकिन काफी उतार-चढ़ाव के बाद में 1998-99 में 7% हो गई।

मुख्य आर्थिक सूचकों में वार्षिक प्रतिशत परिवर्तन

वर्ष	*वास्तविक GNP की वृद्धि दर*	*कृषि की वृद्धि दर*	*उद्योगों की वृद्धि दर*	*स्फीति की वृद्धि दर*
1990-91	4.7	3	8.3	12
1991-92	0.6	-1.9	0.6	13.6
1992-93	4.2	4.1	2.3	7
1993-94	4.6	3.6	6.0	10.8
1994-95	6.7	4.6	8.6	10.4
1995-96	6.9	-2.7	12.1	5
1996-97	7.7	9.3	7.1	6.9
1997-98	4.9	-6	6.5	4.8
1998-1999	6.8	7.4	4	7

Source: Economic Survey 2000

5. **निर्यातों में वृद्धि** (Increase in Exports)—नई आर्थिक नीति का निर्यातों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। ये निम्नलिखित तालिका से ज्ञात होता है:

वर्ष	*निर्यातों में प्रतिशत वृद्धि*
1990-91	17.7%
1991-92	35.0%
1992-93	22.0%
1993-94	30.0 %
1995-96	28.6%
1997-98	9.5%
1998-99	21.5%

उपरोक्त तालिका से मालूम होता है कि निर्यात की वृद्धि में उतार-चढ़ाव होते रहे हैं।

6. **आयातों में उच्चावचन** (Fluctuations in Imports)—हमारे आयातों पर नई आर्थिक नीति का प्रभाव मिला जुला था। यहाँ इसकी वृद्धि दर में उतार-चढ़ाव थे जो निम्नलिखित तालिका से पता चलता है :

वर्ष	*आयातों में वृद्धि का प्रतिशत*
1990-91	22.0%
1993-92	11.0%
1993-94	15.0%
1994-95	13.2%

नोट

1995–96	36.0%
1997–98	11.0%
1998–99	27.0%

7. **विदेशी मुद्रा कोष पर प्रभाव** (Impact on Foreign Currency Reserve)–नई आर्थिक नीति का विदेशी मुद्रा कोष पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसे निम्नलिखित तालिका में देखा जा सकता है :

वर्ष	*विदेशी मुद्रा कोष की प्रतिशत वृद्धि (करोड़)*
1990–91	4,398
1993–96	58,446
1993–98	12,507
1994–99	1,25,412

उपरोक्त तालिका प्रदर्शित करती है कि विदेशी मुद्रा संचय (Foreign exchance reserve) में लगातार वृद्धि होती रही है।

8. **प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर प्रभाव** (Impact on Direct Foreign Investment)–हमारी उदार नई आर्थिक नीति के कारण प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में काफी वृद्धि हुई। ये निम्नलिखित तालिका से देखा जा सकता है:

वर्ष	*वास्तविक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश*	*पारित प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की वृद्धि (करोड़)*
1990	–	128
1991	351	535
1992	675	3888
1993	1786	8859
1994	2970	8957
1995	1,93,669	–

ऊपर दी गई तालिका हमें बताती है कि यहाँ हमारे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में लगातार वृद्धि हुई है। यह क्षेत्र नई आर्थिक नीति से पहले एक समस्या का क्षेत्र था।

9. **राजकोषीय घाटे पर प्रभाव** (Impact on Fiscal Deficit)–राजकोषीय घाटा कुल व्यय की कुल राजस्व पर अधिकता है। नई आर्थिक नीति के बाद निम्नलिखित प्रभाव महसूस किया गया :

वर्ष	*राजकोषीय घाटे का %*
1992–93	5.9%
1993–94	8.3%
1994–95	6.7%
1995–96	6.3%
1997–98	6.1%
1998–99	5.6%

यद्यपि राजकोषीय घाटे को 3% तक नीचे लाने का उद्देश्य था लेकिन इसे कभी प्राप्त नहीं किया जा सका।

नोट

10. **बेरोजगारी पर प्रभाव** (Impact on Unemployment)–हमारी नई आर्थिक नीति सार्वजनिक व्यय घटाने पर जोर देती है। इसलिए बेरोजगारी में स्वाभाविक रूप से वृद्धि होगी। बेरोजगारी की दर में वृद्धि जो 1990-91 में 4% थी। 1992-93 में बढ़कर 5% हो गई। 1998-99 में यह 6% तक बढ़ गई। यद्यपि नई आर्थिक नीति विदेशी निवश को बढ़ाने पर जोर देती है लेकिन ये बड़ पैमाने के उद्योग होते हैं जिनमें पूँजी प्रधान तकनीकी का प्रयोग किया जाता है। परिणामस्वरूप ज्यादा रोजगार के अवसर पैदा नहीं होंगे।

    अमेरिका में एक प्रयोग के अनुसार बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने 40 लाख कर्मचारियों को निर्माण क्षेत्र से बाहर निकाल दिया। अगर यही बात भारत में हुई तो यहाँ भारी बेरोजगारी होगी। यह नीति असफल सार्वजनिक कंपनियों को बंद कर देगी। फलस्वरूप इन कंपनियों में लगे हुए श्रमिक बेरोजगार हो जाएँगे। नई आर्थिक नीति की शुरूआत के बाद छटनी (Retrenchment) की प्रक्रिया शुरू हो गई। सरकारी विभागों में नई भर्तियों पर रोग लगा दी गई, जिसके कारण यहाँ बड़े स्तर पर बेरोजगारी फैलने लगी।

11. **गरीबी पर प्रभाव** (Impact on Poverty)–नई आर्थिक नीति गरीबी की समस्या का समाधान नहीं कर सकती। यह महसूस होता है कि यह गरीबी की समस्या को बढ़ा देगी। गरीबी में वृद्धि की वजह गरीबों के लिए लाभदायक योजनाओं में कमी, खाद्य और कृषि उत्पादों पर से आर्थिक सहायता को हटाना है। सरकार ने राशन की दुकानों पर शक्कर और कपड़ों आदि के मूल्य भी बढ़ा दिए हैं। नई आर्थिक नीति की योजना सार्वजनिक सेवाओं, जैसे विद्युत, यातायात आदि का निजीकरण करना भी है। इन सेवाओं की लागतें गरीबों पर बुरा प्रभाव डालेंगी। इसलिए यह उचित कहा जाता है कि नई आर्थिक नीति बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों, विदेशी निवेशकों और उच्च निवेशकों और उच्च वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति में तो सुधार लाएगी लेकिन यह गरीबों को बहुत बुरी तरह से प्रभावित करेगी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. नई ..... नीति का उद्देश्य अधिक प्रतियोगी और बेहतर वातावरण बनाना है जिससे अर्थव्यवस्था में सुधार किया जा सके।
2. ..... से नियोजित विकासात्मक अर्थव्यवस्था अपनाई गई है।
3. विश्व व्यापार संगठन की स्थापना ..... में की गई।
4. ..... विदेशी व्यापार एवं निजी और संस्थागत विदेशी निवेशों को बढ़ाती है।
5. ..... ने देश के अंदर और बाहर काफी ऋण लिया है।
6. नई आर्थिक नीति सामूहिक शिक्षा के विकास पर जोर देती है जो ..... के अंत तक पूर्ण रोजगार ला सके।
7. हमारे ..... पर नई आर्थिक नीति का मिल-जुला प्रभाव था।

4.2 सारांश (Summary)

- **भारत सरकार द्वारा जुलाई 1991 से अपनाई गई आर्थिक नीति नई आर्थिक नीति के नाम से जानी जाती है।** स्वतंत्रता से जून 1991 तक हमारे द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियाँ तीव्र आर्थिक वृद्धि के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं रहीं। इसने हमें आर्थिक संकट की ओर, राजकोषीय घाटे, प्रतिकूल भुगतान संतुलन, असक्षमता और लाल फीताशाही की तरफ ढकेला।
- अप्रैल 1951 से नियोजित विकासात्मक अर्थव्यवस्था अपनाई गई है। हमारा मुख्य उद्देश्य अधिक सामाजिक कल्याण और पिछड़े गरीब लोगों को ऊपर उठाना था। हमने समाजवादी पद्धति को अपनाया। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आर्थिक प्रणाली की तरह मिश्रित अर्थव्यवथा सामने आई।

नोट

- भुगतान संतुलन, जो हमें विदेशों को भुगतान करना है और जो हमें विदेशों से प्राप्त करना है उसके बीच का अंतर है। प्रतिकूल भुगतान संतुलन की स्थिति में हमें प्राप्त करने से अधिक भुगतान करना पड़ता है।
- 1951–91 के काल के दौरान अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी दबाव महसूस किए गए। कृषि और औद्योगिक विकास की दर को बढ़ाने के लिए सरकार अत्यधिक व्यय करने लगी। सामाजिक कल्याण को देखते हुए भी हमारे व्यय बढ़ गए। गैर विकासात्मक व्यय भी अधिक थे। उत्पादन और व्यय में तालमेल कभी भी नहीं बैठ सका। परिणामस्वरूप वस्तुओं की कीमतें बढ़ती रहीं।
- संप्रेषण की तेज वृद्धि ने खास तौर पर सूचना तकनीकी ने बाह्य साधन (Outsourcing) सेवाओं को प्रोत्साहित किया है। आज संप्रेषण से संबंधित व्यवसायिक प्रक्रिया को उचित रूप से BPO या Call Centres के नाम से जाने जाते हैं। लेखांकन, बैंकिंग सेवाएँ, संगीत रिकार्ड, फिल्म संपादक (Film Editor), पुस्तकों की नकल (Transcription), चिकित्सा परामर्श का कार्य करती है। विकासात्मक देशों में शिक्षा भी Outsourced की जाती है।
- भारतवर्ष विश्व व्यापार संगठन का महत्त्वपूर्ण सदस्य होने के कारण विकासशील देशों के हितों की सुरक्षा की वकालत करता है। WTO में लिए गए निर्णय के आधार पर भारतवर्ष में आयात के परिणामात्मक प्रतिबंधों एवं आयात कर में कमी करके अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बना दिया है।
- अर्थव्यवस्था के सार्वभौमिकरण का अर्थ विश्व की अर्थव्यवस्थाओं के बीच व्यापार के क्षेत्र में वित्त, उत्पादन, टेक्नोलॉजी और निवेश आदि को लेकर खुले तौर पर पारस्परिक बातचीत एवं व्यवहार करना है। सार्वभौमिकरण, विदेशी व्यापार एवं निजी और संस्थागत विदेशी निवेशों को बढ़ाती है। यह वास्तव में विदेशी व्यापार पर लगे सभी प्रतिबंधों और बाधाओं को हटाता है। हमारी नई आर्थिक नीति ने सार्वभौमिकरण में निम्नलिखित तरीकों से योगदान दिया।
- जुलाई 1990–91 में रुपए का मूल्य 20: तक गिर गया था इससे निर्यातों को प्रोत्साहन और आयातों को हतोत्साहित किया गया। इसने विदेशी पूँजी के अंतर्प्रवाह (inflow) को भी अपना उद्देश्य बनाया।

4.3 शब्दकोश (Keywords)

- **अफसरशाही–** अधिकारी राज्य
- **लाइसेंसिंग सिंग–** अनुमति देना

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. नई आर्थिक नीति का अर्थ क्या है? इसकी आवश्यकता क्या है?
2. भारतीय अर्थव्यवस्था के निजीकरण, उदारीकरण और सर्वभौमिकरण से आप क्या समझते हैं?
3. वित्तीय सुधार क्या है? वित्तीय (*NCERT*) सुधार के मापों की व्याख्या कीजिए।
4. उदारीकरण की नीति तथा प्रतिबंध की नीति के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. पिछले दशक के दौरान सार्वजनिक व्यय में कमी के मुख्य कारण क्या हैं?
6. आपके अनुसार सेवा क्षेत्र में तेज वृद्धि का मुख्य कारण क्या हो सकता है?
7. सार्वभौमिकरण को आप एक अवसर या एक धमकी मानते हैं? कारण दीजिए।

नोट

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. आर्थिक नीति
2. अप्रैल 1951
3. 1955
4. सार्वभौमिकरण
5. सरकार
6. 20वीं शताब्दी
7. आयतों

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–5: 1951 के दौरान राष्ट्रीय आय का ढाँचा एवं संरचना (Trend and Structure of National Income Since 1951)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 राष्ट्रीय आय का स्वतंत्रता-पूर्व के अनुमान (Pre-Independent Estimates)

5.2 राष्ट्रीय आय का स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के अनुमान (Post-Independent Estimates)

5.3 उद्योगवार राष्ट्रीय आय (National Income by Industry of Origin)

5.4 सारांश (Summary)

5.5 शब्दकोश (Keywords)

5.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राष्ट्रीय आय का स्वतंत्रता-पूर्व एवं स्वतंत्रता के बाद के अनुमान एवं उद्योगवार राष्ट्रीय आय का विवेचन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इस इकाई में हम भारत की राष्ट्रीय आय की मात्रा, उसकी संरचना या बनावट एवं उसमें हो रहे परिवर्तनों का संक्षिप्त विवेचना करेंगे। इस प्रकार के विवेचन से हमें देश की अर्थव्यवस्था के स्तर, उसके विकास तथा उसकी गतिविधियों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

5.1 स्वतंत्रता-पूर्व के अनुमान (Pre-Independence Estimates)

देश की राष्ट्रीयता एवं प्रति व्यक्ति आय में हुई वृद्धि का अध्ययन हम दो कालावधियों के सन्दर्भ में करेंगे–एक तो स्वतंत्रता-पूर्व की अवधि और दूसरी, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की अवधि। पहले स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व लगाए गए अनुमानों को ले लें।

सीमित उपयोगिता

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध में देश में कोई नियमित एवं व्यवस्थित प्रयास नहीं किए गए। व्यक्तिगत तौर पर कई विद्वानों ने भिन्न-भिन्न वर्षों के लिए अपने-अपने अनुमान प्रस्तुत किए जिनका संक्षिप्त ब्यौरा तालिका 5.1 में दिया गया है। इन अनुमानों की उपयोगिता निस्सन्देह बहुत सीमित है। इनमें अनेक

नोट

कमियां व दोष मौजूद थे। ये अनुमान व्यक्तिगत तौर पर लगाए गए थे। व्यक्तिगत तौर पर सारे देश में आवश्यक सूचनाओं का संग्रह करना सम्भव न था, और न उस समय देश में नियमित रूप से आंकड़ों के संकलन के सम्बन्ध में कोई समुचित व्यवस्था ही थी। फलस्वरूप आय के सिलसिले में जो अनुमान लगाए गए, वे अधूरे एवं अविश्वसनीय आंकड़ों पर आधारित थे। विवश होकर अनुमाताओं को बहुत बड़ी सीमा तक मोटे अनुमान के सहारे अपना कार्य करना पड़ा। ऐसी स्थिति में अनुमानों का वास्तविकता से बहुत कम या बहुत अधिक बैठना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

साथ ही अनुमाताओं में पक्षपात का दोष भी थोड़ा-बहुत मौजूद था। प्रायः अनुमान लगाने का उद्देश्य अंग्रेज़ी शासन की अच्छाई या बुराई पर प्रकाश डालना था। और फिर, अनुमान लगाने की विधियां अपूर्ण एवं भिन्न-भिन्न थीं तथा अवधारणाओं व मान्यताओं के सम्बन्ध में भारी विभिन्नता थी। उदाहरण के लिए, सिद्धान्त के तौर पर नौरोजी और डिगबी आदि ने सेवाओं का आगणन करना ठीक नहीं समझा, जबकि वारिंग और बारबोर ने सेवाओं को अपने अनुमानों में शामिल किया। इसी प्रकार जहां सरकारी प्राधिकारियों के अनुमानों में गैर-कृषि-आय को कृषि-आय का 50 प्रतिशत ठहराया गया, वहां उसे फिन्डले शिराज ने 40 प्रतिशत, वाडिया और जोशी ने 30 प्रतिशत तथा शाह और खम्बात ने तो केवल 10 प्रतिशत ही माना। मान्यताओं में इस प्रकार के भारी अन्तर मौजूद होने के कारण, इन अनुमानों का तुलनात्मक विवेचन और भी महत्त्वहीन बन जाता है। सही प्रकार से तुलना इस कारण भी सम्भव नहीं है कि ये अनुमान स्थिर कीमतों पर नहीं, बल्कि प्रचलित कीमतों पर लगाए गए और वर्ष-विशेष से सम्बन्धित थे। प्रायः अनुमानों में सम्मिलित क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न थे। इस तरह की अनेक कमजोरियों और दोषों के कारण व्यावहारिक दृष्टि से इन अनुमानों की उपयोगिता बहुत कम रह जाती है। वास्तव में काफी बड़ी सीमा तक अब इनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया है।

निम्न आय-स्तर

फिर भी इन अनुमानों से एक बात की स्पष्ट झलक मिलती है। वह यह है कि उस समय भारत में प्रति व्यक्ति आय बहुत थोड़ी थी। दूसरे विश्व-युद्ध के पहले देश में प्रति व्यक्ति आय 65 रुपये के लगभग थी, जबकि उस समय यह अमरीका में 1,406 रुपये, कनाडा में 1,308 रुपये, इंग्लैंड में 980 रुपये तथा जर्मनी में 608 रुपये के करीब थी। इस सम्बन्ध में दीर्घकालीन प्रवृत्ति मालूम करने के लिए इन अनुमानों को वास्तविक रूप में अथवा स्थिर कीमतों के आधार पर प्रस्तुत करने का इधर हाल में अनेक विशेषज्ञों ने सराहनीय प्रयास किया है, जैसे कि सर्वश्री वी.के. आर.वी. राव. के.एन. राज, सुरेन्द्र जे. पटेल, एम. मुकर्जी आदि। इनके निष्कर्षों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इनसे इस बात का स्पष्ट बोध होता है कि उस काल में प्रति व्यक्ति आय थोड़ी ही नहीं थी, बल्कि स्थिर-सी थी। यह देश की अर्थव्यवस्था के अल्पविकसित स्वरूप एवं आर्थिक गतिहीनता का स्पष्ट परिचायक है।

तालिका 1 : भारत में आय के पिछले अनुमान

अनुमाता	*अनुमान-वर्ष*	*राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपये)*	*प्रति व्यक्ति आय (रुपये)*
1. दादाभाई नौरोजी	1868	340	20
2. एफ.जे. एटकिनसन	1875	574	13
3. बारिंग और बारबोर	1882	525	27
4. लार्ड कर्जन	1897-98	675	30
5. विलियम डिगबी	1899	390	17
6. फिन्डले शिराज	1911	1942	80
7. वाडिया और जोशी	1913-14	1087	44
8. शाह और खंबाता	1921-22	2364	74

नोट

9. वी.के.आर.वी. राव	1993–32	1689	62
10. ईस्टर्न इकानोमिस्ट	1939–40	1934	67
11. वाणिज्य मन्त्रालय	1946–47	5580	228

स्रोत–*B.W. Chavan and Anita Chavan, National Income in India, p. 4.*

5.2 स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के अनुमान (Post-Independence Estimates)

पिछले अनुमानों में भारी अन्तर एवं उनकी सीमित उपयोगिता तथा विकास के लिए आवश्यक नीतियों के निर्धारण की दृष्टि से राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, भारत सरकार ने अगस्त 1949 में प्रो. पी.सी. महालनोबिस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) का गठन किया। इस समिति को मुख्य रूप से ये कार्य सौंपे गए–(*i*) राष्ट्रीय आय एवं तत्सम्बन्धी अनुमानों पर रिपोर्ट तैयार करना; (*ii*) उपलब्ध सूचनाओं के गुण-कोटि में सुधार लाना एवं आवश्यक आंकड़ों के संकलन के लिए सुझाव देना; (*iii*) राष्ट्रीय आय के क्षेत्र में अनुसंधान-कार्य को बढ़ावा देने के लिए उपाय सुझाना।

समिति की पहली रिपोर्ट 1951 में और अन्तिम रिपोर्ट 1954 में प्रस्तुत की गई जिनमें 1948-51 कह अवधि के लिए राष्ट्रीय आय के अनुमान दिए गए हैं। ये अनुमान प्रचलित कीमतों के अनुसार भी हैं और 1948-49 की स्थिर कीमतों के अनुसार भी। इन तीन वर्षों की राष्ट्रीय आय के आंकड़ों को वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत कर समिति ने देश की राष्ट्रीय आय के आगणन और अध्ययन के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय कार्य किया। राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के अतिरिक्त, समिति ने सांख्यिकीय सामग्री में सुधार लाने के लिए भी अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। इनको अमल में लाने के लिए देश में आवश्यक कदम उठाए गए हैं। इस आधार पर भारत सरकार का केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) देश की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में नियमित रूप से वार्षिक परिपत्र प्रकाशित करता है। पहले 1948-49 की स्थिर कीमतों के आधार पर अनुमान लगाए गए और आगे चलकर 1960-61 की कीमतों को आधार बनाया गया। फिर 1970-71 की कीमतों को आधार मानकर अनुमान तैयार किये जाने लगे। आगे चलकर 1980-81 के आधार पर राष्ट्रीय आय के अनुमान की नई शृंख्ला शुरू की गइै। अब 1993-94 को आधार वर्ष मानकर राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाए जाने लगे हैं। इनके सहारे हम देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की मात्रा एवं उसमें हो रहे परिवर्तनों का हम यहां संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

नोट्स 1948 से देश में राष्ट्रीय आय के नियमित तथा अधिकारपूर्ण आंकड़े उपलब्ध हैं, जिनसे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन व विश्लेषण सम्भव एवं सुविधाजनक बन गया है।

राष्ट्रीय आय के अनुमान

तालिका 5.2 में कुछ चुने हुए वर्षों में राष्ट्रीय आय के अनुमान दिए गए हैं। ये अनुमान प्रचलित कीमतों के अनुसार भी हैं और 1993-94 की स्थिर कीमतों के अनुसार भी। साथ ही सुविधा के लिए राष्ट्रीय आय के सूचकांक एवं योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य एवं प्राप्त वार्षिक वृद्धि-दर के आंकड़े भी दिखाए गये हैं जिनके द्वारा 1950-51 से राष्ट्रीय आय में हुए परिवर्तनों की जानकारी आसानी से प्राप्त की जा सकती है।

नोट

तालिका 2 : राष्ट्रीय आय के अनुमान (1950-51–2000-01)

वर्ष	राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपये)		सूचकांक (1950-51–1990)	
	प्रचलित कीमतों के अनुसार	1999-2000 कीमतों के अनुसार	प्रचलित कीमतों के अनुसार	1993-94 कीमतों के अनुसार
1950-51	9144	132379	100.0	100.0
1960-61	15306	192253	166.3	145.2
1970-71	38973	270623	426.2	204.4
1980-81	118252	363451	1293.3	274.6
1985-86	221444	459256	2412.9	346.9
1990-91	450280	614386	4924.6	464.1
1995-96	941861	787809	10302.2	595.2
2000-01	1679982	104491	18375.8	789.4

	'वार्षिक वृद्धि-दर (प्रतिशत)	
	लक्ष्य	प्राप्ति
पहली योजना (1951-56)	2.1	3.6
दूसरी योजना (1956-61)	4.5	4.1
तीसरी योजना (1961-66)	5.6	2.5
चौथी योजना (1969-74)	5.7	3.3
पांचवीं योजना (1974-79)	5.4	5.0
छठी योजना (1980-85)	5.2	5.4
सातवीं योजना (1985-90)	5.0	5.8
आठवीं योजना (1992-97)	5.6	6.7
नौवीं योजना (1997-2002)	6.5	5.4

इस तालिका के अनुसार 2000-01 में भारत की राष्ट्रीय आय प्रचलित कीमतों पर 16,79,982 करोड़ रुपये तथा 1993-94 की स्थिर कीमतों पर 10,44915 करोड़ रुपये थी। यदि हम 1950-51 से हिसाब लगाएं, तो देखेंगे कि जहां प्रचलित भाव पर राष्ट्रीय आय में लगभग 175 गुनी वृद्धि हुई, वहां 1993-94 की स्थिर कीमतों पर हुई यह वृद्धि केवल 8 गुने के लगभग ही थी। यह भारी अन्तर द्रुतगति से बढ़ रही कीमतों का परिणाम है। वास्तविक राष्ट्रीय आय मालूम करने के लिए हमें कीमतों के कारण राष्ट्रीय आय में आए परिवर्तनों को अलग करना होगा। ऐसा स्थिर कीमतों के सहारे किया जा सकता है। अत: हम यहां स्थिर कीमतों पर ही राष्ट्रीय आय के आकार सम्बन्धी परिवर्तनों व प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यही महत्त्वपूर्ण होता है।

उपलब्धियां–राष्ट्रीय आय की दीर्घकालिक प्रवृत्ति निस्संदेह बढ़ने की ओर है। यदि हम 1950-51 से 1999-2000 के बीच के 49 वर्षों की अवधि को लें, तो राष्ट्रीय आय की औसत वार्षिक वृद्धि-दर 4.4 प्रतिशत के लगभग निकलती है। स्पष्टत: यह वृद्धि लगातार नहीं हुई है। इसमें काफी उतार-चढ़ाव दिखाई देता है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस घट-बढ़ के बावजूद दीर्घकालिक प्रवृत्ति के रूप में देश की राष्ट्रीय आय बढ़ने की ओर उन्मुख है। इधर कुछ वर्षों से वृद्धि-दर में विशेष तेजी दिखाई देने लगी है। 1980 के दशक के मध्य से वार्षिक वृद्धि-दर सामान्यत: 6 और 7 प्रतिशत के बीच रहने लगी है।

नोट

ब्रिटिश शासन-काल की दृष्टि से देखें, तो वर्तमान वृद्धि बहुत सन्तोषजनक ठहरती है। देश की राष्ट्रीय आय अब कहीं अधिक तेजी से बढ़ रही है। उदाहरण के लिए, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले 1900 से 1945 के बीच वार्षिक वृद्धि-दर 1.2 प्रतिशत के लगभग थी, जबकि वर्तमान वृद्धि-दर 6 प्रतिशत के लगभग है–अर्थात् लगभग पांच गुना अधिक। इससे बोध होता है कि पहले की भांति अर्थव्यवस्था अब गतिहीन नहीं रही, बल्कि विकासशील बन गई है। निस्सन्देह यह एक बड़ी उपलब्धि है।

ऐतिहासिक दृष्टि से वर्तमान वृद्धि महत्त्वपूर्ण तो ठहरती है, लेकिन जब हम योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं, तब चौथी योजना तक यह वृद्धि थोड़ी ठहरती है। यदि हम अलग-अलग योजनाओं को लें, तो देखेंगे कि दूसरी, तीसरी और चौथी योजना के लक्ष्य से हम काफी पीछे रहे। तीसरी योजना की अवधि में तो राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर निर्धारित लक्ष्य से आधे से भी कम थी। लेकिन आगे चलकर वृद्धि-दर तेज हो गई। पांचवीं योजना के दौरान प्राप्त वृद्धि-दर लक्ष्य से थोड़ी ही कम थी। छठी और सातवीं योजना की अवधि में हम निर्धारित लक्ष्य से आगे निकलने में सफल हो गए। आठवीं योजना के सम्बन्ध में भी ऐसी बात देखने को मिलती है। इस योजना की अवधि में औसत वार्षिक वृद्धि-दर 6.7 प्रतिशत आँकी गई है, जो कि योजना में निर्धारित लक्ष्य (5.6 प्रतिशत) से काफी अधिक थी। निस्सन्देह इस दृष्टि से इधर स्थिति में काफी सुधार आया है। लेकिन नौवीं योजना का अन्तिम चरण अवश्य निराशाजनक रहा। इस कारण से निर्धारित लक्ष्य से हम काफी दूर रहे। अनुमान है कि इस योजना की अवधि में वार्षिक वृद्धि-दर 5.4 प्रतिशत के करीब रही, जबकि लक्ष्य 6.5 का था।

शुरु की योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य के हिसाब से ही नहीं, बल्कि अनेक देशों की तुलना में भी वृद्धि-दर प्रायः नीची रही है। उदाहरण के लिए 1965-80 के बीच कुल घरेलू उत्पाद की औसत वार्षिक वृद्धि-दर सिंगापुर में 10.4 प्रतिशत, कोरिया में 9.5 प्रतिशत, थाईलैण्ड में 7.4 प्रतिशत, जापान में 6.3 प्रतिशत और कनाडा में 4.4 प्रतिशत थी, जबकि भारत में यह दर केवल 3.7 प्रतिशत ही थी। हाल के वर्षों में भी लगभग इसी प्रकार की स्थिति देखने को मिलती है। उदाहरण के लिए, 1990-95 की अवधि में घरेलू उत्पाद की औसत वार्षिक वृद्धि-दर भारत में केवल 4.6 प्रतिशत थी, जब कि यह दर चीन में 12.8 प्रतिशत, इन्डोनेशिया में 7.6 प्रतिशत तथा कम्बोडिया में 6.4 प्रतिशत थी।

धीमी वृद्धि एवं घट-बढ़ के कारण–भारत में राष्ट्रीय आय की इस धीमी वृद्धि के पीछे अनेक कारकों का हाथ रहा है। वैसे तो ये कारण गहरे तौर पर परस्पर जुड़े हुए हैं, लेकिन विश्लेषण की सुविधा के लिए हम मुख्य कारकों को अलग-अलग प्रस्तुत कर रहे हैं।

एक प्रमुख कारक निवेश में कमी रही है। यह बात सार्वजनिक क्षेत्र के लिए विशेष रूप से लागू होती है। चूंकि भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था में निवेश व उत्पादन की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है और यह अनेक आधारिक सुविधाएं प्रदान करता है, इसलिए यहां हुई कमी का निजी क्षेत्र के निवेश और उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। फलस्वरूप राष्ट्रीय आय धीमी गति से ही बढ़ सकी।

दूसरे, देश में पूंजी-उत्पादन अनुमान से कहीं अधिक ऊंचा रहा है। प्रति इकाई उत्पादन के लिए हमें अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पूंजी लगानी पड़ी। दूसरे शब्दों में, निवेश की उत्पादिता कम रही। ऊंचे पूंजी-उत्पादन अनुपात के लिए इस तरह के अनेक कारक जिम्मेदार ठहराये जा सकते हैं जैसे कि इन्जीनियरी तथा रासायनिक उद्योगों पर अधिक जोर जहां पूंजी-उत्पादन अनुपात सामान्यतः बहुत ऊंचा होता है, पूंजी-स्टॉक के निर्माण की वास्तविक लागत में भारी वृद्धि, पूंजी-स्टॉक के कुशल प्रयोग का अभाव अथवा अल्प-प्रयोग, विभिन्न परियोजनाओं के उत्पादन के सम्बन्ध में तालमेल की कमी आदि।

राष्ट्रीय आय विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन का योग है। यहां कृषि और उद्योग का उत्पादन विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि सेवा-क्षेत्र बहुत बड़ी सीमा तक कृषि और उद्योग की उत्पादन-गतिविधियों पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से भी सामान्यतः स्थिति काफी असन्तोषजनक रही है। देश में कृषि-उत्पादन बढ़ा है और कभी-कभी तो कृषि-उत्पादन रिकार्ड स्तर पर पहुंच गया। लेकिन यदि वर्ष विशेष को छोड़कर विचार करें, तो कृषि-उत्पादन में वृद्धि बहुत अपर्याप्त एवं असन्तोषजनक ठहरती है। अंशतः इसका कारण यह है कि मोटे तौर से पहली योजना के बाद कृषि-विकास

नोट

की ओर जो ध्यान दिया गया, वह अपर्याप्त था, और कृषि-विकास के लिए जो तकनीकी एवं संस्थागत उपाय अपनाए गए, उनको भरपूर ढंग से अमल में नहीं लाया गया। अंशत: यह देश की खेती का प्रकृति पर अधिक निर्भर बने रहने का फल है। अनेक वर्षों में देश को बाढ़ या सूखे की स्थिति का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप कृषि-उत्पादन तेजी से नहीं बढ़ सका।

औद्योगिक क्षेत्र में भी उत्पादन-मात्रा अपेक्षित दर से नहीं बढ़ सकी। शुरू में तो औद्योगिक उत्पादन बड़ी तेजी से बढ़ा, लेकिन आगे चलकर 1965 के बाद वृद्धि-दर घट गई। अनेक महत्त्वपूर्ण उद्योगों के सम्बन्ध में सृजित क्षमता का काफी बड़ा भाग अप्रयुक्त पड़ा रहा जिसके फलस्वरूप उत्पादन-मात्रा में तेजी से वृद्धि लाना संभव नहीं हो पाया। औद्योगिक रुग्णता भी बढ़ी है। इसके लिए इस प्रकार के अनेक कारक जिम्मेदार रहे हैं, जैसे कि कच्चा माल व पूंजीगत वस्तुओं की कमी, चालन-शक्ति और परिवहन-सेवाओं की अपर्याप्तता, दोषपूर्ण नियंत्रण, मांग की कमी, अकुशल प्रबन्धन, असन्तोषजनक मालिक-मजदूर सम्बन्ध आदि।

भारत में राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर नीची ही नहीं है, बल्कि इसमें बड़ी अनियमितता भी पाई जाती है। किसी वर्ष देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, और किसी वर्ष वृद्धि-दर बहुत घट जाती है। यहां तक कि राष्ट्रीय आय कभी-कभी घट भी जाती है। इस उतार-चढ़ाव का मूल कारण यह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था खेती पर बहुत अधिक निर्भर करती है, और मानसून व अन्य प्राकृतिक बातों पर भारी निर्भरता के कारण अभी हमारी खेती एक बहुत अनिश्चित व्यवसाय है। समय-समय पर कृषि उत्पादन की मात्रा में तीव्र उतार-चढ़ाव होता रहता है और इस कारण राष्ट्रीय आय में भारी घट-बढ़ होती रहती है। स्पष्टत: जब तक कि पूंजी-निवेश की एक लम्बी अवधि बीत नहीं जाती और मानसून पर खेती की वर्तमान भारी निर्भरता समाप्त नहीं होती, तब तक राष्ट्रीय आय में इस प्रकार के उतार-चढ़ाव की स्थिति बनी रहेगी।

प्रति व्यक्ति आय के अनुमान

अब हम प्रति व्यक्ति आय एवं उसमें हो रहे परिवर्तनों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे। स्पष्टत: इसी के सहारे देशवासियों की आर्थिक स्थिति के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। राष्ट्रीय आय को देखकर इस प्रकार का अनुमान लगाना संभव नहीं है, क्योंकि इसमें जनसंख्या का हिसाब नहीं किया जाता। यदि जनसंख्या बहुत बड़ी है, तो राष्ट्रीय आय के अधिक होने पर भी प्रति व्यक्ति आय अपेक्षाकृत कम ठहरेगी। उदाहरण के लिए, आस्ट्रेलिया की राष्ट्रीय आय की तुलना में भारत की राष्ट्रीय आय लगभग बराबर है। लेकिन भारत की प्रति व्यक्ति आय आस्ट्रेलिया की प्रति व्यक्ति आय की तुलना में बहुत कम है। इसका कारण यह है कि भारत की जनसंख्या अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

भारत में प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा है। 1993-94 की कीमतों पर देश की प्रति व्यक्ति आय 200-01 में 10,250 रुपये के लगभग थी, जो 1993-94 की ऊंची कीमतों तथा जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं को देखते हुए, बहुत अपर्याप्त है। यही कारण है कि यहां के लोगों का औसत जीवन-स्तर बहुत नीचा है। सन् 1950-51 और 2000-01 के बीच प्रति व्यक्ति आय में जो परिवर्तन हुआ, उसका विवरण तालिका 13.3 में दिया गया है। आय में वास्तविक वृद्धि मालूम करने के लिए हमें स्थिर कीमतों पर आधारित अनुमान को लेना होगा, न कि प्रचलित कीमतों के आधार पर लगाए गए अनुमान को। यहां 1993-94 की कीमतों को आधार-वर्ष माना गया है।

देश में प्रति व्यक्ति आय घटती-बढ़ती रही है और परिवर्तन की मात्रा भिन्न-भिन्न वर्षों में भिन्न-भिन्न रही है। लेकिन दीर्घकालिक प्रवृत्ति बढ़ने की ओर है। यदि 1950-51 से 2000-01 की अवधि में हिसाब फैलाएं, तो वार्षिक वृद्धि-दर 1.8 प्रतिशत के लगभग निकलती है। निस्सन्देह यह वृद्धि बहुत थोड़ी है, और यही कारण है कि जनसाधारण के जीवन-स्तर में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं होने पाया है। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि यह केवल औसत आय है। देश में राष्ट्रीय आय के वितरण में भारी असमानताएँ मौजूद हैं। राष्ट्रीय आय का बड़ा भाग चन्द धनी व्यक्तियों के पास पहुँच जाता है। यदि इनको छोड़ कर जनसाधारण की औसत आय का हिसाब लगाया जाए, तो वह आय-राशि राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय के औसत से कहीं कम बैठेगी। राष्ट्रीय आय की तुलना में प्रति व्यक्ति आय में कम वृद्धि होने का कारण यह है कि देश की जनसंख्या बड़ी ही नहीं है, बल्कि द्रुतगति से बढ़ भी रही है।

नोट

प्रति यक्ति आय में हो रही इस धीमी वृद्धि के कारण इस सम्बन्ध में योजना के निर्धारित लक्ष्य सामान्यत: प्राप्त नहीं किए जा सके। उदाहरण के लिए, दूसरी योजना में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का वार्षिक लक्ष्य 3.3 प्रतिशत रखा गया था, जबकि वृद्धि केवल 2.0 प्रतिशत ही रही। तीसरी योजना के काल में स्थिति बहुत ही निराशाजनक रही। इस योजना में निर्धारित वार्षिक लक्ष्य 3.2 प्रतिशत था, लेकिन वृद्धि नहीं के बराबर थी–केवल 0.2 प्रतिशत वार्षिक। चौथी योजना के काल में वार्षिक वृद्धि-दर 1.0 प्रतिशत थी, जो कि 3.6 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से एक-तिहाई भी नहीं थीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रति व्यक्ति आय बहुत धीमी गति से बढ़ी। पांचवीं योजना के समय के वृद्धि-दर अवश्य तेज हुई है। वार्षिक वृद्धि-दर पांचवीं योजना के दौरान 2.7 प्रतिशत; छठी योजना के काल में 3.2 प्रतिशत (लक्ष्य 3.5 प्रतिशत) तथा सातवीं योजना की अवधि में लगभग 3.6 प्रतिशत थी जो कि लक्ष्य (3.2 प्रतिशत) से थोड़ा अधिक थी। आठवीं योजना के दौरान प्रगति और भी अधिक सन्तोषजनक ठहरती है। इस योजना की अवधि (1992-97) में प्रति व्यक्ति आय औसतन 4.6 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ी, जबकि योजना में 3.8 प्रतिशत का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

तालिका 3 : प्रति व्यक्ति आय के अनुमान (1950-51 से 2000-01)

वर्ष	*प्रति व्यक्ति आय (रुपये)*		*सूचकांक (1950-51) = 100*	
	प्रचलित कीमतों पर	*1993-94 की कीमतों पर*	*प्रचलित कीमतों पर*	*1993-94 की कीमतों पर*
1950-51	255	3687	100.0	100.0
1955-56	249	4021	97.7	109.9
1960-61	350	4430	137.6	120.1
1965-66	490	4459	192.3	120.9
1970-71	720	5002	282.8	136.4
1975-76	1137	5168	446.4	140.1
1980-81	1142	5353	638.8	145.2
1985-86	2933	6083	1151.6	165.0
1990-91	5367	7323	2107.2	198.6
1995-96	10160	8449	3989.2	230.5
2000-01	16487	10254	6473.9	278.1

(क्रमश:)

	वार्षिक वृद्धि-दर (प्रतिशत) 1993-94 की कीमतों पर
पहली योजना (1951-56)	1.8
दूसरी योजना (1956-61)	2.0
तीसरी योजना (1961-66)	0.2
चौथी योजना (1969-74)	1.0
पांचवीं योजना (1974-79)	2.7
छठी योजना (1980-85)	3.2
सातवीं योजना (1985-90)	3.6
आठवीं योजना (1992-97)	4.6

नोट

शुरू की योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य से हम पीछे ही नहीं रहे, बल्कि विश्व के अनेक छोटे-बड़े देशों की तुलना में हमारी प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि-दर बहुत नीची बैठती है। उदाहरण के लिए 1985-94 के बीच प्रति व्यक्ति आय की औसत वार्षिक वृद्धि-दर थाईलैंड में 8.6 प्रतिशत, चीन और कोरिया में 7.8 प्रतिशत, इन्डोनेशिया में 6.0 प्रतिशत और मलेशिया में 5.6 प्रतिशत थी, जबकि भारत में यह केवल 2.9 प्रतिशत ही थी। हमारी प्रति व्यक्ति आय वैसे ही बहुत थोड़ी है। अत: वृद्धि की इस अपेक्षाकृत नीची दर के कारण हम प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से विश्व के अनेक देशों की तुलना में और पिछड़ते जा रहे हैं। अनेक छोटे-बड़े देशों की तुलना में हमारी प्रति व्यक्ति आय कितनी कम है, इसका मोटा अनुमान आय-तालिका 13.4 से लगाया जा सकता है। तरह-तरह की विभिन्नताओं के कारण ऐसी तुलना ठीक तो नहीं मानी जासकती, फिर भी मोटा सा अनुमान तो लग ही सकता है। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि केवल अमरीका, कनाडा, और जापान जैसे विकसित देशों की तुलना में ही हमारी प्रति व्यक्ति आय बहुत कम नहीं है, बल्कि अनेक अल्पविकसित देशों जैसे कि इजिप्ट, श्रीलंका, पाकिस्तान आदि की तुलना में भी हमारी प्रति व्यक्ति आय कम बैठती है। यदि सारे विश्व का औसत लें तो वह भी कहीं अधिक बैठेगा–लगभग 5,150 डालर।

निष्कर्ष–इस विवेचन से स्पष्ट है कि जनसंख्या के हिसाब से देश की राष्ट्रीय आय बहुत अपर्याप्त है। फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा है और जनसाधारण की आर्थिक दशा बहुत गिरी हुई है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश की राष्ट्रीय आय बढ़ने तो लगी है, लेकिन वृद्धि-दर थोड़ी है और अनियमित भी। इस कारण और साथ ही जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति आय और लोगों के जीवन-स्तर में कोई विशेष सुधार नहीं होने पाया है। अत: राष्ट्रीय आय में भारी एवं नियमित रूप से वृद्धि लाने के लिए हमें भरसक प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है। अन्य बातों के अतिरिक्त, इसके लिए जहां एक ओर हमें निवेश-दर को बढ़ाना होगा, निवेश-राशि का अधिक भाग स्थायी पूँजी-निर्माण में लगाना होगा तथा निवेश-ढाद्दचे की इस ढंग से व्यवस्था करनी होगी जिससे कि विभिन्न उत्पादन-क्षेत्रों के बीच तालमेल बना रहे और उत्पादिता का स्तर उत्तरोत्तर ऊपर उठता रहे, वहाँ दूसरी ओर कुशल खेती के लिए आवश्यक साधनों की उपलब्धि सुनिश्चित करने के अतिरिक्त बाढ़-नियंत्रण तथा सिंचाई-सुविधाओं के विस्तार के सहारे प्रकृति पर खेती की निर्भरता को यथा सम्भव कम करना होगा, औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन-तकनीक में सुधार लाना होगा। क्षमता के अल्प-उपयोग की समस्याओं के हल करने पर विशेष ध्यान होगा, श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना और प्रतियोगिता को बढ़ावा देना होगा ताकि उत्पादकों पर लागत न्यूनतम करने व उत्पादन-मात्रा को अधिकतम करने एवं उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए आवश्यक दबाव डाला जा सके। साथ ही जनसंख्या-वृद्धि को भी सीमित करना होगा, अन्यथा राष्ट्रीय आय के अधिक बढ़ने पर भी प्रति व्यक्ति आय में कोई विशेष वृद्धि सम्भव न हो सकेगी।

तालिका 4 : कुछ देशों की प्रति व्यक्ति आय 2000

(अमरीकी डॉलर)

देश	*प्रति व्यक्ति/आय*	*देश*	*प्रति व्यक्ति आय*
अमरीका	34,260	ईजिप्टि (मिश्र)	1,490
जापान	34,210	श्रीलंका	870
जर्मनी	25,050	पाकिस्तान	470
कनाडा	21,050	भारत	460
कोरिया	8,910	बंगलादेश	380

स्व-मूल्यांकन

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. प्रो. पी.सी. महालनोबिस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय समिति का गठन किया गया–

(क) अगस्त 1942 में (ख) अगस्त 1948 में

(ग) अगस्त 1949 में (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

2. वर्तमान में राष्ट्रीय आय में कितने प्रतिशत की वृद्धि दर है–
   (क) 6 प्रतिशत (ख) 8 प्रतिशत
   (ग) 10 प्रतिशत (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. भारत में राष्ट्रीय आय की धीमी गति के कारण हैं–
   (क) निवेश की कमी (ग) निवेश की अधिकता
   (ग) निवेश का परिवर्तित होना (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन का योग है–
   (क) प्रति व्यक्ति आय (ख) राष्ट्रीय आय
   (ग) राष्ट्रीय उत्पादन (घ) इनमें से कोई नहीं।

5.3 उद्योगवार राष्ट्रीय आय (National Income by Industry of Origin)

राष्ट्रीय आय में विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का योगदान शामिल रहता है, जैसे कि खेती, पशुपालन, छोटे-बड़े उद्योग, व्यापार, परिवहन, संचार, अन्य सेवाएं आदि। इन अनेक क्रियाओं के योगदान में प्रायः भारी अन्तर पाया जाता है। अलग-अलग अर्थव्यवस्थाओं में इनका योगदान भिन्न-भिन्न होता है। यही नहीं, बल्कि आर्थिक विकास के साथ इनके सापेक्ष महत्त्व में घट-बढ़ होती रहती है। मोटे-तौर पर अल्पविकसित अथवा विकासशील देशों में राष्ट्रीय आय के सृजन में कृषि तथा सम्बन्धित क्रियाएं अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, जबकि विकसित देशों में इस दृष्टि से उद्योग तथा सेवा-सम्बन्धी क्रियाओं का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक होता है। इसी प्रकार विकास के साथ-साथ कृषि का प्रतिशत भाग कम होता जाता है तथा उद्योग और सेवाओं के प्रतिशत भाग में वृद्धि होती रहती है।

भारत के संदर्भ में राष्ट्रीय आय के विभिन्न स्रोतों को मोटे-तार पर इन तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। (*i*) कृषि-इस कोटि में खेती के अलावा पशुपालन, मत्स्य-उद्योग और वन-उद्योग जैसी उत्पादन-क्रियाएं आती हैं। (*ii*) उद्योग–जिसमें खनन, उत्खनन, विनिर्माण, बिजली, गैस और जल-आपूर्ति से जुड़े कार्यों का समावेश रहता है। (*iii*) सेवाएं–इस कोटि के अन्तर्गत वाणिज्य, परिवहन, संचार, होटल, बीमा, बैंकिंग, निर्माण, सामुदायिक, वैयक्तिक आदि सेवाओं को शामिल किया जाता है। देश के कुल घरेलू उत्पाद में इन, विभिन्न स्रोतों का क्या-कितना योगदान है तथा 1950-51 से इनके सापेक्ष योगदान में क्या परिवर्तन आया है, इसका संक्षिप्त ब्यौरा तालिका 5.5 में दिया गया है। इस तालिका में दिए गए आँकड़े 1990-91 तक 1880-81 की कीमतों पर आधारित हैं, जबकि उसके बाद के आँकड़ों के लिए 1993-94 को आधार-वर्ष माना गया है।

तालिका 5 : सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत उद्योगवार वितरण

क्षेत्र	*1950-51*	*1980-81*	*1990-91*	*1995-96*	*2000-01*
1. कृषि	57.2	38.1	30.9	27.7	26.6
2. उद्योग	12.8	20.9	26.4	22.3	22.1
3. सेवाएँ	30.0	41.0	42.7	50.0	51.3
कुल घरेलू उत्पाद	100.0	100.0	100.0	100.0	

स्रोत : *Economic Survey, Reports on Currency and Finance.*

क्या आप जानते हैं यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय की संरचना में कृषि का प्रतिशत योगदान कम हो रहा हो और गैर-कृषि क्षेत्रों का प्रतिशत योगदान बढ़ रहा हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस देश में आर्थिक विकास हो रहा है।

नोट

विकासशील स्वरूप–इस तालिका से स्पष्ट पता चलता है कि आयोजन-काल में विभिन्न उत्पादन-क्षेत्रों के प्रतिशत भाग में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। जहाँ 1950-51 में घरेलू उत्पाद में कृषि-क्षेत्र का भाग लगभग 57 प्रतिशत था, वहाँ यह घट कर 2000-01 में कुल 27 प्रतिशत रह गया। इसी प्रकार इस अवधि में उद्योग और सेवाओं के प्रतिशत भाग में वृद्धि नजर आती है। उद्योग का भाग जो 1950-51 में केवल 13 प्रतिशत के लगभग था, वह बढ़कर 2000-01 में 22 प्रतिशत के स्तर पर पहुँच गया। इस अवधि में घरेलू उत्पाद में सेवाओं का योगदान 30 प्रतिशत से बढ़कर 51 प्रतिशत हो गया। इन परिवर्तनों से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकासशील स्वरूप का बोध होता है। विकसित देशों के घरेलू उत्पाद की संरचना में सेवाओं और उद्योग का योगदान बहुत अधिक और कृषि का योगदान बहुत थोड़ा होता है। देश में इस प्रकार के परिवर्तन नजर आते हैं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि देश आर्थिक विकास की दिशा में आगे बढ़ रहा है। घरेलू उत्पाद की बनावट अब वह नहीं रही है जो 1950-51 में थी। कृषि की प्रधानता का स्थान अब उद्योग और सेवाओं ने मिलकर ले लिया है।

घरेलू उत्पादन की संरचना में जो परिवर्तन आ रहे हैं, वे देश की अर्थव्यवस्था की भावी संवृद्धि के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। एक तो अर्थव्यवस्था की संवृद्धि के लिए आधार बन गया है। कृषि के प्रतिशत भाग में जो भारी गिरावट आई है, वह ठीक ही है। विश्व में कहीं भी संवृद्धि को अभिप्रेरित करने एवं उसके पोषण में कृषि की भूमिका महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। समय के साथ गैर-कृषि क्षेत्र, विशेष रूप से सेवाओं ने संवृद्धि के लिए प्रोत्साहन कारक का रूप धारण कर लिया है। दूसरे, अब देश में आर्थिक संवृद्धि पर खेती के उतार-चढ़ाव का कम प्रभाव पड़ सकेगा जो अभी अनिश्चित वर्षा पर बहुत निर्भर है। इस प्रकार ये परिवर्तन संवृद्धि-उन्मुख ठहरते हैं।

धीमी गति से एवं थोड़ा परिवर्तन–यह तो सही है कि परिर्वतन संवृद्धि-उन्मुख ठहरते हैं, लेकिन परिवर्तन की गति धीमी कही जा सकती है और परिवर्तनों का प्रभाव भी थोड़ा नजर आता है। इन परिवर्तनों के आने में 50 वर्षों का समय लग चुका है। यही नहीं बल्कि विकसित देशों के घरेलू उत्पाद की संरचना को देखते हुए परिवर्तनों का प्रभाव भी कम ठहरता है। उदाहरण के लिए, विकसित देशों के घरेलू उत्पाद में, औसत रूप में, कृषि का योगदान 2 प्रतिशत, उद्योग की 33 प्रतिशत और सेवाओं का 65 प्रतिशत के निकट पाया जाता है। अत: विकसित देशों की अवस्था से भारतीय अर्थव्यवस्था अभी बहुत दूर है।

परिवर्तनों के सीमित प्रभाव की बात की पुष्टि देश के व्यावसायिक ढाँचे से भी होती है। अभी भी लगभग 67 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या खेती में लगी हुई है जो कि पिछड़ी अर्थव्यवस्था का संकेतक है। विकसित देशों में खेती में लगे श्रमिकों का अनुपात 3 और 8 प्रतिशत के बीच पाया जाता है।

प्रगति में अन्तर– विभिन्न देशों की प्रगति में अन्तर होने के कारण उनके सापेक्ष योगदान में परिवर्तन आया है। समग्र रूप में प्रगति सन्तोषजनक नहीं रही, विशेषरूप से वस्तुपरक क्षेत्रों (कृषि और उद्योग) के सम्बन्ध में प्रगति। इसके उत्पादन में बढ़ोत्तरी के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की संवृद्धि-दर ऊपर उठेगी और घरेलू उत्पाद की संरचना में वांछित दिशा से और परिवर्तन आयेगा।

कृषि–इस क्षेत्र की नीची संवृद्धि-दर के फलस्वरूप घरेलू उत्पाद में सापेक्ष स्थान गिरा है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस क्षेत्र की नीची संवृद्धि-दर-वांछनीय नहीं है। इसकी संवृद्धि-दर में वृद्धि अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर को ऊपर उठाने के लिए बहुत आवश्यक है। अन्य उत्पादन-क्षेत्रों की तुलना में घरेलू उत्पाद की संरचना में केवल इसका सापेक्ष अनुपात गिरेगा।

इस क्षेत्र की संवृद्धि-दर में बढ़ोत्तरी लाने के लिए सम्भावनाएं बहुत अधिक हैं। उत्पादन और उत्पादिता के निम्न स्तर से इसका स्पष्ट बोध होता है। अनेक फसलों और प्रदेशों के सम्बन्ध में इस दिशा की ओर तेजी से बढ़ा जा सकता है। खेती से जुड़े धन्धों के क्षेत्र में भी संवृद्धि-दर में भारी बढ़ोत्तरी लाई जा सकती है। इस रास्ते की विभिन्न बाधाओं को दूर करने के लिए एक व्यापक योजना का सहारा लिया जाना जरूरी है जिसमें तकनीकी सुधारों के साथ-साथ संगठनात्मक सुधारों का भी पर्याप्त समावेश हो। आधारिक संरचना तथा अनुसंधान के क्षेत्रों में अधिक निवेश की व्यवस्था कम जरूरी नहीं है। साथ ही ठीक प्रकार के प्रेरक उपायों का प्रावधान भी आवश्यक है ताकि इस क्षेत्र में संवृद्धि-दर में तेजी लाने के लिए लोगों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिल सके।

नोट

उद्योग–औद्योगिक उत्पादन की संवृद्धि-दर बढ़ी तो है, लेकिन घरेलू उत्पाद में महत्त्वपूर्ण सीमा तक इस क्षेत्र के भाग को बढ़ाने के लिए यह पर्याप्त नहीं रही। इसके लिए अनेक कारण जिम्मेदार ठहराए जा सकते हैं। एक तो इस क्षेत्र में निवेश की मात्रा कम रही है, विशेषरूप से आधारिक संरचना के सम्बन्ध में। दूसरे, काफी लम्बे समय तक भारी एवं पूँजीगत–वस्तु उद्योगों पर आधारित रणनीति का सहारा लिया जाता तो रहा। यही नहीं कि इन उद्योगों के सम्बन्ध में पूँजी-उत्पाद अनुपात ऊँचा होता है, बल्कि उत्पादन-कार्य शुरू हो पाने में अधिकसमय लगता है। इस कारण उत्पादन-प्रवाह देरी से एवं धीमी गति से प्राप्त होता है। और फिर, अभी हाल तक उद्योग-क्षेत्र पर तरह-तरह के नियंत्रणों और लाइसेन्स-व्यवस्था का भारी बोझ लदा हुआ था। इस दिशा से कार्यक्षमता, निजी निवेश, उद्यम, नवाचार आदि पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। फलस्वरूप इस क्षेत्र की संवृद्धि-दर में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पाई।

संवृद्धि-दर में तेजी लाने के लिए इन रुकावटों को दूर किया जाना जरूरी है। 1990 के दशक से आर्थिक सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत इस दिशा में अनेक कदम उठाये जाने लगे हैं। उदाहरण के लिए, लाइसेन्स-व्यवस्था खत्म कर दी गई है और अनेक नियंत्रणों को उठा लिया गया है। अर्थव्यवस्था को खुला रूप देने के लिए भी प्रयास किया गया है, ताकि विश्व प्रतियोगिता की ओर से घरेलू उत्पादकों पर लागत घटाने एवं उत्पाद की कोटि में सुधार लाने के लिए आवश्यक दबाव डाला जा सके। निजी विदेशी निवेशकों के लिए प्रोत्साहन की व्यवस्था की गई है ताकि औद्योगिक निवेश और आधुनिक तकनीक के व्यवहार को पर्याप्त बढ़ावा मिल सके।

टास्क प्रति व्यक्ति आय का अनुमान किस प्रकार लगाया जा सकता है?

सेवाएँ–घरेलू उत्पाद में इस क्षेत्र के योगदान को बढ़ाने में इसकी संवृद्धि-दर महत्त्वपूर्ण रही है। अब इसका भाग तेजी से बढ़कर अन्य दोनों क्षेत्रों के कुल भागसे भी अधिक हो गया है, और वह भी अपेक्षाकृत कम समय के भीतर। अनेक दृष्टियों से अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव लाभकारी ठहरता है। एक तो अब इस क्षेत्र से अर्थव्यवस्था के उच्चतर संवृद्धि-दर के पोषण में अधिक योगदान की आशा की जा सकती है। दूसरे, इस दिशा से ऐसे लोगों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सकेंगे जो तकनीकी प्रगति के कारण कृषि और उद्योग क्षेत्र में उत्पादिता-वृद्धि के फलस्वरूप वहां से बाहर निकलेंगे। तीसरे, लोगों के उपभोग-ढांचे में परिवर्तन आएगा। अब उपभोग-व्यय का वर्धमान अनुपात वस्तुओं की अपेक्षा सेवाओं पर लगेगा। चौथे, सरकार के बजट पर भी प्रभाव पड़ेगा। विस्तारशील सेवा-क्षेत्र से कर राजस्व में भी बढ़ोत्तरी सम्भव हो सकेगी क्योंकि अब कर देने वाले लोगों की संख्या बढ़ेगी।

सारांश के तौर पर यह कहा जा सकता है कि सकल घरेलू उत्पाद की संरचना में कुछ असन्तोषजनक बातें दिखाई देने के बावजूद, अब यह संरचना विकासोन्मुख है, और भावी दृष्टि से बहुत आशा बंधती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... में विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का योगदान शामिल रहता है।
2. भारत में अभी भी ..... जनसंख्या खेती में लगी हुई है।
3. ..... के संदर्भ में राष्ट्रीय आय के विभिन्न स्रोतों को मोटे तौर पर तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है।
4. उद्योग-क्षेत्र पर तरह-तरह के नियंत्रणों और ..... का भारी बोझ लदा हुआ था।

नोट

5.4 सारांश (Summary)

देश की राष्ट्रीयता एवं प्रति व्यक्ति आय में हुई वृद्धि का अध्ययन हम दो कालावधियों के सन्दर्भ में करेंगे–एक तो स्वतंत्रता-पूर्व की अवधि और दूसरी, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की अवधि।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध में देश में कोई नियमित एवं व्यवस्थित प्रयास नहीं किए गए।

अनुमान लगाने का उद्देश्य अंग्रेज़ी शासन की अच्छाई या बुराई पर प्रकाश डालना था। और फिर, अनुमान लगाने की विधियां अपूर्ण एवं भिन्न-भिन्न थीं तथा अवधारणाओं व मान्यताओं के सम्बन्ध में भारी विभिन्नता थी।

पिछले अनुमानों में भारी अन्तर एवं उनकी सीमित उपयोगिता तथा विकास के लिए आवश्यक नीतियों के निर्धारण की दृष्टि से राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, भारत सरकार ने अगस्त 1949 में प्रो. पी.सी. महालनोबिस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) का गठन किया।

समिति की पहली रिपोर्ट 1951 में और अन्तिम रिपोर्ट 1954 में प्रस्तुत की गई जिनमें 1948-51 कह अवधि के लिए राष्ट्रीय आय के अनुमान दिए गए हैं।

राष्ट्रीय आय की दीर्घकालिक प्रवृत्ति निस्संदेह बढ़ने की ओर है। यदि हम 1950-51 से 1999-2000 के बीच के 49 वर्षों की अवधि को लें, तो राष्ट्रीय आय की औसत वार्षिक वृद्धि-दर 4.4 प्रतिशत के लगभग निकलती है। स्पष्टत: यह वृद्धि लगातार नहीं हुई है। इसमें काफी उतार-चढ़ाव दिखाई देता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से वर्तमान वृद्धि महत्त्वपूर्ण तो ठहरती है, लेकिन जब हम योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं, तब चौथी योजना तक यह वृद्धि थोड़ी ठहरती है। यदि हम अलग-अलग योजनाओं को लें, तो देखेंगे कि दूसरी, तीसरी और चौथी योजना के लक्ष्य से हम काफी पीछे रहे। तीसरी योजना की अवधि में तो राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर निर्धारित लक्ष्य से आधे से भी कम थी। लेकिन आगे चलकर वृद्धि-दर तेज हो गई।

भारत में राष्ट्रीय आय की इस धीमी वृद्धि के पीछे अनेक कारकों का हाथ रहा है। वैसे तो ये कारण गहरे तौर पर परस्पर जुड़े हुए हैं, लेकिन विश्लेषण की सुविधा के लिए हम मुख्य कारकों को अलग-अलग प्रस्तुत कर रहे हैं।

राष्ट्रीय आय विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन का योग है। यहां कृषि और उद्योग का उत्पादन विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि सेवा-क्षेत्र बहुत बड़ी सीमा तक कृषि और उद्योग की उत्पादन-गतिविधियों पर निर्भर करता है।

भारत में राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर नीची ही नहीं है, बल्कि इसमें बड़ी अनियमितता भी पाई जाती है। किसी वर्ष देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, और किसी वर्ष वृद्धि-दर बहुत घट जाती है। यहां तक कि राष्ट्रीय आय कभी-कभी घट भी जाती है। इस उतार-चढ़ाव का मूल कारण यह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था खेती पर बहुत अधिक निर्भर करती है, और मानसून व अन्य प्राकृतिक बातों पर भारी निर्भरता के कारण अभी हमारी खेती एक बहुत अनिश्चित व्यवसाय है।

भारत में प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा है। 1993-94 की कीमतों पर देश की प्रति व्यक्ति आय 200-01 में 10,250 रुपये के लगभग थी, जो 1993-94 की ऊंची कीमतों तथा जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं को देखते हुए, बहुत अपर्याप्त है। यही कारण है कि यहां के लोगों का औसत जीवन-स्तर बहुत नीचा है।

भारत के संदर्भ में राष्ट्रीय आय के विभिन्न स्रोतों को मोटे-तार पर इन तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। (*i*) कृषि-इस कोटि में खेती के अलावा पशुपालन, मत्स्य-उद्योग और वन-उद्योग जैसी उत्पादन-क्रियाएं आती हैं। (*ii*) उद्योग–जिसमें खनन, उत्खनन, विनिर्माण, बिजली, गैस और जल-आपूर्ति से जुड़े कार्यों का समावेश रहता है। (*iii*) सेवाएं–इस कोटि के अन्तर्गत वाणिज्य, परिवहन, संचार, होटल, बीमा, बैंकिंग, निर्माण, सामुदायिक, वैयक्तिक आदि सेवाओं को शामिल किया जाता है।

घरेलू उत्पाद की बनावट अब वह नहीं रही है जो 1950-51 में थी। कृषि की प्रधानता का स्थान अब उद्योग और सेवाओं ने मिलकर ले लिया है।

नोट

परिवर्तनों के सीमित प्रभाव की बात की पुष्टि देश के व्यावसायिक ढाँचे से भी होती है। अभी भी लगभग 67 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या खेती में लगी हुई है जो कि पिछड़ी अर्थव्यवस्था का संकेतक है। विकसित देशों में खेती में लगे श्रमिकों का अनुपात 3 और 8 प्रतिशत के बीच पाया जाता है।

5.5 शब्दकोश (Keywords)

- **द्रुतगामी**–तेज चलने वाला।
- **नवाचार**– नया विधान।

5.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले राष्ट्रीय आय के अनुमान पर प्रकाश डालिए। उनसे आप क्या निष्कर्ष निकालेंगे?
2. आयोजन काल में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय की दीर्घकालिक प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए। प्रगति कहा तक सन्तोषजनक ठहरती है?
3. भारत में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में हो रही धीमी वृद्धि के मुख्य कारणों का विश्लेषण कीजिए।
4. भारत में सकल घरेलू उत्पाद के उद्योगवार वितरण का संक्षिप्त विवरण दीजिए। इसमें क्या कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं?
5. राष्ट्रीय आय के अध्ययन से देश की अर्थव्यवस्था के स्वरूप और स्तर के विषय में क्या जानकारी मिलती है?

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (ग) 2. (क) 3. (क) 4. (ख)

2. 1. राष्ट्रीय आय 2. 67 3. भारत 4. लाइसेन्स व्यवस्था

5.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–6: आर्थिक विकास के सूचक एवं जनांकिकीय विशेषताएँ (Demographic Features and Indicators of Development)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 आर्थिक विकास के सूचक (Indicator of Economic Development)

6.2 जनांकिकी एवं अर्थशास्त्र (Demography and Economics)

6.3 जननांकिकीय विशिष्टताएँ (Demographic Features)

6.4 सारांश (Summary)

6.5 शब्दकोश (Keywords)

6.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आर्थिक विकास के कौन-कौन से सूचक हैं, इसे समझने में।
- जनांकिकी एवं अर्थशास्त्र में क्या संबंध है, को जानने में।
- जननांकिकीय विशिष्टताओं की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

जनसंख्या समस्त आर्थिक क्रियाओं का आदि भी है और अन्त भी है क्योंकि आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य अपनी जनसंख्या का अधिकतम् कल्याण करना है। **प्रो. पीगू** के अनुसार, "मनुष्य आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य भी है और उत्पत्ति का साधन भी। इस तरह मनुष्य ही समस्त आर्थिक क्रियाओं का सृजक भी है तथा साध्य भी है।" जनसंख्या की वृद्धि से राष्ट्र की समस्त आवश्यकताओं में वृद्धि होती है, अतः सभी आर्थिक क्रियाओं में हलचल हो जाती है। इसके अतिरिक्त आज प्रत्येक देश आर्थिक नियोजन के माध्यम से तीव्र गति से आर्थिक विकास हेतु प्रयत्नशील है और नियोजन की समस्त योजनाएँ उस देश की परिस्थितियों से पर्याप्त रूप से प्रभावित होती हैं। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जनांकिकी तथा अर्थशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

6.1 आर्थिक विकास के सूचक (Indicator of Economic Development)

1950 तथा 1960 के दशकों में GNP/GNP प्रति व्यक्ति को आर्थिक विकास का सूचक माना जाता रहा। 1960 के विकास दशक के लिए संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव द्वारा अल्पविकसित देशों के लिए GNP में 5 प्रतिशत की

नोट

वृद्धि दर का लक्ष्य निश्चित किया। इस लक्षित दर को प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने शहरीकरण के साथ तीव्र औद्योगिकीकरण का सुझाव दिया। उनका यह मत था कि GNP की वृद्धि से प्राप्त लाभ अपने-आप रोजगार और आय सुअवसरों में वृद्धि के रूप में गरीबों तक **धीरे-धीरे** पहुंच जाएंगे। इस प्रकार, विकास के इस माप के अनुसार गरीबी, बेरोजगारी और आय असमानताओं की समस्याओं को गौण महत्त्व दिया गया।

रोस्टोव द्वारा प्रतिपादित विकास के इस एक रेखीय वृद्धि की अवस्थाओं के पथ को नर्क्स के कम बचतों, छोटी मार्किटों तथा जनसंख्या दबावों के कुचक्रों (vicious circles) ने और शक्ति प्रदान की। यह समझा गया कि इन कुचक्रों को दूर करने से प्राकृतिक शक्तियां मुक्त हो जाएंगी जो अर्थव्यवस्था में ऊंची वृद्धि लाएंगी। इसके लिए रोडान ने 'बड़ा धक्का', नर्क्से ने संतुलित विकास, हर्षमैन ने असंतुलित विकास, तथा लीबन्स्टीन ने क्रान्तिक न्यूनतम प्रयत्न सिद्धान्त का सुझाव दिया। परन्तु अल्पविकसित देशों में विकास के लिए पूंजी, तकनीकी ज्ञान, विदेशी विनिमय, आदि के रूप में "लुप्त अंशों" (missing components) को प्रदान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहायता पर अधिक बल दिया गया। विदेशी सहायता के तर्क के पीछे "दो-अंतराल मॉडल" (two gap model) तथा आयात स्थानापन्नता द्वारा औद्योगिकीकरण था ताकि अल्पविकसित देश धीरे-धीरे विदेशी सहायता का परित्याग कर दें।

डेविड मोरवैट्ज (David Morawetz) के अनुमान यह बताते हैं कि इस विकास कूटनीति के अपनाने से विकासशील देशों में 1950-75 के बीच GNP प्रति व्यक्ति में 3.4 प्रतिशत प्रति वर्ष औसत दर से वृद्धि हुई। परन्तु यह वृद्धि दर ऐसे देशों की गरीबी, बेरोजगारी तथा असमानताओं की समस्याओं को सुलझाने में असफल रही।

आर्थिक विकास के सूचक के रूप में GNP के विरुद्ध अर्थशास्त्रियों के बीच आलोचनाएं 1960 की दशाब्दी से बढ़ती जा रही थीं परन्तु सार्वजनिक तौर से प्रथम प्रहार प्रो. डडले सियरज् (Dudley Seers) ने 1969 में नई दिल्ली में आयोजित Eleventh World Conference of the Society for International Development के अध्यक्षीय भाषण में किया। उसने समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया, "एक देश के विकास के बारे में पूछे जाने वाले प्रश्न हैं–गरीबी को क्या हो रहा है? बेरोजगारी को क्या हो रहा है? असमानता को क्या हो रहा है? यदि ये तीनों ऊंचे स्तरों से कम हुए हैं तो बिना संशय के उस देश के लिए विकास की अवधि रही है। यदि इन मुख्य समस्याओं में से एक या दो अधिक बुरी अवस्था में हो रही हैं, विशेषतया तीनों ही, तो परिणाम को 'विकास' कहना आश्चर्यजनक होगा चाहे प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हुई हो। उस समय के विश्व बैंक के गर्वनर **रार्बट मैक्कनमारा** (Robert McNamara) ने भी फरवरी 1970 में विकासशील देशों में GNP वृद्धि दर को आर्थिक विकास के सूचक के रूप में विफलता को इन शब्दों में स्वीकार किया–"प्रथम विकास दशाब्दी में, GNP में 5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर के प्राथमिक विकास उद्देश्य को प्राप्त किया गया था। यह मुख्य उपलब्धि थी। परन्तु GNP में सापेक्षतया ऊंची वृद्धि दर विकास में संतोषजनक उन्नति न लाई। विकासशील विश्व में, दशाब्दी के अन्त में, कुपोषण सामान्य है, शिशु मृत्यु दर ऊंची है, अनपढ़ता विस्तृत है, बेरोजगारी स्थानिक रोग है जो और बढ़ रहा है, धन और आय का पुनर्वितरण अत्यन्त विषम है।"

विकास के GNP/GNP प्रति व्यक्ति माप से असंतुष्ट होकर, 1970 की दशाब्दी से अधिक विचारकों ने विकास प्रक्रिया की गुणवत्ता की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया है। जिसके अनुसार वे तीन विभिन्न, परन्तु पूरक, रोजगार को बढ़ाने, गरीबी को दूर करने तथा आय और धन की असमानताओं को कम करने के लिए मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं (basic human needs) की कूटनीति पर बल देते हैं। इसके अनुसार, जनसाधारण को स्वास्थ्य, शिक्षा, जल, खुराक, कपड़े, आवास, काम आदि के रूप में मूलभूत भौतिक आवश्यकताएं और साथ ही सांस्कृतिक पहचान तथा जीवन और कार्य में उद्देश्य एवं सक्रिय भाग की भावना जैसी अभौतिक आवश्यकताएं प्रदान करना है। मुख्य उद्देश्य गरीबों को मूलभूत मानवीय आवश्यकताएं प्रदान करने उनकी उत्पादकता बढ़ाना और गरीबी दूर करना है। यह तर्क दिया जाता है कि मूलभूत मानवीय आवश्यताओं का प्रत्यक्ष प्रबंध करने से गरीबी पर थोड़े संसाधनों द्वारा और थोड़े समय में प्रभाव पड़ता है। शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य मूलभूत आवश्यकताओं के रूप में मानव संसाधन विकास से उत्पादकता के उच्च स्तर प्राप्त होते हैं। ऐसा विशेष तौर से वहाँ होता है जहाँ ग्रामीण भूमिहीन अथवा शहरी गरीब पाए जाते हैं तथा जिनके पास दो हाथों और काम करने की इच्छा के सिवाय कोई भौतिक परिसंपत्तियां नहीं होती हैं। इस कूटनीति के अन्तर्गत मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं के प्रबंध के अलावा, रोजगार के सुअवसरों,

नोट

पिछड़े वर्गों के उत्थान तथा पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर बल देना और उचित कीमतों एवं दक्ष वितरण प्रणाली द्वारा आवश्यक वस्तुओं को गरीब वर्गों को जुटाना है।

नोट्स आर्थिक विकास के माप के रूप में GNP अथवा GNP प्रति व्यक्ति से असंतुष्ट होकर, कुछ अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास को सामाजिक अथवा मूलभूत (आधारभूत) आवश्यकता सूचक के रूप में मापना प्रारंभ किया है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, जैसे–विश्व आर्थिक मंच (World Economic Forum), विश्व बैंक (World Bank) आदि ने विभिन्न सामाजिक व आर्थिक निर्देशांकों के द्वारा विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के स्तर को मापने का प्रयास किया है। उनमें से कुछ प्रमुख निर्देशांकों (Indices) का अध्ययन हम आगे कर रहे हैं–

(*i*) **सामाजिक अथवा मूलभूत आवश्यकता सूचक** (Social or Basic Needs Indicator)–विकास के राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति माप से असन्तुष्ट होकर 1970 की दशाब्दी से आर्थिक विचारकों ने विकास प्रक्रिया की गुणवत्ता की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया है जिसके अनुसार वे तीन विभिन्न परन्तु पूरक, रोजगार को बढ़ाने, गरीबी को दूर करने तथा आय और धन की असमानताओं को कम करने के लिए **मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं** (Basic Human Needs) की कूटनीति पर जोर देते हैं।

इस कूटनीति के अन्तर्गत मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं के प्रबन्ध के अतिरिक्त रोजगार के सुअवसरों, पिछड़े वर्गों के उत्थान तथा पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर बल देना और उचित कीमतों एवं दक्ष वितरण प्रणाली द्वारा आवश्यक वस्तुओं को गरीब वर्गों को जुटाना है।

हिक्स और स्ट्रीटन[1] मूलभूत आवश्यकताओं के लिए छः सामाजिक सूचकों पर विचार करते हैं–

मूल आवश्यकता	**सूचक**
(1) स्वास्थ्य	जन्म के समय जीवन की प्रत्याशा
(2) शिक्षा	प्राथमिक शिक्षा विद्यालयों में जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार दाखिले द्वारा साक्षरता की दर
(3) खाद्य	प्रति व्यक्ति कैलोरी आपूर्ति
(4) जल आपूर्ति	शिशु मृत्यु दर तथा पीने योग्य पानी तक कितने प्रतिशत जनसंख्या की पहुँच
(5) स्वच्छता	शिशु मृत्यु दर तथा स्वच्छता प्राप्त जनसंख्या का प्रतिशत
(6) आवास	कोई नहीं

इस प्रकार इस कूटनीति में आय वृद्धि के साथ-साथ, गरीबी बेरोजगारी, स्वास्थ्य व शिक्षा तथा वितरण विषमताओं को दूर करने के उद्देश्यों को यथोचित स्थान दिया गया है। अनेक अर्द्ध-विकसित देशों के हाल के अनुभवों व अध्ययनों की पृष्ठभूमि में इस कसौटी को न्यायसंगत ठहराया गया है।

फाई, रैनिस तथा **स्टूअर्ट**[2] ने नौ देशों का अध्ययन किया जिसके अनुसार उन्होंने पाया कि (अ) ताईवान, दक्षिण कोरिया तथा इण्डोनेशिया में मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ औसत से अधिक आर्थिक विकास हुआ है। (ब) ब्राजील ने मात्र न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा किया तथा औसत में अधिक विकास किया। (स) सोमानी, क्यूबा, मिस्र तथा श्रीलंका ने मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत अच्छी तरह से की लेकिन आर्थिक विकास औसत से कम था। (द) केवल एक देश मालदीव ने मात्र न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं के प्रावधन के साथ औसत से कम आर्थिक विकास प्राप्त किया।

1. Normal L. Hicks and Paul P. Streeten, *'Indicators of Development: The Search for a Basic Needs Yardstick', World Development,* Vol. 7,1979.
2. C. H. Fei, G. Ranis and F. Stewart *Basic Needs : A Framework for Analysis,* 1979.

नोट

उपर्युक्त अध्ययन के अनुसार **फाई, रैनिस तथा स्टुअर्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्थिक विकास और मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति के बीच कोई विवाद नहीं है अर्थात् विकासशील देशों की आर्थिक विकास की दर मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति द्वारा बढ़ी है।**

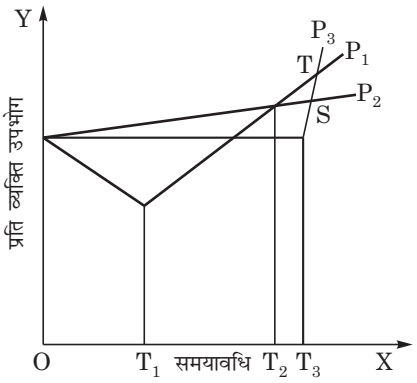

चित्र 6.1

हम रेखाचित्र 6.1 की सहायता से भी यह स्पष्ट कर सकते हैं कि मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति, कुल राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय व आर्थिक कल्याण के मापदण्ड से श्रेष्ठ है। चित्र में (*i*) OX-अक्ष पर समयावधि और OY-अक्ष पर प्रति व्यक्ति उपभोग (विकास दर) को दर्शाया गया है। (*ii*) P_1, P_2, P_3 तीन विकास पथ हैं। P_1 पथ का सम्बन्ध कुल राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय की कूटनीति से है। इस पथ में शुरू में गरीबी में प्रति व्यक्ति उपभोग समय T_1 तक घटता है क्योंकि तेजी से औद्योगीकरण से गरीबी, बेरोजगारी, असमानता बढ़ती है परन्तु जब प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के लाभ गरीबी तक 'रिस कर' पहुँचते हैं तो उनके रोजगार तथा आय में वृद्धि होती है और समय T_1 के बाद **प्रति व्यक्ति उपभोग** में भी वृद्धि होनीं शुरू हो जाती है।

(*iii*) पथ P_2 का सम्बन्ध **आर्थिक कल्याण** की धारणा से है जो गरीबों में प्रति व्यक्ति उपभोग की धीमी वृद्धि को दर्शाता है। यह पथ समय T_2 से पथा P_1 से पीछे रहता है।

(*iv*) **पथ** P_3 **मूलभूत आवश्यकताओं** की कूटनीति से सम्बन्धित है जिसमें शुरू में गरीबों में उपभोग के मूलभूत न्यूनतम वेतनमान स्तर को प्राप्त करने को उच्च प्राथमिकता दी जाती है जो समय T_3 तक आर्थिक कल्याण तथा प्रति व्यक्ति आय के उपभोग स्तरों से कम रहता है परन्तु दीर्घकाल में जब गरीबों की मूलभूत आवश्यकता के पूरा होने के कारण उनकी उत्पादकता तथा आय के स्तरों में वृद्धि हो जाती है तो समय T_3 से आगे आर्थिक विकास तीव्र गति से होने लगता है।

(*v*) इस प्रकार P_3 पहले पथ P_2 को R बिन्दु पर पीछे छोड़ देता है तथा बाद में S बिन्दु पर पथ P_1 से ऊपर चला जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति या मापदण्ड कुल राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय व आर्थिक कल्याण की आर्थिक विकास की कूटनीति से श्रेष्ठ है।**

(*vi*) **भौतिक जीवन-कोटि निर्देशांक** (Physical Quality of Life Index, PQLI)–कुछ विद्वानों के अनुसार भौतिक जीवन-कोटि में सुधार आर्थिक विकास का संकेतक माना है। **मारिश डी मारिश** ने एक वर्ष पर जीवन प्रत्याशा, बाल मृत्यु दर (Infant Mortality) तथा साक्षरता तीनों को मिलाकर समन्वित निर्देशांक निर्मित किया जिसे उन्होंने जीवन की भौतिक गुणवत्ता निर्देशांक (Physical Quality of Life Index, PQLI) कहा।

इस कूटनीति या संकेतक से बहुत-सू सूचकों, जैसे–स्वास्थ्य, शिक्षा, पेय जल, पोषण तथा स्वच्छता आदि का पता चला है। प्रत्येक सूचक के तीनों घटकों को शून्य से 100 तक के पैमाने पर रखा गया है जिसमें शून्य को निम्नतम तथा 100 को सर्वोत्तम प्रदर्शन के रूप में परिभाषित किया गया है। PQLI सूचक की गणना तीनों घटकों को समान भार (Weight) देते हुए औसत निकालकर की जाती है तथा सूचक को भी शून्य से 100 के पैमाने पर रखा गया है।

इस निर्देशांक के आधार पर देश में विकास के होने या न होने का पता चलता है। यदि जीवन-निर्देशांक में स्थायी तौर से वृद्धि होती है जो कि तभी सम्भव है, जबकि देश में कुल राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण और उपयोग इस ढंग से हो कि अधिकाधिक लोग लाभ उठा सकें और फलस्वरूप शिशु मृत्यु-दर घटे तथा प्रत्याशित आयु और साक्षरता बढ़े तो यह इस बात का सूचक होगा कि देश में आर्थिक विकास हो रहा है।

अपने अध्ययन में मैरिस ने यह पाया कि प्रति व्यक्ति आय व PQLI के बीच कोई स्वत: तालमेल नहीं होता। उन्होंने

नोट

पाया कि यद्यपि श्रीलंका का PQLI भारत से कहीं अधिक था, जबकि इसकी औसत प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि दर लगभग भारत के बराबर थी। इस प्रकार अमेरिका तथा इटली दोनों ही विकसित देशों का PQLI काफी ऊँचा था परन्तु इटली की प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर अमेरिका से लगभग दुगुनी थी। अत: उनका मत था कि राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय नहीं बल्कि PQLI ही आर्थिक विकास का एक उचित मापदण्ड है।

सीमाएँ (Limitations)

अनेक अर्थशास्त्री इस मापदण्ड की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ करते हैं:

(*i*) PQLI मूल आवश्यकताओं को केवल एक सीमा तक ही माप सकता है।

(*ii*) यह मापदण्ड सामाजिक और आर्थिक संगठन के बदले हुए ढाँचे को भी नहीं प्रदर्शित करता है। अत: यह आर्थिक विकास को नहीं मापता।

(*iii*) इसके अन्तर्गत केवल तीन सूचकों को ही लिया गया है और अनेक सूचकों को छोड़ दिया गया है जो जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं।

(*iv*) PQLI कुल कल्याण को भी नहीं मापता है।

उपर्युक्त सीमाओं के होते हुए भी PQLI जीवन की गुणवत्ताओं को मापता है जो गरीबों के लिए बहुत आवश्यक है। साथ ही यह अल्पविकास के उन विशेष क्षेत्रों का पता लगाने तथा सामाजिक नीतियों की असफलता तथा उपेक्षा के शिकार समाज के विभिन्न वर्गों की जानकारी प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। यह उस सूचक की और संकेत करता है जहाँ तत्काल हस्तक्षेप व कार्यवाहियों की आवश्यकता होती है। सरकार ऐसी नीतियाँ अपना सकती है। जिससे PQLI में भी शीघ्र वृद्धि हो तथा आर्थिक विकास भी त्वरित हो।

(*ii*) **क्रयशक्ति समता सूचकांक** (Purchasing Power Parity Index)–आर्थिक विकास के मापदण्ड के रूप में क्रयशक्ति समता सूचकांक का भी उपयोग किया जाता है। इस सूचकांक का सर्वप्रथम उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने किया था। आजकल विभिन्न देशों के रहन-सहन की तुलना के लिए विश्व बैंक द्वारा इस सूचकांक का उपयोग किया जा रहा है।

क्रयशक्ति समता विधि के अन्तर्गत किसी देश की सकल राष्ट्रीय आय को किसी पूर्ण निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय विदेशी विनिमय दर पर न व्यक्त करके, उस देश के भीतर मुद्रा की क्रयशक्ति के आधार पर व्यक्त किया जाता है और विभिन्न देशों के रहन-सहन के स्तर के माप व तुलना के लिए क्रयशक्ति समता स्थापित की जाती है।

क्रयशक्ति समता स्थापित करने की विधि को हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। मान लीजिए, X तथा Y दो देश हैं जिनका अपनी मुद्रा में प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद क्रमश: 30 हजार व 35 हजार है। चूँकि दोनों देशों में अलग-अलग मुद्राओं का प्रचलन है। अत: इनकी तुलना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि इन्हें किसी एक मुद्रा या एक इकाई में बदल नहीं दिया जाता। ऐसा करने के लिए एक सरल तरीका यह होगा कि दोनों देशों की प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पाद को किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जैसे डालर में बदल दिया जाये। मान लीजिए कि दोनों देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में निर्धारित विनिमय दर 1 $ = 50 है। ऐसी स्थिति में X देश की प्रति व्यक्ति आय 600 डालर तथा Y देश की प्रति व्यक्ति आय 700 डालर होगी। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चूँकि Y देश में प्रति व्यक्ति की आय अधिक है। इसलिए वहाँ के निवासियों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा है।

परन्तु उपर्युक्त निष्कर्ष जिसमें डालर के रूप में प्रति व्यक्ति आय के आधार पर व्यक्तियों का रहन-सहन या उपभोग का स्तर मापा गया है, यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ के निवासियों के जीवन स्तर का सही चित्र प्रस्तुत करें क्योंकि हो सकता है, दोनों देशों में मुद्रा (डालर) की क्रयशक्ति अलग हो जिससे उनकी वास्तविक आय पृथक्-पृथक् होगी। वस्तुत: रहन-सहन का स्तर **वास्तविक आय** पर निर्भर करता है और यदि दोनों देशों में डालर की क्रयशक्ति समान नहीं है तो डालर के रूप में व्यक्त की गयी प्रति व्यक्ति आय भ्रामक निष्कर्ष दे सकती है। उदाहरण के लिए, यदि X देश में एक डालर की क्रयशक्ति 20 वस्तुओं व सेवाओं की इकाई है और Y देश में 10 वस्तुओं व सेवाओं की इकाई है तो वास्तविक रूप में परिवर्तित करने पर X देश की प्रति व्यक्ति आय 12,000 वस्तुएँ व सेवाएँ तथा Y

नोट

देश की प्रति व्यक्ति आय 7,000 वस्तुएँ व सेवाएँ होंगी। इस आधार पर सही निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि X देश में उपभोग का स्तर Y देश के उपभोग के स्तर से ऊँचा है। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने क्रयशक्ति समता सूचकांक (Purchasing Power Parity Index) तैयार किया जिसके आधार पर क्रयशक्ति समता के रूप में विभिन्न देशों की प्रति व्यक्ति आय को विश्व बैंक व्यक्त करता है। क्रयशक्ति समता के आधार पर भारत की प्रति व्यक्ति आय 1998 में 1,700 डालर थी और इस आधार पर भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की चौथी बड़ी अर्थव्यवस्था है परन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री क्रयशक्ति समता सूचकांक को आर्थिक विकास की मापन की एक अच्छी विधि नहीं मानते हैं।

(*iii*) **मानव विकास सूचकांक** (Human Development Index, HDI)–सयुंक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United Nations Deveopment Programme, UNDP) के साथ जुटे हुए अर्थशास्त्री महबूबल हक ने विकास के एक सर्वमान्य सूचकांक को विकसित करने की दिशा में सबसे पहले प्रयास शुरू किया। उनके कहने पर नोबल पुरस्कार से सम्मानित प्रो. ए. के. सेन तथा प्रो. सिंगर हंस के नेतृत्व में अर्थशास्त्रियों के एक समूह ने मानव विकास सूचकांक (HDI) विकसित किया। HDI की पूरी धारणा इस मान्यता पर आधारित है कि "किसी राष्ट्र में रहने वाले लोग ही उस राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति है।" आर्थिक विकास का मूल उद्देश्य एक ऐसा वातावरण तैयार करना है जिससे लोग लम्बे, स्वस्थ तथा सृजनात्मक जीवन का आनन्द उठा सकें।

मानव विकास प्रतिवेदन के अनुसार "मानव विकास लोगों की पसन्दगियों के विस्तृत करने की एक प्रक्रिया है।" ये पसन्दगियाँ अनेक हो सकती हैं और इन पसन्दगियों में समय के साथ परिवर्तन हो सकता है, पर विकास के प्रत्येक स्तर पर तीन आवश्यक पसन्दगियाँ हैं और ये हैं–लम्बी और स्वस्थ जिन्दगी जीने की इच्छा, ज्ञान प्राप्त कने की अभिलाषा और एक खूबसूरत जिन्दगी व्यतीत करने के लिए आवश्यक संसाधनों तक पहुँचने की इच्छा। यदि ये तीनों पसन्दगियाँ उपलब्ध नहीं है तो व्यक्ति को अनेक अवसरों से वंचित होना पड़ेगा। अत: व्यक्ति को एक खूबसूरत जिन्दगी व्यतीत करने के लिए (अ) आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए आय, (ब) शिक्षा तथा (स) स्वास्थ्य आवश्यक है। इस प्रकार HDI तीन आधारभूत पहलुओं में उपलब्धियों का एक मिश्रित सूचक है–एक लम्बा व स्वस्थ जीवन, शिक्षा या ज्ञान तथा उत्कृष्ट जीवन स्तर।

मानव विकास सूचकांक का निर्माण (Construction of HDI)

किसी देश के HDI का मूल्य निकालने के लिए तीन सूचकों को लिया जाता है :

(1) दीर्घायु जिसे जन्म के समय जीवन की सम्भाव्यता द्वारा मापा जाता है–25 वर्ष तथा 85 वर्ष।

(2) शैक्षिक योग्यताओं की प्राप्ति जिसे वयस्क शिक्षा (दो-तिहाई भार) तथा प्राथमिक, माध्यमिक व क्षेत्रीय विद्यालयों मे उपस्थित अनुपातों (एक-तिहाई भार) के मिश्रण अनुपात–0% से 100%।

(3) जीवन स्तर जिसे डालर की क्रयशक्ति समता (Purchasing Power Parity) पर आधारित वास्तविक प्रति व्यक्ति GDP द्वारा मापा जाता है।

HDI जीवन की सम्भाव्यता सूचक, शैक्षिक प्राप्तियाँ सूचक तथा समायोजित वास्तविक प्रति व्यक्ति GDP सूचक का सरल औसत सूचक है।[1] इसकी गणना इन तीन संकेतकों के योग को 3 से विभाजित कर निकाली जाती है। इसमें प्रत्येक चर का न्यूनतम तथा अधिकतम मूल्य स्थिर है जिसे घटाकर शून्य (0) तथा एक (1) के बीच पैमाने पर रखा गया है तथा प्रत्येक देश इस पैमाने के किसी न किसी बिन्दु पर आता है। ऐसे देश जिनका HDI मूल्य 0.5 से कम है, उन्हें निम्न स्तर के मानव विकास क्रम में रखा जाता है तथा 0.5 से 0.8 मूल्य वाले देशों को मध्यम तथा 0.8 से ऊपर HDI मूल्य वाले देश उच्च स्तर में गिने जाते हैं। HDI में देशों को उनके प्रति व्यक्ति GDP के आधार पर भी क्रमबद्ध किया जाता है।

(*iv*) **अन्य निर्देशांक** (Other Index)–**विश्व आर्थिक मंच** (World Economic Forum) ने भी आर्थिक विकास के मापक निर्देशांक सुझाए हैं जिसमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(अ) प्रौद्योगिकी निर्देशांक (Technology Index)–यह निर्देशांक किसी देश में प्रौद्योगिकी के स्तर का मापन करना है। इसके अन्तर्गत विदेश से प्रौद्योगिकी का आयात और नवोन्मेष (Innovation) में देशों की भागीदारी

1. HDI is a simple average of life expectancy index, educational attainment index and the adjusted real GDP per capita index.

नोट

को भी सम्मिलित किया जाता है। जिस देश का प्रौद्योगिकी निर्देशांक क्रम निर्धारण में जितना ही कम होता है, उसे उतना ही अधिक विकसित माना जाता है, उदाहरण के लिए, विश्व आर्थिक मंच (World Economic Forum) द्वारा सर्वेक्षित कुल 59 देशों में अमेरिका का प्रौद्योगिकी निर्देशांक 1 था और भारत का 38 था।

(ब) स्टार्ट-अप-निर्देशांक (Start-up Index)–यह करोबार को शुरू करने की अनुकूल स्थितियों का मापन करती है। जिस देश का स्टार्ट-अप निर्देशांक जितना ही कम होगा, उस देश में उद्योग शुरू करने की स्थितियाँ उतनी ही अनुकूल होंगी।

(स) आर्थिक सृजनात्मक निर्देशांक (Economic Creativity Index)–यह निर्देशांक **प्रौद्योगिकी निर्देशांक और स्टार्ट-अप निर्देशांक** दोनों की सूचना एक साथ देता है। यह निर्देशांक हमें यह बताता है कि किसी देश में प्रौद्योगिकी के स्तर और नवोन्मेष की क्या स्थिति है और देशों में व्यवसाय शुरू करने की स्थितियाँ कहाँ तक अनुकूल हैं। यह निर्देशांक क्रम निर्धारण में जितना ही कम होगा, वह देश उतना ही अधिक विकसित होगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. **रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**
   1. विकास की माप के अनुसार गरीबी, बेरोजगारी और आय ..... की समस्याओं को गौण महत्त्व दिया है।
   2. आय तथा धन की असमानताओं को दूर करने के लिए मूलभूत ..... आवश्यकताओं पर जोर देते हैं।
   3. ..... ने मात्र न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा किया तथा औसत से अधिक विकास किया।
   4. विकासशील देशों की ..... की दर मूलभूत आवश्यकताओं द्वारा बढ़ी है।
   5. ..... तीन आधारभूत पहलुओं में उपलब्धियों का एक मिश्रित सूचक है।

6.2 जनांकिकी एवं अर्थशास्त्र (Demography and Economics)

जनांकिकी का अर्थशास्त्र से घनिष्ठतम् सम्बन्ध माना जाता है। अर्थ मानव के सारे कार्यकलापों की धुरी है तथा अर्थशास्त्र मानव के आर्थिक पहलुओं अर्थात् आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। विभिन्न आर्थिक चरों (टंतपंइसमे) के परिवर्तन जनांकिकीय चरों व घटकों को प्रभावित करते हैं तथा जनांकिकीय घटक किसी देश के निवासियों की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इस तरह जनसंख्या विकास तथा आर्थिक विकास दोनों ही एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। जनसंख्या वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय कम होती है तथा रहन-सहन का स्तर गिरता है। इसी तरह आर्थिक उत्थान से जन्म-दर गिरती है, मृत्यु-दर गिरती है, प्रवास रुकता है और बेरोजगारी तथा भूख की समस्या का समाधान होता है। इस तरह जनांकिकी एवं आर्थिक चर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

जनसंख्या तथा आर्थिक विकास के मध्य दोहरा सम्बन्ध पाया जाता है। जनसंख्या जहां आर्थिक विकास के लिए आवश्यक तत्व है वहीं दूसरी और एक दायित्व भी है। जब जनसंख्या अधिक होती है तो सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाएं बढ़ जाती हैं। जनसंख्या वृद्धि से बेरोजगारी, प्रतिव्यक्ति आय, आवास शिक्षा, यातायात, खाद्यान्नपूर्ति, मूल्यस्तर में वृद्धि, बचतों, औद्योगिक स्तर तथा स्वास्थ्य आदि की समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। जनसंख्या के कुछ सकारात्मक पहलू भी हैं। जनसंख्या राष्ट्र को श्रमशक्ति उपलब्ध कराती है तथा वस्तुओं के लिए बाजार का विस्तार करती है करती है। जनसंख्या वृद्धि से मांग उत्पन्न होती है मांग बढ़ने से उत्पादन बढ़ता है, इस तरह जनसंख्या बढ़ने से आर्थिक क्रियाओं में उन्नयन होता है। परन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में जहां पूँजी की कमी और तकनीक का स्तर निम्न है वहां संसाधनों का पर्याप्त विदोहन नहीं होता। ऐसी दशा में यहां तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या आर्थिक विकास में प्रमुख बाधक है। इस तरह, विकसित देशों में जहां अधिक जनसंख्या, मंदी एवं अति उत्पादन से मुक्ति दिला सकती है वहीं पर विकासशील देशों के लिए अभिशाप भी है।

नोट

जनांकिकी एवं अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए **जे. जे. स्पेंगलर** ने कहा है, "सामान्यतया जनसंख्या परिवर्तन को मात्र समंकों में परिवर्तन मान लिया जाता है जबकि जनसंख्या के परिवर्तन का मात्र समंकों में परिवर्तन मान लिया जाता है जबकि जनसंख्या के परिवर्तन समस्त आर्थिक प्रणाली में परिवर्तन लाते हैं। अत: जनांकिकी चरों में आर्थिक चरों की परस्पर निर्भरता को ध्यान में रखना अनिवार्य है, यह भी आवश्यक है कि उन कारणों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि जो आर्थिक स्तरों में इस प्रकार परिवर्तन लाते है। कि उनसे जनांकिकीय घटकों में भी पर परिवर्तन आते हैं।"[1]

टास्क मानव विकास सूचकांक किसे कहते है?

6.3 जनांकिकीय विशिष्टताएँ (Demographic Features)

अल्पविकसित देश जनांकिकीय स्थिति और प्रवृत्तियों में बहुत भिन्न होते हैं। जनसंख्या के आकार, घनत्व आयु-सरंचना तथा वृद्धि की दर में विभिन्नता रहती है। परन्तु तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या एक सामान्य विशिष्टता प्रतीत होती है जिसके कारण कुल जनसंख्या में प्रतिवर्ष काफी संख्या बढ़ जाती है। अपनी प्रति व्यक्ति निम्न आय तथा पूँजी निर्माण की निम्न दरों से ऐसे देशों के लिए इस अतिरिक्त संख्या का भरण-पोषण कठिन हो जाता है। और जब सुधरी हुई तकनीक और पूँजी निर्माण के कारण उत्पादन बढ़ता है, तो उसे बढ़ी हुई जनसंख्या हड़प कर जाती है। परिणाम यह होता है कि जनसाधारण के जीवन-स्तर में कोई सुस्पष्ट सुधार नहीं होता। अल्पविकसित देशों की जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन नीचे किया जाता हैं:

(1) **जनसंख्या की वृद्धि दरें** (Growth rates of population)–विकसित देशों की अपेक्षा अल्पविकसित देशों में जनसंख्या की वृद्धि-दरें दुगुनी पाई जाती हैं जिससे इन देशों की जनसंख्या में विस्फोट पाया जाता है। World Development Report, 1989 के अनुसार, 1980-87 के बीच अल्पविकसित और विकसित देशों में जनसंख्या की वृद्धि दरों का अन्तर लगभग तीन गुणा था। उदाहरणार्थ, 1980-87 के दौरान भारत में यह 2.1 प्रतिशत, नेपाल में 2.7 प्रतिशत तथा पकिस्तान में 3.1 प्रतिशत थी जबकि फ्रांस में 0.5 प्रतिशत, जापान में 0.6 प्रतिशत तथा अमरीका में 1.0 प्रतिशत थी।

(2) **निम्न मृत्यु दरें एवं ऊँची जन्म दरें** (Low mortality and high fertility rates)–अल्पविकसित देशों में जनसंख्या की वृद्धि दरें द्वितीय महायुद्ध के बाद बढ़ीं जिसके मुख्य दो कारण है, मृत्यु दर में कमी आना तथा जन्म दर में वृद्धि होना। उदाहरणार्थ, भारत में 1965 में मृत्यु दर 21 प्रति हजार थी जबकि 1987 में मृत्यु दर सिर्फ 11 प्रति हजार प्रति वर्ष रह गई। पाकिस्तान में मृत्यु दर 1965 में 21 प्रति हजार से कम होकर 1987 मे 12 प्रति हजार प्रति वर्ष रह गई। भारत में 1965 में जन्म दर 45 प्रति हजार प्रति वर्ष जबकि 1987 में 32 प्रति वर्ष रही। लेकिन पाकिस्तान में जन्मदर इसी अवधि में 47 से 48 प्रति हजार प्रति वर्ष हुई। इस प्रकार कई देशों में जन्म दर कम हो रही है और कुछ देशों में कम नहीं हो रही है। जबकि मृत्यु दर कम हो रही हैं। मृत्यु दर में कमी होने का कारण उत्तम औषधियाँ एवं लोक स्वास्थ्य कार्यक्रमों का लागू होना है। मृत्यु दर के जन्म दर की अपेक्षा बहुत कम होने से अल्पविकसित देश में प्रसवन दर ऊँची है।

(3) **छोटी आयु वर्ग की अधिक प्रतिशतता** (Larger Proportion in younger age group)–ऊँचे जन्मानुपात का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि जनसंख्या का अपेक्षाकृत अधिक अनुपात छोटी आयु के वर्गों में होता है। अल्पविकसित देशों में 15 वर्ष की आयु से कम जनसंख्या की प्रतिशतता लगभग 40 है, जबकि विकसित देशों की जनसंख्या का 20 से 25% भाग 15 वर्ष से नीचे की आयु का है। जनसंख्या में बच्चों की बढ़ी हुई प्रतिशतता से अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ पड़ता है क्योंकि इसका अर्थ हैं ऐसे आश्रितों की बड़ी संख्या जो उत्पादन तो बिल्कुल नहीं करते पर उपभोग आवश्यक करते हैं। अनेक आश्रितों का भरण-पोषण करने से कार्यशील व्यक्तियों के लिए

नोट

यह कठिन हो जाता है कि पूँजी पदार्थों में निवेश के लिए कुछ बचा सकें। उनके लिए अपने बच्चों की शिक्षा और जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं का ही प्रबंध करना एक समस्या रहती हैं, जोकि देश की दीर्घकालीन आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है।

(4) **संभावित जीवन-काल** (Life expectancy)—अल्पविकसित देशों की अपेक्षा विकसित देशों में साधारण नागरिक की औसत आयु अधिक है। भारत में साधारण नागरिक की आयु 57 वर्ष, कीनिया और पाकिस्तान में 52 वर्ष है। दूसरी तरफ विकसित देशों जैसे अमरीका में 72, जापान एवं फ्रांस में 75 वर्ष है। अल्पविकसित देशों में साधारण नागरिक की औसत आयु कम रहने का कारण निर्धनता जिसमें पौष्टिक आहार उपलब्ध न होना, पीने के लिए स्वच्छ जल की व्यवस्था न होना, गंदगी, अधिक बीमारियों का होना, आदि।

(5) **जनसंख्या का वितरण** (Distribution of population)—विश्व बैंक रिपोर्ट में सबसे निर्धन देश निम्न आय वर्ग में पाए जाते हैं जिनमें विश्व की कुल जनसंख्या का 56 प्रतिशत निवास करता है जबकि विकसित देश का सिर्फ 15 प्रतिशत है।

(6) **जनसंख्या का घनत्व** (Density of population)—अल्पविकसित देशों में विकसित देशों की अपेक्षा जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक पाया जाता है जिससे इनमें भूमि पर जनंसख्या के बढ़ते हुए दबाव का पता चलता है। भारत में जनसंख्या का घनत्व 267 प्रति वर्ग किलोमीटर, श्रीलंका में 110 जबकि औद्योगिक देशों जैसे इंग्लैंड में 230, जापान में 324 प्रति वर्ग किलोमीटर है, अमरीका में 21 और रूस में सिर्फ 12 प्रति वर्ग किलोमीटर है। वास्तव में, घनत्व का अधिक या कम होना विकास और पिछड़ेपन का द्योतक नहीं है। स्थिति यह है कि विकासशील देशों में भूमि-श्रम का अनुपात कम है जिस कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव अधिक है। इंग्लैंड में घनत्व अधिक होते हुए भी भूमि पर जनसंख्या के दबाव का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह औद्योगिक देश है।

(7) **शहरीकरण** (Urbanization)—अल्पविकसित देशों में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण लोग गाँव से शहरों की तरफ आने लगे हैं। क्योंकि शहरों में ज्यादा उद्योग लगे हुए हैं और जीवन की सभी सुविधाएँ हैं। इन देशों के शहरों में भीड़ अधिक दिखाई पड़ती है। ज्यादा सड़क वाहनों के कारण पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है। औद्योगिक घरानों द्वारा गंदगी को शहरों में बिखारने से भी पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है जिससे इन देशों में साधारण नागरिक विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त है। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए **कीनलेसाइड** कहते हैं कि, "बम्ब की तुलना में गर्भाशय अधिक मन्दगामी है, परन्तु उतना ही भयंकर सिद्ध हो सकता है। भस्मीकरण की बजाए श्वासघुटन मानव कथा का अन्त कर सकता है।"

7. सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक विशेषताएँ (Cultural and Administrative Characteristics)

अल्पविकसित देशों की अपनी संस्कृति भी उनकी अपनी विशेषताओं की द्योतक है और साथ-साथ प्रशासनिक ढाँचा अयोग्य और भ्रष्ट होने के कारण भी यह देश विश्व के अन्य देशों से पिछड़ें हुए हैं।

(1) **संयुक्त परिवार प्रणाली** (Joint family system)—संयुक्त परिवार प्रणाली तथा जाति प्रथा के कारण श्रम की व्यावसायिक अगतिशीलता रहती है। श्रम की पूर्ति का निर्णय करने में मजदूरी की दरों की अपेक्षा कुछ सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक कारण अधिक प्रबल होते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली लोगों को सुस्त और घर-घुसे बना देती है। बहुत सारे अल्पविकसित देशों में कुछ व्यवसाय किसी विशेष जाति, धर्म, नसल, कबीले या सैक्स के व्यक्तियों के लिए आरक्षित होते हैं। लेटिन अमरीका में कपड़ा बनाना एकमात्र स्त्रियों के अधिकार-क्षेत्र में पड़ता है। डॉ. स्टीफन एन्के के अनुसार अल्पविकसित देशों की 'एक गैर-आर्थिक संस्कृति' होती है। "प्रमुख रूप से इसका मतलब यह है कि परंपरागत वृत्तियाँ मानवीय साधनों के पूर्ण उपयोग को हतोत्साहित करती हैं, और भी स्पष्ट रूप से इसका मतलब यह है कि अतिरिक्त उपभोग के लिए लोगों के प्रयत्न करने की कम संभावना है।" अल्पविकसित देशों में अधिकांश लोग निरक्षर, ज्ञानशून्य, दकियानूस, वहमी और भाग्यवादी होते हैं। ऐसे देश में अथाह दरिद्रता होती है, परन्तु उसे ईश्वर प्रदत्त अथवा भाग्य में लिखी समझा जाता है। बचत और उद्यम के व्यक्तिगत अभाव से इसका संबंध कभी नहीं बताया जाता।

(2) **प्रशासनिक** (Administrative)—लगभग सभी अल्पविकसित देश अस्थिरता से घिरे हुए हैं। अधि

नोट

कतर देश प्रजातान्त्रिक देश हैं। देश की सत्ता पर एक वर्ग, जाति या पार्टी का प्रभुत्व रहता है जिनका अपना निजी स्वार्थ रहता है। प्राय: प्रशासन धनी वर्ग के हाथों केन्द्रित रहता है, जिससे राजनैतिक नेता एवं सरकारी अधिकारी का दुरूपयोग करते हैं। इसी कारण अधिकांश अल्पविकसित देश अयोग्य और भ्रष्ट प्रशासन के कारण विकास नहीं कर पाए हैं।

(3) **अन्य सामाजिक विशेषताएँ** (Other social characteristics)–बाल-श्रम का व्यापक प्रचलन होता है और समाज में स्त्रियों का दर्जा और स्थिति पुरुषों से निम्न होती है। श्रम-गौरव का प्रत्यक्ष अभाव रहता है। शारीरिक काम की अपेक्षा सरकारी नौकरियों का सम्मान अधिक होता है, चाहे वे क्लर्क प्रकृति की ही क्यों न हों। लोगों को एक विशेष कार्य कर सकने की क्षमता के अनुसार नहीं बल्कि आयु, सैक्स, जाति, फिरके और रिश्तेदारी के अनुसार श्रेणीबद्ध किया जाता है। वे रीति-रिवाजों और परंपराओं से शासित होते है। वस्तुविनिमय द्वारा लेन-देन अधिक होता है और मुद्रा-अर्थव्यवस्था बड़ी मुश्किल से समझ पड़ती है। "मूल्य-प्रणाली आर्थिक प्रोत्साहनों, भौतिक पुरस्कारों, स्वतन्त्रता तथा विचारशील गणना के महत्त्व को न्यूनतम बनाती है। यह विकास तथा नए विचारों और उद्देश्यों की स्वीकृति में बाधा पहुचाती है और उद्देश्यों की प्राप्ति के वैकल्पिक तरीकों के लाभों और लगतों की तुलना करने में असफल रहती है। संक्षेप में, बहुत सारे गरीब देशों में सांस्कृतिक मूल्य-प्रणाली आर्थिक प्राप्ति के अनुकूल नहीं होती और लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े रहते हैं।"

8. **आर्थिक नीतियाँ** (Economic Policies)

अल्पविकसित देशों की अप्रभावशील आर्थिक नीतियाँ भी इनके पिछड़ेपन का कारण रही हैं। ऐसी अर्थव्यवस्थाओं में अधिकतर लोग गावों में रहते हैं जहाँ बैंकिंग प्रणाली की सुविधाओं का अभाव बना रहता है। लोग वस्तु-विनिमय प्रणाली में ज्यादा विश्वास रखते हैं। गाँव के साहुकार एवं महाजन साख की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं जोकि ऋण देने के बदले अधिक ब्याज लेते हैं। लोग ऋण उत्पादकीय कार्यों में न लगाकर समाजिक रिती रिवाजों पर अधिक खर्च करते हैं।

इन अर्थव्यवस्थाओं में केन्द्रीय बैंक को अपने कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए समय-समय पर अपनी नीतियों को बदलना पड़ता है, क्योंकि देश के मद्रा बाजार का अविकसित होने के कारण ब्याज की दरों में भी अन्तर रहता है। लोग निरक्षर होने के कारण बैंकिंग सेवाओं का उपयोग कम करते हैं। इसकी बजाए सोना, चांदी, जमीनों के खरीदने की अधिक प्रवृत्ति प्रबल रहती है।

दूसरी तरफ, **कर नीति** में असमानता पाई जाती है। ज्यादा कर का भार शहरी लोगों पर रहता है, जबकि ग्रामीण लोगों पर सिर्फ भूमि-कर का ही भार होता है। वित्तीय साधनों की कमी होने के कारण राजकोषीय नीति सफल नहीं रहती।

9. **तकनीकी विशेषताएँ** (Technical Characteristics)

अल्पविकसित देशों की तकनीकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **प्रति एकड़ कम उपज** (Low per acre production)–अल्पविकसित देशों में दो तिहाई या उससे भी अधिक लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं और कृषि प्रमुख व्यवसाय है। उदाहरणार्थ, भारत, चीन, बंगलादेश तथा सूडान में 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि के क्षेत्र में कार्यरत है। उत्पादन के पुराने तरीकों के कारण अल्पविकसित देशों में प्रति एकड़ उपज कम है। विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 100 कि.ग्रा. प्रति हेक्टर गेहूँ का उत्पादन विश्व के गेहूँ उत्पादन का 18 प्रतिशत है जबकि अमरीका में 24 प्रतिशत है।

(2) **उत्पादन के पुराने ढंग** (Old methods of production)–अल्पविकसित देशों में कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन कम रहने का कारण उत्पादन की पुरानी तकनीकें हैं जिसके कारण विशेषत: कृषि क्षेत्र के पैदावार अनिश्चित रूप से कम रहती है और किसान केवल गूजारे के स्तर पर जीवित रहता है। इन देशों का प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन इन बातों में झलकता है: प्रथम, निम्न मुद्रा-मजदूरी के बावजूद उत्पादन की ऊँची औसत लागत में; द्वितीय, श्रम एवं पूँजी की निम्न उत्पादकता; तृतीय, अकुशल एवं अप्रशिक्षित श्रमिक।

नोट

यह प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन प्रौद्योगिकीय द्वैतवाद के कारण भी होता है जिसका अभिप्राय यह है कि अल्पविकसित देशों में उन्नत और पिछड़ी हुई तकनीकों का साथ-साथ प्रयोग लाना, औद्योगिक क्षेत्र में तो उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रयोग तथा ग्रामीण क्षेत्र में पिछड़ी हुई का। इसी कारण साधनों के अनुपात में असंतुलन पाया जाता है, जिससे औद्योगिक क्षेत्र में संरचनात्मक या प्रौद्योगिकीय बेरोजगारी और ग्रामीण क्षेत्र में छिपी हुई बेरोजगारी पाई जाती है।

(3) **यातायात एवं संचार के साधन** (Means of transport and communications)—अल्पविकसित देशों में यातायात एवं संचार के साधन अपर्याप्त होने के कारण इन देशों में साधनों का कुशलतम प्रयोग नहीं हो पाता, बाजार का आकार छोटा रहता है। व्यापार के प्रमुख केन्द्र बड़े-बड़े शहरों में स्थित होने के कारण ग्रामीण क्षेत्र प्रभावित रहता है। इन साधनों के अपर्याप्त विकास के कारण उत्पादन लागतें ऊँची रहती हैं। साथ-साथ देश में व्यापार का क्षेत्रीय असंतुलन बना रहता है। जबकि विकसित देशों की उन्नति का प्रमुख कारण विकसित परिवहन एवं संचार के साधन हैं।

(4) **अकुशलता** (Inefficiency)—अल्पविकसित देशों में आर्थिक पिछड़ापन निम्न श्रम-कुशलता, साधनों की अगतिशीलता, व्यवसाय तथा व्यापार में सीमित विशिष्टीकरण, उद्यम का प्रोत्साहित न होने में झलकता है जिसके कारण इन देशों में उत्पादन विकसित देशों की अपेक्षा कम रहता है।

10. **उद्यम तथा उपक्रम का अभाव** (Absence of Enterprise and Initiative)

अल्पविकसित देशों की एक और विशिष्टता है उद्यमीय योग्यता का अभाव। सामाजिक प्रणाली उद्यमता को रोकती है क्योंकि वह सृजनात्मक (Creative) क्षमता के अवसर नहीं देती। "प्रथा की शक्ति, सामाजिक स्थिति की कठोरता, नए विचारों तथा बौद्धिक जिज्ञासा के प्रयोग का अविश्वास—ये सब मिलकर प्रयोग तथा नवप्रवर्तन के विरोधी वातावरण का निर्माण करते हैं"। छोटे मार्केट, पूँजी की कमी, निजी सम्पत्ति का अभाव और ठेके की स्वतनत्रता तथा कानून और सुरक्षा का अभाव, उद्यम और उपक्रम को रोकते हैं। अधिकांश अल्पविकसित देशों में अकुशलता प्रशासनिक मशीनरी के कारण केवल निजि ही नहीं बल्कि सार्वजनिक उद्यम भी आगे नहीं आते।

ऐसे देशों में सौदागरों और व्यापारियों का एक छोटा-सा वर्ग होता है, जो उपभोक्ता-वस्तुओं का व्यापार करते हैं और ऋणदाता और जमीन-जायदाद बेचने वाले एजेन्ट होते हैं। थोड़ी बहुत जो भी उद्यमता होती है, वह एकाधिकारात्मक अथवा अर्द्ध-एकाधिकरात्मक बनने लगती है। उद्यमी सरकारी अधिकारियों से निजी तथा राजनैतिक संबंध स्थापित कर लेते हैं और विशेष स्थिति तथा वित्तीय, कराधान और अन्य मामलों में लाभ उठाते हैं।

हाँ, ऐसे देशों के आर्थिक विकास में विदेशी उद्यमियों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वे खनिज, बागान, परिवहन, व्यापार और उद्योग के विकास में आगे रहे हैं, परन्तु वे स्थानीय उद्यम के विकास में सहायक नहीं हुए। उनका लक्ष्य आर्थिक विकास कभी नहीं रहा। वे एकमात्र लाभ के ही उद्देश्य से प्रेरित रहे हैं। जितना भी विकास हुआ है, वह देश को अपने और साम्राज्यवादी सरकार के स्वार्थ के लिए रहा है। परन्तु 'उत्प्रवासी उद्यमियों' के कार्य का न्यूनानुमान नहीं किया जा सकता। मलेशिया, सिंगापुर और इण्डोनेशिया में प्रवासी चीनियों; बर्मा, इण्डोनेशिया, लंका, मलेशिया और पूर्वी अफ्रीका में भारतीय; और पश्चिमी द्वीपों में भारतीय तथा चीनियों का कार्य उन देशों की आर्थिक प्रगति लाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुशलता-निर्माण और पूँजी-निर्माण में इन्होंने प्रबल सहायता की है। इन्होंने स्थानीय लोगों में सहनशीलता उद्यम, कमखर्ची और श्रम-गौरव के गुणों का संचार किया है। हाल के वर्षों में एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देशों में राष्ट्रीयता की भावना के उदय होने से व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में स्थानीय उद्यम को प्रेरित करने में प्रवासी-उद्यम का कार्य अविश्वास और संदेह की दृष्टि से देखा जा रहा है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि अल्पविकसित देशों में गतिशीलता उद्यमता का अभाव है जिसे शूम्पीटर आर्थिक विकास की प्रक्रिया में केन्द्रीय बिन्दु मानता था।

11. **अपर्याप्त पूँजी पदार्थ** (Insufficient Capital Equipment)

पूँजी पदार्थ की अपर्याप्तता ऐसे देशों की एक और सामान्य विशेषता है। अल्पविकसित देशों को "पूँजी-दरिद्र" अथवा "न्यून बचत तथा न्यून निवेश" वाली अर्थव्यवस्था के रूप में वर्णित किया जाता है। वहाँ न केवल अत्यन्त

नोट

थोड़ा पूँजी स्टॉक ही होता हैं। बल्कि पुँजी के निर्माण की वर्तमान दर भी बहुत कम होती हैं। पूँजी के निर्माण की वर्तमान दर भी बहुत कम होती है। अधिकांश अल्पविकसित देशों में कुल निवेश कुल राष्ट्रीय आय का केवल 5 से 6% तक होता है, जबकि विकसित देशों में वह लगभग 15 से 20% तक होता है।

नई महत्त्वपूर्ण योजनाओं में निवेश का तो कहना ही क्या, बचत की इतनी निम्न दर तो तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या (2 से 2½%) की व्यवस्था करने के लिए भी काफी नहीं है। वास्तव में, इन देशों की पूँजी का मूल्यह्रास भी पूरा करने और वर्तमान पूँजी पदार्थ को स्थानापन्न करने में कठिनाई होती है।

पूँजी की कमी का मूल कारण है अल्प-बचत की समस्या, अथवा अधिक सही तौर पर आर्थिक वृद्धि की दर बढ़ाने वाले उत्पादक साधनों में अल्प निवेश की समस्या। क्योंकि प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होती है, इसलिए कठिनाई से निर्वाह करने वाले लोग अधिक बचत नहीं कर पाते, जिसका परिणाम यह होता है कि आगे निवेश के लिए बहुत कम बचता है।

ऐसे देशों में आयों के वितरण में अत्यधिक असमानताएं होती हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि पूँजी-निर्माण के लिए उपलब्ध बचतों की मात्रा अधिक है। वास्तव मे, आय स्तूप के शिखर के 3 से 5% तक लोगों के लिए ही अधिक बचतें संभव हैं। और फिर आय स्तूप की चोटी पर स्थित लोग व्यापारी तथा भूमिपति होते हैं। जिनकी ऐसी अनुत्पादक दिशाओं में निवेश की प्रवृत्ति होती है जैसे कि स्वर्ण, आभूषण, कीमती पत्थर, व्यर्थ भण्डार, सुखप्रद वास्तविक जागीर और विदेशी मुद्रा-मार्केट इत्यादि में।

इस बात के लिए, कि दीर्घकाल में आयों के बढ़े हुए स्तर के साथ बचत-अनुपात क्यों नहीं बढ़ता, नर्क्से ने एक और कारण की व्याख्या **प्रदर्शनकारी प्रभाव** के रूप में की है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने समृद्ध पड़ोसियों के जीवन-स्तर की नकल की प्रबल लालसा होती है। इसी प्रकार अल्पविकसित देशों के लोगों की भी उन्नत देशों की अपेक्षा ऊँचे उपभोग स्तरों के अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। प्रदर्शनकारी प्रभाव के परिणामस्वरूप आय-वृद्धि प्रमुख उपभोग के बढ़े हुए खर्च में लग जाती है और इस प्रकार बचतें लगभग स्थैतिक या नाममात्र रह जाती हैं। यह प्रदर्शनकारी प्रभाव प्राय: विदेशी फिल्मों, पत्रिकाओं और विदेश-भ्रमण के द्वारा लाया जाता है।

उन्नत देशों के उपभोग आदर्श की नकल की यह प्रवृत्ति केवल व्यक्तियों में ही नहीं बल्कि सरकारों में भी पाई जाती है। अल्पविकसित देशों की सरकारें विकसित देशों के सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों का अनुकरण करती हैं, जैसे कि न्यूनतम मजदूरी विधान, स्वास्थ्य बीमा, पेंशन और प्रोविडेंट फंड स्कीमें इत्यादि। परन्तु वे तरीके उद्यमियों के मार्ग में बाधाएं प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार पूँजी निर्माण रोक देते हैं। प्रो. हैबरलर लिखते हैं: "कोई आश्चर्य नहीं कि दरिद्र और पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाएं जब जागती हैं और जल्दी में विकास का निश्चय कर लेती हैं और अधिक विकसित व्यवस्थाओं तक पहुँच जाती हैं, तो अधिक व्यय करने को प्रेरित होती हैं और अपने साधनों से बढ़कर रहती हैं।" इसलिए अल्पविकसित देश चिरकालिक पूँजी-अभाव के रोग से ग्रस्त रहते हैं और इसके लिए जो कारण उत्तरदायी हैं, वे केवल आर्थिक ही नहीं बल्कि सामाजिक और राजनैतिक भी होते हैं।

12. **विदेशी व्यापार अनुस्थापन** (Foreign Trade Orientation)

अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाएं सामान्यतया विदेशी व्यापार-अनुस्थापित होती हैं। यह अनुस्थापन प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातों और उपभोक्ता-वस्तुओं तथा मशीनरी के आयातों में व्यक्त होता है। कुल उत्पादन से निर्यात उत्पादन का अनुपात, आमतौर पर अधिक, लगभग 20% होता है, उन देशों की विदेशी विनिमय कमाने के अधिकांश भाग के लिए एक या दो प्रमुख वस्तुएं ही उत्तरदायी होती हैं। उदाहरणार्थ, बैनजुएला अपने निर्यात के 92% के लिए तेल पर निर्भर है, कोलम्बिया 77% के लिए कॉफी पर; चिली 66% के लिए ताँबे पर, और होण्डुरास अपनी विदेशी कमाई के 51% के लिए केलों पर निर्भर है। निर्यातों पर इतनी अधिक निर्भरता का उन देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर गंभीर उलटा प्रभाव पड़ता है। विश्व बैंक के नवीनतम आँकड़ों के अनुसार अल्पविकसित राष्ट्र संसार के 80% साधनों, विशेषकर कच्चे माल का निर्यात करते हैं। इससे अल्पविकसित देश इन राष्ट्रों को उच्च कोटि के अधिक प्रोटीन वाले खाद्य पदार्थ लगातार निर्यात करते जा रहे हैं जिनका उपभोग वहाँ के लोग केवल स्वयं ही नहीं करते बल्कि

नोट

मुर्गी एवं पशुपालन में भी किया जाता है। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि कमजोर और दरिद्र लोगों को तो अच्छी प्रोटीनयुक्त खाद्य मिलती नहीं है जो उनके लिए अनिवार्य है जबकि उसका अत्यधिक उपभोग पहले से ही हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियों तथा पशु-पक्षियों द्वारा हो रहा है। इन राष्ट्रों की प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात पर निर्भरता इनकी अर्थव्यवस्थाओं पर निम्नलिखित कुप्रभाव डालती है:

एक, अपने अन्य क्षेत्रों की अपेक्षाकृत उपेक्षा करके अर्थव्यवस्था प्रमुख रूप से निर्यात के उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित करती है। **दूसरे,** निर्यात वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के उतार-चढ़ाव के प्रति अर्थव्यवस्था विशेष रूप से प्रभावित बन जाती है। विदेश में मन्दी से उसकी माँग और कीमतें गिर जाती हैं। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। **अन्तिम,** अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ण उपेक्षा में कुछ निर्यात वस्तुओं पर अत्याधिक अति-निर्भरता ने इन अर्थव्यवस्थाओं को बहुत ही आयात-निर्भर बना दिया है। आयातों में प्राय: निर्मित वस्तुएँ, कपड़ा उपभोक्ता वस्तुएँ और खाद्य पदार्थ भी होते हैं। इनके मिलकर प्रदर्शनकारी प्रभाव भी काम करता है जिससे और अधिक आयात करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है।

क्या आप जानते हैं अल्पविकसित देश की प्रबल आयात-आवश्यकताओं की तुलना में निर्बल निर्यात क्षमता उसकी बाह्य ऋणग्रस्तता में प्रकट होती है।

हाल में, अल्पविकसित देशों के व्यापार की आय-शर्तों में (आयात करने की क्षमता हों) दीर्घकालीन ह्रास हुआ है, जिससे उन्हें भुगतान-शेष की कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है।

विदेशी व्यापार-अनुस्थापन अपने को अल्पविकसित देशों के प्रति विदेशी पूँजी के प्रवाह के माध्यम से भी प्रकट करता है। यह निर्यात क्षेत्र का विकास और विस्तार करने में भी प्रबल कार्य करता है। यह उन सेवाओं का भी नियन्त्रण और प्रबंध करता है जो निर्यात क्षेत्र के आधीन होती हैं। इस तरीके से अल्पविकसित देशों में कुछ चुने हुए क्षेत्रों में विदेशी पूँजी अपनी स्थिति का एकाधिकार करने लगती है, जैसे कि खनिज पदार्थों, बागानों तथा पैट्रोलियम में। विकसित देशों से बहुराष्ट्रीय निगमों (MNCs) ने विनिर्माण (manufacturing), निर्यात-अनुस्थापित बागानों, पैट्रोलियम तथा खनन (mining) के क्षेत्रों में अल्पविकसित देशों में बहुत फैली हुई हैं। अल्पविकसित देशों में विदेशी पूँजी का इतना अधिक विस्तार और अधिकार उनके साधनों को निचोड़ लेता है क्योंकि शोषण द्वारा अधिकतम लाभ कमाना ही विदेशियों का मुख्य उद्देश्य है। इस तथ्य से अल्पविकसित देशों की ऋण-स्थिति तथा विदेशी विनिमय की समस्या अधिक गंभीर हो रही है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. **सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. मानव के आर्थिक पहलुओं का अध्ययन कराता है-
   (क) अर्थशास्त्र (ख) सूचक
   (ग) HDI (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. विश्व बैंक रिर्पोट में सबसे निर्धन देश पाये जाते हैं-
   (क) उच्च आय वर्ग में (ख) निम्न आय वर्ग में
   (ग) साधारण वर्ग में (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. आर्थिक प्रोत्साहनों, भौतिक पुरस्कारों, स्वातंत्रता तथा विचारशक्ति गणना के महत्त्व को न्यूनतम बनाती है-
   (क) विनिमय दर (ख) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
   (ग) मुद्रा प्रणाली (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

4. "पूँजी दरिद्र" अथवा न्यून बचत तथा न्यून निवेश "वाली अर्थव्यवस्था के रूप में वर्णित किया जाता है"–

(क) अल्पविकसित अर्थव्यवस्था (ख) विकसित अर्थव्यवस्था को

(ग) (क) और (ख) दोनों को (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. अल्पविकसित देशों में गतिशीलता उद्यमता का अभाव जिसे आर्थिक विकास की प्रक्रिया में केन्द्रिय बिन्दु माना था–

(क) प्रो. कुरिहारा ने (ख) शूम्पीटर ने

(ग) फाई–रैनिस ने (घ) इनमें से कोई नहीं।

6.4 सारांश (Summary)

- 1950 तथा 1960 के दशकों में GNP/GNP प्रति व्यक्ति को आर्थिक विकास का सूचक माना जाता रहा। 1960 के विकास दशक के लिए संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव द्वारा अल्पविकसित देशों के लिए GNP में 5 प्रतिशत की वृद्धि दर का लक्ष्य निश्चित किया। इस लक्षित दर को प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने शहरीकरण के साथ तीव्र औद्योगिकीकरण का सुझाव दिया। उनका यह मत था कि GNP की वृद्धि से प्राप्त लाभ अपने–आप रोजगार और आय सुअवसरों में वृद्धि के रूप में गरीबों तक **धीरे–धीरे** पहुंच जाएंगे। इस प्रकार, विकास के इस माप के अनुसार गरीबी, बेरोजगारी और आय असमानताओं की समस्याओं को गौण महत्त्व दिया गया।
- विकास कूटनीति के अपनाने से विकासशील देशों में 1950–75 के बीच ळछच प्रति व्यक्ति में 3.4 प्रतिशत प्रति वर्ष औसत दर से वृद्धि हुई। परन्तु यह वृद्धि दर ऐसे देशों की गरीबी, बेरोजगारी तथा असमानताओं की समस्याओं को सुलझाने में असफल रही।
- मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति या मापदण्ड कुल राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय व आर्थिक कल्याण की आर्थिक विकास की कूटनीति से श्रेष्ठ है।
- कुछ विद्वानों के अनुसार भौतिक जीवन–कोटि में सुधार आर्थिक विकास का संकेतक माना है। **मारिश डी मारिश** ने एक वर्ष पर जीवन प्रत्याशा, बाल मृत्यु दर (Infant Mortality) तथा साक्षरता तीनों को मिलाकर समन्वित निर्देशांक निर्मित किया जिसे उन्होंने जीवन की भौतिक गुणवत्ता निर्देशांक (Physical Quality of Life Index, PQLI) कहा।
- आर्थिक विकास के मापदण्ड के रूप में क्रयशक्ति समता सूचकांक का भी उपयोग किया जाता है। इस सूचकांक का सर्वप्रथम उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने किया था। आजकल विभिन्न देशों के रहन–सहन की तुलना के लिए विश्व बैंक द्वारा इस सूचकांक का उपयोग किया जा रहा है।
- सयुंक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United Nations Deveopment Programme, UNDP) के साथ जुटे हुए अर्थशास्त्री महबूबल हक ने विकास के एक सर्वमान्य सूचकांक को विकसित करने की दिशा में सबसे पहले प्रयास शुरू किया।
- जनांकिकी का अर्थशास्त्र से घनिष्ठतम् सम्बन्ध माना जाता है। अर्थ मानव के सारे कार्यकलापों की धुरी है तथा अर्थशास्त्र मानव के आर्थिक पहलुओं अर्थात् आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। विभिन्न आर्थिक चरों (Variables) के परिवर्तन जनांकिकीय चरों व घटकों को प्रभावित करते हैं तथा जनांकिकीय घटक किसी देश के निवासियों की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इस तरह जनसंख्या विकास तथा आर्थिक विकास दोनों ही एक–दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं तथा एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं।
- अल्पविकसित देश जनांकिकीय स्थिति और प्रवृत्तियों में बहुत भिन्न होते हैं। जनसंख्या के आकार, घनत्व आयु–सरंचना तथा वृद्धि की दर में विभिन्नता रहती है। परन्तु तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या एक सामान्य

नोट

विशिष्टता प्रतीत होती है जिसके कारण कुल जनसंख्या में प्रतिवर्ष काफी संख्या बढ़ जाती है। अपनी प्रति व्यक्ति निम्न आय तथा पूँजी निर्माण की निम्न दरों से ऐसे देशों के लिए इस अतिरिक्त संख्या का भरण-पोषण कठिन हो जाता है। और जब सुधरी हुई तकनीक और पूँजी निर्माण के कारण उत्पादन बढ़ता है, तो उसे बढ़ी हुई जनसंख्या हड़प कर जाती है। परिणाम यह होता है कि जनसाधारण के जीवन-स्तर में कोई सुस्पष्ट सुधार नहीं होता।

6.5 शब्दकोश (Keywords)

- **अनुस्थापन–** स्थापित करना, प्रतिपादन करना, प्रसवन जन्मदर
- **उत्प्रवासी–** अपना देश छोड़कर दूसरे देश में जाकर बस जाना

6.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आर्थिक विकास के कौन-कौन से सूचक हैं? समझाइए।
2. जनांकिकी एवं अर्थशास्त्र के संबंध पर प्रकाश डालिए।
3. अल्पविकसित देशों की जनांकिकीय व तकनीकी विशेषताओं का वर्णन करें।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखित-

(*i*) समाजिक सूचक (*ii*) PQLI

(*iii*) HDI (*iv*) क्रय शक्ति समता सूचक।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. असमानताओं 2. मानकीय 3. ब्राजील 4. आर्थिक विकास 5. HDI

2. 1. (क) 2. (ख) 3. (ग) 4. (क) 5. (ख)

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था–* रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन–* ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ–* वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–7: गरीबी : अवधारणा, कारण एवं सरकार की आर्थिक नीतियाँ (Poverty : Concept, Causes and Government policies)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 गरीबी की अवधारणा (Concept of Poverty)

7.2 भारत में गरीबी के कारण (Causes of Poverty in India)

7.3 भारत में गरीबी हटाने के लिए सुझाव (Suggestions of the Vicious Circle of Poverty)

7.4 गरीबी दूर करने के सरकारी प्रयास (Government Efforts of Remove Poverty)

7.5 विजन 2020 फॉर इंडिया (Vision 2020 For India)

7.6 सारांश (Summary)

7.7 शब्दकोश (Keywords)

7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- गरीबी की अवधारण, कारण तथा गरीबी को हटाने के लिए क्या सुझाव दिए गए हैं इसकी व्याख्या करने में।
- सरकार ने गरीबी हटाने के लिए क्या सुझाव दिया है इसे समझने में।
- विजन 2020 फॉर इंडिया को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

किसी अल्पविकसित देश की समस्याओं की जांच करने के लिए उसकी अर्थव्यवस्था की सामान्य रूपरेखा को समझ लेना अच्छा है। यद्यपि विश्व के मानचित्र पर एक एक प्रतिनिधि अल्पविकसित देश की स्थिति का निश्चय करना कठिन है फिर भी उसकी कुछ विशिष्टताओं पर विचार किया जा सकता है।

अल्पविकसित देश गरीबी का मारा होता है। उसकी गरीबी प्रति व्यक्ति आप में झलकती है 2004 की World Development Report के अनुसार 2002 में विश्व की 40.2 प्रतिशत निम्न आय वर्ग की जनसंख्या की औसत GNA प्रति व्यक्ति 785 डालर या उससे कम थी। दूसरी ओर उच्च आय वर्ग में रह रही विश्व की 15.6 प्रतिशत जनसंख्या की औसत GNA प्रति व्यक्ति 736 से 9,075 डालर के बीच थी। ये आंकड़े विकासशील देशों में गरीबी की सीमा को दर्शाते हैं।

नोट

7.1 गरीबी की अवधारणा (Concept of Poverty)

गरीबी या निर्धनता का अर्थ उस सामयिक क्रिया से है जिसमें समाज का एक भाग अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकता। जब समाज का एक बहुत बड़ा अंग–न्यूनतम जीवन–स्तर से वंचित रहता है और केवल निर्वाह–स्तर (Subsistence Level) पर गुजारा करता है तो यह कहा जाता है कि समाज में व्यापक निर्धनता या गरीबी (Mass Poverty) विद्यमान है।

निर्धनता या गरीबी शब्द का प्रयोग निम्नलिखित दो अर्थों में किया जाता है–

1. **सापेक्ष गरीबी** (Relative Poverty)–सापेक्ष गरीबी के सम्बन्ध में विभिन्न वर्गों या देशों के निर्वाह–स्तर की तुलना करके गरीबी का पता लगाया जा सकता है। जिस देश या वर्ग में लोगों का निर्वाह–स्तर नीचा होता है, वे उच्च निर्वाह–स्तर वाले लोगों की तुलना में गरीब माने जाते हैं। निर्वाह स्तर को आय या उपभोग–व्यय के रूप में मापा जाता है। इस दृष्टि से भारतीय बहुत गरीब ठहरते हैं। भारत में इस माप दण्ड को अपनाया जाना तर्कसंगत भी है क्योंकि यहाँ बहुत संख्या में लोगों को न्यूनतम आहार नहीं मिल पाता है।
2. **निरपेक्ष गरीबी** (Absolute Poverty)–निरपेक्ष निर्धनता से तात्पर्य उस न्यूनतम आय से है जिसकी एक परिवार के लिए आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यकता होती है तथा जिसे वह परिवार जुटा पाने में असमर्थ होता है, उस परिवार को गरीबी की रेखा से नीचे जीवन बिता रहे कहा जाता है।

भारत मे गरीबी रेखा का अभिप्राय (Meaning of Poverty Line in India)

योजना आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञ दल 'Task Force of Minimum Needs and Effective Consumption Demand' के अनुसार, "ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति 2,400 कैलोरी प्रतिदिन तथा शहरी क्षेत्र मे प्रतिदिन तथा शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति 2,100 कैलोरी प्रतिदिन का पोषण प्राप्त न करने वाला व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे माना जाता है।"

केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय की घोषणानुसार गरीबी रेखा अब विभिन्न राज्य में 13,900 रुपये से 16,990 रुपये वार्षिक तक होगी। पाँच सदस्यों वाला परिवार यदि अपने सम्बन्धित राज्य के लिए निर्धारित अलोच्य धनराशि से कम वार्षिक आय प्राप्त करता है, तब वह गरीबी रेखा के नीचे माना जायेगा। NSSO द्वारा 55वें उपभोक्ता दौर से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर गरीबी रेखा का सीमा का निर्धारण किया गया है कि 30 दिवसीय रिकॉल के अनुसार आधार पर वर्ष 1999-2000 के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में 27.09% एवं शहरी क्षेत्रों में 23.62% तथा सम्पूर्ण देश के लिए 26.1% का गरीबी अनुपात प्रस्तुत किया गया है। 7 दिवसीय रिकॉल के अनुसार यह अनुमान क्रमशः24.02%, 21.59% एवं 23.33% है। इसे घटाकर सन् 2002 तक 18% तक लाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

विशेषज्ञ दल का फार्मूला (Formula of Expert Committee)

निर्धनता रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले लोगों की पहचान का मुद्दा पिछले कुछ समय से विवादास्पद बना हुआ है। योजना आयोग राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) के सर्वेक्षण के आधार पर ही निर्धनों की संख्या (निर्धनता रेखा से नीचे के लोगों की संख्या) का आंकलन करता रहा है तथा इसके आधार पर 1993-94 में देश में 18.96 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता रेखा के नीचे आकलित की गयी थी परन्तु **प्रो. डी. टी. लकड़वाला** की अध्यक्षता में गठित विशेषज्ञ दल ने योजना आयोग के इन आँकड़ों का अविश्वसनीय बताते हुए निर्धनों की पहचान के लिए वैकल्पिक फार्मूले का उपयोग किया जिसके तहत प्रत्येक राज्य में मूल्य स्तर के आधार पर अलग–अलग निर्धनता रेखा का निर्धारण किया गया। आर्थिक सर्वेक्षण 2000-2001 के आधार पर जो आँकड़े संग्रहीत किये गये हैं ये वर्ष 1993-94 से सम्बन्धित हैं। N.S.S.U. के सर्वेक्षण के आधार पर 1993-94 में 37.3% ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी व 32.4% शहरी क्षेत्र में गरीबी है। सम्पूर्ण देश में 32 करोड़ व्यक्ति गरीबी रेखा से नीचे था। **योजना आयोग** के अनुसार पूर्वोत्तर के सात राज्यों में गरीबी अनुपात 30 से 40% मे मध्य है। भारत में गरीबी रेखा से नीचे

नोट

जीवनयापन करने वाले का जीवन स्तर सुधारने के लिए विजन 2020 फॉर इण्डिया नाम से एक महत्वकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र ने तैयार किया है जिसका उद्देश्य 20 वर्ष में गरीबी को दूर करना है। इस सर्वेक्षण के अनुसार निरपेक्ष रूप से भारत में निर्धनों की संख्या 1999-2000 की अवधि में 26 करोड़ थी।

योजना आयोग ने लकड़वाला फार्मूले को 11 मार्च, 1997 को स्वीकार कर लिया और वर्ष 1993-94 में इस फार्मूले के आधार पर गरीबी रेखा के नीचे लोगों की संख्या 35.7 प्रतिशत आंकलित की गयी। जैसा कि अग्र सारणी में दर्शाया गया है–

सारणी 1–विशेषज्ञ दल द्वारा आंकलित गरीबी रेखा के नीचे देश की जनसंख्या का प्रतिशत

वर्ष	ग्रामीण क्षेत्र		शहरी क्षेत्र		सम्पूर्ण भारत	
	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता अनुपात (%)	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता अनुपात (%)	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता अनुपात (%)
1973-74	261	56.4	60	49.0	321	54.9
1977-78	264	51.3	65	45.2	329	51.3
1983-84	252	44.7	71	40.8	323	44.7
1987-88	232	38.9	75	38.2	307	38.9
1993-94	244	36.00	76	32.40	320	35.97
1999-2000	193.2	27.09	67	23.62	260	26.10
	7 दिवसीय प्रत्याह्वान	24.02		21.59	–	23.33

नोट्स लकड़वाला फार्मूले में शहरी गरीबी के आंकलन के लिए औद्योगिक श्रमिकों के उपभोक्ता मूल्य सूचकांक एवं ग्रामीण क्षेत्रों का आंकलन के लिए कृषि श्रमिकों के उपभोक्ता मूल्य सूचकांक को आधार बनाया गया है।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श (नमूना) सर्वेक्षण (National Sample Survey) द्वारा गरीबी का नवीनतम अनुमान

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 2000 के आँकड़ों के आधार पर समग्र रूप से भारत मे वर्ष 1999-2000 में 26.1 प्रतिशत लोग निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे थे। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए यह अनुमात 27.1 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 23.62 प्रतिशत था।

NSS द्वारा लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Targeted Public Distribution System) के अर्न्तगत निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों को रियायती मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने की स्कीम के तहत निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों का जो अनुमान लगाया गया, उनके अनुसार 17.5.2001 को भारत के ग्रामीण क्षेत्र में 41.23 प्रतिशत परिवार निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं निरपेक्ष रूप से देश के 5,38,47,442 परिवार निर्धनता रेखा से नीचे रहे हैं, यदि प्रति परिवार सदस्यों की संख्या 5-6 के बीच मान ली जाए तो 26.92 करोड़ से लेकर 32.31 करोड़ के बीच ग्रामीण जनसंख्या निर्धनता रेखा से नीचे रह रही है अर्थात् ऐसे लोगों के पास जीवित रहने के लिए आवश्यक 2,400 कैलोरी युक्त भोजन (प्रति व्यक्ति प्रतिदिन) खरीदने लायक भी आय नहीं हो पाती।

नोट

ग्रामीण गरीबी का क्षेत्रीय विवरण (Regional Pattern of Rural Poverty)

सारणी 2 अंकों से ज्ञात होता है कि भारत में ग्रामीण क्षेत्र के 41.23%, परिवार निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं, निरपेक्ष रूप से निर्धन परिवारों की सर्वाधिक संख्या उत्तर प्रदेश में (75.41 लाख) तथा सबसे कम संख्या गोआ राज्य (23101) में है, केन्द्रशासित क्षेत्रों में सर्वाधिक निर्धन परिवार पाण्डिचेरी (63262) तथा सबसे कम दमन और दीव (396) में हैं, सापेक्ष प्रतिशत के रूप में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले सर्वाधिक परिवार (78.39 प्रतिशत) अरुणाचल प्रदेश में तथा सबसे कम (17.00 प्रतिशत) गोआ मे है। आधे से अधिक निर्धन परिवार (56.53 प्रतिशत) देश के केवल पाँच राज्यों–उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, प.बंगाल तथा उड़ीसा में रह रहे हैं।

पूर्वोत्तर सीमा प्रान्त के सभी राज्यों में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों का अनुपात 60 प्रतिशत से अधिक है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन राज्यों में आदिवासियों की संख्या का आधिक्य है। इस प्रकार आदिवासी बाहुल्य अन्य राज्यों–मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, प.बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और राजस्थान में आदिवासियों का काफी बड़ी आबादी निर्धनता रेखा से नीचे रह रही है।

सारणी 2–भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवार

(17.3.2001 की स्थिति)

	राज्य/केन्द्र शासित क्षेत्र	कुल परिवार	निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवार	कुल परिवारों में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों का प्रतिशत
1.	आन्ध्र प्रदेश	1,04,84,028	41,84,628	39.91
2.	अरुणाचल प्रदेश	1,02,852	86,627	79.39
3.	असम	36,07,241	21,64,416	60.00
4.	बिहार	1,89,33,813	93,99,281	49.64
5.	गोआ	1,35,816	23,101	17.00
6.	गुजरात	55,87,768	19,80,879	35.45
7.	हरियाणा	20,74,615	5,03,019	24.25
8.	हिमाचल प्रदेश	10,36,996	2,86,112	27.59
9.	जम्मू कश्मीर	10,47,251	6,06,545	57.92
10.	कर्नाटक	64,79,832	22,02,756	34.00
11.	केरल	NR	NR	NR
12.	मध्य प्रदेश	1,16,15,082	51,11,874	43.87
13.	महाराष्ट्र	1,10,10,022	38,60,675	35.07
14.	मणिपुर	3,65,670	2,46,980	67.54
15.	मेघालय	2,82,362	1,56,646	55.48
16.	मिजोरम	1,10,570	74,154	67.07
17.	नागालैण्ड	1,46,615	88,541	60.69
18.	उड़ीसा	67,90,202	44,45,736	65.50
19.	पंजाब	23,30,725	6,50,209	29.90
20.	राजस्थान	67,68,541	20,97,560	30.99
21.	सिक्किम	NR	NR	NR

नोट

22.	तमिलनाडु	93,88,118	27,37,921	29.16
23.	त्रिपुरा	5,95,397	3,97,798	66.81
24.	उत्तर प्रदेश	2,04,30,204	75,41,494	36.91
25.	प. बंगाल	1,10,76,686	49,18,296	44.40
1.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	Nr	6,421	–
2.	दादरा नागर हवेली	26,237	17,231	65.67
3.	दमन और दीव	10,735	396	3.68
4.	लक्ष द्वीप	8,625	885	10.26
5.	पाण्डिचेरी	1,33,555	63,262	47.36
6.	दिल्ली	NR	NR	NR
	अखिल भारत	13,06,15,558	5,38,47,442	41.23

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... से तात्पर्य उस न्यूनतम आय से है जिसकी एक परिवार के लिए आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ती हेतु आवश्यकता होती है।
2. ..... का गठन योजना आयोग द्वारा किया गया।
3. ..... राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के सर्वेक्षण के आधार पर ही निर्धनों की संख्या का आकलन करता रहा है।
4. योजना आयोग ने ..... को 11 मार्च 1997 को स्वीकार कर लिया।
5. भारत के ग्रामीण क्षेत्र के ..... परिवार निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं।

7.2 भारत में गरीबी के कारण (Causes of Poverty in India)

1. ब्रिटिश शासन के अंदर शोषण (Exploitation under British Rule)– ब्रिटिशों ने भारत को अपना उपनिवेश बनाकर इसके प्राकृतिक संसाधनों का शोषण किया। उनके शासन के दौरान, आधुनिक उद्योगों के विकास की ओर कोई प्रयास नहीं किया गया। छोटे पैमाने के उद्योगों को नष्ट कर दिया गया। परिणामस्वरूप भारतीय गरीब हो गए।

2. प्राकृतिक संसाधनों का अल्प उपयोग (Under Utilisation of Natural Resources)– अब तक हमने अपने प्राकृतिक संसाधनों का बेहतर इस्तेमाल नहीं किया है। हमारे देश के संसाधनों का या तो अल्प प्रयोग हुआ है या फिर बिल्कुल ही इस्तेमाल नहीं किया गया है। बहुत अधिक मात्रा में जल, वन, ऊर्जा और खनिज संसाधनों को पूरी तरह इस्तेमाल नहीं किया गया है।

3. भारतीय कृषि का पिछड़ापन (Backwardness of Indian Agriculture)– भारत में कृषि में पिछड़ी हुई तकनीकी का इस्तेमाल किया जाता है यहाँ पर्याप्त साधनों जैसे– जल, उर्वरक, खाद, कीटनाशक और उन्नत बीजों आदि की कमी है। परिणामस्वरूप, प्रति हैक्टेयर और प्रति श्रमिक उत्पादकता बहुत कम है। जिससे किसानों की स्थिति हमेशा खराब रहती है।

4. बेरोजगारी (Unemployment)– गरीबी भी बेरोजगारों की बढ़ती हुई संख्या के साथ बढ़ती जा रही है। बेरोजगारी के कारण कार्यशील जनसंख्या पर निर्भर लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय घटता जा रहा है और अधिक संख्या में लोग गरीबी की रेखा के नीचे रह रहे हैं।

5. पूँजी की कमी (Capital Deficiency)– पूँजी की निम्न प्रति व्यक्ति उपलब्धता के कारण और निम्न पूँजी निर्माण के कारण देश में पूँजी की कमी हैं परिणामस्वरूप, कुल उत्पादन और प्रति श्रमिक उत्पादकता भारत में गिरी है।

नोट

6. पिछड़ी तकनीकी (Backward Technology)– भारत में गरीबी के लिए जिम्मेदार एक कारण तकनीकी का निम्न स्तर भी है। निर्माण, उद्योग और कृषि क्षेत्र में निम्न प्रौद्योगिकी होने के कारण प्रति श्रमिक उत्पादकता भी निम्न स्तर की है और जिससे अर्थव्यवस्था गरीबी की स्थिति में है।

7. मुद्रा स्फीति (Inflation)– देश में मुद्रा स्फीति ने भी गरीब लोगों की संख्या को बढ़ाया है। स्फीति वस्तु की कीमत को बढ़ा देती है। जब कीमतें बढ़ती हैं, मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है और जिससे गरीब और मध्यम आय वर्ग के लोगों पर बुरा असर पड़ता है। मुद्रा के मूल्य में कमी होने से गरीब लोग कम मात्रा में वस्तुएँ खरीदते हैं जिससे उनकी दशा और खराब हो जाती है।

8. सामाजिक कारक (Social Factors)– हमारी सामाजिक कुप्रथायें, जन्म-मरण, विवाह की रूढ़िवादी परंपरायें, अनुत्पादक खर्चे, झूठी प्रतिष्ठा के लिये अनावश्यक ऋण आदि भी हमारी गरीबी के लिए जिम्मेदार हैं।

9. जनसंख्या की उच्च वृद्धि दर (High Growth Rate of Population)– अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर की तुलना में जनसंख्या की वृद्धि दर बहुत तेज रही है। जनसंख्या की तीव्र वृद्धि दर के कारण प्रति व्यक्ति आय और उपभोग व्यय बढ़ नहीं सका है। हमारी जनसंख्या विश्व की जनसंख्या की 15% है लेकिन राष्ट्रीय आय विश्व की राष्ट्रीय आय की केवल 2% ही है।

10. आय और संपत्ति की असमानता (Inequalities of Wealth and Income)– उत्पादन के साधनों और मौद्रिक आय के वितरण की असमानता के कारण भी भारत में गरीबी पाई जाती है। संपत्ति और उत्पादन के साधन कुछ ही हाथों में केंद्रित हैं। जिससे अधिकतर लोग गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं।

11. गरीबी का कुचक्र (Vicious Circle of Poverty)– भारत गरीबी के कुचक्र में फँसा है और ये गरीबी का कारण और परिणाम दोनों ही हैं। गरीबी एक अभिषाप है, लेकिन इससे भी बड़ा अभिशाप यह है कि ये खुद ही अपने आप को पैदा करती है।

12. आर्थक विकास का निम्न स्तर (Low Level of Economic Development)– भारत में अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर और जनसंख्या वृद्धि दर को देखते हुए आर्थिक विकास की दर बहुत कम है। आर्थिक वृद्धि की उच्च दर ही गरीबी को दूर कर सकती है। दृर्भाग्यवश इसे अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका है।

7.3 भारत में गरीबी हटाने के लिए सुझाव (Suggestions of the Vicious Circle of Poverty)

भारत में गरीबी को हटाने के निम्नलिखित उपाय हैं:

1. आर्थिक वृद्धि को बढ़ाना (Acceleration of Economic Growth)– गरीबी को हटाने के लिए पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है अर्थव्यवस्था की आर्थिक वृद्धि दर को बढ़ाना। राष्ट्रीय आय को जनसंख्या वृद्धि से तेज दर से बढ़ना चाहिए।

2. जनसंख्या पर नियंत्रण (Control Over Population)– गरीबी को बड़े स्तर पर परिवार नियोजन को बढ़ावा देकर दूर किया जा सकता है। जनसंख्या प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में मदद करेगा। जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक संसाधनों के बीच के अंतर को कम करने में सहायक होगा।

3. अधिक रोजगार के अवसर (More Employment Opportunities)– ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में रोजगार के अवसर पैदा करके भारत में गरीबी को दूर किया जा सकता है। यह काम बड़ो पैमाने पर शुरू किया जाना चाहिए। कुटीर और लघु उद्योगों को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

4. भूमि सुधार (Land Reform)– गरीबी दूर करने के लिए, भूमि हदबंदी (Ceiling) द्वारा प्राप्त अतिरिक्त भूमि को छोटे अथवा भूमिहीन व्यक्तियों मे वितरित कर देना चाहिए। भूमि के छोटे-छोटे भाग होने पर पाबदी लगानी चाहिए एवं भूमि की चकबंदी पर जोर देना चाहिए।

5. गरीबों के लिए न्यूनतम आवश्यकता की योजना (Minimum Needs Programme for the Poors)– सरकार को व्यक्तियों की न्यूनतम एवं आधारभूत आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इस योजना के

नोट

अंतर्गत आधारभूत वस्तुयें व्यक्तियों को न्यूनत कीमत पर प्रदान करने एवं विभिन्न सामाजिक सेवायें नि:शुल्क प्रदान करने पर विचार किया जाये।

6. आर्थिक असमानता को कम करना (Reduction in Economic Inequalities)– गरीबी दूर करने के लिए अर्थिक असमानता दूर करना आवश्यक है। इसके लिए हमें अपने निवेश ढाँचों को बदलना चाहिए; इसलिए अधि कतम साधनों को विलासीन वस्तुओं के उत्पादन के स्थान पर उपभोकता वस्तुओ के उत्पादन के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आर्थिक शक्ति के समान वितरण के लिए भी उपाय किए गए। भूमि की हदबंदी (Ceiling) करके अतिरिक्त भूमि को भूमिहिन व्यक्तियो में वितरित किया गया।

7. ग्रामीण औद्योगिकीकरण (Rural Industrialisation)– ग्रामीण क्षेत्रों से गरीबी हटाने के लिए हमें ग्रामीण औद्योगिकीकरण पर अधिक जोर देना चाहिए। इसकी सहायता से ग्रामीण क्षेत्रों की श्रम शक्ति को रोजगार के नये अवसर प्रदान हो सकेंगे।

8. स्फीति पर नियंत्रण (Control over Inflation)– स्फीति की स्थिति में वस्तुओं की कीमत में वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप स्थायी आय एवं निर्धनों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। कीमतों में निरंतर एवं तीव्र वृद्धि के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है, जिससे निर्धन व्यक्ति प्रभावित होते हैं। इसलिए निर्धन व्यक्तियों के जीवन स्तर में वृद्धि के लिए बढ़ती कीमतों पर नियंत्रण आवश्यक है।

9. सामाजिक सुरक्षा (Social Security)– गरीब औद्योगिक कर्मचारियों के लिए प्रोविडेट फंड, वृद्धावस्था पेंशन, प्रसूति (Maternity), छुट्टी भत्ते आदि की व्यवस्था करके औद्योगिक कर्मचारियों की सामाजिक सुरक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार को नि:शुल्क शिक्षा, नि:शुल्क स्वास्थ्य सुविधा, निवास एवं आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था पर अधिक व्यय करना चाहिए गरीबों के हित के लिए राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण पर अधिक जोर देना चाहिए। धन को जब्त कर लेना चाहिए। पिछड़े क्षेत्रों में अधिक उद्योगों की स्थापना करनी चाहिए।

टास्क गरीबी रेखा से आप क्या समझते हैं?

7.4 गरीबी दुर करने के सरकारी प्रयास (Government Efforts to Remove Poverty)

ग्रामीण विकास तथा गरीबी उन्मूलन हमारे देश की विभिन्न योजनाओं के प्रमुख लक्ष्य रहे हैं परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई है। स्वयं छठी योजना ने यह स्वीकार किया है कि कहाँ की लगभग 50 प्रतिशत जनसंख्या पिछले काफी लम्बे समय से गरीबी की रेखा से नीचे रह रही है। छठी योजना के 10 प्रमुख उद्देश्य थे जिनमें से एक "गरीबी व बेरोजगारी के भार को उत्तरोत्तर कम करना" (A Progressive Reduction in the Incidence of Poverty and Unemployment) था। **सातवीं व आठवीं** योजनाओं में भी गरीबी उन्मूलन की बात जोरदारी से कही गयी, जबकि नौवीं योजना में भी प्रमुख स्थान दिया गया।

नौवीं योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में स्वरोजगार एवं मजदूरी रोजगार उत्पन्न करने के लिए विशेष रूप से बनाये गये गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को पुन: तैयार एवं गठित किया गया है, ताकि गरीबों के लिए कारगरता एवं प्रभाव में सुधार लाया जा सके। वर्ष 1998-99 में 9,345 करोड़ रुपये की तुलना में 1999-2000 में 9,650 करोड़ रुपये का परिव्यय प्रदान किया गया है।

गरीबी उन्मूलन और रोजगार उत्पादन के प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार हैं–

(1) **स्वरोजगार कार्यक्रम** (Self Empolyment Programme)

(*i*) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (Swarna jayanti Gram Swarozgar Yojna)।

(2) **मजदूरी रोजगार कार्यक्रम** (Wage Employment Programme) :

(*i*) जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (Jawahar Rozgar Yojna) एवं

(*ii*) रोजगार आश्वासन योजना अक्टूबर, 1993 (Empolyment Assurance Scheme, 1993)।

नोट

(3) **राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम** (Social Assistance Programme)।

(4) **शहरी रोजगार एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम:**

(*i*) प्रधानमंत्री रोजगार योजना एवं

(*ii*) स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना।

7.5 विजन 2020 फॉर इण्डिया (Vision 2020 For India)

देश में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों की स्थिति सुधारने के लिए 'विजन 2020 फॉर इण्डिया' नाम से एक महत्वांकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र द्वारा तैयार किया जा रहा है। इसका उद्देश्य एक निश्चित समय सीमा के अन्दर गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगों का विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा स्थिति में सुधार करना है, ताकि अगले 20 वर्षों में 'गरीबी रेखा' से नीचे का कलंक पूर्णत: समाज से मिटाया जा सके। इसके लिए योजना आयोग के सदस्य डॉ. एम. पी. गुप्ता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन शहरी विकास एवं गरीबी उन्मूलन मन्त्रालय द्वारा किया गया है।

निर्धनता तथा असमानता सम्बन्धी डॉ. अमर्त्यसेन के सुझाव

3 नवम्बर, 1993 को शान्ति निकेतन में जन्मे एक बालक के नामकरण का दायित्व जग गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को दिया गया तो उन्होंने उस बालक का नाम 'अमर्त्य' रेखा जिसका अर्थ होता है 'अनश्वर'। इस नाम की सार्थकता 65 वर्ष बाद सिद्ध हुई जब भारत के सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो. अमर्त्यसेन को सन् 1998 का अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा की गयी।

समाज के निर्धनतम तबके को पीड़ित करने वाली दैवीय आपदाओं की नयी समझदारी विकसित करने वाले प्रो. सेन को कल्याणकारी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए ही यह पुरस्कार दिया गया है। पुरस्कार की घोषणा करने वाली संस्था '**रायल स्वीडिश अकादमी ऑफ साइन्स**' ने प्रो. सेन के प्रशस्ति पत्र में कहा है, "कल्याणकारी अर्थशास्त्र को श्री सेन के योगदान और उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के प्रयोग ने अकाल के लिए जिम्मेदार आर्थिक प्रक्रियाओं की हमारी समझदारी में वृद्धि की है।.... उन्होंने अर्थशास्त्र और दर्शन के उपकरणों के संयोजन से महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं पर विचार-विमर्श को एक नैतिक आयाम दिया है।"

अर्थशास्त्र में 1998 के नोबेल पुरस्कार विजेता प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री डॉ. अमर्त्यसेन के असमानता सम्बन्धी मुख्य विचार निम्नलिखित हैं–

क्या आप जानते हैं प्रो. सेन नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किये जाने वाले भारत के छठे व्यक्ति हैं।

(1) सामाजिक विकास आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है–प्रो. सेन अपने आर्थिक चिन्तन का मानो निचोड़ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि हमें सकल राष्ट्रीय उत्पाद की विकास दर को किसी देश के अर्थिक कल्याण की कसौटी नहीं माननी चाहिए; आर्थिक विकास होने पर भी देश में निरक्षरता, अस्वास्थ्य व अन्य सामाजिक अभावों का बोलबाला हो सकता है। अत: प्रो. सेन का मत है कि बिना सामाजिक सुधार किये कल्याणकारी आर्थिक विकास नहीं हो सकता। प्रो. सेन पश्चिमी देशों के अनुभवों के आधार पर बताते हैं कि जिन देशों में आम जनता को शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा रही हैं, वहाँ आर्थिक विकास का लाभ लोगों को व्यापक पैमाने पर मिल रहा है। अत: प्रो. सेन का मत है कि भारत मे आर्थिक सुधार तभी अपेक्षित सफलता हासिल कर सकता है जबकि शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि सुधार पर विशेष ध्यान दिया जाय। इन चीजों के जरिये ही जनता बाजार द्वारा उपलब्ध अवसरों का लाभ उठाने मे सक्षम हो सकती है। भारतीय सन्दर्भ में विचार करते हुए **प्रो. सेन** कहते हैं कि भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य व भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्षेत्र में आश्चर्यजनक विफलता नजर आती है। उनका मत है कि इन सामाजिक क्षेत्रों में कारगर कदम उठाये बिना आर्थिक सुधारों के लाभ जनसाधारण तक नहीं पहुँचाये जा सकते। इस सम्बन्ध में कारगर सरकारी कार्यवाही अत्यन्त आवश्यक है। **प्रो. सेन** की इस बात का महत्त्व ऐसे समय में और बढ़ जाता है जब शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं को निजी क्षेत्रों के हाथों में सौंपने की मुहिम चल

सारणी 3: भारत में गरीबी निवारण हेतु ग्रामीण विकास योजनाएँ

क्रमांक योजनाएँ	योजनाएँ	योजनाएँ	योजनाएँ	योजनाएँ	योजनाएँ	योजनाएँ
1. रोजगारपरक योजनाएँ	**2. मूलभूत सुविधाओं विषयक योजनाएँ**	**3. सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाली योजनाएँ हेतु**	**4. महिलाओं/बालिकाओं के विकास योजनाएँ**	**5. शैक्षिक विकास हेतु योजनाएँ**	**6. कृषि एवं दुग्ध विकास की योजनाएँ**	**7. सहकारी सहयोग से परिचालित बीमा योजनाएँ**
1. ग्राम समृद्धि योजना, 1999	1. ग्रामीण पेयजल योजना 1971	1. राष्ट्रीय टीकाकरण कार्यक्रम, 1984	1. न्यू मॉडल चर्खा योजना, 1987	1. अनौपचारिक शिक्षा योजना, 1979	1. महिला डेयरी योजना, 1991	1. ग्रामीण सामूहिक जीवन बीमा योजना, 1995
2. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, 1999	2. राष्ट्रीय बायोगैस कार्यक्रम, 1982	2. राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना, 1994	2. इन्द्र महिला योजना, 1995	2. प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, 1988	2. सघन मिनि डेयरी योजना, 1992	2. भूमिहीन मजदूरों हेतु सामूहिक बीमा योजना, 1987
(क) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.), 1980	3. इन्द्रा आवास योजना 1985	3. राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना, 1997	3. बालिका समृद्धि योजना 1997	3. प्राथमिक विद्यालयों हेतु मध्यान्ह भोजन योजना, 1995	3. किसान मित्र योजना, 1998	ग्रामीण कुटीर योजना, 1988
(ख) ट्राइसेम योजना, 1979	4. स्वच्छ शौचाल्य निर्माण योजना, 1990	4. वृद्धावस्था पेंशन योजना, 1994	4. किशोरी बालिका योजना, 1998	4. दम्पत्ति शैक्षिक योजना, 1998		4. आई. आर. डी. हेतु सामूहिक बीमा योजना, 1988
(ग) डवाकरा योजना, 1982	5. अम्बेडकर ग्राम्य विकास योजना, 1991	5. स्वास्थ्य सखी योजना 1998		5. शिक्षा गारण्टी योजना, 1999		5. ग्रामीण सामूहिक जीवन बीमा योजना, 1995
(घ) उन्नत चूल्हा कार्यक्रम 1993	6. स्वजल योजना, 1996	6. अन्नपूर्णा योजना, 1999		6. शिक्षा मित्र योजना, 1999		
(च) उन्नत टूल किट्स योजना, 1992	7. दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण सम्पर्क योजना, 1997	7. आश्रय आवासीय योजना, 1997				
(छ) गंगा कल्याण योजना, 1997	8. आश्रम आवसीय योजना, 1997	8. जनश्री बीमा योजना, 2000-01				
(ज) दस लाख कूप योजना, 1988	9. स्वर्ण जयन्ती ग्राम विकास योजना, 1986					
3. उद्यमिता विकास कार्यक्रम, 1986	10. प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना, 2000-01					
4. अम्बेडकर विशेष रोजगार योजना, 1991						
5. प्रधानमन्त्री रोजगार योजना, 1993						
6. सुनिश्चित रोजगार योजना, 1993						
7. रोजगार छतरी योजना, 1998						

नोट–भारत में 2001-02 में निर्धनता व गरीबी कम करने के लिए जो योजनाएँ शुरू की गई हैं, उनका '**भारत में बेरोजगारी की समस्या व रोजगार नीति**' अध्याय में दिया जा चुका है।

नोट

नोट

रही हो और भूमि सुधारों का कोई नाम लेने वाला न हो। बाजार और सरकार को अपनी भूमिकाओं को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "भारत में कुछ क्षेत्रों में बहुत अधिक सरकारी हस्तक्षेप हैं जो बहुत से दूसरे क्षेत्रों में अपर्याप्त व अप्रभावकारी कार्यवाही।" केवल बहुत कम बाजार या बहुत अधिक बाजार के उपचार की जरूरत नहीं है। बाजार एक औजार है जो मानवीय क्षमताओं के विकास में मददगार हो सकता है। सरकार और आम जनता की सक्रिय भूमिका को रेखांकित करते हुए एक बाजार अराजकतावाद के प्रति सतर्कता उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उदारीकरण से सम्बन्धित अवसरों की चाहे जो भी सीमा हो, यदि सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य और लगभग भुला दिये गये भूमि सुधार पर वास्तव में ध्यान दे तो स्वयं में यह उपलब्ध होगी।

(2) अकाल और निर्धनता–प्रो. अमर्त्यसेन ने इस प्रचलित धारणा को चुनौती दी है कि खाद्यान्न की कमी ही अकाल का एकमात्र कारण होता है। अकाल हमेशा खाद्यान्न की कमी से नहीं आते। भुखमरी की समस्या को केवल परम्परागत अर्थशास्त्र के खाँचे में ही सीमित नहीं रखा जा सकता है। यहीं पर सामाजिक मूल्य दर्शन, नीतिशास्त्र, सरकार की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक, सांस्कृतिक आदि नीतियाँ भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। **प्रो. सेन** महाराष्ट्र और अफ्रीकी देश साहेल का उदाहरण देते हुए बताते हैं कि सन् 1970 के दशक में दोनों क्षेत्रों को सूखे का सामना करना पड़ा। खाद्यान्न की उपलब्धता महाराष्ट्र की अपेक्षा साहेल में दुगुनी थी लेकिन मरने वालों की संख्या साहेल में ही ज्यादा थी, जबकि महाराष्ट्र में एक-दो लोगों की ही भूख से मरने की घटनाएँ सामने आयीं। कारण स्पष्ट था, महाराष्ट्र में ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों ने स्थानीय निवासियों की क्रय शक्ति बनाये रखी, जबकि साहेल ऐसी कोई कारगर व्यवस्था खड़ी नहीं कर पाया। **प्रो. सेन** यह मानते हैं कि अकाल से बचने के लिए लोकतन्त्र सबसे अच्छी प्रणाली है क्योंकि विपक्ष और मीडिया के दबाव के कारण सरकार इस समस्या को हल करने के लिए बाध्य होती है, जबकि निरंकुश प्रणाली के सामने ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती।

गरीबी उन्मूलन बहुत कुछ सरकारी नीतियों पर निर्भर करता है। वे गरीबी को व्यापक निरक्षरता, निम्न स्तर की स्वास्थ्य व्यवस्था, अधुरे भूमि सुधारों, लिंग-भेद, महिलाओं को अधिकारों से वंचित रखना और बच्चों को उपेक्षा के रूप में देखते हैं। डॉ. सेन ने सुझाव दिया है कि पश्चिमी देशों की तरह ही लोगों के हित के लिए एक **सामाजिक व्यवस्था अपनायी जाये**। विश्व अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण से लाभ उठाने और कमजोरों की इससे रक्षा करने के लिए भिन्न देशों को 'सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था' की जरूरत है।

(3) विषमता पर पुनर्विचार–प्रो. सेन की हाल में ही एक पुस्तक प्रकाशित हुई है–'इन इक्वलिटी रीज एक्जामिड'। इसमें उन्होंने 'सभी लोग जन्मजात समान हैं' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। यह सिद्धान्त इस तथ्य से हमारा ध्यान हटा देता है कि हमारी लिंग, उम्र, प्रतिभा और शारीरिक क्षमताओं में अन्तर हैं तथा हमारी भौतिक लाभ की स्थितियों और सामाजिक पृष्ठभूमि में भी भिन्नताएँ हैं।

(4) सेन निर्देशांक–किसी भी अर्थव्यवस्था में गरीबी के साथ-साथ विषमता का अध्ययन और उसका निराकरण आवश्यक है। इसके लिए विषमता की माप आवश्यक है और इसके लिए जरूरी है–एक उपयुक्त मापदण्ड। इस उपयुक्त मापदण्ड की ही चर्चा प्रो. सेन ने 1973 में प्रकाशित अपनी पुस्तक '**ऑन इकोनामिक इन क्वालिटी**' में की है। **प्रो. सेन** ने गरीबी निर्देशांक बनाने के लिए एक नया फार्मूला दिया जो गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की आय में विषमता पर आधारित है। यह फार्मला 'निर्देशांक' (Sen Index) के नाम से जाना जाता है। यह निर्देशांक यू.एन.डी.पी. की मानव विकास की रिपोर्ट के लिए मानव विकास सूचकांक की गणना में सहायक है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. भारत के ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी का सबसे महत्त्वूपर्ण कारण है-
   (क) बेरोजगारी (ख) पूँजी की कमी
   (ग) जनसंख्या की उच्च वृद्धि दर (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

2. भारत में गरीबी से बचने के लिए उपाय किये गये हैं–
   (क)जनसंख्या पर नियंत्रण (ख) भूमि सुधार (ग) समाजिक सुधार (घ) उपयुक्त सभी।
3. ग्रामीण क्षेत्रों में स्वरोजगार एवं मजदूरी रोजगार के लिए गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम को पुन: तैयार एवं गठित किया गया–
   (क) चौथी योजना में (ख) छठी योजना में (ग) नौवीं योजना में (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो. अर्मत्यसेन को अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा की गई–
   (क) सन् 1995 में (ख) सन् 1997 में (ग) सन् 1998 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. ग्रामीण गरीबी दूर करने के लिए योजना चलाई गई–
   (क) EAY (ख) SAY (ग) RAY (घ) इनमें से कोई नहीं।
6. शहरी गरीबी दूर करने के उपाये हैं–
   (क) SISRY (ख) EAY (ग) TRYSEM (घ) इनमें से कोई नहीं।

7.6 सारांश (Summary)

- गरीबी या निर्धनता का अर्थ उस सामयिक क्रिया से है जिसमें समाज का एक भाग अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकता। जब समाज का एक बहुत बड़ा अंग–न्यूनतम जीवन–स्तर से वंचित रहता है और केवल निर्वाह–स्तर (Subsistence Level) पर गुजारा करता है तो यह कहा जाता है कि समाज में व्यापक निर्धनता या गरीबी (Mass Poverty) विद्यमान है।
- भारत गरीबी के कुचक्र में फँसा है और ये गरीबी का कारण और परिणाम दोनों ही हैं। गरीबी एक अभिषाप है, लेकिन इससे भी बड़ा अभिशाप यह है कि ये खुद ही अपने आप को पैदा करती है।
- गरीब औद्योगिक कर्मचारियों के लिए प्रोविडेट फंड, वृद्धावस्था पेंशन, प्रसूति (Maternity), छुट्टी भत्ते आदि की व्यवस्था करके औद्योगिक कर्मचारियों की सामाजिक सुरक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार को नि:शुल्क शिक्षा, नि:शुल्क स्वास्थ्य सुविधा, निवास एवं आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था पर अधिक व्यय करना चाहिए गरीबों के हित के लिए राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण पर अधिक जोर देना चाहिए। धन को जब्त कर लेना चाहिए। पिछड़े क्षेत्रों में अधिक उद्योगों की स्थापना करनी चाहिए।
- ग्रामीण विकास तथा गरीबी उन्मूलन हमारे देश की विभिन्न योजनाओं के प्रमुख लक्ष्य रहे हैं परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई है।
- छठी योजना के 10 प्रमुख उद्देश्य थे जिनमें से एक "गरीबी व बेरोजगारी के भार को उत्तरोत्तर कम करना" (A Progressive Reduction in the Incidence of Poverty and Unemployment) था। **सातवीं व आठवीं** योजनाओं में भी गरीबी उन्मूलन की बात जोरदारी से कही गयी, जबकि नौवीं योजना में भी प्रमुख स्थान दिया गया।
- देश में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों की स्थिति सुधारने के लिए 'विजन 2020 फॉर इण्डिया' नाम से एक महत्वांकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र द्वारा तैयार किया जा रहा है। इसका उद्देश्य एक निश्चित समय सीमा के अन्दर गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगों का विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा स्थिति में सुधार करना है, ताकि अगले 20 वर्षों में 'गरीबी रेखा' से नीचे का कलंक पूर्णत: समाज से मिटाया जा सके।
- प्रो. सेन अपने आर्थिक चिन्तन का मानो निचोड़ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि हमें सकल राष्ट्रीय उत्पाद की विकास दर को किसी देश के अर्थिक कल्याण की कसौटी नहीं माननी चाहिए; आर्थिक विकास होने पर भी देश में निरक्षरता, अस्वास्थ्य व अन्य सामाजिक अभावों का बोलबाला हो सकता है।

7.7 शब्दकोश (Keywords)

- **उन्मूलन–** जड़े से उखाड़ देना

नोट

- **समन्वित–** लगा हुआ, मिला हुआ
- **सामयिक–** समयानुसार होने वाला, वर्तमान समय का

7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. गरीबी का क्या अर्थ है? भारत में गरीबी के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में ग्रामीण गरीबी के क्या कारण हैं? भारत में निर्धनता के दृश्चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है।
3. गरीबी की रेखा से क्या अभिप्राय है? भारत में गरीबी निवारण के लिए चालू किये गये कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिए।
4. सापेक्ष निर्धनता व निरपेक्ष निर्धनता में क्या अंतर है?
5. ग्रामीण गरीबी दूर करने हेतु क्या सरकारी प्रयास किये गये हैं?

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. निरपेक्ष निर्धनता 2. विशेष दल 3. योजना आयोग 4. लकड़वाला फार्मूले
5. 41.23%

2. 1. (ग) 2. (घ) 3. (ग) 4. (ग)
5. (क) 6. (क)

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था–* रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन–* ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ–* वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–8: भारत में बेरोजगारी : अवधारणाएँ, कारण एवं सरकार की नीतियाँ (Unemployment in India : Concept, Causes and Government Policies)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 बेरोजगारी की अवधारणाएँ (Concepts of Unemployment)

8.2 भारत में बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment in India)

8.3 भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपाय (Measures to Eradicate Unemployment in India)

8.4 रोजगार के लिए सरकारी उपाय (Governments Measures for Employment)

8.5 सारांश (Summary)

8.6 शब्दकोश (Keywords)

8.7 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के इकाई के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- बेरोजगारी के कारण एवं अवधारणाओं को समझने में।
- भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपायों की व्याख्या करने में।
- रोजगार के लिए किये जा रहे सरकारी उपायों का विश्लेषण करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारत में विभिन्न राज्यों की स्थिति बेरोजगारी की दृष्टि से अलग-अलग है। मेघालय में सबसे कम अर्थात केवल 0.41 प्रतिशत क्षमशक्ति बेरोजगार है। इसके विपरीत केरल में सबसे अधिक अर्थात 5.7 प्रतिशत श्रमशक्ति बेरोजगार है। दक्षिण के चार राज्यों केरल, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में तथा पूर्व के तीन राज्यों उड़ीसा, प. बंगाल तथा बिहार में बेरोजगारी सबसे अधिक है। इसके विपरीत मेघालय, नागालैण्ड, हिमाचल, मणिपुर में बेरोजगारी बहुत कम है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, असम तथा राजस्थान में बेरोजगारी कम है। इसके पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, जम्मू-कश्मीर तथा गुजरात में बेरोजगारी की दर सामान्य है। राज्यों में बेरोजगारी के सम्बंध में विभिन्नता पाये जानेके कई कारण हैं।

देश में बेरोजगारी का मोटा अनुमान रोजगाार कार्यालयों में नौकरी के लिए दर्ज लोगों की संख्या के आधार पर लगाया जा सकता है।

नोट

8.1 बेरोजगारी की अवधारणाएँ (Concepts of Unemployment)

1. **पूर्ण रोजगार** (Full Employment)—जब किसी अर्थव्यवस्था में सभी संसाधनों का पूर्णत: दोहन होता है तथा रोजगार की इच्छा वाले सभी व्यक्तियों को पूर्णतया रोजगार मिलता है, तब इसे पूर्ण रोजगार की अवस्था माना जाता है।
2. **बेरोजगारी** (Unemployment)—बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार है परन्तु उसे काम नहीं मिलता।
3. **मौसमी बेरोजगारी** (Seasonal Unemployment)—जब वर्ष के कुछ महीनों या विशेष अवधि में प्रति वर्ष बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो इस प्रकार की बेरोजगारी को मौसमी बेरोजगारी कहते हैं।
4. **अल्परोजगार** (Under-employment)—जब किसी व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार काम नहीं मिलता है अथवा पूरा काम नहीं मिलता है तो उसे अल्परोजगार कहते हैं।
5. **संरचनात्मक बेरोजगारी** (Structural Employment)—दीर्घकालीन प्रवृत्ति की यह बेरोजगारी अर्थव्यवस्था के ढाँचे के पिछड़ेपन, सीमित पूँजी एवं श्रम के बाहुल्य के कारण उत्पन्न होती है।
6. **चक्रीय बेरोजगारी** (Cyclical Unemployment)—जब देश में व्यापार-चक्र में मन्दी के कारण बेरोजगारी उत्पन्न हो तो इसे चक्रीय बेरोजगारी कहा जाता है।
7. **छिपी हुई या अदृश्य बेरोजगारी** (Disguised Unemployment)—छिपी हुई बेरोजगारी से हमारा तात्पर्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उस स्थिति से है जिसमें श्रमिक काम पर लगा हुआ मालूम होता है किन्तु उत्पादन में उसका अंशदान नहीं के बराबर होता है अर्थात् सीमान्त उत्पादन शून्य होता है।
8. **घर्षणात्मक बेरोजगारी क्षेत्र** (Frictional Unemployment)—उत्पादन की तकनीकों में परिवर्तन के कारण कुछ लोग बेरोजगार हो जाते हैं क्योंकि नई तकनीक के प्रयोग में वे कुशल नहीं होते हैं अथवा इसके कारण उत्पादन श्रम की वांछित मात्रा में कमी हो जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी को घर्षणात्मक बेरोजगारी कहते हैं।
9. **अनौपचारिक क्षेत्रक** (Informal Sector)—अल्पविकसित देशों में बहुत-से लोग छोटे-छोटे श्रम-प्रधान रोजगार में लगे रहते हैं जिन्हें अनौपचारिक क्षेत्रक कहा जाता है। इसके अन्तर्गत दर्जी, मोटर मैकेनिक, धोबी, चाय-पान आदि की दुकानों को शामिल किया जाता है।
10. **रोजगार गुणक** (Employment Multiplier)—प्राथमिक रोजगार में वृद्धि होने के कारण कुल रोजगार में जो वृद्धि होती है, वृद्धि की इस दर को रोजगार गुणक कहते हैं।
11. **बेरोजगारी दर** (Unemployment Rate)—वह दर है जिसका अनुमान बेरोजगार लोगों की संख्या को श्रम शक्ति से भाग देकर लगाया जाता है।

$$\text{बेरोजगारी की दर (Rate of Unemployment)} = \frac{\text{बेरोजगारों की संख्या}}{\text{श्रम शक्ति}}$$

12. **चिरकालिक बेरोजगारी** (Chronic Unemployment) **या सामान्य अवस्था** (Usual Status) **बेरोजगारी**—चिकालिक बेरोजगार वे व्यक्ति हैं जो पूरे वर्ष बेरोजगार रहे हों। ये व्यक्ति आकस्मिक कार्य स्वीकार नहीं करते हैं।
13. **साप्ताहिक अवस्था बेरोजगारी** (Weekly Status Unemployment)—साप्ताहिक बेरोजगार वे व्यक्ति हैं जिन्हें 'सर्वेक्षण सप्ताह' के दौरान एक घण्टे के लिए भी काम नहीं मिल पाया हो।
14. **दैनिक अवस्था बेरोजगारी** (Daily Status Unemployment)—दैनिक बेरोजगार वे व्यक्ति हैं जो सप्ताह में कुछ दिनों तो रोजगार पाते हैं और शेष दिन बेरोजगार रहते हैं। दूसरे शब्दों में, 'सर्वेक्षण सप्ताह' के दौरान वे एक दिन या कुछ दिन बेरोजगार रहे हैं।

नोट

क्या आप जानते हैं संरचनात्मक बेरोजगारी की प्रवृति दीर्घकालीन होती है जो सीमित पूँजी एवं श्रम बाहुल्य के कारण पैदा होती है।

आशय (Meaning)–बेरोजगारी एक ऐसी स्थिति है जहाँ श्रम-शक्ति (श्रम की पूँजी) व रोजगार के अवसरों (श्रम की माँग) में अन्तर होता है। बेरोजगारी श्रमिकों की माँग की अपेक्षा उनकी पूर्ति के अधिक होने का परिणाम है। **बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार होता है परन्तु उसे काम नहीं मिलता।** किसी देश में बेरोजगारी की अवस्था वह अवस्था है जिसमें देश में बहुत-से काम करने योग्य व्यक्ति हैं परन्तु उन्हें विभिन्न कारणों से काम नहीं मिल रहा है। अतएव बेरोजगारी का अनुमान लगाते समय केवल उन्हीं व्यक्तियों की गणना की जाती है जो (*a*) काम करने के योग्य हैं; (*b*) काम करने के इच्छुक हैं तथा (*c*) वर्तमान मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हैं। उन व्यक्तियों को जो काम करने के योग्य नहीं हैं; जैसे–बीमार, बूढ़े, बच्चे, विद्यार्थी आदि को बेरोजगारी में सम्मिलित नहीं किया जाता। इसी प्रकार जो लोग काम करना ही पसन्द नहीं करते, उनकी गणना भी बेरोजगारों में नहीं की जाती है। **प्रो. पीगू** के अनुसार, "एक व्यक्ति को उस समय ही बेरोजगार कहा जायेगा जब उसके पास रोजगार का कोई साधन नहीं है परन्तु वह रोजगार प्राप्त करना चाहता है।"

$$\text{बेरोजगारी की दर (Rate of Unemployment)} = \frac{\text{बेरोजगारों की संख्या}}{\text{श्रम शक्ति}}$$

बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ समाज की श्रम-शक्ति में वृद्धि होती है। **श्रम की अधिकता** के कारण भारत में **बेरोजगारी** तथा **अदृश्य बेरोजगारी** में वृद्धि होती जा रही है।

8.2 भारत में बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment In India)

भारत में बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी कारण इस प्रकार हैं–

(1) सामान्य कारण (General Causes)

भारत में बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी कुछ सामान्य कारण निम्न प्रकार हैं–

(1) **जनसंख्या में तीव्र वृद्धि** (Rapid Increase in Population)–बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य एवं महत्वपूर्ण कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है जो 2.5 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है, जबकि रोजगार की सुविधाएँ उस दर से नहीं बढ़ रही हैं। यहाँ प्रतिवर्ष 70 लाख व्यक्ति रोजगार चाहने वालों की संख्या में जुड़ हो हैं।

(2) **नियोजन में दोष** (Defective Planning)–देश में 1951 से नियोजन का कार्य चल रहा है लेकिन यह नियोजन त्रुटिपूर्ण रहा है। इसमें रोजगारमूलक नीति का प्रतिपादन नहीं किया गया है, फलतः बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

(3) **आर्थिक विकास की धीमी गति** (Slow Rate of Economic Growth)–रोजगार की मात्रा में वृद्धि आर्थिक विकास की दर पर निर्भर करती है। जब आर्थिक विकास की दर तीव्र होती है तो रोजगार के अधिक अवसर उत्पन्न होते हैं। पिछले 47 वर्षों के योजनाबद्ध विकास के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था में वार्षिक विकास दर 3.5% ही रही। इससे रोजगार के पर्याप्त अवसर उत्पन्न नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ कि बेरोजगारी बढ़ती गयी।

(4) **रोजगार नीति व श्रम-शक्ति नियोजन** (Employment Policy and Man-power Planning)–स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश का आर्थिक विकास करने का प्रयास किया गया है लेकिन योजनाओं में रोजगार प्रदान करने के सम्बन्ध में कोई व्यापक, प्रगतिशील व प्रभावशाली नीति नहीं

नोट

अपनायी जा सकी है। श्रम-शक्ति के नियोजन की दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई है। परिणामस्वरूप देश में रोजगार बढ़ने के साथ-साथ बेरोजगारी भी बढ़ी है।

(5) आर्थिक सुधार (Economic Reform)—आर्थिक सुधारों के सात वर्षों (1991-98) में भी विशेषतया पूँजी-गहन विकास, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विनियोग व इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास की धीमी प्रगति के कारण रोजगार के अवसर उतनी तेजी से नहीं बढ़ सके जितनी तेजी से श्रम-शक्ति बढ़ी है। 1996-97 में उद्योगों को **तरलता संकट** का सामना करना पड़ा जिससे औद्योगिक क्षेत्र में रुग्णता के फैलने से भी रोजगार-संवर्द्धन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसका विशेष असर लघु उद्योगों पर देखा गया है जिन्हें कार्यशील पूँजी के अभाव का सामना करना पड़ा है।

बेरोजगारी की स्थिति विस्फोटक होती जा रही है, इसका एक कारण यह भी है कि संगठित क्षेत्र के दोनों भागों (सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र) में रोजगार वृद्धि दर में कमी आयी है। सार्वजनिक क्षेत्र में तो रोजगार वृद्धि की दर 1998 में ऋणात्मक हो गयी और 1999 में नगण्य रही। इसी प्रकार निजी क्षेत्र में भी रोजगार वृद्धि दर में कमी आयी है।

(II) विशिष्ट कारण (Specific Causes)

भारत में बेरोजगारी के विशिष्ट कारणों का अध्ययन हम निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं–

(अ) ग्रामीण या अदृश्य बेरोजगारी सम्बन्धी कारण (Causes of Rural or Disguise Unemployment)– ऊपर वर्णित सामान्य कारणों के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी में वृद्धि के लिए निम्न घटक उत्तरदायी हैं–

(1) **कृषि की मौसमी प्रकृति** (Seasonal Nature of Agriculture)—आज भी अनेक राज्यों में कृषि मानसून की वर्षा पर निर्भर है। फलत: पूरे वर्ष भर कृषि रोजगार प्रदान नहीं कर पाती। केवल फसल बोने से लेकर उसको काटने तक ही पर्याप्त रोजगार के अवसर रहते हैं एवं वर्ष के शेष माहों में श्रमिक बड़े पैमाने पर बेरोजगार रहते हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी का एक कारण कृषि की मौसमी प्रकृति भी है।

(2) **बढ़ता हुआ जन-भार** (Increase in Pressure of Population)—जनसंख्या की वृद्धि से कृषि भूमि पर जन-भार भी बढ़ा है। आवश्यकता से अधिक जनसंख्या होने से उपलब्ध कृषि पर छिपी हुई बेरोजगारी के आकार में वृद्धि हुई है। इससे औसत ग्रामीण परिवार का स्तर कम हुआ है और प्रति व्यक्ति आय में गिरावट आई है।

(3) **ग्रामीण क्षेत्र में व्यापक निरक्षरता** (Mass Illiteracy in Rural Sector)—भारत में ग्रामीण क्षेत्र में निरक्षरता व्यापक स्तर पर विद्यमान है। इससे ग्रामीण क्षेत्र में अकुशलता में वृद्धि होती है। यही नहीं, निरक्षरता ग्रामीण को विशेष प्रकार के प्रशिक्षण प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त, यह स्थिति कृषि के सहायक उद्योग-धन्धों को अपनाने में भी गतिरोध उत्पन्न करती है।

(4) **पूँजी का अभाव** (Shortage of Capital)—भारत में कृषकों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। कृषकों की आय कम होने के कारण वे अधिक बचत नहीं कर पाते। फलत: उनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी नहीं होती। पूँजी की कमी के कारण किसानों के पास कृषि से सम्बन्धित पूँजी के साधनों का अभाव बना रहता है और उन्हें वैकल्पिक कार्य भी उपलब्ध नहीं हो पाते।

(5) **सामाजिक स्थिति** (Social Status)—भारत का ग्रामीण समाज अत्यधिक परम्परागत एवं सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों आदि से जकड़ा हुआ है। इससे जाति-व्यवस्था अधिक मजबूत हुई है। ये स्थितियाँ कृषकों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में रुकावट डालती हैं। सामाजिक एवं धार्मिक अन्धविश्वास कृषि श्रमिकों की गतिशीलता पर भी विपरीत प्रभाव डालते हैं।

(6) **सहायक उद्योग-धन्धों का अभाव** (Shortage of Secondary Industries)—भारत की प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि से सम्बन्धित सहायक उद्योग-धन्धों और कुटीर उद्योगों के विकास पर अधिक बल नहीं दिया गया। बाद में पंचवर्षीय योजनाओं में यद्यपि इस दिशा में प्रयास किये गये, फिर भी ग्रामीण

नोट

और कुटीर उद्योगों का अभाव है। फलत: रोजगार के वैकल्पिक अवसर ग्रामीण क्षेत्र में पर्याप्त रूप से नहीं बढ़ पाये हैं।

(ब) नगरीय या शिक्षित बेरोजगारी सम्बन्धी कारण (Causes for Urban or Educated Unemployment)– नगरीय क्षेत्र में औद्योगिक श्रमिकों तथा पढ़े-लिखे लोगों में बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

(1) **दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली** (Defective Education System)–हमारी शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि वह अधिकतर साहित्यिक है, व्यावसायिक नहीं है जिसके फलस्वरूप शिक्षित बेकारी देश में अधिक है। प्रत्येक वर्ष हमारे विश्वविद्यालयों से हजारों विद्यार्थी बी.ए., एम.ए. पास करते हैं। फलत: प्रति वर्ष शिक्षित वर्ग में कार्य ढूँढने वालों तथा कार्य के अवसरों में अन्तर बढ़ता जाता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली 'स्व-रोजगार' (Self-employment) को बढ़ावा न देकर 'रोजगार तलाश करने वालों' (Employment Seekers) को अधिक बढ़ावा देती है जिससे समस्या जटिल होती जाती है। यह बात दक्ष व अदक्ष दोनों प्रकार के श्रमिकों पर लागू होती है।

(2) **प्रतिकूल उत्पादन तकनीकी का चुनाव** (Selection of Unfavourable Technique of Production)– भारत में विभिन्न योजनाओं में उत्पादन के क्षेत्र में विकसित पाश्चात्य तकनीकों का प्रयोग किया गया। फलत: उपभोग-वस्तु उद्योगों व भारी उद्योगों में क्षेत्रीकरण इतना अधिक हो गया कि वर्तमान उपभोग-वस्तुओं व मशीन बनाने वाले उद्योगों में विनियोग की प्रति इकाई रोजगार प्रदान करने की क्षमता बहुत कम है। योजनाओं की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा बेरोजगारी में एक साथ वृद्धि होने का एक कारण यह है कि योजनाओं के अन्तर्गत चुने गये तकनीकी उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करते हैं परन्तु इनसे श्रम की आवश्यकता कम हो जाती है।

(3) **विकास की धीमी गति** (Low Rate of Development)–भारत में योजना काल में यद्यपि आर्थिक विकास हुआ है और उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई है लेकिन आर्थिक विकास की दर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत लक्ष्य से नीची रही है। इस स्थिति में रोजगार के अवसरों में ज्यादा वृद्धि न होना स्वाभाविक ही है।

(4) **विनियोग का निम्न स्तर** (Low Level of Investment)–भारत की बेरोजगारी के प्रमुख कारणों में विनियोग के निम्न स्तर को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। देश में सार्वजनिक विनियोग की वास्तविक मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकती थी। आन्तरिक मुद्रा-स्फीति, विदेशी सहायता की अनिश्चितता व युद्ध की आशंका के कारण पूँजी विनियोग विशेष रूप से 1965-75 के दशक में आशानुकूल नहीं रहा। ऐसी स्थिति में गतिहीनता की स्थिति अर्थव्यवस्था में उत्पन्न हो गयी थी। इस प्रकार विनियोग के अभाव के कारण भारत में रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि नहीं की जा सकी है।

(5) **निजी क्षेत्र के समक्ष अनिश्चितता** (Uncertaintics before Private Sector)–निजी क्षेत्र समर्थकों का मत है कि सरकारी नीतियाँ निजी क्षेत्र को हतोत्साहित करती हैं जिससे रोजगार के अवसर बढ़ाने में अपना पूरा योगदान नहीं दे पाते। भूतकाल में सरकार की कर नीति विनियोग को प्रोत्साहन देने वाली नहीं रही है।

(6) **शिक्षितों का दृष्टिकोण** (Attitudes of Educated People)–देश में शिक्षितों का दृष्टिकोण विचित्र है, सफेदपोश कुर्ता पसन्द है। उनमें शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि है, ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने से घृणा है। वे शहरी वातावरण को लालायित हैं। वे तकनीकी व ग्रामीण-रोजगारों में जाना नहीं चाहते, अत: शिक्षित बेकारी बढ़ी है।

(7) **व्यावसायिक शिक्षा की धीमी गति** (Slow Progress of Vocational Education)–देश में सामान्य शिक्षा का तेजी से विकास हुआ है किन्तु व्यावसायिक व तकनीकी शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही है। इससे सामान्य शिक्षितों में बेरोजगारी निरन्तर बढ़ती ही गयी। अब तो तकनीकी शिक्षा प्राप्त लोगों में भी बेकारी व्याप्त है।

नोट

(8) **रोजगार मार्गदर्शन का अभाव** (Lack of Employment Guidance)–देश में नियोजकों व रोजगार चाहने वालों के बीच निकट सम्पर्क कराने वाली संस्थाओं की कमी रही है। अत: रोजगार सूचनाओं, उपयुक्त मार्गदर्शन तथा उनमें ताल-मेल बैठाने की सेवाओं का नितान्त अभाव रहा है।

नोट्स भारत की बेरोजगारी के प्रमुख कारणों में विनियोग के निम्न स्तर को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। देश में सार्वजनिक विनियोग की वास्तविक मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकी है।

स्व-मूल्यांकन

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है जो ..... की दर से बढ़ रही है।
2. भारत में ..... से नियोजन का कार्य चल रहा है।
3. 1996-97 में उद्योगों को ..... का सामना करना पड़ा।
4. सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर ..... में ऋणात्मक हो गई थी।
5. भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी का एक कारण कृषि का ..... प्रकृति भी है।

8.3 भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपाय (Measures to Eradicate Unemployment in India)

भारत में बेरोजगारी दूर करने के विभिन्न उपाय हैं जो निम्न प्रकार हैं–

(I) सामान्य उपाय (General Measures)

सामान्य उपायों में वे उपाय सम्मिलित किये गये हैं जो भारत में सभी प्रकार की बेरोजगारी को दूर करने में सहायक हो सकते हैं। इनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(1) **जनसंख्या नियन्त्रण** (Contral of Population)–भारत में प्रति वर्ष श्रम-शक्ति में 70 से 80 लाख की वृद्धि हो रही है। इतनी अधिक मात्रा में रोजगार के अवसर उत्पन्न करना कठिन है। अत: बेरोजगारी की समस्या का निराकरण करने के लिए जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।

(2) **विनियोग के दर में वृद्धि** (Increase in Investment Rate)–रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के लिए घरेलू बचतों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे कि पूँजी निर्माण ऊँची दर से किया जा सके और विनियोग दर में वृद्धि की जा सके। इससे नये-नये उद्योगों में वृद्धि होगी।

(3) **जन-शक्ति नियोजन** (Man-power Planning)–देश में जन-शक्ति नियोजन किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में श्रम एवं पूर्ति के बीच समसायोजन किया जाना चाहिए। समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही शिक्षा का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए श्रमिकों की भारी माँग व उसकी पूर्ति के बारे में पहले से पता लगा लिया जाना चाहिए तथा उसी के अनुसार प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) **रोजगार-उन्मुख नियोजन** (Employment-oriented Planning)–देश में नियोजन करते समय रोजगार सृजन को प्रमुख स्थान देना चाहिए। यह सही है कि आर्थिक विकास होने पर रोजगार में वृद्धि होगी परन्तु देश में इस उद्देश्य को अलग से प्राथमिकता देना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जो नीतियाँ इस दिशा में बाधक दिखायी देती हैं, उन्हें तुरन्त हटा देना चाहिए।

नोट

(5) **प्राकृतिक साधनों का सर्वेक्षण** (Survey of Natural Resources)–सरकार को प्राकृतिक साधनों का विस्तृत सर्वेक्षण करके उन सम्भावनाओं का पता लगाना चाहिए जिनसे नये-नये उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं।

(6) **सामाजिक सुधार** (Social Reforms)–भारत में सामाजिक ढाँचे में उपयुक्त परिवर्तन किया जाय, ताकि जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली आदि के दोष दूर हो सकें और श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होकर रोजगार के अवसर बढ़ सकें।

(7) **उद्यमिता के गुणों का विकास** (Development of Entrepreneur's Qualities)–प्रारम्भ से ही छात्र-छात्राओं में उद्यमिता के गुणों का विकास कर उन्हें स्वरोजगार के लिए तैयार किया जाये। स्वरोजगार के लिए एक बार प्रेरित होने के बाद व्यक्ति सरकारी अथवा निजी नौकरी की ओर नहीं भागता बल्कि वह उपलब्ध साधनों की ओर कदम बढ़ाता है।

(II) विशिष्ट उपाय (Specific Measures)

(अ) ग्रामीण बेरोजगारी दूर करने सम्बन्धी उपाय (Measures for Removing Rural Employment)– भारत में ग्रामीण बेरोजगारी को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जाने की आवश्यकता है–

(1) **ग्रामीण औद्योगीकरण को बढ़ावा** (Encouragement to Rural Industrialisation)–ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास किया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात, बैंक सेवाओं, विद्युत आपूर्ति आदि सुविधाओं का विकास किया जाय। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में फैली बेरोजगारी को दूर करने में मदद मिलेगी।

(2) **कृषि में संस्थागत परिवर्तन** (Institutional Changes in Agriculture)–कृषिगत विकास से रोजगार के अवसर अवश्य बढ़ेंगे लेकिन इस विकास के लिए संस्थागत व तकनीकी परिवर्तन एक साथ होने चाहिए। इसके लिए एक तरफ भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किये जाने चाहिए और दूसरी ओर, सिंचाई, उर्वरक, बीज आदि का तेजी से विस्तार करके कृषिगत उत्पादकता में वृद्धि की जानी चाहिए।

(3) **गाँव में रोजगारोन्मुख नियोजन** (Employment-oriented Planning in Villages)–गाँव में सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए रोजगार के अनेक अवसर उत्पन्न किये जा सकते हैं लेकिन आवश्यकता है गाँव को ठीक से बसाने की एवं उनका समुचित विकास करने की। गाँव में इन्जीनियरों, ओवरसियरों, अध्यापकों, डाक-बाबुओं व डाकियों, मोटरचालकों, डॉक्टरों, छोटे उद्यमकर्ताओं व मिस्त्रियों तथा अन्य व्यक्तियों के लिए रोजगार की विशाल सम्भावनाएँ निहित हैं। ग्रामीण विद्युतीकरण से गाँवों में आधुनिक जीवन की सभी सुविधाएँ पहुँचायी जा सकती हैं और धीरे-धीरे वहाँ की जनशक्ति को उत्पादक कार्यों में लगाया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि हमारा लक्ष्य केवल 'मजदूरी पर रोजगार' उत्पन्न करना ही नहीं है बल्कि हम साथ में 'स्वरोजगार' के अनेक अवसर भी विकसित करना चाहते हैं।

(4) **ग्राम पंचायतों का दायित्व** (Responsibility of Village Panchayats)–स्थानीय रोजगार का दायित्व ग्राम पंचायतों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। ग्रामीण रोजगार योजनाओं के प्रबन्धकर्ताओं को विकास का दायित्व दिया जाय तथा कार्यक्रमों की समयबद्धता सुनिश्चित की जाये।

(5) **भूमि सुधार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन** (Implementation of Land-reform Programmes)–भारत में भूमि सुधार कार्यक्रमों का शीघ्रता से क्रियान्वयन किया जाय, जैसे–कृषि जोतों की सीमाबन्दी करके फालतू जमीन का वितरण किया जाय, भूमि की चकबन्दी की जाय, का संयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाकर उसको वितरित कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त, जिन लोगों को भूमि आवंटित की गयी है, उनको तथा छोटे किसानों को कृषि से सम्बन्धित आवश्यक साधन उपलब्ध कराये जायें। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार में वृद्धि होगी।

नोट

(6) **बहुफसली कृषि को प्रोत्साहन** (Encouragement in Multiple Cropping in Agriculture)– भारत में बहुफसली कृषि को प्रोत्साहन दिया जाय जिससे कि श्रमिकों को पूर्ण रोजगार उपलब्ध हो सके। बहुफसली कार्यक्रम के लिए आवश्यक है कि सिंचाई, उन्नत बीज, साख आदि की व्यवस्था की जाय तथा कृषि तकनीक का विकास किया जाय।

(ब) शहरी बेरोजगारी दूर करने सम्बन्धी उपाय (Measures to Remove Urban Unemployment)–भारत में शहरी बेरोजगारी को दूर करने में निम्न उपाय सम्मिलित किये जा सकते हैं–

(1) **उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग** (Full Utilisation of Production Capacity)–भारत में अधिकांश बड़े उद्योग अपनी स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। इसका प्रमुख कारण बिजली की पूर्ति, कच्चे माल, परिवहन सुविधाओं आदि का अभाव होना है। इन आधारभूत सुविधाओं के अभाव के कारण कई उद्योगों में क्षमता-उपयोगिता बहुत कम है। अत: सरकार को इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षमता के अनुरूप उत्पादन होने से रोजगार की मात्रा में भी वृद्धि होती है।

(2) **लघु उद्योगों को प्रोत्साहन** (Encouragement to Small Industries)–स्वरोजगार योजना को प्रोत्साहन देने के लिए वित्त, तकनीकी प्रशिक्षण, कच्चा माल तथा मशीनरी आदि की सुविधाएँ उदारतापूर्वक उपलब्ध करायी जानी चाहिए। विभिन्न अध्ययनों से यह बात स्पष्ट होती है कि लघु उद्योग की रोजगार निर्माण क्षमता बड़े उद्योगों की तुलना में बहुत अधिक होती है। अत: लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देकर रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जा सकती है। जापान, दक्षिण कोरिया, ताइवान आदि कई देशों में लघु उद्योगों का जाल फैलाकर रोजगार के अवसरों में वृद्धि की गयी है।

(3) **शिक्षा का व्यावहारिक रूप** (Practical Form of Education)–शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने लिए शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। शिक्षा प्रणाली को व्यवसाय-उन्मुख बनाया जाना चाहिए। शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए शिक्षा को रोजगार-उन्मुख (Job-oriented) बनाना आवश्यक है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रमों (Vocational Courses) की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) **सीमित स्वचालन पर नियन्त्रण** (Control on Limited Automation)–विगत वर्षों में भारत में उद्योगपतियों ने मशीनों के आधुनिकीकरण व स्वचालन पर बहुत जोर दिया है। इसका कारण जहाँ उत्पादन क्षमता को बढ़ाना है, वहाँ सम्भवत: श्रमिकों पर कम निर्भर रहना है परन्तु रोजगार की दृष्टि से यह नीति उचित नहीं है। अत: सरकार को केवल पूँजीगत वस्तुओं तथा निर्यात से सम्बन्धित वस्तुओं के सम्बन्ध में स्वचालन की अनुमति देनी चाहिए।

(5) **उदारीकरण की नीति** (Liberalisation Policy)–भारत सरकार की 1991 की आर्थिक उदारीकरण की नीति के बाद से देश में विदेशी कम्पनियों की भरमार हो गयी है। इन कम्पनियों द्वारा वृहद् पैमाने के उद्योगों की स्थापना का क्रम जारी है। इन उद्योगों में आधुनिक मशीनों के माध्यम से उत्पादन किया जाता है जिससे मानवीय श्रम का उपयोग कम होता जा रहा है, जबकि देश में मानव-शक्ति की कमी नहीं है। यद्यपि उदारीकरण की यह नीति जारी रहना उचित है किन्तु इस नीति के माध्यम से ऐसे उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जो श्रम-प्रधान हों। अनुमान है कि उतनी ही पूँजी लगाने पर लघु उद्योग वृहद् उद्योग की तुलना में पाँच गुना अधिक व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्रदान कर सकते हैं।

8.4 रोजगार हेतु सरकारी उपाय (Governmental Measures For Employment)

प्रारम्भ की तीन पंचवर्षीय योजनाओं में रोजगार वृद्धि के लिए सरकार ने कोई प्रत्यक्ष कदम नहीं उठाये। द्वितीय तथा तृतीय योजनाओं में अनेक पूँजी-प्रधान उद्योगों का विकास किया गया। परिणामस्वरूप **तृतीय योजना** के अन्त में

नोट

बेरोजगारी की समस्या ने विकराल रूप धारण करना आरम्भ कर दिया।

चतुर्थ व विशेष रूप से **पंचम्** एवं **छठी** योजना में अनेक उपायों की व्यवस्था की गयी और इस समस्या पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

सातवीं योजना में रोजगार उत्पन्न करने के लिए कृषि क्षेत्र के महत्व को स्वीकारा गया परन्तु यह क्षेत्र सम्पूर्ण बेरोजगारी को दूर नहीं कर सका। अत: ग्रामीण विकास विशेष रूप से निर्माणी कार्यों के रूप में ग्रामीण पूँजी निर्माण की बात कही गयी।

आठवीं योजना व **नौवीं योजना** में रोजगार सृजन एक मुख्य उद्देश्य था और यह स्वीकार किया गया कि रोजगार के लिए उत्पादन उन क्षेत्रों में बढ़ाना चाहिए जिनकी रोजगार सृजन की क्षमता काफी है।

सरकार द्वारा रोजगार वृद्धि हेतु समय-समय पर जो उपाय अपनाये गये हैं, उन्हें हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्न तीन भागों में बाँट सकते हैं–

(I) सामान्य रोजगार, (II) विशिष्ट रोजगार एवं (III) रोजगार सेवा।

(I) सामान्य रोजगार (General Employment)

सामान्य रोजगार के अन्तर्गत मजदूरी रोजगार में वृद्धि तथा स्वरोजगार को सम्मिलित किया जाता है। मजदूरी रोजगार में वृद्धि हेतु प्रमुख रूप से योजनाओं में विनियोग वृद्धि तथा उद्योगों में विशेष रूप से लघु एवं कुटीर उद्योगों में श्रम-प्रधान विधियों का सहारा लिया जाता है।

स्वरोजगार के लिए बेरोजगारों की अनेक प्रकार से सहायता की गयी है, जैसे–उनके लिए व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था, आधारिक संरचना का निर्माण, कच्चे माल तथा विपणन सम्बन्धी सुविधाएँ तथा वित्तीय सहायता के लिए संस्थागत प्रबन्ध आदि की व्यवस्था की गयी है।

(II) विशिष्ट रोजगार (Specific Employment)

बेरोजगार एवं निर्धन वर्ग की सहायता के लिए सरकार ने कुछ विशिष्ट कार्यक्रम अपनाये हैं जिनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं–

(1) **जवाहर ग्राम समृद्धि योजना** (Jawahar Gram Smirdhi Yojana)–अप्रैल, 1999 से जवाहर रोजगार योजना को पुनर्गठित करके उसके स्थान पर **जवाहर समृद्धि योजना** आरम्भ की गयी है। यह योजना गाँवों में रहने वाले गरीबों के जीवन स्तर को सुधारने तथा उन्हें लाभप्रद रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए लागू की गयी है। इस योजना की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(*i*) इस योजना का मुख्य उद्देश्य है गाँवों में रहने वाले गरीब बेरोजगारों के लिए निरन्तर रोजगार के अवसर उत्पन्न करना। इसके लिए स्थायी परिसम्पत्तियों सहित माँग प्रारित बुनियादी ढाँचे का निर्माण किया जायेगा।

(*ii*) इस योजना के अन्तर्गत **गरीबी रेखा से नीचे** रहने वाले लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया जायेगा। अनुसूचित जाति तथा जनजाति परिवारों तथा शारीरिक रूप से अपंग व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जायेगी।

(*iii*) यह कार्यक्रम पूरी तरह **ग्राम पंचायत** स्तर तक लागू किया जा रहा है।

(2) **स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना** (Swarna Jayanti Gram Swarojgar Yojana–SJGSY)–गरीबी उन्मूलन एवं रोजगार सृजन की पूर्व में चल रही निम्नांकित योजनाओं को 31 मार्च, 1999 को समाप्त घोषित करके अप्रैल, 1999 से स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना लागू की गयी है और पूर्व की सभी योजनाओं को इस योजना में विलय कर दिया गया है–

नोट

(*i*) एकीकृत ग्रामीण विकास योजना (IRDP),

(*ii*) ट्राइसेम (TRYSEM),

(*iii*) ग्रामीण महिला एवं बालोत्थान योजना (डवाकरा),

(*iv*) दस लाख कूप योजना (MWS)।

उद्देश्य (Objectives)–इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(*i*) गरीबी उन्मूलन के लिए संकेन्द्रित प्रयास,

(*ii*) सामूहिक ऋणों के लाभों का पूँजीकरण,

(*iii*) कार्यक्रमों की बहुलता सम्बन्धित समस्याओं को दूर करना।

इस योजना की वित्तीय व्यवस्था केन्द्र और राज्यों द्वारा 75 : 25 में की जाती है। इस पर केन्द्र सरकार द्वारा 1999-2000 में 701 करोड़ रुपये व्यय किये गये और 2000-2001 में इस योजना पर 1,000 करोड़ व्यय करने का प्रस्ताव था।

(3) **उद्यमिता विकास कार्यक्रम** (1986)–18 से 35 वर्ष के शिक्षित बेरोजगार की लघु औद्योगिक इकाइयों की स्थापना हेतु ऋण, कच्चा माल, औद्योगिक सहायता तथा विद्युत कनेक्शन आदि उपलब्ध कराकर उन्हें स्वरोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस योजना को प्रारम्भ किया गया।

(4) **अम्बेडकर विशेष रोजगार योजना** (1991)–ग्रामीण अंचलों के बेरोजगारों को आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर करने तथा उन्हें ग्रामीण अंचलों से शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन रोकने के उद्देश्य से ग्राम्य विकास विभाग द्वारा इसी योजना का क्रियान्वयन किया गया।

(5) **प्रधानमंत्री रोजगार योजना** (1993) (PMRY)–18 से 35 वर्ष आयु वर्ग के शिक्षित बेरोजगार नवयुवकों को उद्योग, सेवा अथवा व्यवसाय से सम्बन्धित परियोजनाओं हेतु उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते हुए उन्हें आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से इस योजना का क्रियान्वयन किया गया है।

(6) **सुनिश्चित रोजगार योजना** (1993) (EAS)–ग्रामीण गरीबों को गैर-कृषि के महीनों में वर्ष में कम से कम सौ दिन का सुनिश्चित रोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस योजना को लागू किया गया है।

रोजगार आश्वासन योजना की शुरूआत विभिन्न राज्यों के सूखा सम्भावित क्षेत्रों, मरुभूमि क्षेत्रों, जनजातीय तथा पर्वतीय क्षेत्रों में चुने गये 1,778 विकास खण्डों में 2 अक्टूबर, 1993 से की गयी थी। बाद में यह योजना चरणबद्ध रूप से देश के शेष विकास खण्डों में भी लागू की गयी थी। सभी विकास खण्डों में चलायी जा रही इस योजना का पहली अप्रैल, 1999 से पुनर्गठन किया गया है।

1998-99 के दौरान इस योजना के लिए केन्द्र ने 1,990 करोड़ रुपये का आबंटन किया था। योजना के अन्तर्गत संसाधनों का बँटवारा केन्द्र और राज्य सरकारें क्रमशः 75 : 25 के अनुपात में करेंगी।

(7) **रोजगार छतरी योजना** (1998)–ग्रामीण विकास में लगे विभिन्न सोलह विभागों की योजनाओं को समन्वित करते हुए इस योजना को बेरोजगारों के लिए सुविधाजनक बनाते हुए चलाया जा रहा है।

(8) **स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना** (1997)–स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना 1 दिसम्बर, 1997 से शहरी क्षेत्रों में निर्धनता निवारण के उद्देश्य से प्रारम्भ की गयी है।

(9) **ट्रायसेम योजना** (1979)–ट्रायसेम योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारों को रोजगार दिलाना है।

(10) **खेतिहर मजदूर रोजगार गारण्टी कार्यक्रम** (1983)–इसका उद्देश्य भूमिहीन श्रमिकों को रोजगार की सुविधाएँ उपलब्ध कराना है। इसमें परिवार में एक सदस्य को कम से कम 100 दिन रोजगार प्रदान करना है।

(11) **जवाहर ग्राम समृद्धि योजना** (JGSY)–इस योजना को जवाहर रोजगार योजना की पुनर्संरचना करके बनाया गया है। इसे अप्रैल 1999 से प्रारम्भ किया गया है। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र के बेरोजगार व अल्परोजगार के साथ महिलाओं को अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध कराना है।

नोट

(12) **शहरी मजदूरी रोजगार योजना** (UWEP)–इसका उद्देश्य शहरी निकायों में मजदूरों को रोजगार व मजदूरी दिलाना है।

(13) **शहरी सवेतन रोजगार योजना** (SUWE)–एक लाख से 20 लाख की जनसंख्या वाली शहरी बस्तियों में आश्रय उन्नयन द्वारा रोजगार प्रदान करना।

(14) **सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना**–ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न कराने के उद्देश्य से इस महत्वाकांक्षी योजना को 15 अगस्त, 2001 से प्रारम्भ करने की घोषणा प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा की गयी जिसमें 10,000 करोड़ रुपये व्यय किये जाने का प्रावधान था इसके अन्तर्गत पंचायतों द्वारा संचालित स्थायी विकास कार्यक्रमों में काम करने वालों को नकद व अनाज के रूप में मजदूरी का प्रावधान था इसके लिए 5,000 करोड़ मूल्य का 50 लाख टन अनाज राज्यों को प्रति वर्ष वितरित किया जायेगा व 5,000 करोड़ रुपया वेतन व अन्य मदों पर व्यय होगा तथा भविष्य में संचालित सभी रोजगार योजनाओं को इसमें सम्मिलित कर दिया जायेगा।

टास्क अनौपचारिक क्षेत्रक से आप क्या समझते हैं?

इस योजना के क्रियान्वयन पर केन्द्र व राज्य सरकारें 75 व 25 के अनुपात में वहन करेंगी। इस प्रकार 8,750 करोड़ रुपये केन्द्रीय ग्रामीण रोजगार मन्त्रालय तथा शेष 1,250 करोड़ रुपये राज्य सरकारें उपलब्ध करायेंगी। इस योजना का मूल उद्देश्य पंचायती राज संस्थाओं द्वारा संचालित कर ग्रामीण बुनियादी ढाँचे का तेजी से विकास करना और योजना के द्वारा 100 करोड़ मानव दिवस रोजगार का सृजन करना था। इसमें 50% कार्य जिला परिषद् करेगी जिसमें 30% पंचायत समिति के जिम्मे होगा व शेष 50% ग्राम पंचायत के हिस्से में होगा। प्रति मानव दिवस के लिए 5 किग्रा. अनाज दिया जायेगा। अनाज व वेतन अनिवार्यत: प्रत्येक सप्ताह वितरित होगा। इसका लाभ अ/जा, अ.ज.जा. व गरीबी रेखा से नीचे के लोगों को मिलेगा। इस योजना के तहत मिट्टी व नमी संरक्षण, जल स्रोत का विकास, वन्य रोपण, सड़क व स्कूल भवनों का निर्माण आदि कार्य निर्धारित किये गये।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. गाँवों में रहने वाले गरीबों के जीवन स्तर को सुधारने एवं लाभप्रद रोजगार उपलब्ध कराने के लिए जवाहर रोजगार समृद्धि योजना कब प्रारम्भ हुई-
   (क) फरवरी 1999 (ख) अप्रैल 1999 (ग) मार्च 1999 (घ) मई 1999 ।
2. गरीबी उन्मूलन एवं रोजगार सृजन हेतु स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना प्रारम्भ हुई-
   (क) अप्रैल 1999 (ख) सितम्बर 1999 (ग) जून 1999 (घ) नवम्बर 1999 ।
3. 18 से 35 वर्ष के शिक्षित बेरोजगारों को स्वरोजगार के प्रोत्साहन के लिए उद्यमिता विकास कार्यक्रय शुरू किया गया-
   (क) 1985 में (ख) 1987 में। (ग) 1986 में। (घ) 1990 में।
4. ग्रामीण अंचल के बेरोजगारों का शहरों की ओर पलायन रोकने के लिए ग्राम्य विकास विभाग द्वारा अम्बेडकर विशेष रोजगार योजना प्रारम्भ की गई-
   (क) 1990 (ख) 1992 (ग) 1991 (घ) 1994 ।

नोट

5. 15 अगस्त 2001 से सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना को प्रारम्भ करने का श्रेय किस भारतीय प्रधानमंत्री को जाता है।

(क) राजीव गाँधी (ख) अटल बिहारी वाजपेयी

(ग) चन्द्रशेखर सिंह (घ) डा. मनमोहन सिंह।

8.5 सारांश (Summary)

- बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार है परन्तु उसे काम नहीं मिलता।
- जब वर्ष के कुछ महीनों या विशेष अवधि में प्रति वर्ष बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो इस प्रकार की बेरोजगारी को मौसमी बेरोजगारी कहते हैं।
- जब देश में व्यापार-चक्र में मन्दी के कारण बेरोजगारी उत्पन्न हो तो इसे चक्रीय बेरोजगारी कहा जाता है।
- छिपी हुई बेरोजगारी से हमारा तात्पर्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उस स्थिति से है जिसमें श्रमिक काम पर लगा हुआ मालूम होता है किन्तु उत्पादन में उसका अंशदान नहीं के बराबर होता है अर्थात् सीमान्त उत्पादन शून्य होता है।
- उत्पादन की तकनीकों में परिवर्तन के कारण कुछ लोग बेरोजगार हो जाते हैं क्योंकि नई तकनीक के प्रयोग में वे कुशल नहीं होते हैं अथवा इसके कारण उत्पादन श्रम की वांछित मात्रा में कमी हो जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी को घर्षणात्मक बेरोजगारी कहते हैं।
- बेरोजगारी एक ऐसी स्थिति है जहाँ श्रम-शक्ति (श्रम की पूँजी) व रोजगार के अवसरों (श्रम की माँग) में अन्तर होता है। बेरोजगारी श्रमिकों की माँग की अपेक्षा उनकी पूर्ति के अधिक होने का परिणाम है। **बेरोजगारी से आशय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति वर्तमान मजदूरी की दर पर काम करने को तैयार होता है परन्तु उसे काम नहीं मिलता।**
- भारत में बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी कुछ सामान्य कारण निम्न प्रकार हैं–
  - (*i*) बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य एवं महत्वपूर्ण कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है जो 2.5 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है, जबकि रोजगार की सुविधाएँ उस दर से नहीं बढ़ रही हैं। यहाँ प्रतिवर्ष 70 लाख व्यक्ति रोजगार चाहने वालों की संख्या में जुड़ जाते हैं।
  - (*ii*) देश में 1951 से नियोजन का कार्य चल रहा है लेकिन यह नियोजन त्रुटिपूर्ण रहा है। इसमें रोजगारमूलक नीति का प्रतिपादन नहीं किया गया है, फलत: बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।
  - (*iii*) रोजगार की मात्रा में वृद्धि आर्थिक विकास की दर पर निर्भर करती है। जब आर्थिक विकास की दर तीव्र होती है तो रोजगार के अधिक अवसर उत्पन्न होते हैं। पिछले 47 वर्षों के योजनाबद्ध विकास के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था में वार्षिक विकास दर 3.5% ही रही। इससे रोजगार के पर्याप्त अवसर उत्पन्न नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ कि बेरोजगारी बढ़ती गयी।
- आज भी अनेक राज्यों में कृषि मानसून की वर्षा पर निर्भर है। फलत: पूरे वर्ष भर कृषि रोजगार प्रदान नहीं कर पाती। केवल फसल बोने से लेकर उसको काटने तक ही पर्याप्त रोजगार के अवसर रहते हैं एवं वर्ष के शेष माहों में श्रमिक बड़े पैमाने पर बेरोजगार रहते हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी का एक कारण कृषि की मौसमी प्रकृति भी है।
- भारत में ग्रामीण क्षेत्र में निरक्षरता व्यापक स्तर पर विद्यमान है। इससे ग्रामीण क्षेत्र में अकुशलता में वृद्धि होती है। यही नहीं, निरक्षरता ग्रामीण को विशेष प्रकार के प्रशिक्षण प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करती है।
- भारत में कृषकों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। कृषकों की आय कम होने के कारण वे अधिक बचत नहीं कर पाते। फलत: उनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी नहीं होती। पूँजी की कमी के कारण किसानों के पास कृषि से सम्बन्धित पूँजी के साधनों का अभाव बना रहता है और उन्हें वैकल्पिक कार्य भी उपलब्ध नहीं हो पाते।

नोट

- हमारी शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि वह अधिकतर साहित्यिक है, व्यावसायिक नहीं है जिसके फलस्वरूप शिक्षित बेकारी देश में अधिक है।
- वर्तमान शिक्षा प्रणाली 'स्व-रोजगार' (Self-employment) को बढ़ावा न देकर 'रोजगार तलाश करने वालों' (Employment Seekers) को अधिक बढ़ावा देती है, जिससे समस्या जटिल होती जाती है। यह बात दक्ष व अदक्ष दोनों प्रकार के श्रमिकों पर लागू होती है।
- निजी क्षेत्र समर्थकों का मत है कि सरकारी नीतियाँ निजी क्षेत्र को हतोत्साहित करती हैं जिससे रोजगार के अवसर बढ़ाने में अपना पूरा योगदान नहीं दे पाते। भूतकाल में सरकार की कर नीति विनियोग को प्रोत्साहन देने वाली नहीं रही है।
- भारत में प्रति वर्ष श्रम-शक्ति में 70 से 80 लाख की वृद्धि हो रही है। इतनी अधिक मात्रा में रोजगार के अवसर उत्पन्न करना कठिन है। अत: बेरोजगारी की समस्या का निराकरण करने के लिए जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।
- रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के लिए घरेलू बचतों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे कि पूँजी निर्माण ऊँची दर से किया जा सके और विनियोग दर में वृद्धि की जा सके। इससे नये-नये उद्योगों में वृद्धि होगी।
- सरकार को प्राकृतिक साधनों का विस्तृत सर्वेक्षण करके उन सम्भावनाओं का पता लगाना चाहिए जिनसे नये-नये उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं।
- भारत में सामाजिक ढाँचे में उपयुक्त परिवर्तन किया जाय, ताकि जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली आदि के दोष दूर हो सकें और श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होकर रोजगार के अवसर बढ़ सकें।
- ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास किया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात, बैंक सेवाओं, विद्युत आपूर्ति आदि सुविधाओं का विकास किया जाय। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में फैली बेरोजगारी को दूर करने में मदद मिलेगी।
- गाँव में सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए रोजगार के अनेक अवसर उत्पन्न किये जा सकते हैं लेकिन आवश्यकता है गाँव को ठीक से बसाने की एवं उनका समुचित विकास करने की। गाँव में इन्जीनियरों, ओवरसियरों, अध्यापकों, डाक-बाबुओं व डाकियों, मोटरचालकों, डॉक्टरों, छोटे उद्यमकर्ताओं व मिस्त्रियों तथा अन्य व्यक्तियों के लिए रोजगार की विशाल सम्भावनाएँ निहित हैं।
- भारत में बहुफसली कृषि को प्रोत्साहन दिया जाय जिससे कि श्रमिकों को पूर्ण रोजगार उपलब्ध हो सके। बहुफसली कार्यक्रम के लिए आवश्यक है कि सिंचाई, उन्नत बीज, साख आदि की व्यवस्था की जाय तथा कृषि तकनीक का विकास किया जाय।
- स्वरोजगार योजना को प्रोत्साहन देने के लिए वित्त, तकनीकी प्रशिक्षण, कच्चा माल तथा मशीनरी आदि की सुविधाएँ उदारतापूर्वक उपलब्ध करायी जानी चाहिए।
- शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने लिए शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। शिक्षा प्रणाली को व्यवसाय-उन्मुख बनाया जाना चाहिए। शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए शिक्षा को रोजगार-उन्मुख (Job-oriented) बनाना आवश्यक है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रमों (Vocational Courses) की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- सामान्य रोजगार के अन्तर्गत मजदूरी रोजगार में वृद्धि तथा स्वरोजगार को सम्मिलित किया जाता है। मजदूरी रोजगार में वृद्धि हेतु प्रमुख रूप से योजनाओं में विनियोग वृद्धि तथा उद्योगों में विशेष रूप से लघु एवं कुटीर उद्योगों में श्रम-प्रधान विधियों का सहारा लिया जाता है।
- अप्रैल, 1999 से जवाहर रोजगार योजना को पुनर्गठित करके उसके स्थान पर **जवाहर समृद्धि योजना** आरम्भ की गयी है। यह योजना गाँवों में रहने वाले गरीबों के जीवन स्तर को सुधारने तथा उन्हें लाभप्रद रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए लागू की गयी है।

नोट

- गरीबी उन्मूलन एवं रोजगार सृजन की पूर्व में चल रही निम्नांकित योजनाओं को 31 मार्च, 1999 को समाप्त घोषित करके अप्रैल, 1999 से स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना लागू की गयी है और पूर्व की सभी योजनाओं को इस योजना में विलय कर दिया गया है
- **उद्यमिता विकास कार्यक्रम** (1986)–18 से 35 वर्ष के शिक्षित बेरोजगार की लघु औद्योगिक इकाइयों की स्थापना हेतु ऋण, कच्चा माल, औद्योगिक सहायता तथा विद्युत कनेक्शन आदि उपलब्ध कराकर उन्हें स्वरोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस योजना को प्रारम्भ किया गया।
- **प्रधानमंत्री रोजगार योजना** (1993) (PMRY)–18 से 35 वर्ष आयु वर्ग के शिक्षित बेरोजगार नवयुवकों को उद्योग, सेवा अथवा व्यवसाय से सम्बन्धित परियोजनाओं हेतु उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते हुए उन्हें आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से इस योजना का क्रियान्वयन किया गया है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न कराने के उद्देश्य से इस महत्वाकांक्षी योजना को 15 अगस्त, 2001 से प्रारम्भ करने की घोषणा प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा की गयी जिसमें 10,000 करोड़ रुपये व्यय किये जाने का प्रावधान था

8.6 शब्दकोश (Keywords)

- **स्वावलम्बी–** आत्मनिर्भर
- **विकराल–** विकट, भयानक
- **रोजगारोन्मुख–** रोजगार प्रद, रोजगार उपलब्ध कराने में सहायक

8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. बेरोजगारी की अवधारणा एवं इसके कारणों की विवेचना किजिए।

2. भारत में बेरोजगारी की समस्या का विवेचन कीजिए।

3. भारत में बेरोजगारी को दूर करने का विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।

4. भारत सरकार द्वारा बेरोजगारों को रोजगार मुहैया कराने के लिए किये जा रहे उपायों का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

5. ग्रामीण गरीबी दूर करने हेतु क्या सरकारी प्रयास किये गये हैं?

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. 2.5 प्रतिशत 2. 1951 3. तरलता संकट 4. 1998
   5. मौसमी
2. 1. (ग) 2. (क) 3. (ख) 4. (ख)
   5. (ग)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–9: मुद्रास्फीति : प्रकृति एवं प्रसार
(Inflation : Nature and Extent)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 मुद्रा–स्फीति की प्रकृति और आशय (Nature and Meaning of Inflation)

9.2 मुद्रा–स्फीति की अवस्था (Stage of Inflation)

9.3 मुद्रा–स्फीति के कारण (Causes of Inflation)

9.4 मुद्रा–स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)

9.5 मुद्रा–स्फीति कैसे रोकी जाय? (How to Check Inflation?)

9.6 सारांश (Summary)

9.7 शब्दकोश (Keywords)

9.8 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

9.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मुद्रा स्फीति का आशय प्रकार तथा अवस्था को समझने में।
- मुद्रा स्फीति के क्या कारण है तथा इसका प्रभाव जानने में।
- मुद्रा स्फीति और आर्थिक विकास के संबंध का विवेचन करने में।
- मुद्रा स्फीति कैसे रोकी जाए इसकी व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक मुद्रा–व्यवस्था में यह दोष है कि उसके मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नीतियों पर निर्भर करते हैं तथा कभी–कभी प्राकृतिक कारणों से प्रभावित होते हैं। **विकासशील अर्थव्यवस्था में प्रायः वस्तुओं के भाव बढ़ते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि मुद्रा के मूल्य में कमी होती है अथवा मुद्रा की क्रय-शक्ति** (Purchasing Power) **कम हो जाती है।** कभी–कभी अकस्मात् वस्तुओं के मूल्य गिरने आरम्भ हो जाते हैं अर्थात् मुद्रा की क्रय–शक्ति बढ़ जाती है। साधारण भाषा में इन दोनों परिस्थितियों को क्रमशः मुद्रा–स्फीति (Inflation) और मुद्रा–संकुचन (Deflation) की स्थिति कहते हैं परन्तु **मुद्रा–स्फीति** अथवा **संकुचन** केवल **मूल्य में वृद्धि** अथवा **कमी** की स्थितियाँ नहीं हैं। उसके सम्बन्ध में गत वर्षों में बहुत विचार–विमर्श तथा वाद–विवाद हुआ है, अतः इनके सम्बन्ध में वस्तु–स्थिति की जानकारी के लिए विस्तृत विचार करना आवश्यक है।

नोट

9.1 मुद्रा-स्फीति की प्रकृति और आशय (Nature and Meaning of Inflation)

अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी (1930-34) की समाप्ति तक प्राय: यह समझा जाता था कि मुद्रा-स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा की मात्रा वस्तुओं तथा सेवाओं की तुलना में असाधारण गति से बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-स्तर बढ़ जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। **इस विचार पर कि केवल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण मुद्रा-स्फीति हो जाती है,** केन्स (Keynes) ने सर्वप्रथम प्रहार किया। उन्होंने बताया कि मुद्रा प्रसार के कारण विविध और जटिल (Diversified and Complex) हैं, जैसे–बचत, विनियोग तथा ब्याज की दर आदि। तत्पश्चात् मुद्रा-स्फीति की परिभाषा में क्रमिक सुधार हुए हैं।

अंग्रेजी शब्द इन्फ्लेशन का अर्थ होता है फैलाव (Expansion)। जब फुटबॉल में हवा भरते हैं तो उसे भी इन्फ्लेट (Inflate) कहते हैं। आपने अपनी साइकिल के टायरों पर भी लिखा देखा होगा 'इन्फ्लेट हार्ड' (Inflate Hard) जिसका अर्थ होता है खूब हवा भरिए। इस दृष्टि से यदि **'स्फीति'** का अर्थ देखा जाय तो उसका तात्पर्य होता है फैलाव या वृद्धि। जब 'स्फीति' शब्द का प्रयोग आर्थिक क्षेत्र में किया जाता है तो उसका एक ही अर्थ लिया जाता है **'मुद्रा की मात्रा में फैलाव'** या 'मुद्रा का अत्यधिक प्रसार' मुद्रा प्रसार की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नांकित हैं–

(1) **क्राउथर** (Crowther)–**"मुद्रा-स्फीति वह अवस्था है जिसमें मुद्रा का मूल्य गिरता है और वस्तुओं के मूल्य बढ़ते हैं।"** अर्थात् वह ऐसी स्थिति को मुद्रा-स्फीति मानते हैं जबकि वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती है।

आलोचना–(*i*) वास्तव में, वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने का एक निश्चित परिणाम यह होता है कि मुद्रा की स्वयं की कीमत गिर जाती है। अत: दोनों बातों का कहना कि **"वस्तुओं के मूल्य बढ़ते हैं और मुद्रा के मूल्य कम होते हैं"** आवश्यक नहीं जान पड़ता। (*ii*) **यह मान लेना कठिन है कि जब भी वस्तु-मूल्यों में वृद्धि हो, तब ही मुद्रा-स्फीति की स्थिति होती है** क्योंकि वस्तु-मूल्यों में वृद्धि के अनेक प्राकृतिक एवं आर्थिक कारण हो सकते हैं और कभी-कभी सट्टे वालों की क्रिया से मूल्यों में आकस्मिक वृद्धि होती है। यह वृद्धि मुद्रा-स्फीति के कारण नहीं होती।

(2) **पीगु** (Pigou)–मुद्रा-स्फीति वह स्थिति है, **"जबकि मौद्रिक आय उत्पादक तत्वों की तुलना में तेजी से बढ़ रही हो।"**

आलोचना–इसका अर्थ यह है कि यदि समाज के पास कार्यशील मुद्रा (आमदनी या लाभ के रूप में) तेजी से बढ़ रही हो और उत्पादन के बढ़ने की गति उतनी तेज नहीं हो तो मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। उदाहरणस्वरूप, यदि जनता की मौद्रिक आय 10 प्रतिशत की गति से बढ़ रही हो और उत्पादन में केवल 3-4 प्रतिशत वृद्धि हो रही हो तो मुद्रा-स्फीति का होना आवश्यक है।

(3) **ग्रेगरी** (Gregory)–**"क्रय शक्ति की मात्रा में असाधारण वृद्धि ही मुद्रा-स्फीति है।"** इसी प्रकार हॉट्रे की मान्यता है कि **'अत्यधिक मुद्रा निर्गमन'** ही मुद्रा-स्फीति है।

आलोचना–मुद्रा की मात्रा में असाधारण वृद्धि (Extra-oridinary Increase) से क्या तात्पर्य है, 'अत्यधिक मुद्रा' का क्या अर्थ है, यह दोनों ही धारणाएँ मुद्रा की मात्रा में सापेक्षिक या तुलनात्मक वृद्धि की कल्पना करती हैं।

(4) **पॉल ईंजिग** (Paul Einzig) ने सभी पुरानी परिभाषाओं को अधूरार तथा अनुपयुक्त बताते हुए लिखा है कि **"मुद्रा-स्फीति क्रय-विक्रय की विस्तारशील प्रवृत्ति है जो मूल्य-स्तर में वृद्धि करने या स्वयं उसके प्रभाव से बढ़ने की प्रवृत्ति रखती है।"**

आलोचना–इस परिभाषा के अनुसार मुद्रा या साख की मात्रा मूल्य-स्तर को प्रभावित करती है और उससे प्रभावित भी होती है। यह एक विलक्षण सत्य है कि मुद्रा में वृद्धि के कारण वस्तु-मूल्यों में वृद्धि होती है और वस्तु-मूल्यों में वृद्धि के कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है।

नोट

(5) **वेब्स्टर शब्दकोश** (Webster's Dictionary) में मुद्रा-स्फीति की जो परिभाषा दी गयी है, वह सरलतम प्रतीत होती है। उसके अनुसार, **मुद्रा-स्फीति वह अवस्था है जब "वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा की तुलना में मुद्रा तथा साख की मात्रा में अधिक वृद्धि होती और परिणामस्वरूप मूल्य-स्तर में निरन्तर तथा महत्त्वपूर्ण वृद्धि होती है।"**

आलोचना–वेब्स्टर की परिभाषा को और सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति व स्थिति है जिसमें मुद्रा तथा साख का प्रभाव आवश्यकता से अधिक हो जाता है और वस्तु-मूल्यों में निरंतर बृद्धि होती रहती है। इसमें **'निरन्तर'** (Continued) शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मुद्रा तथा वस्तु-मूल्य दोनों एक-दूसरे के बढ़ने पर ही निरन्तर वृद्धि की स्थिति आती है। अत: पॉल ईंजिग की परिभाषा का ही सरल रूप है।

मुद्रा-स्फीति के लक्षण अथवा मुद्रा-स्फीति का पता कैसे लगाया जाए? (Characteristics of Inflation or Test of its Presence)

कुछ व्यक्तियों का यह विचार है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि ही मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-स्फीति है परन्तु यह भ्रामक है क्योंकि कभी-कभी मुद्रा की मात्रा स्थायी रहने पर और कभी-कभी उसमें कमी आने पर भी मुद्रा-प्रसार हो जाता है। निम्नलिखित उदाहरणों में मुद्रा-स्फीति की विभिन्न परिस्थितियाँ बतायी गयी हैं–

(1) जब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो रही हो और उत्पादन स्थिर है।

(2) जब मुद्रा की मात्रा बढ़ रही है और उत्पादन कम हो रहा है।

(3) जब मुद्रा की मात्रा बढ़ रही है और उत्पादन भी बढ़ रहा है किन्तु उत्पादन की वृद्धि की दर कम है।

(4) जब मुद्रा की मात्रा स्थिर है और उत्पादन गिर रहा है।

(5) जब मुद्रा की मात्रा और उत्पादन दोनों स्थिर हैं किन्तु मुद्रा का चलन आवश्यकता से अधिक है।

(6) जब मुद्रा की मात्रा कम हो रही है किन्तु उत्पादन और भी अधिक तेजी से गिर जाता है।

उपर्युक्त सभी परिस्थितियों में मुद्रा-स्फीति तभी दृष्टिगोचर होती है, जबकि बाजार में प्रचलित मुद्रा की मात्रा उत्पादन की (अथवा व्यापारिक लेन-देन की) आवश्यकता से अधिक है। इसे संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि **जब मुद्रा की प्रचलित मात्रा माँग (अथवा आवश्यकता से) अधिक होती है, तब वह मुद्रा-सफीति कहलाती है।**

पीगू ने मुद्रा की प्रचलित मात्रा में कमी या वृद्धि के स्थान पर **मौद्रिक आय में कमी या वृद्धि** शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में, मौद्रिक आय में कमी या वृद्धि के परिणामस्वरूप ही मुद्रा की प्रचलित मात्रा में कमी या वृद्धि होती है। अत: इन दोनों विचारों का समान अर्थ है।

केन्स का स्फैतिक अन्तर सम्बन्धी सिद्धान्त (Keynes' Concept of Inflationary Gap)

प्रोफेसर केन्स की यह मान्यता रही है कि यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जाय तो समाज की आय में वृद्धि होती है। इससे समाज में वस्तुओं की माँग बढ़ती है। फलत: नये-नये कारखाने स्थापित किये जाते हैं जिनमें लोगों को रोजगार मिलता है। इस प्रकार उनकी यह मान्यता है कि जब तक समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति न आ जाय अर्थात् प्रत्येक इच्छुक एवं समर्थ व्यक्ति को काम न मिल जाय, तब तक मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के दो प्रभाव होंगे–**पहला प्रभाव यह होगा कि प्रभावी माँग बढ़ने से उत्पादन में वृद्धि की जायेगी। दूसरा प्रभाव यह होगा कि मुद्रा में वृद्धि के कारण मूल्य बढ़ेंगे।** केन्स इस स्थिति को अर्द्ध-स्फीति (Semi-inflation) कहते हैं। इस स्थिति में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के साथ मजदूरी में आनुपातिक वृद्धि नहीं हो पाती क्योंकि जो व्यक्ति बेरोजगार हैं, वे कम मजदूरी पर भी काम करने को तैयार हो जाते हैं।

नोट

सरकार जब नई मुद्रा चलन में डाल देती है तो उसका एक भाग तो प्रायः सरकार ही कर के रूप में वापस ले लेती है। मुद्रा का कुछ भाग लोगों की जेबों या तिजोरियों में जाकर निष्क्रिय हो जाता है। अतः शेष भाग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि करने में सहायक होता है। उदाहरणतः किसी देश में कुल राष्ट्रीय उपज की मात्रा 2,000 करोड़ रुपये है। इसमें से 500 करोड़ रुपये सरकार करों के रूप में वसूल कर लेती है। जब जनता के उपयोग के लिए 1,500 करोड़ रुपये का माल बच जाता है। यदि जनता की आय भी 1,500 करोड़ रुपये हो तो मूल्य-स्तर में कोई वृद्धि होने की सम्भावना नहीं होगी। किन्तु यदि सरकार 500 करोड़ रुपये की नयी मुद्रा चलन में डाल दे और उसमें से 100 करोड़ रुपये तो नये करों के रूप में वापस ले ले और 50 करोड़ रुपये जनता द्वारा नकद रूप में व्यक्तिगत उपभोग के लिए संग्रह कर लिये जायें तो कुल 350 **करोड़ रुपये की रकम** (500-100-50) **अतिरिक्त रहेगी** जिसके लिए नये माल का उत्पादन नहीं हुआ है। केन्स ने इस रकम को ही **स्फैतिक अन्तर** (Inflationary Gap) कहा है क्योंकि इस रकम के कारण ही वस्तु-मूल्यों में वृद्धि होती है। प्रस्तुत उदाहरण में जनता के पास उपयोग के लिए कुल रकम 1,500 + 350 अर्थात् 1,850 करोड़ रुपये है, जबकि उपलब्ध माल की मात्रा केवल1,500 करोड़ रुपये के तुल्य है। इस अन्तर के कारण ही वस्तुओं के मूल्य बढ़ेंगे और पहले जो माल 1,500 करोड़ रुपये में बिकता है, वह 1,850 करोड़ रुपये में बिकेगा इसलिए इसे स्फैतिक अन्तर कहा गया है। इस अन्तर को कम करने से स्फीति का वस्तु मूल्यों पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह अन्तर कम करने के लिए दो कार्य किये जा सकते हैं–(1) करों की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है, तथा (2) उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

9.2 मुद्रा-स्फीति की अवस्था (Stage of Inflation)

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर को क्षय रोग (टी. बी.) धीरे-धीरे जर्जर बनाने लगता है, उसी प्रकार मुद्रा-स्फीति भी आर्थिक शरीर को निर्बल बनाती रहती है। मुद्रा-स्फीति की भी क्षय की भाँति ही तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, यथा–**प्रथम अवस्था** में मुद्रा की मात्रा केवल रेंगती हुई आगे बढ़ती है जिसे सामान्य प्रयत्नों द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। **दूसरी अवस्था** में मुद्रा-स्फीति चलने लगती है और उसे नियन्त्रित करने के लिए विशेष प्रयत्न आवश्यक होते हैं। क्षय रोग की भाँति ही मुद्रा-स्फीति की **तीसरी अवस्था सरपट भागने की अवस्था है** जिसे नियन्त्रित करना प्रायः असम्भव होता है। इस अवस्था में पुरानी मुद्रा का ही समाप्त कर देना पड़ता है और उसके बदल नयी मुद्रा प्रचलित की जाती है।

मुद्रा-स्फीति की अवस्थाएँ जल वृष्टि से तुलना योग्य

वास्तव में, मुद्रा-स्फीति की तुलना क्षय रोग (T.B.) से करना उचित नहीं है क्योंकि मुद्रा-स्फीति की पहली अवस्था प्रायः विकास के लाभदायक होती है, जबकि क्षय तो शरीर को खाता रहता है। मुद्रा-स्फीति की तुलना **जल वृष्टि या जल-पूर्ति से की जानी चाहिए।** जिस प्रकार अविकसित **सूखे क्षेत्र में** प्रारम्भिक वर्षा सुखद और फलदायक होती है, उसी प्रकार प्रारम्भिक मुद्रा-स्फीति विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए पूँजी का प्रबन्ध करती है जिससे जनता को रोजगार मिलता है, उत्पादन में वृद्धि होती है और आर्थिक सम्पन्नता का कारण बनने लगता है।

मुद्रा-स्फीति की दूसरी अवस्था **मूसलधार वर्षा की भाँति है** जिससे कुछ क्षेत्रों को टूट-फूट से हानि होती है किन्तु वर्षा का जल पीने का पानी, पशुओं के लिए घास तथा खेती का जल सम्बन्धी समस्या का सम्पूर्ण समाधान कर देता है। इस अवस्था में लाभ और कष्ट दोनों होते हैं। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति भी आर्थिक विकास में सहायक होती हैं

स्फीति की तीसरी अवस्था **असीमित जलापात की तरह है** जिसमें वर्षा का जल भयानक बाढ़ के रूप में बहता हुआ मकान, फसल और सम्पत्ति को ग्रसता हुआ चला जाता है। इस स्थिति में अर्थव्यवस्था पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो जाती है क्योंकि भयानक मुद्रा-प्रसार (जल की बाढ़ की भाँति) के कारण मुद्रा या प्रशासन पर किसी का विश्वास बना नहीं रहता है। ऐसी मुद्रा-स्फीति अर्थव्यवस्था तथा जन जीवन को अत्यधिक नुकसान पहुँचाती है।

नोट

रोजगार और स्फीति (Employment and Inflation)

उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को यदि रोजगार के साथ जोड़ दिया जाय तो स्थिति और स्पष्ट हो जाती है–

(1) **पूर्ण रोजगार से पहले की अवस्था** (Pre-full Employment Stage)–इस अवस्था में प्राय: 2–3 प्रतिशत वार्षिक मुद्रा–प्रसार होता है जो समाज में उद्योगों की स्थापना के लिए लाभदायक होता है। जनता को अधिक रोजगार मिलता है और उसकी आय में वृद्धि होती है। वास्तव में, सम्पूर्ण मुद्रा–स्फीति एक उत्साहवर्द्धक (Stimulant) की भाँति कार्य करती है।

(2) **सम्पूर्ण रोजगार की अवस्था** (Full Employment Stage)–पहली अवस्था में मुद्रा की मात्रा में जो वृद्धि होती है, वह धीरे–धीरे बढ़ती जाती है। मान लिया, पहली अवस्था में 3 प्रतिशत मुद्रा–स्फीति हुई, उससे जनता की आय में 3 प्रतिशत वृद्धि हुई जिससे वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग में वृद्धि हो गयी। केन्स के गुणक सिद्धान्त के अनुसार अविकसित क्षेत्रों में प्राय: रोजगार और माँग में वृद्धि हो गयी। केन्स के गुणक सिद्धान्त के अनुसार अविकसित क्षेत्रों में प्राय: रोजगार और माँग अधिक तीव्र गति से बढ़ते हैं। अत: मुद्रा–स्फीति की 3 प्रतिशत वृद्धि धीरे–धीरे नयी मुद्रा की माँग करती हुई 9–10 प्रतिशत तक बढ़ सकती है। ऐसी स्थिति में उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ता है अन्तत: सम्पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती है।

सम्पूर्ण रोजगार की अवस्था आ जाने पर जितनी नयी मुद्रा चलन में आती है, वह आगे माँग में वृद्धि नहीं कर पाती, अत: उत्पादन की क्रिया रुक जाती है और मूल्यों में तेजी से वृद्धि होने लगती है।

(3) **पूर्ण रोजगार के बाद की अवस्था** (Post-full Employment Stage)–मुद्रा–स्फीति जब तेजी से बढ़ने लगती है और पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती है तो बाद में जितनी मुद्रा बढ़ती है, वह मूल्यों में वृद्धि उत्पन्न करती है क्योंकि उत्पादन बढ़ने का क्रम रुक जाता है। अत: मुद्रा–प्रसार बहुत तेजी से होता है और जनता का मुद्रा व्यवस्था में विश्वास समाप्त होने लगता है। अन्त में, पुरानी मुद्रा को समाप्त कर नयी मुद्रा ही चलन में डालना आवश्यक हो जाता है।

नोट्स मुद्रा–स्फीति की चरम सीमा सरकारी शिथिलता एवं गलत नीतियों के कारण आती है, अत: स्फीति के चक्र को समय रहने हस्तक्षेप द्वारा रोकना चाहिए।

स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. किससे अनुसार मुद्रा स्फीति का कारण बचत, विनियोग तथा ब्याज की दर है–
   (क) केन्स (ख) क्राउचर (ग) पीगू (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जाए तो समाज की आय में वृद्धि होती है यह मान्यता किसकी है–
   (क) क्राउथर (ख) मेन्स (ग) पीगू (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाने से जो स्फीति उत्पन्न होती है उसे कहते हैं–
   (क) साख स्फीति (ख) लागत प्रोत्साहित स्फीति
   (ग) चलन स्फीति (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. हीनार्थ प्रोत्साहित स्फीति को कहा जाता है–
   (क) बजटीय स्फीति (ख) लाभ स्फीति (ग) उत्पादन जनित स्फीति (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

5. मुद्रा स्फीति जब तेजी से बढ़ती है तब कौन-सी स्थिति आती है-

(क) मंदी (ख) पूर्ण रोजगार (ग) संपूर्ण रोजगार (घ) इनमें से कोई नहीं।

9.3 मुद्रा-स्फीति के कारण (Causes of Inflation)

किसी देश में मुद्रा-स्फीति को प्रभावित करने वाले कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है–(अ) सरकारी नीति से उत्पन्न स्फीति, (ब) अन्य कारण। इन दोनों वर्गों के कारणों पर अलग-अलग विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

(अ) सरकारी नीति (Policy of Government)

मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण सरकार की आर्थिक नीति होती है। इस नीति में प्राय: मुद्रा की मात्रा को प्रभावितकरने वाली बातें निम्नलिखित हो सकती हैं–

(1) **हीनार्थ प्रबन्धन** (Deficit Financing)–युद्धकाल में या नियोजन युग में प्राय: सरकार का व्यय बहुत अधिक बढ़ जाता है, उसकी पूर्ति कर लगातार या ऋण लेकर नहीं की जा सकती। अत: सरकार के बजट में घाटा रहता है जिसे आवश्यक मात्रा में नोट छापकर पूरा किया जाता है। इसे आर्थिक भाषा में हीनार्थ प्रबन्धन (Dificit Financing) कहा जाता है और इसके परिणामस्वरूप बाजार में नोटों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है जिससे मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(2) **युद्धजनित आर्थिक दबाव** (War-created Economic Pressures)–**युद्धकालीन आर्थिक दबाव प्राय: सभी देशों में मुद्रा-स्फीति का कारण रहा हे परन्तु हारने वाले देशों में स्फीति अत्यधिक हुई है** क्योंकि एक तो हारने वाले देशों में उत्पादन का सारा ढाँचा अत्यधिक बिगड़ जाता है; दूसरे, उन्हें जीतने वाले देशों को हर्जाने के रूप में बहुत बड़ी राशि चुकानी पड़ती है। इनके अतिरिक्त, बर्बादी अपेक्षाकृत अधिक होने से उन देशों में उद्योग तथा व्यवसाय का पुनर्स्थापन करने में अत्यधिक धन व्यय करना पड़ता है। इन सबका सामूहिक परिणाम मुद्रा-स्फीति के रूप में प्रकट होता है।

(3) **विकासजनित दबाव** (Development-created Strains)–वर्तमान काल में प्राय: **सभी अविकसित देशों में मुद्रा-स्फीति का वातावरण है क्योंकि योजनाबद्ध विकास के लिए, बहुत बड़ी धनराशि खर्च की जाती है** जिसकी पूर्ति कर बढ़ाकर या देश-विदेश से उधार लेकर करने की चेष्टा की जाती है परन्तु फिर भी व्यय के कुछ भाग की पूर्ति नहीं हो पाती। सम्भवत: इनकी **व्यवस्था मुद्रा की मात्रा में वृद्धि द्वारा की जाती है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि द्वारा उत्पन्न स्फीति चलन स्फीति** (Currency Inflation) **कहलाती है।**

(4) **व्यापार नीति** (Commercial Policy)–सरकार यदि विदेशों से आने वाले माल पर निरन्तर प्रतिबन्ध लगाये रखती है तो देश के उद्योगों को स्पर्द्धा से छूट मिल जाती है। इस प्रकार निरन्तर संरक्षण की छाया में पलने वाले उद्योग शिथिल एवं निष्क्रिय हो जाते हैं और उनमें उत्पन्न वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती जाती है जो देश में मुद्रा-स्फीति का कारण बन जाती है।

कभी-कभी सरकार विदेशों को माल निर्यात करने का बहुत प्रयत्न करती है ताकि व्यापार सन्तुलन देश के पक्ष में हो जाये। ऐसा करने में कभी-कभी देश में माल की कमी अनुभव होने लगती है और मूल्यों में वृद्धि होने लगती है।

(5) **उद्योग नीति** (Industrial Policy)–अनेक देशों में नये उद्योगों की स्थापना पर सरकार का कड़ा नियन्त्रण रहता है। प्रत्येक नयी औद्योगिक इकाई की स्थापना के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य होता है जिसके परिणामस्वरूप नयी औद्योगिक इकाइयों की स्थापना धीरे-धीरे होती है। अत: उत्पादन का क्रम बहुत ढीला और गतिहीन रहता है। माल का उत्पादन कम रहने से देश में मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियाँ बलशाली हो जाती हैं।

(6) **सरकार की कर नीति** (Taxation Policy)–सरकार जब निर्मित माल पर उत्पादन कर लगाती है या आय-कर में निरन्तर वृद्धि करती चली जाती है तो साहसी वृत्ति नित्साहित होती है और उद्योग तथा व्यवसाय में शिथिलता आती है। इससे भी मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है।

नोट

(7) **प्रशासन में शिथिलता** (Loose Administration)–यदि सरकारी प्रशासन शिथिल हो जाये तो जनता की संग्रह प्रवृत्ति, घूँसखोरी तथा अधिकाधिक लाभ कमाने की आदतों को प्रोत्साहन मिलने लगता है क्योंकि ढीली प्रशासन-व्यवस्था में जनता को सरकार से भय नहीं रहता। इसलिए जमाखोरी के फलस्वरूप बाजार में माल की कृत्रिम कमी हो जाती है और स्फीति का वातावरण बनने लगता है।

(ब) अन्य कारण (Other Causes): सरकारी नीति के अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति को निम्न अन्य कारण भी प्रोत्साहित करते हैं–

(1) **उत्पादन में शिथिलता** (Slackness in Production)–जब किसी देश के उत्पादन में बहुत धीरे वृद्धि हो अथवा उत्पादन में गिरावट आ जाये और मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे तो मुद्रा-स्फीति हो जाती है। उत्पादन में शिथिलता के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं–

(*i*) किसी देश में **सूखा पड़ने या बाढ़ आने से** फसल नष्ट हो जाती है। इससे उद्योगों को कच्चा माल मिलने में कठिनाई होती है।

(*ii*) औद्योगिक क्षेत्र में **हड़ताल या तालाबन्दी** से भी उत्पादन में गिरावट आती है।

(*iii*) **सरकारी नीति से भी उत्पादन में शिथिलता आ सकती है। कर नीति, लाइसेंस नीति, व्यापार शुल्क नीति** आदि का वर्णन इसके पूर्व में किया जा चुका है।

(2) **लागत-वृद्धि स्फीति** (Cost-push Inflation)–लागत-वृद्धि स्फीति (Cost-push Inflation) का प्रादुर्भाव अत्यधिक प्रभावशील माँग के कारण नहीं होता है बल्कि उत्पादन की लागतों में हुई वृद्धि के कारण होता है। लागत-वृद्धि स्फीति सामान्यत: तीन प्रमुख कारणों से उत्पन्न होती है–प्रथम, मजदूरियों में वृद्धि; द्वितीय, लाभांश में वृद्धि; तथा तृतीय, सरकार द्वारा भारी मात्रा में वस्तुओं पर कर लगाया जाना।

कभी-कभी साधन स्वामी विभिन्न प्रकार के हथकण्डों को अपनाकर अपनी सेवाओं के मूल्यों में वृद्धि कर सकने में सफल हो जाते हैं। जिन देशों में श्रम-शक्ति की कमी है अथवा श्रमिक संघ शक्तिशाली है, वहाँ प्राय: मजदूरी की दरों में वृद्धि होती रहती है जिससे निर्मित माल की आवश्यकता पड़ती है जिसकी पूर्ति व्यापारिक बैंकों तथा केन्द्रीय बैंकों द्वारा की जाती है। **पॉल ईंजिग** (Paul Einzing) **के अनुसार यह स्फीति वस्तु मूल्यों की वृद्धि के कारण होती है। अत: इसे लागत-जनित स्फीति** (Cost-push Inflation) **कहते हैं।**

जब श्रम आन्दोलन (Labour Movement) के फलस्वरूप उत्पादक मजदूरी बढ़ाने के लिए बाध्य हो जाते हैं तो उद्योगों में लागत मूल्य बढ़ जाता है। इस स्थिति में प्राय: उत्पादन पहले जितना ही रहता है। अत: मुद्रा का वह भाग जो उत्पादन में काम में आता, अब उपभोग के लिए चलन में आ जाता है। इससे भी मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

कभी-कभी अपने लाभांश (Profit-Margins) को बढ़ाने के दृष्टिकोण से उद्योगपतियों द्वारा किये गये संगठित प्रयासों के कारण भी अर्थव्यवस्था में लागत-वृद्धि स्फीति उन्नत हो जाती है। जब उद्योगपति अपने लाभांशों को बढ़ाने का प्रयास करते हैं, तब विभिन्न वस्तुओं की कीमतों का पुराने स्तर पर कायम रहना सम्भव नहीं होता है। लाभांशों के बढ़ाये जाने के परिणामस्वरूप हुई मूल्य-वृद्धि अर्थव्यवस्था की क्रियाशीलता को प्रभावित करती है।

लाभांश में वृद्धि करने वाले तत्व मुद्रा-स्फीति की दृष्टि से इतने अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते हैं जितने कि मजदूरी में वृद्धि करने वाले तत्व। इसके दो प्रमुख कारण हैं–प्रथम, सामान्यत: उद्योगपति अपने लाभांश को एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं बढ़ाना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपने ग्राहकों को नाराज नहीं करना चाहते हैं तथा द्वितीय, लाभ किसी वस्तु के मूल्य का एक छोटा-सा अंश होता है जिससे कि यदि लाभांश में थोड़ी-सी वृद्धि भी कर दी जाय, तब भी वस्तु के मूल्य पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस प्रकार मजदूरियों को बढ़ाने वाले तत्व लागत-वृद्धि स्फीति की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। यदि श्रम संघ शक्तिशाली हैं, तब वे उत्पादकता में समान मात्रा में वृद्धि किये बिना ही अपनी मजदूरियों में वृद्धि करा सकने में सफल हो जाते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में मजदूरियों में वृद्धि के परिणामस्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो जायेगी।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त सरकार भी अनेक वस्तुओं पर कर लगाती है। विक्रेता प्रधान बाजार (Sellers

नोट

Market) होने के कारण उत्पादक बड़ी आसानी से कर-भार उपभोक्ताओं पर डाल देते हैं। इस कारण से भी अर्थव्यवस्था में लागत-वृद्धि स्फीति उत्पन्न होती है।

(3) **माँग-वृद्धि स्फीति** (Demand-pull Inflation)—वस्तुओं की माँग में अत्यधिक वृद्धि होने से भी मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न होती है। **वस्तुओं की माँग अत्यधिक वृद्धि युद्धकाल में होती है,** जबकि सरकार द्वारा वस्तुओं की माँग युद्धकाल में लड़ने वाली सेनाओं के लिए की जाती है। इसका प्रभाव यह होता है कि क्रेताओं में अधिक स्पर्द्धा के कारण वस्तुओं के मूल्य लागत-वृद्धि से भी अधिक बढ़ जाते हैं क्योंकि विक्रेता अब अधिक से अधिक लाभ कमाने की चेष्टा करते हैं। साथ ही वस्तुओं की माँग-वृद्धि को पूरा करने की दृष्टि से उद्योगों में अधिक पूँजी विनियोजित की जाती है जिससे **बैंकों से पूँजी की माँग बढ़ती है।** यह पूँजी मशीनें आदि पूँजीगत माल खरीदने में लगा दी जाती है और उनसे उत्पादन प्राप्त करने में कुछ समय लग जाता है। **अतः मुद्रा अथवा साख की मात्रा में तो वृद्धि हो जाती है परन्तु उत्पादन पहले जितना ही रहता है।** इस प्रकार मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिन देशों में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती है, उनमें भी प्रायः वस्तुओं की माँग तेजी से नहीं बढ़ पाती। इस प्रकार जो मुद्रा-स्फीति होती है, उसे माँग-वृद्धि स्फीति (Demand-pull Inflation) कहते हैं।

माँग वृद्धि स्फीति के अन्तर्गत सर्वप्रथम मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है। मुद्रा की पूर्ति में हुई वृद्धि के परिणामस्वरूप ब्याज की दर कम हो जाती है। ब्याज की दी घट जाने के कारण अर्थव्यवस्था में विनियोग प्रोत्साहित होता है। विनियोग में वृद्धि के कारण उत्पादन के विभिन्न साधनों की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है। मौद्रिक आय में वृद्धि के कारण उत्पादन के विभिन्न साधनों का उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय बढ़ जाता है। उपभोग व्यय में वृद्धि के कारण विनियोग व्यय में और अधिक वृद्धि हो जाती है। अब चूँकि देश की अर्थव्यवस्था का सन्तुलन पहले से ही पूर्ण रोजगार स्तर पर है जिससे कि विनियोग व्यय में वृद्धि के परिणामस्वरूप माँग-वृद्धि स्फीति की दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस माँग-वृद्धि स्फीति के कारण अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा उत्पादन के साधनों के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। माँग-वृद्धि-स्फीति के अनेक सूचक हैं, जैसे—सामान्य उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव, विभिन्न सेवाओं के मूल्यों में वृद्धि, आयातों में वृद्धि, मजदूरी में वृद्धि, रोजगार में वृद्धि, लाभ की दरों में वृद्धि आदि।

लागत-वृद्धि स्फीति तथा माँग-वृद्धि स्फीति परस्पर विरोधी अवधारणाएँ नहीं हैं। जब एक बार माँग-वृद्धि स्फीति प्रारम्भ हो जाती है, तब इससे शीघ्र ही अर्थव्यवस्था में लागत-वृद्धि स्फीति भी प्रारम्भ हो जाती है। इसी प्रकार जब विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती है, तब उसके साथ ही साथ श्रमिक भी अधिक मजदूरी की माँग करते हैं। माँग-वृद्धि स्फीति के परिणामस्वरूप कच्चे पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। मजदूरी तथा कच्चे माल के मूल्यों में वृद्धि के संयुक्त प्रभाव के कारण अर्थव्यवस्था में लागत-वृद्धि स्फीति प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार लागत-वृद्धि स्फीति तथा माँग-वृद्धि स्फीति के मध्य सीमा रेखा खींचना सम्भव नहीं होताहै। अर्थव्यवस्था में लागत-वृद्धि स्फीति के अनेक संकेत हैं, जैसे—निर्यातों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से बार-बार देश की मुद्रा का अवमूल्यन, लाभ की दरों में गिरावट, मजदूरी में वृद्धि, वस्तुओं पर करारोपण आदि।

माँग-वृद्धि स्फीति की तुलना में लागत-वृद्धि स्फीति को नियन्त्रित करना अधिक कठिन कार्य है। विभिन्न मौद्रिक तथा राजकोषीय उपायों द्वारा लोगों के हाथों से अतिरिक्त क्रय शक्ति को घटाकर माँग-वृद्धि स्फीति पर काबू पाया जा सकता है। जहाँ तक इन उपायों के द्वारा लागत-वृद्धि स्फीति का प्रश्न है, इसको नियन्त्रित करना इतना सरल नहीं है क्योंकि यदि सरकार कानून द्वारा मजदूरियों में कटौती करती है, तब श्रमिक संघ इसका कड़ा विरोध करते है।

फिलिप्स वक्र (Philips' Curve)—मजदूरी की दर एवं बेरोजगारी में सम्बन्ध बताने के लिए फिलिप्स ने अपने विचार 1960 में प्रकाशित किये। उसने उस समय ब्रिटेन में व्याप्त मुद्रा प्रसार के कारणों का अध्ययन 100 वर्ष के आँकड़ों के आधार पर किया और निष्कर्ष निकाला कि माँग प्रेरित एवं लागत प्रेरित मुद्रा प्रसार अर्थात् गुणात्मक मुद्रा प्रसार को मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति रोकने में सहायक है लेकिन संख्यात्मक मुद्रा प्रसार को रोकने में सहाय नहीं है। संख्यात्मक मुद्रा प्रसार को फिलिप्स ने पूर्ति प्रेरित मुद्रा प्रसार कहा है।

नोट

यह वह मुद्रा प्रसार है जिससे देश में मूल्य एवं बेरोजगारी दोनों में वृद्धि होती है। इस प्रकार के मुद्रा प्रसार को रोकने के उपाय के बारे में उसने बताया कि देश में कुछ बेरोजगारी रखकर इसे रोका जा सकता है। उसके अनुसार जब देश में रोजगारयुक्त व्यक्ति अधिक हैं और इनकी माँग बढ़ती है तो मजदूरी की दर बढ़ती है। इसके विपरीत, रोजगारयुक्त व्यक्ति कम होते हैं तो मजदूरी की दर भी गिरती है। इस प्रकार बेरोजगारी एवं मजदूरी की दर में विपरीत सम्बन्ध होता है क्योंकि श्रम संघों की सौदा करने की शक्ति मालिकों की तुलना में कम होती है। यदि श्रमिकों की माँग संगठित एवं असंगठित सभी क्षेत्रों में बढ़ती है तो मजदूरी की दर में वृद्धि होती है। उसने कहा कि देश में उस समय व्याप्त मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए 5½% बेरोजगारी उपयुक्त है, इसी तथ्य को रेखाचित्र 19.2 द्वारा बताया गया है।

रेखाचित्र में OX-अक्ष पर बेरोजगारी प्रतिशत में तथा OY-अक्ष पर मौद्रिक मजदूरी प्रतिशत में बताई गई है। यह वक्र यह बताता है कि जैसे-जैसे मौद्रिक मजदूरी की दर गिरती है, बेरोजगारी की दर में वृद्धि होती है। मौद्रिक मजदूरी की दर एवं बेरोजगारी की दर में विपरीत सम्बन्ध होता है इसलिए फिलिप्स रेखा गिरती हुई होती है। मूल्य स्थायित्व के लिए बेरोजगारी पर समाज को अपने आप समायोजित करना पड़ता है। चित्र के अनुसार यू.के. में 5½% बेरोजगारी रखी जाय तो मजदूरी में स्थायित्व होगी। यदि मूल्यों में स्थायित्व की आवश्यकता हो तो 2½% बेरोजगारी रखनी होगी, मजदूरी श्रमिकों की उत्पादकता के अनुपात में बढ़ती है। अर्थशास्त्री सैम्युअलसन तथा सोलो ने भी यही विचार व्यक्त किये हैं।

(4) **आयातित स्फीति** (Imported Inflation)–कभी-किसी देश का भुगतान सन्तुलन (व्यापार सन्तुलन + पूँजी का शुद्ध आयात) पक्ष में रहने से उस देश पर अन्य देशों की मुद्रा-स्फीति का प्रभाव पड़ता है। एक तो उस देश से माल निरन्तर निर्यात होने से देश में विनियोजन के लिए पूँजी की माँग बढ़ती है; दूसरे, उस देश के बैंकों में विदेशी पूँजी जमा होने से (भुगतान सन्तुलन पक्ष में रहने की स्थिति मान ली गयी है) देशी व्यापारिक बैंकों को साख विस्तार के लिए प्रोत्साहन मिल जाता है। इन दोनों बातों का सामूहिक प्रभाव यह होता है कि उस देश में भी क्रमशः मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे आयात की गयी स्फीति इसलिए कहा जाता है कि **बचत वाले देशों में घाटे वाले देशों से पूँजी आयात होती है और घाटे वाले देशों में प्रायः मुद्रा-प्रसार की स्थिति रहती है।** अतः निरन्तर पूँजी काआयात अप्रत्यक्ष रूप में स्फीति का आयात है।

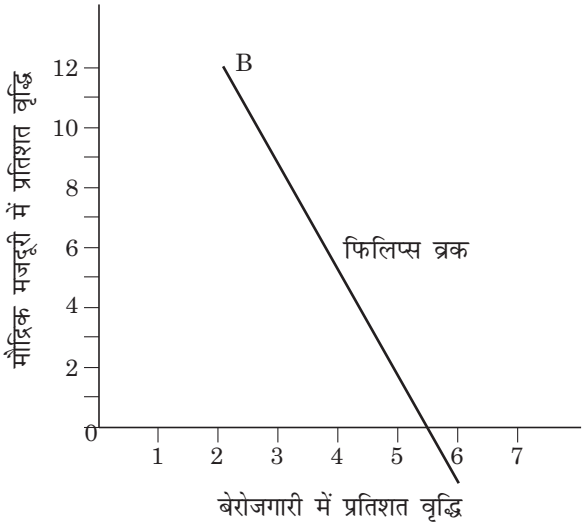

चित्र 9.1

नोट

(5) **बैंकों की क्रियाएँ** (Banking Activities)—जिन देशों में बैंकिंग व्यवस्था का समुचित विकास हो जाता है, उनमें व्यापारिक बैंक न केवल सभी प्रकार के व्यवसाय अथवा उद्योगों के लिए धन की व्यवस्था करते हैं बल्कि स्कूटर, मोटरकार, वस्त्र धुलाई मशीन, रेफ्रीजरेटर आदि उपभोक्ता सामान खरीदने के लिए उपभोक्ता ऋण या उपभोक्ता साख (Consumer's Credit) की व्यवस्था करते हैं जिससे साख की मात्रा में वृद्धि होने लगती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति बैंकों द्वारा दी गयी सुविधाओं का अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए उत्सुक रहता है। इस प्रकार साख मात्रा में वृद्धि होने से **साख प्रसार** (Credit Inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

क्या आप जानते हैं यदि अर्थव्यवस्था के किसी विशिष्ट क्षेत्र में लागत-वृद्धि स्फीति प्रारम्भ हो जाती है, तब वह अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में फैल जाती है।

9.4 मुद्रा-स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)

मुद्रा-स्फीति विभिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करती है। इससे कुछ समय तक आर्थिक प्रगति को बल तथा रोजगार-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है परन्तु इसकी निरन्तर वृद्धि आर्थिक विकास की गति को शिथिल कर देती है और रोजगार के स्रोत सूखने लगते हैं। मुद्रा-स्फीति ऋणी किसानों को ऋणमुक्त करती है परन्तु अत्यन्त मितव्ययिता से जीवन बिताने वाली मध्यमवर्गीय जनता की बचत पूँजी की क्रय-शक्ति कम कर देती है। इसका प्रभाव यह होता है कि लोगों का भविष्य में बचत करने का उत्साह कम हो जाता है। वास्तव में, मुद्रा-स्फीति का समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। अतः उसका अध्ययन विस्तृत रूप से करना उचित होगा।

आर्थिक प्रभाव (Economic Effects)

(1) **सामान्य जनता को कष्ट** (Disadvantage to General Public)—मुद्रा-स्फीति वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य में वृद्धि कर देती है जिससे सामान्य जनता को उपभोग के सब साधन महँगे मिलते हैं। सामान्य रूप में कोई व्यक्ति बढ़ते हुए मूल्यों को पसन्द नहीं कर सकता। बढ़ते हुए मूल्यों से सामान्य जनता में न केवल असन्तोष उत्पन्न होता है बल्कि उन्हें सरकार की नीतियों पर प्रायः अविश्वास होने लगता है। यह स्थिति किसी भी प्रजातान्त्रिक सरकार के लिए सुखद नहीं हो सकती। वास्तव में, मुद्रा-प्रसार और प्रजातन्त्र इन दोनों व्यवस्थाओं का साथ-साथ चलना कठिन है। जैसा कि **विलियम मैक्डोनेल** का कथन है, "मुद्रा-स्फीति और प्रजातन्त्र अच्छे जीवन साथी नहीं हो सकते।" (Inflation and Democracy are not congenial bed fellows)।

(2) **उद्योग की उन्नति** (Benefit of Industry)—मुद्रा-प्रसार की स्थिति में जनता के पास क्रय-शक्ति अधिक होने के कारण उद्योगपतियों के लाभ की दर बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप वे न केवल पुराने उद्योगों में उत्पादन बढ़ाने की चेष्टा करते हैं बल्कि नये-नये उद्योगों में पूँजी लगाने का प्रयत्न करते हैं। बैंकों के जमा कोष बढ़ जाते हैं। जिससे वह पहले से अधिक साख का निर्माण कर सकते हैं और नये-नये क्षेत्रों में पूँजी उधार देने लगते हैं। इस प्रकार **औद्योगिक विकास में उन्नति होती है।**

(3) **व्यापार में प्रगति** (Benefit to Trade)—मुद्रा-स्फीति से औद्योगिक विकास के साथ-साथ व्यापारिक उन्नति में भी सहायता मिलती है क्योंकि वस्तुओं की माँग बढ़ जाने से **व्यापारी वर्ग भी बैंकों से धन आसानी से उधार ले सकते हैं।** इस प्रकार मूल्यों में स्वाभाविक वृद्धि द्वारा व्यापारी वर्ग को अधिक लाभ कमाने का अवसर मिलता है। यह स्मरण रखने की बात है कि उद्योग तथा व्यापार में यह उन्नति केवल ऐसी अवस्था में हो सकती है, जबकि सरकार विदेशों से आने वाले माल पर उचित नियन्त्रण रखे, अन्यथा

नोट

विदेशी माल से स्पर्द्धा करना कठिन हो जाता है। विदेशों से सस्ता माल आयात होने पर देश के उद्योग-धन्धे बन्द होने लगते हैं और व्यापार को भी हानि पहुँचती है।

इसके अतिरिक्त, मुद्रा-स्फीति की स्थिति निरन्तर बनी रहने पर श्रमिक अधिक मजदूरी तथा बोनस की माँग करने लगते हैं जिससे उद्योगों में प्राय: संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और हड़ताल आदि होने से सामाजिक शान्ति भंग होने लगती है। इन सबके फलस्वरूप उद्योगों में उत्पादन कम होने लगता है जिससे लाभ की मात्रा गिर जाती है। **जिन देशों में श्रमिक संघ असंगठित होते हैं, वहाँ मुद्रा-स्फीति के समय उद्योग बहुत लाभ कमा लेते हैं।**

(4) **किसानों को सीमित लाभ** (Limited Advantage to Agriculturiss)–कृषि व्यवसाय को मुद्रा-स्फीति से लाभ होता है क्योंकि कृषि वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। किसानों को अधिक मूल्य मिलने से वह कृषि की उन्नति अधिक सरलता से कर सकते हैं और ऋण चुका सकते हैं। यह स्मरण रखना उचित होगा कि किसानों को उद्योगपतियों तथा व्यापारियों के समान लाभ नहीं होता क्योंकि कृषि पदार्थों की तुलना में निर्मित माल के मूल्य प्राय: अधिक बढ़ते हैं। उन्नत देशों में किसानों के जीवन-निर्वाह के साधन भी महँगे हो जाते हैं जिनमें उनके अतिरिक्त लाभ का एक भाग खर्च हो जाता है।

(5) **श्रमिक वर्ग** (Working Class)–मुद्रा-स्फीति की व्यवस्था श्रमिकों के लिए प्राय: लाभदायक होती है क्योंकि एक तो उद्योगों का अधिक विस्तार होने से श्रमिकों के **परिवार के सभी व्यक्तियों को यथोचित रोजगार मिल जाता है** जिससे श्रमिक परिवार की कुल आय में महत्वपूर्ण वृद्धि हो जाती है। दूसरे, महँगाई का प्रभाव दृष्टिगोचर होने पर प्राय: **श्रमिक अधिक वेतन और महँगाई-भत्ते अथवा बोनस की माँग करने लगते हैं।** इस काल में उद्योगपति श्रमिकों की माँग पर सहानुभूति से विचार कर उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि असन्तुष्ट होने पर उद्योगपतियों को अधिक हानि होने की आशंका रहती है। इस दृष्टि से मुद्रा-स्फीति की स्थिति श्रमिक के लिए साधारणतया लाभदायक होती है परन्तु **महँगाई के निरन्तर बढ़ने पर उनकी मजदूरी की दर पिछड़ जाती है** और उनके लिए दैनिक जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होनी प्रारम्भ हो जाती हैं। देश में **श्रमिक संघ जितने अधिक शक्तिशाली होते हैं, उतना ही मजदूर वर्ग अपनी वेतन वृद्धि की माँग मनवाने में सफल होता है।**

(6) **निश्चित आय वाला वर्ग** (Fixed Income Class)–मुद्रा-स्फीति रॉबिनहुड अथवा सुल्ताना डाकू की तरह नहीं है जो अमीर से धन छीनकर गरीब को देते थे बल्कि इसके सर्वथा विपरीत है। मूल्यों में वृद्धि हो जाने पर अध्यापक, दफ्तरों के क्लर्क, पेंशन प्राप्त करने वाले वृद्ध, निर्धन वर्ग के लोग तथा विधवा स्त्रियाँ जो निश्चित आमदनी से जीवन-निर्वाह करते हैं, बहुत संकटजनक स्थिति में पड़ जाते हैं क्योंकि उनको मिलने वाली निश्चित मौद्रिक आय अब पहले जितना सामान अथवा सुविधाएँ प्राप्त नहीं करा सकती। उनकी आय में प्राय: सामान्य वृद्धि होती है जिससे विशेष सहायता नहीं मिलती। दूसरी ओर धनी वर्ग अधिक धनी होता जाता है और **समाज में आर्थिक विषमता बढ़ जाती है।**

(7) **सरकार** (Government)–मुद्रा-स्फीति काल में **सरकार का खर्च बढ़ जाता है** क्योंकि कर्मचाचारियों को वेतन भी अधिक देने पड़ते हैं और निर्माण कार्यों पर व्यय भी वस्तु-मूल्यों में वृद्धि हो जाने से बढ़ जाता है, अत: सरकार को अपनी आय बढ़ाने के लिए पुराने करों में वृद्धि करनी पड़ती है और **नये कर लगाने पड़ते हैं।** इन करों का बोझ उद्योगपति तथा व्यापारी तो सहन कर सकते हैं परन्तु जो अप्रत्यक्ष कर लगाये जाते हैं, उनका भार सहन करने में मध्यम वर्ग के लोगों को बहुत कठिनाई होती है।

मुद्रा-स्फीति की अवस्था में सरकार के सामने **मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।** अत्यधिक स्फीति हो जाने से मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम रह जाती है, मूल्य मापक या तो स्वर्ण होता है या किसी अन्य देश की मुद्रा को माना जाता है। 1923 में जर्मनी में चलन मुद्रा (विनिमय माध्यम) तो रेण्टेन मार्क ही थी परन्तु मूल्य मापक का काम स्विट्जरलैण्ड के फ्रेंक अथवा अमेरिका के डालर से लिया जाता था। इस प्रकार की स्थिति में आन्तरिक व्यापार में बहुत कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और मुद्रा अपने दो महत्वपूर्ण कार्य अर्थात् **'कोष का आधार'** और **'भावी भुगतानों का**

नोट

माध्यम' भी सम्पन्न नहीं करती। वह वर्तमान लेन-देन का एक सांकेतिक माध्यम रह जाती है।

मुद्रा-स्फीति की स्थिति निरन्तर बनी रहने से सरकारी ऋणपत्रों (Bonds) तथा अन्य **प्रतिभूतियों के मूल्य में भी गिरावट आने लगती है।** दस वर्ष बाद उनको जो राशि मिलेगी, उनका वास्तविक मूल्य स्थिर रहने की सम्भावना न होने से लोग इन ऋणपत्रों को बेचने लगते हैं। इससे सरकार की साख को धक्का लगता है और भविष्य में ऋण प्राप्त करने में भी कठिनाई होने लगती है। निरन्तर होने वाला मुद्रा-प्रसार सरकार की अर्थ-नीति में घोर अविश्वास उत्पन्न कर देता है जिससे देश की राजनीतिक स्थिरता भी खतरे में पड़ने का भय हो जाता है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कुप्रभाव** (Bad Effects on International Trade)—मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है जिससे देश के निर्यात-व्यापार में कमी और आयात-व्यापार में वृद्धि हो जाती है और **व्यापार सन्तुलन विपक्ष में हो जाता है।** परिणामस्वरूप, न केवल राष्ट्रीय उद्योगों को हानि होती है बल्कि कुछ उद्योगों के बन्द होने से लोग बेरोजगार हो जाते हैं और देश की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगती है। निरन्तर होने वाले मुद्रा-प्रसार के कारण मूल्यों के उतार-चढ़ाव भी अधिक होने लगते हैं जिससे देश की **मुद्रा की विनिमय दर भी गिरने लगती है।** इससे न केवल निर्यातकर्ताओं को भुगतान से कम राशि मिलती है (क्योंकि भुगतान के समय मुद्रा का मूल्य कुछ गिर जाता है) बल्कि विदेशी व्यापारियों के मत में उस देश की मुद्रा के प्रति आशंका उत्पन्न हो जाती है और वह इस शंका से कि यह देश अपनी मुद्रा का किसी भी समय अवमूल्यन न कर दे, उस देश से बहुत कम व्यापार करने लगते हैं।

(9) **ऋणियों को लाभ तथा ऋणदाताओं को हानि** (Gain to Debtors, Loss to Creditors)—मुद्रा-स्फीति की अवस्था में मुद्रा का मूल्य गिर जाने के कारण ऋणदाताओं को हानि होती है क्योंकि उन्होंने जिस समय ऋण दिया था, उस समय मुद्रा की क्रय-शक्ति अधिक थी। ऐसी स्थिति में ऋणियों के पास अधिक क्रय-शक्ति आ जाने के कारण वह अपने ऋणों का आसानी से भुगतान कर सकते हैं। वास्तव में **ऋणी-वर्ग के लिए मुद्रा-स्फीति एक वरदान के समान होती है।**

(10) **विनियोक्ताओं को लाभ** (Gain to Investors)—मुद्रा-स्फीति काल में प्राय: सभी अच्छी कम्पनियों के अंशों के मूल्य बढ़ जाते हैं क्योंकि इनकी लाभ की दर में बहुत वृद्धि हो जाती है जिससे इनके अंशधारियों को ऊँची दर पर लाभांश दिये जाते हैं। कभी-कभी सरकार लाभांश की दरें (Rates of Dividend) सीमित कर देती है, ऐसी स्थिति में विनियोक्ताओं को विशेष लाभ नहीं होता परन्तु लाभांश नियन्त्रण न होने पर वह काफी लाभ प्राप्त कर लेते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. दिये गये कथनों के सामने ☑ अथवा ☒ का निशान लगाए- (State whether the following statemens 'Right' or 'Wrong')—

1. किसी देश में मुद्रा स्फीति को प्रभावित करने वाले कारणों को दो भागों में बांटा जा सकता है। ☐
2. सरकारी प्रशासन के शिथिल होने पर जनता की संग्रह प्रवृत्ति, घूसखोरी अधिक काकी कमाने की आदतें प्रोत्साहित हो जाती हैं। ☐
3. जब काम आन्दोलन के फलस्वरूप उत्पादक मजदूरी बढ़ाने के लिए बाध्य हो जाते है तो उद्योगों में लागत मूल्य घट जाता है। ☐
4. फिलिप्स ने सन् 1962 ई. में मजदूरी की दर तथा बेरोजगारी के बीच संबंध बताने के लिए अपने विचार प्रकाशित किए। ☐
5. मुद्रा स्फीति राबिनहुड तथा सुल्ताना डाकू की तरह नहीं है जो अमीर से धन छीनकर गरीब को दे देते थे बल्कि इसके सर्वथा विपरीत है। ☐
6. मुद्रा स्फीति काल में सरकार का खर्च कम हो जाता है। ☐

नोट

टास्क हीनार्थ प्रबंध किसे कहते हैं।

9.5 मुद्रा-स्फीति कैसे रोकी जाय? (How to Check Inflation?)

मुद्रा-स्फीति के उपचारों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–पहले वर्ग में **स्फीति को समाप्त कर मुद्रा-व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करने वाली रीतियाँ** और दूसरे वर्ग में **स्फीतिजनित दुष्प्रभावों को नरम करने वाले कार्य सम्मिलित हैं।**

(I) उपयुक्त मौद्रिक नीति अपनाना (Adoption of a Suitable Monetary Policy)

(1) **मुद्रा निकालने सम्बन्धी नियमों को कठोर बनाना** (Making the Rules as to Issue of Money Rigid)–मुद्रा-स्फीति की मात्रा कम करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा निकालने सम्बन्धी, नियमों को कड़ा करे ताकि केन्द्रिय बैंक के अतिरिक्त मुद्रा निकालने में अधिक कठिनाई हो। इसके लिए नोटों के पीछे रखे जाने वाले **स्वर्ण अथवा विदेशी-विनिमय के दोषों की मात्रा में वृद्धि कर दी जाती है** और यदि पहले से कोई कोष नहीं रखे जा रहे हों तो कोष रखने की व्यवस्था आरम्भ की जाती है।

(2) **पुरानी मुद्रा वापस लेकर** (Replacing Old Currency with the New One)–मुद्रा-स्फीति बहुत भयंकर होने की दशा में साधारण उपचार उपयोगी नहीं हो सकते, अत: पुरानी सब मुद्राएँ समाप्त कर उनके बदले में **नयी मुद्राएँ दे दी जाती हैं।** ऐसा करने में प्राय: पुरानी बहुत-सी मुद्राओं को एक नयी मुद्रा में परिवर्तित किया जाता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् 1924 में जर्मनी के अजेय मुद्रा-प्रसार को समाप्त करने के लिए पुरानी 10 खराब मुद्राओं के बदले में एक नयी मुद्रा दी गयी थी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भी जर्मनी को लगभग 90 प्रतिशत मुद्रा इसी प्रकार समाप्त करनी पड़ी।

(3) **साख-स्फीति को कम करना** (Reducing Credit Inflation)–मुद्रा-स्फीति को कम करने के लिए साख-स्फीति को कम करना आवश्यक है। इसके लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा **बैंक-दर बढ़ाकर, प्रतिभूतियाँ बेचकर तथा बैंकों से अधिक कोष माँगकर**, साख कम की जा सकती है। केन्द्रीय बैंक को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे साख लेना अधिक महँगा हो जाय। साख पर नियन्त्रण होने से कच्चे तथा निर्मित माल के स्टॉक बाजार में आने लगेंगे जिससे मूल्यों में कमी होना आरम्भ हो जायेगा।

(II) अर्थ-नीति में आमूल-चूल परिवर्तन (Over-all Changes in Economic Policy)

मुद्रा-स्फीति को रोकने अथवा कम करने के लिए सरकार को अपनी अर्थ-नीति में आमूल-चूल परिवर्तन करना पड़ेगा। इन परिवर्तनों में मुख्य निम्नलिखित हैं–

(1) **बजट में सन्तुलन** (Balancing the Budget)–सर्वप्रथम सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी जिससे कि (*i*) बजट का घाटा पूरा हो सके। इसके लिए सरकार को अपने सब विभागों में अधिक से अधिक मितव्ययिता की व्यवस्था करनी चाहिए। (*ii*) कर-नीति में भी अधिक कड़ाई की जानी चाहिए ताकि करों की निश्चित मात्रा वसूल होती रहे। (*iii*) नये मदों पर नये कर भी लगाने चाहिए ताकि सरकार की आय में वृद्धि की जा सके। इन सबका प्रभाव यह होगा कि बजट में घाटा न रहने से सरकार को नयी मुद्रा निकालने की आवश्यकता नहीं होगी बल्कि बजट में बचत होने पर वह पुराने घाटे की पूर्ति कर सकेगी जिससे मुद्रा में कमी हो सकेगी।

(2) **ऋण-प्राप्ति** (Obtaining Loans)–मुद्रा-स्फीति कम करने के लिए सरकार को ऋणपत्र (Debentures) **बेचने चाहिए** और जनता को यह पत्र खरीदने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इनामी बॉण्ड अथवा बचत-पत्र भी ऐसी राशियों में निर्गमित किये जाने चाहिए जिन्हें सब वर्गों के व्यक्ति खरीद सकें। यह

नोट

ऋणपत्र अधिकतर अल्पकालीन होने चाहिए ताकि जनता को उन्हें खरीदने मे कोई संकोच न हो। सरकार को अन्य ऐसे कार्य भी करने चाहिए जिससे जनता को अपनी आय का एक भाग बचाने में प्रोत्साहन मिले। इन कार्यों के परिणामस्वरूप जनता द्वारा वस्तुओं की माँग कम की जायेगी जिससे वस्तुओं के मूल्य में स्थिरता आने की सम्भावना होगी और सक्रिय पूँजी की मात्रा कम होने से मुद्रा-स्फीति भी कम हो जायेगी।

(3) **विनियोजन पर नियन्त्रण** (Controlling Investment)—मुद्रा-स्फीति का एक कारण यह होता है कि उद्योगपति बैंकों से उधार लेकर या अपनी जमा की हुई पूँजी का ही विभिन्न क्षेत्रों में विनियोग करने लगते हैं। यह पूँजी चलन में आने से मुद्रा की मात्रा तो बढ़ जाती है परन्तु उत्पादन आनुपातिक रूप से न बढ़ने से मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अत: सरकार को चाहिए कि स्फीति काल में केवल ऐसे क्षेत्रों में पूँजी विनियोग (Capital Investment) की अनुमति दे जिनसे उत्पादन तत्काल और पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किया जा सके। इसलिए प्राय: स्फीति काल में पूँजी विनियोग पर नियन्त्रण लगा दिये जाते हैं। गत महायुद्ध और उसके पश्चात् लगभग सभी देशों में मुद्रा-स्फीति रोकने के लिए पूँजी विनियोग पर रोक लगा दी गयी थी।

(4) **मजदूरी बन्धन** (Freezing of Wages)—मुद्रा-स्फीति पर रोक लगाने के लिए प्राय: मजदूरी को बन्धित करने की नीति अपनायी जाती है जिसके अनुसार मजदूर और मालिक मिलकर यह समझौता कर लेते हैं कि आगामी 5 या 10 वर्ष तक मजदूरी में कोई वृद्धि नहीं की जायेगी। कभी-कभी सरकार भी ऐसी घोषणा कर देती है। वास्तव में, प्रत्येक मूल्य-वृद्धि के साथ यदि मजदूरी में वृद्धि कर दी जाय तो इससे लागत में वृद्धि होगी, लागत-वृद्धि होने से मूल्य बढ़ने लगेंगे, मूल्य बढ़ने से फिर मजदूरी में वृद्धि की माँग होगी। इस विषम चक्र से छुटकारा पाना कठिन होगा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी ने अपने आर्थिक विकास के लिए मजदूरी-बन्धन की नीति अपनायी और मजदूरों तथा श्रमिकों ने मजदूरी वृद्धि के विषय में समझौते कर लिये। मजदूरी-स्फीति (Wage Inflation or Cost Inflation) रोकने के लिए सरकार को कड़ी नीति अपनानी पड़ती है।

(5) **उत्पादन वृद्धि** (Increasing Production)—उत्पादन की मात्रा में वृद्धि से भी मुद्रा-स्फीति का प्रभाव कम हो जाता है क्योंकि वस्तुओं की पूर्ति पहले से बढ़ जाती है। अत: सरकार द्वारा ऐसे उद्योगों के वास्ते लाइसेंस दिये जाने चाहिए जिनमें कम पूँजी लगानी पड़े और शीघ्र उत्पादन द्वारा उपभोक्ताओं की अधिक से अधिक आवश्यकताएँ पूरी कर सके।

(6) **मूल्य नियन्त्रण** (Price Control)—स्फीति कम करने के लिए वस्तु-मूल्यों पर भी कड़े नियन्त्रण लगाने चाहिए और उपभोक्ताओं को कम माल खरीदने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके लिए किराया खरीद (Hire Purchase) व्यवस्था पर रोक लगा दी जानी चाहिए। बैंकों तथा अन्य ऋण देने वाली संस्थाओं को किस्त पर माल खरीदने के लिए उधार न देने के कड़े आदेश दे देने चाहिए। इन दोनों नीतियों के सामूहिक प्रभावस्वरूप वस्तुओं की माँग कम होगी और मुद्रा-स्फीति कम हो जायेगी।

(III) सहायक तत्व (Secondary Considerations)

(1) **मूल्य नियन्त्रण एवं राशन व्यवस्था लागू करना** (Adoption of Price Control and Rationing)—मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों में जो वृद्धि होती है, उसका प्रभाव कम करने के लिए सरकार प्राय: मूल्य नियन्त्रण तथा राशन व्यवस्था लागू करती है। इस नीति के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ, जैसे—अन्न, वस्त्र, चीनी, तेल आदि की उचित मूल्यों पर बिक्री के लिए सस्ती दुकानें खोली जाती हैं और प्रत्येक व्यक्ति को राशन कार्ड के आधार पर एक निश्चित मात्रा उचित मूल्य पर दी जाती है। इससे लोगों को कुछ वस्तुएँ सस्ती तो मिलती हैं परन्तु उनकी मात्रा बहुत कम होती है। प्राय: उन वस्तुओं में मिलावट कर दी जाती है और उन्हें प्राप्त करने में बहुत अधिक समय खर्च करना पड़ता है। **नियन्त्रण और राशन व्यवस्था में प्राय: चोर-बाजारी होती है और व्यापारी लोग अतिरिक्त लाभ**

नोट

कमाते हैं। उपभोक्ता वर्ग को नियन्त्रण और राशन-व्यवस्था में अत्यधिक कष्ट होता है क्योंकि यह व्यवस्था को दोषपूर्ण होती है। महात्मा गांधी ने इन्हीं दोषों के कारण चीनी के मूल्य-नियन्त्रण के विरुद्ध अनशन किया था।

(2) **निश्चित आय वाले वर्ग को महँगाई भत्ता देना** (Provision of Dearness Allowance to Fixed Income Class)–मुद्रा-स्फीति का सबसे बुरा प्रभाव निश्चित आय वाले वर्ग पर पड़ता है क्योंकि मूल्य बढ़ जाने से उनकी वास्तविक आय कम हो जाती है। इसकी पूर्ति करने के लिए इस वर्ग के लोगों की महँगाई भत्ता देने की व्यवस्था की जाती है परन्तु महँगाई भत्ता केवल आंशिक सहायता होती है क्योंकि यह मूल्य-वृद्धि की तुलना में बहुत कम होता है। महँगाई भत्ता वास्तव में इस आशा से दिया जाता है कि जब महँगाई समाप्त हो जायेगी तो भत्ता बन्द किया जा सकेगा। यदि वेतन में ही उतनी वृद्धि कर दी जाय तो उसमें कमी करना सम्भव नहीं होता। जब महँगाई स्थायी रूप धारण कर लेती है तो सम्पूर्ण अथवा महँगाई भत्ते का एक भाग वेतन में मिला दिया जाता है। महँगाई भत्ता निश्चित आय वाले वर्ग के लिए उतनी आर्थिक सहायता प्रदान नहीं करता है कि उन्हें महँगाई के प्रभाव को कम करने के लिए कुछ अतिरिक्त रकम मिल रही है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ज्यों-ज्यों महँगाई बढ़ती है, एक निश्चित दर पर भत्ते में वृद्धि मिलती रहती है। यह वृद्धि महँगाई की मात्रा से कम होती है परन्तु इसकी प्राप्ति निश्चित नियमों के अनुसार नियमित रूप से होती रहती है। इस व्यवस्था को समायोजन वाक्य (Escalator Clause) कहा जाता है।

(IV) मूल्यों में सहायता (Subsidy in Respect of Prices)

कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिन्हें विदेशों से आयात करना पड़ता है अथवा जिनके मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों द्वारा निर्धारित होते हैं। कभी-कभी सरकार इनमें से कोई वस्तु (जैसे–अनाज) जनता को सस्ते मूल्य पर देना चाहती है **तो लागत-मूल्य और विक्रय-मूल्य में जो अन्तर होता है, वह घाटा स्वयं सरकार सहन कर लेती है।** उदाहरणत:, यदि म्यांमार (बर्मा) से आयात किये गये चावल का भाव 200 रुपये प्रति क्वि. हो और सरकार बंगाल की जनता को 180 रुपये प्रति क्वि. के भाव पर चावल देना चाहे तो वह 20 रुपये प्रति क्वि. का घाटा सहन कर लेती है। इसका प्रभाव यह होता है कि सरकार जो राशि देश के निर्माण कार्यों में व्यय करती है, वह एक निश्चित क्षेत्र के लोगों पर व्यय कर दी जाती है। इससे सरकार के बजट पर भार पड़ता है और इसकी पूर्ति के लिए सरकार को अन्य मदों पर कर लगाना पड़ सकता है। इस प्रकार की सहायता प्राय: अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के लिए दी जाती है और इसका उद्देश्य निर्धन लोगों से सम्बन्धित वस्तु सस्ते दाम पर देना होता है। मूल्य-वृद्धि का कुछ प्रभाव इस सहायता से अवश्यक कम होता है परन्तु यह सहायता अल्पकाल के लिए ही देना सम्भव है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव को कम करने के वास्ते किये गये यह सब यत्न केवल अल्पकालीन तथा अस्थायी सहायता मात्र हैं, मुद्रा-स्फीति के भीषण रोग का इलाज नहीं।

निष्कर्ष–उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि विकासशील तथा नियोजित अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक युग में मुद्रा-स्फीति का हल्की मात्रा लाभ पहुँचाने वाली होती है क्योंकि वह उत्पादन, रोजगार, आय तथा सरकारी विकास योजनाओं को गतिशीलता प्रदान करती है किन्तु **मुद्रा-स्फीति का प्रयोग दवा की भाँति ही करना उचित है। जब वह भोजन की भाँति प्रयुक्त होना आरम्भ हो जाता है, तभी सामाजिक एवं आर्थिक दोष उत्पन्न होने आरम्भ हो जाते हैं। मुद्रा-स्फीति को अफीम की भाँति समझा जाना चाहिए जिसका प्रयोग औषधि के रूप में किया जाय तो लाभदायक होता है किन्तु आदत पड़ने पर वह कार्यक्षमता एवं शरीर का विनाश कर देती है।**

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

3. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. अतिरिक्त पूँजी ..... की स्थिति उत्पन्न करती है।
2. अविकसित देशों में आर्थिक प्रगति के साथ-साथ ..... चलता रहता है।
3. मुद्रा स्फीति का आर्थिक प्रगति पर सबसे बुरा प्रभाव यह पड़ता है कि देश के निर्यात कम हो जाते हैं और मुद्रा की ..... गिरने लगती है।
4. मुद्रा स्फीति को कम करने के लिए सरकार को ..... बेचना चाहिए।
5. नियंत्रण तथा राशन व्यवस्था में प्रायः ..... होती है।
6. ..... के भीषण रोग का इलाज नहीं।

9.6 सारांश (Summary)

अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी (1930-34) की समाप्ति तक प्रायः यह समझा जाता था कि मुद्रा-स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा की मात्रा वस्तुओं तथा सेवाओं की तुलना में असाधारण गति से बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-स्तर बढ़ जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। **इस विचार पर कि केवल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण मुद्रा-स्फीति हो जाती है।**

कुछ व्यक्तियों का यह विचार है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि ही मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-स्फीति है परन्तु यह भ्रामक है क्योंकि कभी-कभी मुद्रा की मात्रा स्थायी रहने पर और कभी-कभी उसमें कमी आने पर भी मुद्रा-प्रसार हो जाता है।

प्रोफेसर केन्स की यह मान्यता रही है कि यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जाय तो समाज की आय में वृद्धि होती है। इससे समाज में वस्तुओं की माँग बढ़ती है। फलतः नये-नये कारखाने स्थापित किये जाते हैं जिनमें लोगों को रोजगार मिलता है। इस प्रकार उनकी यह मान्यता है कि जब तक समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति न आ जाये।

सरकार जब नई मुद्रा चलन में डाल देती है तो उसका एक भाग तो प्रायः सरकार ही कर के रूप में वापस ले लेती है। मुद्रा का कुछ भाग लोगों की जेबों या तिजोरियों में जाकर निष्क्रिय हो जाता है। अतः शेष भाग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि करने में सहायक होता है।

तीव्रता की दृष्टि से मुद्रा-स्फीति की तीन स्थितियाँ या चरण हो सकते हैं– (1) **रेंगता हुआ या साधारण प्रसार;** (2) **गतिशील या चलता हुआ प्रसार;** (3) **तीव्रगामी या द्रुतधावनी मुद्रा-स्फीति।**

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर को क्षय रोग (टी. बी.) धीरे-धीरे जर्जर बनाने लगता है, उसी प्रकार मुद्रा-स्फीति भी आर्थिक शरीर को निर्बल बनाती रहती है। मुद्रा-स्फीति की भी क्षय की भाँति ही तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, यथा–**प्रथम अवस्था** में मुद्रा की मात्रा केवल रेंगती हुई आगे बढ़ती है जिसे सामान्य प्रयत्नों द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। **दूसरी अवस्था** में मुद्रा-स्फीति चलने लगती है और उसे नियन्त्रित करने के लिए विशेष प्रयत्न आवश्यक होते हैं। क्षय रोग की भाँति ही मुद्रा-स्फीति की **तीसरी अवस्था सरपट भागने की अवस्था है** जिसे नियन्त्रित करना प्रायः असम्भव होता है।

किसी देश में मुद्रा-स्फीति को प्रभावित करने वाले कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है–(अ) सरकारी नीति से उत्पन्न स्फीति, (ब) अन्य कारण। इन दोनों वर्गों के कारणों पर अलग-अलग विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

मुद्रा-स्फीति विभिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करती है। इससे कुछ समय तक आर्थिक प्रगति को बल तथा रोजगार-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है परन्तु इसकी निरन्तर वृद्धि आर्थिक विकास की गति को शिथिल कर देती है और रोजगार के स्रोत सूखने लगते हैं। मुद्रा-स्फीति ऋणी किसानों को ऋणमुक्त करती है परन्तु अत्यन्त

नोट

मितव्ययिता से जीवन बिताने वाली मध्यमवर्गीय जनता की बचत पूँजी की क्रय-शक्ति कम कर देती है।

अमेरिका के फेडरल रिजर्व बोर्ड के अध्यक्ष के तत्कालीन **श्री बिनफील्ड रेफ्लर** का कथन है कि मुद्रा-स्फीति यदि 2 प्रतिशत प्रति वर्ष भी हो तो मूल्य-स्तर 35 वर्ष में दुगुना हो जाता है। जो व्यक्ति 65 वर्ष की आयु पर पद-मुक्त होकर 100 डालर मासिक पेंशन का अधिकारी होता है तो उसकी पेंशन का वास्तविक मूल्य (आज के मूल्य-स्तर के अनुसार) 75 वर्ष की आयु में केवल 82 डालर और 85 वर्ष की आयु में 67 डालर प्रति मास रह जायेगा।

प्रत्येक देश की सरकार ऐसी मुद्रा-नीति अपनाना चाहती है जिससे आर्थिक प्रगति तेजी से हो क्योंकि सरकार की सफलता उस देश की आर्थिक प्रगति से ही नापी जाती है। अविकसित देशों में प्राय: इस बात का समर्थन किया जाता है कि आर्थिक विकास के लिए कुछ अंशों में मुद्रा-स्फीति अनिवार्य है क्योंकि विकास के लिए पूँजी विनियोग में वृद्धि की जाती है।

मुद्रा-स्फीति के उपचारों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–पहले वर्ग में **स्फीति को समाप्त कर मुद्रा-व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करने वाली रीतियाँ** और दूसरे वर्ग में **स्फीतिजनित दुष्प्रभावों को नरम करने वाले कार्य सम्मिलित हैं।**

विकासशील तथा नियोजित अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक युग में मुद्रा-स्फीति का हल्की मात्रा लाभ पहुँचाने वाली होती है क्योंकि वह उत्पादन, रोजगार, आय तथा सरकारी विकास योजनाओं को गतिशीलता प्रदान करती है किन्तु **मुद्रा-स्फीति का प्रयोग दवा की भाँति ही करना उचित है। जब वह भोजन की भाँति प्रयुक्त होना आरम्भ हो जाता है, तभी सामाजिक एवं आर्थिक दोष उत्पन्न होने आरम्भ हो जाते हैं।**

9.7 शब्दकोश (Keywords)

- **विनियोक्ता–** स्थापित करना, प्रतिपादन करना, प्रसवन जन्मदर
- **समायोजन–**अपना देश छोड़कर दूसरे देश में जाकर बस जाना
- **हीनार्थ–**अपना देश छोड़कर दूसरे देश में जाकर बस जाना

9.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मुद्रा स्फीति से आप क्या समझते है? इसके लक्षण बताइये।
2. मुद्रा स्फीति की परिभाषा दीजिए तथा इसके कारण बताइए।
3. क्या स्फीति जनित लाभ कल्पनिक है?
4. मुद्रा स्फीति के प्रभाव को कैसे रोका जा सकता है?
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-

   (*i*) मुद्रा स्फीति की तीव्रता (*ii*) मुद्रा स्फीति की अवस्था

   (*iii*) मुद्रा स्फीति की अवस्था (*iv*) राजगार और स्फीति।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (क) 2. (ख) 3. (ग) 4. (क)
   5. (ख)
2. 1. ☑ 2. ☑ 3. ☒ 4. ☒
   5. ☑ 6. ☑

नोट

3. 1. मुद्रा स्फीति 2. मुद्रा प्रसार 3. विनिमय दर 4. ऋणपत्र
5. चोर-बाजारी 6. मुद्रा स्फीति।

9.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–10: भारतीय आर्थिक नीतियों की समीक्षा: सुधार के पहले और सुधार के बाद (Critique of Indian Economic Policies: Pre and Post Reforms)

अनुक्रमणिका (Content)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 भारतीय आर्थिक नीतियों की समीक्षा: सुधार के पहले और सुधार के बाद (Critique of Indian Economic Policies: Pre and Post Reforms)

10.2 सारांश (Summary)

10.3 शब्दकोश (Keywords)

10.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

10.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सुधार से पहले तथा सुधार के बाद की भारतीय आर्थिक नीतियों की समीक्षा करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

चाहे आर्थिक सुधार राजीव गांधी के शासनकाल में चालू किए गए परन्तु उनके इच्छित परिणाम प्राप्त नहीं हुए। व्यापार-घाटा कम होने की बजाय बढ़ गया। जबकि छठी योजना 1980-81 से 1984-85 के दौरान व्यापार-शेष का औसत घाटा 5,933 करोड़ रुपये था, यह सातवीं योजना (1985-86 से 1989-90) के दौरान छलांग लगाकर 10,841 करोड़ रुपये हो गया। इसके अतिरिक्त, अदृश्य मदों में कुल शुद्ध प्राप्ति (Total net receipts) 10,072 करोड़ रुपये थी, सातवी योजना में अदृश्य मदों से प्राप्ति गिरकर 15,891 करोड़ रुपये हो गयी। परिणामत: देश को एक गंभीर भुगतान-शेष की स्थिति का सामना करना पड़ा। अत: भारत ने विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय कोष को 7 अरब डालर का भारी ऋण देने के लिए प्रार्थना पत्र भेजा ताकि देश इस संकट से मुक्त हो सके। विश्व बैंक एवं आई. एम. एफ. ने भारत को सहायता देना तो स्वीकार कर लिया किन्तु यह शर्त लगायी कि वह अपनी अर्थव्यवस्था में स्थिरता कायम करने का प्रयास करेगा।

10.1 भारतीय आर्थिक नीतियों की समीक्षा: सुधार के पहले और सुधार के बाद (Critique of Indian Economic Policies: Pre and Post Reforms)

1985 में श्री राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के फौरन बाद सरकार की आर्थिक नीति में नयी प्रवृत्तियों की रूपरेखा खींची। प्रधानमंत्री ने इस सम्बन्ध में जिस अकसीर का सुझाव दिया, वह थी–उत्पादिता में सुधार, आधुनिक तकनालाजी

नोट

को आत्मसात करना (Absorption of modern technology) और क्षमता के पूर्णतर प्रयोग को एक राष्ट्रीय अभियान का रूप देना।

नयी आर्थिक नीति का मूल बल निजी क्षेत्र के लिए अधिक कार्यभाग का प्रावधान करना है। श्री राजीव गांधी ने साफ शब्दों में कहा–"सार्वजनिक क्षेत्र बहुत से ऐसे क्षेत्रों में फैल गया है जहां इसे नहीं होना चाहिए...हम अपने सार्वजनिक क्षेत्र को ऐसे कार्यों में लगाना चाहेंगे जो निजी क्षेत्र द्वारा नहीं किए जा सकते। परन्तु हम निजी क्षेत्र के लिए बहुत से द्वार खोल देंगे ताकि वह अपना विस्तार कर सके और अर्थव्यवस्था अधिक स्वतन्त्र रूप में विकसित हो सके।"

निजी क्षेत्र के लिए अधिक विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध करने के लिए बहुत से नीति सम्बन्धी परिवर्तन किए गए जिनका सम्बन्ध परिवर्तन किए गए जिनका सम्बन्ध औद्योगिक लाइसेंस नीति, निर्यात-आयात नीति तकनॉलाजीय उन्नति (Technological upgradation), प्रतिबन्धों को हटाने और राजकोषीय एवं प्रशासनिक नियमन प्रणाली के सरलीकरण से था। ये सब परिवर्तन इस दिशा-निर्देश के आधीन किए जा रहे थे कि निजी क्षेत्र के लिए एक अबाध वातावरण कायम किया जाए ताकि अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण के लिए निजी क्षेत्र के विनियोग को एक जबरदस्त प्रोत्साहन प्राप्त हा सके जिसके फलस्वरूप देश में तीव्र आर्थिक विकास हो सके। प्रोफेसर के. एन. राज. नयी आर्थिक नीति का सार इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं–"किन्तु इस बात पर एक आम सहमति प्राप्त हो गयी है कि इन नीति सम्बन्धी परिवर्तनों का कुल्ल मिलाकर एक प्रमुख लक्षण निजी क्षेत्र के अप्रतिबन्धित विकास के लिए अधिक क्षेत्र-विस्तार करना है, ऐसा विशेषकर विनिर्माण उद्योग के निगम क्षेत्र के लिए किया जा रहा है और बहुराष्ट्रीय निगमों (Multinational Corporations)के लिए बहुत से अवसर खोले जा रहे हैं।"

इस स्थिति को सुधारने के लिए नयी आर्थिक नीति ने नियन्त्रणों की शासन-प्रणाली को तोड़ने की ओर ध्यान केन्द्रित किया ताकि लाइसेंस प्राप्त करने में अनावश्यक अड़चनें दूर की जा सकें, उत्पादन का समायोजन प्रशासित कीमतों (Administered prices) द्वारा न करना पड़े और एम. आर. टी. पी. कम्पनियों को औद्योगिक लाइसेंस से इन्कार करने के प्रतिबन्ध हटाए जा सकें।

पी. वी. नरसिंह राव की सरकार के आधीन आर्थिक सुधार–दूसरी लहर

कांग्रेस की सरकार ने 21 जून 1991 को सत्ता संभालने के पश्चात् बहुत से स्थिरीकरण (Stabilisation) संबंधी उपायों की घोषणा की ताकि आन्तरिक एवं विदेशी विश्वास प्राप्त किया जा सके। ब्याज-दर को बढ़ाकर मौद्रिक नीति को और मजबूत बनाया गया, रुपये की विनिमय-दर (Exchange rate) का 22 प्रतिशत अवमूल्यन किया गया और व्यापार प्रणाली में भारी सरलीकरण और उदारीकरण (Liberalisation) की घोषणा की गयी। आर्थिक रणनीति में केंद्र के रूप में सरकार ने राजकोषीय असंतुलन (Fiscal imbalance) को कम करने का प्रोग्राम बनाया जिसके समर्थन के लिए आर्थिक नीति में सुधार किये गये जो कि अर्थव्यवस्था की विकास-प्रक्रिया को एक नयी गति प्रदान करने के लिए अनिवार्य थे।" अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को दिए गए ज्ञापन में, तत्कालीन वित्त मंत्री डा. मनमोहन सिंह ने उल्लेख किया–इनका मुख्य बल औद्योगिक उत्पादन की कुशलता एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ाना, भूतकाल की तुलना में विदेशी निवेश एवं तकनालाजी का कहीं अधिक मात्रा में प्रयोग, सार्वजनिक क्षेत्र के निष्पादन को उन्नत करना तथा इसके क्षेत्र की सुव्यवस्था करना और वित्तीय क्षेत्र का सुधार एवं आधुनिकीकरण था ताकि वह अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को अधिक कुशलता से पूरा कर सके।

मुख्य समष्टि-आर्थिक लक्ष्य निम्नलिखित तय किए गए–

दूसरी लहर के आर्थिक सुधारों के मुख्य क्षेत्र हैं–

राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)

हमारा मध्यमकालीन लक्ष्य समग्र सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे को जो सकल देशीय उत्पाद के 12.5 प्रतिशत तक पहुंच गया है कम करके 1990 के दशक के मध्य तक सकल देशी उत्पाद के 4 प्रतिशत तक लाना है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार सार्वजनिक व्यय को सख्ती से नियंत्रित करना चाहती थी और कर एवं कर-भिन्न

नोट

राजस्व को बढ़ाने का लक्ष्य रखती थी। सरकार यह भी चाहती थी कि केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारें–दोनों राजकोषीय अनुशासन (Fiscal discipline) लागू करें। 1991–92 में सहाय्यों (Subsidies) में कटौती की आरंभ की गयी प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया जायेगा और एक निरपेक्ष प्रशासनिक कीमतों (Administered prices) की प्रणाली कायम की जाएगी, जिसके लिए बाजार की परिस्थितियों में परिवर्तन और देशीय संभरण की स्थिति को ध्यान में रखना होगा। सरकार एक अधिक कुशल व्यय–प्रणाली का विकास करने का सुनिश्चित प्रयास करेगी।

इसके अतिरिक्त, केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को अपने सार्वजनिक उद्यमों, विशेषकर राज्य बिजली बोर्डों एवं सड़क परिवहन नियमों की स्थिति सुधारने के लिए प्रोत्साहन देगी। केंद्रीय सार्वजनिक उद्यमों को मिलने वाले बजट–समर्थन (Budgetary support) हटा लिए जाएंगे और उन्हें अपनी कुशलता एवं लाभदायकता को उन्नत करने के लिए मजबूत बनाया जायेगा।

मौद्रिक नीति (Monetary Policy)

स्फीतिकारी दबावों को कम करने और लक्षित भुगतान–शेष में सुधार लाने के लिए प्रतिबंधात्मक मौद्रिक नीति चनायी जायेगी।

कीमत नीति (Price Policy)

बजटीय साहाय्यों (Budgetary subsidies) को कम करने और अधिक लोचशील कीमत–ढांचे को प्रोन्नत करने की दृष्टि से सरकार ने बहस सी वस्तुओं जिसमें महत्त्वपूर्ण आदान (Inputs)–पेट्रोलियम उत्पाद और उर्वरक शामिल हैं, की प्रशासित कीमतों में वृद्धि की घोषणा की। इसी प्रकार रेलवे के किरायों, बसों के किरायों और कृषि वस्तुओं जैसे चीनी की कीमतों में भी वृद्धि कर दी। इसके अतिरिक्त, कीमत नीतियां सभ क्षेत्रों में अधिक लोचशीलता कायम करने के उद्देश्य से कार्य करेंगी और सार्वजनिक उद्यमों को बाजार–शक्तियों के अनुसार कीमतें तय करने की अधिक स्वतंत्रता दी जायेगी।

विदेशी खाते संबंधी नीति

सरकार के स्थिरीकरण (Stabilisation) और आयात संकुचन उपायों से यह प्रत्याशा की गयी कि वे विदेशी खाते के घाटे को कम करके 1991–92 में सकल देशीय उत्पाद के 2 प्रतिशत पर लाया जाए।

सामाजिक नीतियां (Social Policies)

सरकार का मत था कि जहां समष्टि–आर्थिक समायोजन (Macro-economic adjustment) की क्रिया तो कष्टपूर्ण ही होगी, परन्तु सरकार इस क्रिया को मानवीय रूप देना चाहती है और इस कारण निर्धनता दूर करने के उद्देश्य को यह समायोजन क्रिया का अभिन्न अंग मानती है। इस सिद्धांत को दृष्टि में रखते हुए सरकार ने प्राथमिक शिक्षा ग्रामीण पीने के पानी की उपलब्धि, छोटे एवं सीमांत किसानों को सहायता, स्त्रियों एवं बच्चों के प्रोग्रामों, अनुसूचित एवं जनजातियों और समाज के अन्य कमजोर वर्गों के कल्याण के प्रोग्रामों के लिए अधिक व्यय का प्रावधान किया। इसके साथ–साथ सरकार आधारसंरचना और ग्राम क्षेत्रों में रोजगार–जनन प्रोजैक्टों पर भी अधिक व्यय करना चाहती थी।

औद्योगिक नीति सुधार (Industrial Policy Reforms)

वह विनिमायक ढांचा (Regulatory Framework) विकास के मार्ग में रुकावट था, जुलाई 24, 19991 को घोषित नीति द्वारा बुनियादी रूप में परिवर्तित किया गया। इस क्षेत्र में अन्य आर्थिक सुधारों के साथ चालू किये गये उपाय निम्नलिखित हैं–

(*i*) 15 उद्योगों की सूची को छोड़ अन्य सभी औद्योगिक प्रोजैक्टों के लिए औद्योगिक लाइसेंस हटा लिये गये हैं। इस सूची में ऐसे उद्योग शामिल किए गए हैं जो सुरक्षा एवं सामरिक महत्व से संबंधित हैं, जो सामाजिक कारणों, खतरनाक रसायन और पर्यावरण संबंधी महत्त्वपूर्ण कारणों से जुड़े हैं।

(*ii*) एम. आर. टी. पी. कम्पनियों को अपने विनियोग निर्णयों के लिए एम. आर. टी. पी. आयोग से स्वीकृति नहीं

नोट

लेनी पड़ेगी। न ही एकाधिकारी घरानों को अपनी विस्तार योजनाओं, नये उद्यम स्थापित करने, विलयन एवं स्वामित्वहरण (Take-over) के लिए सरकार से इजाजत लेनी होगी।

(*iii*) सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित क्रियाओं का दायरा अब पहले से बहुत तंग है और शेष आरक्षित क्षेत्रों (Reserved areas) को निजी क्षेत्र को खोलने पर अब कोई पाबंदी नहीं है।

विदेशी निवेश नीति (Foreign Investment Policy)

औद्योगिक नीति (1991) विदेशी निवेश के लिए अधिक अवसर भी प्रदान करती है ताकि तकनालाजी हस्तांतरण, विपणन विशेषज्ञता और आधुनिक प्रबंधकीय तकनीकों के प्रयोग का लाभ उठाया जा सके। इसका यह भी इरादा है कि विदेशी निजी पूंजी अन्तर्प्रवाहों की संरचना में अत्यन्त आवश्यक परिवर्तन किया जाए ताकि ऋण-उत्पन्न करने वाले प्रवाहों की अपेक्षा हिस्सा-पूंजी (Equity) की अधिक मात्रा प्राप्त की जा सके इस संबंध में निम्नलिखित उपायों की घोषणा की गयी है–

(*i*) बहुत से उद्योगों में 51 प्रतिशत विदेशी हिस्सा पूंजी के स्वामित्व की सीमा तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Direct foreign investment) की स्वत: स्वीकृति दी जायेगी। इससे पूर्व सभी विदेशी निवेश सामान्यत: 40 प्रतिशत तक सीमित था।

(*ii*) अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों तक पहुंचने के लिए, बहुसंख्यक विदेशी हिस्सा पूंजी को 51 प्रतिशत तक ऐसी व्यापार कम्पनियों में लगाने की इजाजत होगी जो निर्यात क्रियाओं में लगी हुई है।

सरकार उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों में तकनालाजी संधियों के लिए स्वत: स्वीकृति (Automatic aproval) प्रदान करेगी यह सुविधा अन्य उद्योगों को भी प्राप्त होगी यदि ऐसी संधियों में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता न हो।

व्यापार नीति (Trade Policy)

इस रणनीति का एक महत्त्वपूर्ण अंग परिमाणात्मक प्रतिबंधों (Quantitative restrictions) की शासन-प्रणाली का कीमत-आधारित प्रणाली के संक्रमण है। सरकार ने 1 अप्रैल 2011 ने सभी मदों पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र संबंधी नीति (Public Sector Policy)

सरकार का मत है कि सार्वजनिक क्षेत्र ने बड़े पैमाने पर आन्तरिक अतिरेक (Internal surpluses) पैदा नहीं किये हैं क्योंकि इसके लिए अपर्याप्त प्रतिस्पर्द्धा का अभाव रहा है। इसने उच्च लागत ढांचे को प्रोन्नत किया है। सार्वजनिक क्षेत्र की समस्याओं के समाधान के लिए सरकार ने एक नया दृष्टिकोण अपनाया जिसके मुख्य अंग निम्नलिखित थे–

(*i*) सार्वजनिक विनियोग के वर्तमान पोर्टफोलिया के यथार्थवाद की कसौटी के आधार पर समीक्षा की जायेगी ताकि उन क्षेत्रों को इससे दूर रखा जाये जिनमें सामाजिक धारणाएं महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और जहां निजी क्षेत्र अधिक कुशल हैं;

(*ii*) ऐसे क्षेत्र में कार्य करने वाले उद्यमों जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र को जारी रखना उचित है, को अपेक्षाकृत बहुत अधिक प्रबंधकीय स्वायत्तता (Manageria autonomy) प्राप्त होगी;

(*iii*) सार्वजनिक उद्यमों को प्राप्त होने वाला बजटीय-समर्थन क्रमिक रूप में घटाया जायेगा।

(*iv*) सार्वजनिक उद्यमों में बाजार-अनुशासन (Market discipline) लाने के लिए, निजी क्षेत्र से स्पर्द्धा को बढ़ावा दिया जायेगा और कुछ चुने हुए उद्यमों में हिस्सा पूंजी का विनिवेश (Disinvestment) किया जायेगा।

(*v*) जीर्ण रूप में बीमार सार्वजनिक उद्यमों को भारी हानियां करने की इजाजत नहीं दी जाएगी।

इस नीति के पालन के लिए कई उपाय किए जाएंगे–(1) सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की संख्या 17 से कम करके 8 कर दी गयी है। इस क्षेत्र में भी रचनात्मक रूप में निजी क्षेत्र के सहयोग की इजाजत दी गयी। विदेशी कम्पनियों के साथ साझे उद्यम अब संभव हा सकेंगे। (2) ऐसे सार्वजनिक उद्यम जो जीर्ण रूप में बीमार हैं और जिनके

नोट

सक्षम बनने की कोई संभावना नहीं, उन्हें पुनरुत्थान/पुन:स्थापना के लिए औद्योगिक एवं वित्तीय-पुन:निर्माण बोर्ड (Board of Industrial and Financial Reconstruction) को सौंप दिया जायेगा। (3) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निष्पादन में उन्नति के लिए बोध ज्ञापन (Memorandum of Understanding) के माध्यम द्वारा लाभदायकता और प्रत्याय-दर (Rate of Return) पर मूल बल देते हुए इन्हें मजबूत किया जायेगा। (4) सरकार की 20 प्रतिशत तक हिस्सा पूंजी (Equity) पारस्परिक निधियों (Mutual Funds) द्वारा चुने हुए निजी उद्यमों में विनियोजित की जायेगी। निकासी नीतियों (Exit policies) के दुष्प्रभावों से श्रमिकों को अधिकतम संभव सीमा तक सुरक्षित करने का प्रयास किया जायेगा। अतिरिक्त श्रमिकों की मात्रा को कम करने के लिए स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति योजनाएं (Voluntary retirement schemes) आरंभ की गयीं। स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त, राष्ट्रीय नवीकरण निधि (National Reneal Fund) कायम की गयी ताकि श्रमिकों के प्रशिक्षण एवं पुन: रोजगार की व्यवस्था की जा सके।

आर्थिक सुधारों का मूल्यांकन (Assessment of Economic Reforms)

भारत में आर्थिक सुधार 1991 में कांग्रेस सरकार द्वारा जिसके प्रधानमंत्री श्री पी.वी नरसिंह राव थे, लागू किए गए। राजनैतिक दलों में आर्थिक सुधारों के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में लगभग एकमत है। कांग्रेस पार्टी और भारतीय जनता पार्टी जो देश के दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं, आर्थिक सुधारों के बारे में काफी हद तक एक से विचार रखते हैं। कांग्रेस के कई नेता यह आरोप लगाते हैं कि भारतीय जनता पार्टी कांग्रेस सरकार द्वारा चालू किए आर्थिक सुधारों को लागू करने का श्रेय ले रही है। जनता दल, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, सी.पी.आई. (एम), समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, डी.एम.के. एवं ए.डी.एम.के. सभी अपने-अपने राज्यों में निवेश बढ़ाने के लिए विदेशी पूंजी आकर्षित करते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देश के आर्थिक विकास को त्वरित करने के लिए आर्थिक सुधारों को चालू करने और उन्हें कार्यान्वित करने के बारे में एकमत प्राप्त हो चुका है।

सुधार प्रक्रिया ने अब 16 वर्ष पूरे कर लिए हैं और यह समय-अवधि इतनी छोटी नहीं कि सुधार प्रक्रिया के प्रभाव का मूल्यांकन न किया जा सके। अत: सुधार प्रक्रिया की उपलब्धियों और खामियों का पुनर्निरीक्षण करना चाहिए ताकि यह सोचा जा सके कि क्या देश सही दिशा में चल रहा है। अन्यथा, इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि 1990 के दशक में चलायी गयी सुविधा-प्रक्रिया में सुधार होना चाहिए।

सुधार प्रक्रिया का मूल्यांकन करने से पहले यह वांछनीय होगा कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया के लक्ष्य स्पष्ट कर दिए जाएं। सुधार प्रक्रिया को आर्थिक विकास को त्वरित करने के साथ निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहिए–(1) संवृद्धि की ऊंची दर, (2) रोजगार-क्षमता का विस्तार, (3) गरीबी-रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या में कमी (4) समानता की प्रोन्नति जिसके परिणामस्वरूप समाज के गरीब और कमजोर वर्गों को बेहतर लाभ प्राप्त हों, और (5) क्षेत्रीय असमानताओं की दृष्टि से भारत के समृद्ध और गरीब राज्यों के बीच अन्तर कम किया जा सके। अत: यह परीक्षण करना उचित होगा कि आर्थिक सुधारों के प्रभावाधीन क्या ये उद्देश्य प्राप्त किए जा रहे हैं–

क्या आप जानते हैं कांग्रेस पार्टी और भारतीय जनता पार्टी जो देश के दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं, आर्थिक सुधारों के बारे में काफी हद तक एक से विचार रखते हैं।

1. सकल देशीय उत्पाद की वृद्धि-दर (GDP Growth)

इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक सुधार के परिणामस्वरूप सकल देशीय उत्पाद (GDP) की सापेक्षत: उच्च वृद्धिदर प्रोन्नत हुई। पहले दो वर्षों अर्थात् 1991-92 और 1992-93 की आरंभिक कठिनाइयों के पश्चात् 1993-94 से 1997-98 के दौरान औसत वृद्धितर 7 प्रतिवर्ष थी। आठवीं योजना (1992-97) के दौरान औसत वृद्धिदर 6.8 प्रतिशत थी। जाहिर है कि वृद्धिदर में सुधार हुआ।

किन्तु इसके पश्चात् सकल देशीय उत्पाद की वृद्धिदर में अवत्वरण के चिह्न दिखायी दिए। यदि हम सुधारपूर्व काल

नोट

(1980-81 से 1990-91) की अवधि के दौरान वार्षिक औसत वृद्धिदर की तुलना सुधार-उपरान्त काल के दशक से करें, तो यह पता चलता है कि इन दोनों अवधियों में सकल देशीय उत्पाद की वृद्धिदर 5.6 प्रतिशत थी। ज़ाहिर है कि सुधार प्रक्रिया सुधार-पूर्व काल पर अपनी स्पष्ट श्रेष्ठता स्थापित नहीं कर पायी। मुख्य मुद्दा यह है कि वृद्धिदर त्वरित की जाए और सुधार प्रक्रिया के स्वरूप में ऐसे परिवर्तन किए जाए ताकि गरीबी पर सुनिश्चित प्रभाव पड़ सके।

यदि हम 1980-81 से 1990-91 अर्थात् सुधार-पूर्व काल में औसत 5.6 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि-दर की तुलना सुधार उपरान्त काल (1990-91 से 2000-01) के साथ करें, तो उसकी भी वृद्धि दर 5.6 प्रतिशत थी। किन्तु 2000-01 से 2005-06 की 5 वर्षीय अवधि के दौरान औसत वृद्धि दर में स्पष्ट उन्नति हुई और औसत वृद्धि-दर 7.0 प्रतिशत हो गयी। यह अभिनन्दनीय है।

तालिका 1–1993-94 की कीमतों पर सकल देशीय उत्पाद की वृद्धि (साधन लागत पर)

वर्ष	सकल देशीय उत्पाद (करोड़ रुपये)	वृद्धि-दर
1980-81	4,01,128	
1990-91	6,92,871	
	1999-2000 की कीमतों पर	
2000-01	18,64,773	
2001-02	19,72,912	5.8
2002-03	20,47,733	3.8
2003-04	22,22,591	8.5
2004-05	23,89,660	7.5
2005-06	26,04,532	9.0
औषत वार्षिक वृद्धिदर		
1980-81 से 1990-91		5.6
1990-91 से 2000-01		5.6
2000-01 से 2005-06		6.7

2. आर्थिक सुधार और गरीबी में कमी–विश्व बैंक के डा. गौरव दत्त ने अपने लेख "Has Poverty Declined Since Economic Reforms?" में सुधार-पूर्व एवं सुधार-उपरान्त काल में गरीबी में कमी का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनके मुख्य निष्कर्ष निनलिखित हैं–

1. 1980-90 के दशक का मध्य देश में जीवन स्तर के विकास में महत्वपूर्ण वर्ष माना जा सकता है। 1973-74 और 1986-87 के बीच ग्रामीण और शहरी गरीबी में महत्वपूर्ण कमी पायी गयी, इसके बाद के काल में ऐसे कोई तुलनीय लक्षण नहीं मिलते।
2. ग्रामीण क्षेत्र में 1991 तक गरीबी में कमी की दर 2.7 प्रतिशत प्रति वर्ष थी, परन्तु तत्पश्चात् इसमें कमी की दर शून्य के सान ही रही।
3. शहरी क्षेत्र में, 1973-74 से 1990-91 की अवधि के दौरान गरीबी में कमी की वार्षिक दर 2.2 प्रतिशत रही और यह प्रवृत्ति 1990-91 से 1996-97 के बीच बनी रही (2.2 प्रतिशत की वार्षिक कमी)
4. जबकि शहरी क्षेत्र में 1990 के दशक में वृद्धि दर और गरीबी में कमी का सम्बन्ध बना रहा, ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी में कमी ग्राम-विकास के अभाव में अवरुद्ध हो गयी।

1993-94 से 2004-05 के दौरान गरीबी के अनुमान– राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 61वें रौंद के आधार पर, योजना

नोट

आयोग ने समान-स्मरण-अवधि (Unifor recall period) के आधार पर 1993-94 से 2004-05 के दौरान गरीबी अनुपात का अनुमान लगाया है। मार्च 2007 में घोषित परिणामों से पता चलता है कि–

- समग्र गरीबी अनुपात (Poverty ratio) जो 1993-94 में 36 प्रतिशत था कम हो कर 2004-05 में 27.5 प्रतिशत हो गया–11 वर्षों की अवधि में 8.5 प्रतिशत की कमी।
- ग्रामीण गरीबी अनुपात 1993-94 में 37.3 प्रतिशत से गिरकर 2004-05 में 28.4 प्रतिशत हो गया 11 वर्षों की अवधि में 9 प्रतिशत की कमी।
- शहरी गरीबी अनुपात 1993-94 में 32.4 प्रतिशत से गिर कर 2004-05 में 25.7 प्रतिशत हो गया 11 वर्षों की अवधि में 6.7 प्रतिशत की कमी।
- 11 वर्षों की अवधि (1993-94 से 2004-05) के दौरान गरीबी में औसत वार्षिक कमी 0.77 प्रतिशत की दर से हुई।

तालिका 2–समान स्मरण अवधि के आधार पर गरीबी अनुमानों की तुलना
(कुल जनसंख्या का प्रतिशत)

	ग्रामीण	शहरी	कुल
1973-74	56.4	49.0	54.9
1987-88	39.1	38.2	38.9
1993-94	37.3	37.4	36.0
2004-05	28.3	25.7	27.5

- किन्तु 1973-74 और 1987-88 में गरीबी की दर 54.9 प्रतिशत सेगिर कर 38.9 प्रतिशत हो गयी - 14 वर्षीय अवधि में 14 प्रतिशत की कमी। ज़ाहिर है गरीबी में गिरावट की दर 1 प्रतिशत प्रति वर्ष थी, जो कि सुधा-उपरान्त काल में गरीबी की दर में कमी से अधिक है, चाहे सुधार-उपरान्त काल में जी.डी.पी. की वृद्धि की दर सुधार-पूर्व काल से कहीं अधिक थी।

गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले व्यक्तियों की संख्या 2004-05 में 30 करोड़ आंकी गयी है जबकि 1993-94 में यह 32 करोड़ थी। गरीबों की कुल संख्या में कमी सुधार-उपरान्त काल में बड़ी धीमी गति से हुई है।

3. सकल देशीय उत्पाद में वृद्धि, रोजगार-वृद्धि और गरीबी

प्रश्न उठता है कि जब सकल देशीय उत्पाद में वृद्धि की दरें हाल ही के वर्षों में बहुत ऊँची रही हैं (विशेषकर 1993-94 के पश्चात्), तो उनके साथ गरीबी में तदनुरूप कमी व्यक्त क्यों नहीं हुई। यदि गरीबी का अभिप्राय या तो बेरोजगारी या अल्परोजगार या अच्छे किस्म के रोजगार का अभाव है, तब इसके लिए यह जरूरी है कि देश में सुधार-पूर्व एवं सुधार-उपरान्त काल में रोजगार की स्थिति का अध्ययन किया जाए। तालिका 3 में उपलब्ध कराए गए आंकड़ों से पता चलता है कि कुल रोजगार जो 1983 में 3,026 लाख थे बढ़कर 1990-91 में 3,568 लाख हो गए और फिर उन्नत होकर 1997-98 में 3,829 लाख तक पहुंच गए। 1983 और 1990-91 के बीच रोजगार की वृद्धिदर 2.39 प्रतिशत प्रति वर्ष रही जो इस अवधि में श्रम शक्ति की वृद्धि दर के समान थी। अत: यह आशा की जाती थी कि रोजगार की यह वृद्धिदर अगले दशक में भी बनी रहेगी और देश अपशिष्ट बेरोजगारी (Backlog of unemployment) में महत्वपूर्ण कमी कर सकेगा। परन्तु दुर्भाग्यवश, सुधार के काल (1990-91 से 1997-98) के दौरान रोजगार की वृद्धिदर केवल 1 प्रतिशत रह गयी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि सुधार-प्रक्रिया (Reform Process) केवल संगठित क्षेत्र तक ही सीमित है, विशेषकर निगम क्षेत्र (Corporate sector) तक। 1990-91 और 1997-98 के दौरान संगठित क्षेत्र (Organised sector) में रोजगार की वृद्धिदर मन्द होकर 0.6 प्रतिशत हो गयी जबकि यह 1983 और 1990-91 के दौरान 1.73 प्रतिशत थी। इसी प्रकार सुधार-उपरान्त काल में असंगठित क्षेत्र (Unorganised sector) में भी रोजगार की वृद्धिदर कम होकर 1.1 प्रतिशत हो गयी जबकि

नोट

यह सुधार-पूर्वकाल के 7 वर्षों के दौरान 2.41 प्रतिशत थी। इससे यह साफ निष्कर्ष प्राप्त होता है कि विकास-प्रक्रिया के नीचे रिसने के प्रभावों से गरीबों को लाभ नहीं हुआ। अत: डा. एस.पी. गुप्ता लिखते हैं–"ये सभी प्रवृत्तियां किसी को भी कुल देशीय उत्पाद में वृद्धि की एकमात्र नीति का उपयोगिता पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर करती हैं कि क्या इन के द्वारा गरीबी या रोजगार की समस्या हल की जा सकती है। उदाहरणार्थ 1980-90 के दशक में रोजगार की उच्च वृद्धिदर जिसके साथ तुलनीय रूप में सकल देशीय उत्पाद की अपेक्षाकृत निम्न वृद्धिदर उपलब्ध थी, फिर भी गरीबी में महतवपूर्ण कमी हुई। 1990 के दशक में, रोजगार की निम्न वृद्धि के साथ गरीबी में भी वृद्धि हुई।"

तालिका 3–1983-1997 के बीच रोजगार में परिवर्तन

लाखों में

क्षेत्र	कुल	संगठित क्षेत्र	असंगठित क्षेत्र
1983	3,026.0	240.1	2,785.9
1990-91	3,567.6	270.6	3297.0
1997-98	3,828.5	282.5	3,546.0
रोजगार की वृद्धिदर-वार्षिक औसत (%)			
1983 से 190-91	2.39	1.73	2.41
1990-91 से 1997-98	1.0	0.6	1.1

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या का अनुपात जो 1983 में कुल जनसंख्या का 44.8 प्रतिशत था 1990-91 तक कम होकर 35.11 प्रतिशत हो गया और गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या परम रूप में जो 1983 में 32.3 करोड़ थी कम हो कर 1990-91 में 29.1 करोड़ हो गयी, परन्तु तत्पश्चात् 1990-91 से 1997 की 7-वर्षीय अवधि में गरीब-जनसंख्या का अनुपात 35.11 प्रतिशत से बढ़कर 37.23 प्रतिशत हो गया। अत: कुल रूप में गरीबों की संख्या जो 1990-91 में 29.1 करोड़ थी बढ़कर 1997 में 34.9 करोड़ हो गयी। जाहिर है कि विकास का जो ढांचा हमने अपनाया है, उस पर पुनर्विचार होना चाहिए ताकि हम गरीबी एवं बेरोजगारी की चुनौती का अगले दशक में मुकाबला कर सकें इसके लिए हमें विकास की रणनीति (Strategy of growth) बदलनी होगी और चिरस्थायी उपभोग वस्तुओं अर्थात् कपड़े धोने की मशीनों, रंगीन टी. वी., रेफ्रीजरेटर, वातानुकूलकों, नायलान, फैब्रिक्स, स्कूटर, मोपेड, कारों आदि की अपेक्षा जनोपयोग की वस्तुओं या मजदूरी वस्तुओं (Wage goods) पर बल देना होगा।

टास्क विदेशी निवेश नीति क्या है?

जोजेफ स्टिग्लिट्ज़ (Joseph Stiglitz), विश्व बैंक के उपाध्यक्ष ने विश्व बैंक की सोच की आलोचना करते हुए लिखा–"इसकी बजाए कि हम वाशिंगटन मतैक्य का अनुसरण करें, हमें विकास की एक नई दृष्टि अपनानी होगी जिसमें सामाजिक न्याय, समानता और गरीबी के विरुद्ध जंग बैंक के एजेंडा का केन्द्र हो।"

नोट

तालिका 4–गरीबी रेखा के नीचे जनसंख्या का प्रतिशत (1983-97)

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण का रौंद		ग्रामीण	शहरी	कुल	कुल गरीब जनसंख्या (करोड़)
1983	38वां बड़ा सैम्पल	45.65	40.79	44.48	32.3
1987-88	43वां बड़ा सैम्पल	39.09	38.20	38.86	30.5
1989-90	45वां छोटा सैम्पल	33.70	36.00	34.28	27.6
1990-91	46वां छोटा सैम्पल	35.04	35.29	35.11	29.1
1992	48वां छोटा सैम्पल	41.70	37.80	40.70	34.8
1993-94	50वां छोटा सैम्पल	37.27	32.36	35.07	32.1
1994-95	51वां छोटा सैम्पल	38.03	34.24	36.98	32.9
1995-96	52वां छोटा सैम्पल	38.29	30.05	36.08	32.8
1997	53वां छोटा सैम्पल	38.46	33.97	37.23	34.9
1998	59वां छोटा सैम्पल	45.25	35.48	43.01	40.6

संगठित क्षेत्र में रोज़गार की प्रवृत्ति

चूंकि सुधार प्रक्रिया का मुख्य बल संगठित क्षेत्र (Organised sector) पर है, इस लिए संगठित क्षेत्र में रोज़गार की वृद्धि का परिक्षण करना रूचिकर होगा।

तालिका 5–संगठित क्षेत्र में रोज़गार की औसत वार्षिक वृद्धिदर

प्रतिशत

	1993-94	1994-2004
सार्वजनिक क्षेत्र	1.53	- 0.80
निजी क्षेत्र	0.44	0.61
कुल	1.20	- 0.38

तालिका 4 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि 1994-2004 की 10 वर्षीय अवधि के दौरान रोज़गार की औसत वार्षिक वृद्धिदर नकारात्मक थी अर्थात् - 0.38 प्रतिशत जबकि यह सुधार-पूर्व काल (1983-94) में 1.20 प्रतिशत थी। सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार की वृद्धिदर जो 1983-94 की अवधि में 1.53 प्रतिशत थी, अवत्वरित होकर 1994-2004 में - 0.80 प्रतिशत हो गयी। चूंकि सार्वजनिक क्षेत्र अपने रोज़गार के आकार को ठीक करने के लिए अतिरिक्त श्रमिकों के भार को कम कर रहा था, यह आशा की जात थी कि निजी क्षेत्र इसकी क्षतिपूर्ति के लिए अधिक रोज़गार की प्रवृत्ति को पलट देगा। इसके बावजूद कि सकल देशीय उत्पाद (जी.डी.पी.) की वृद्धिदर में सुधार-उपरान्त काल में महत्त्वपूर्ण वद्धि हुई, विशेषकर विनिर्माण और सेवा क्षेत्र में, निजी असंगठित क्ष्त्र में रोज़गार की वृद्धिदर में बहुत थोड़ी वृद्धि हुई और 1983-94 के दौरान यह 0.44 प्रतिशत के विरुद्ध बढ़ कर 1994-2000 में 0.61 प्रतिशत हो गयी। इससे यह बात रेखांकित होती है कि 1994-2004 की अवधि रोज़गार-विहीन विकास (Jobless growth) का काल है। अत: यह आवश्यक है कि रोज़गार-विहीन विकास के कारणों का अध्ययन किया जाए और इसके लिए उचित उपचारात्मक कार्रवाई की जाए।

समग्र अर्थव्यवस्था के लिए आंकड़े संकेत करते हैं कि बेरोज़गारी की दर (सामान्य मुख्य स्थिति) के आधार पर 1993-94 में 2.62 प्रतिशत थी जो बए कर 1999-00 में 2.78 प्रतिशत और फिर और बढ़कर 2004-05 में 3.1 प्रतिशत हो गयी।

नोट

परन्तु चालू दैनिक स्थिति (Current Daily Status) बेरोज़गारी और बेरोज़गारी और अल्प-रोज़गार का व्यापक प्रमाप है के अनुसार बेरोज़गारी की वृद्धिदर जो 1999-00 में 7.3 प्रतिशत थी बढ़कर 2004-05 में 8.3 प्रतिशत हो गयी। अत: यह अनिवार्य है कि जी.डी.पी. की वृद्धिदर 2003-04 से 2005-06 के दौरान 8 प्रतिशत से भी अधिक होने के बावजूद बेरोज़गारी की दर में वृद्धि के कारणों की छानबीन की जाए और रोज़गार-जनन की नयी रणनीति अपनायी जाए जिसमें अधिक रोज़गार-जनन वाले क्षेत्रों अर्थात् कृषि, छोटे एवं मध्यम उद्योगों, खुदरा व्यापार, खाद्य-प्रसंस्कारण, स्वास्थ्य, शिक्षा और सूचना तकनालाजी आदि का विकास किया जाए।

4. आर्थिक सुधार और श्रम पर प्रभाव

सुधार-प्रक्रिया ने श्रम पर भी दुष्प्रभाव ही डाला है। इस का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि सुधार-पूर्व काल में तालाबन्दियों (Lockouts) के परिणामस्वरूप मानव-हितों की हानि 46 प्रतिशत थी परन्तु सुधार उपरान्त काल में यह एकदम छलांग लगाकर 60 प्रतिशत हो गयी। यह परिस्थिति 2001-05 के दौरान और खराब हो गयी और मानव-दिनों की हानि में तालाबन्दियों का भाग और बढ़ कर 75 प्रतिशत हो गया। इसके अतिरिक्त कारखानों को बन्द (Closures) करने और जबरी छुट्टी (Layoff) की प्रक्रिया में भी वृद्धि हुई है। इसके साथ-साथ आकस्मिक श्रमिकों (Casual Labourers) का अनुपात जो 1988 में 31.2 प्रतिशत था बढ़कर 1998 में 37 प्रतिशत हो गया।

तालिका 6–कुल श्रमशक्ति का प्रतिशत वितरण

वर्ष	स्वनियुक्त	मजदूरी प्राप्त रोजगार	आकस्मिक श्रम
1988	53.6	15.2	31.2
1994	51.9	14.7	33.5
1996	52.4	15.9	32.8
1997	52.6	14.5	32.9
1998	50.7	12.3	37.0

चाहे सरकार ने औपचारिक रूप में विदाई नीति (Exit Policy) स्वीकार नहीं की, परन्तु आर्थिक सुधारों की लहर से प्राप्त बल के आधार पर और सरकार के पूंजीवादियों के प्रति झुकाव के रुख के बल पर व्यवहार में कई प्रकार के अनुचित तरीकों से विदाई नीति चलाई जा रही है। स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना (Voluntary Retirement Scheme) के आधीन श्रमिकों की संख्या कम की जा रही है। ऐसा सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों मं हो रहा है।

नोट्स विकास-प्रक्रिया ने श्रमिकों को संगठित क्षेत्र से धकेल कर असंगठित क्षेत्र में भेज दिया, अर्थात् सुरक्षित रोजगार से असुरक्षित रोजगार की ओर।

5. उत्पादिता (Productivity) में वृद्धि और वास्तविक मजदूरी

औद्योगिक लाबियां कई बार यह आरोप लगाती हैं कि श्रमिकों द्वारा उत्पादिता में वृद्धि नहीं की जाती परन्तु वे वास्तविक मजदूरी को बढ़ाने के लिए उद्योगपतियों को मजबूर करते हैं। शरीफ और गोम्बर ने 1999 में अपने अध्ययन में यह रहस्योद्घाटन किया–1988-94 के बीच उत्पादिता में 3.32 प्रतिशत की औसत वार्षिक वृद्धि हुई जबकि इस अवधि में वास्तविक मजदूरी की वृद्धि केवल 1.0 प्रतिशत प्रति वर्ष थी। जाहिर है कि सुधार-उपरान्त काल में उत्पादिता में वृद्धि के लाभ का केवल 30 प्रतिशत श्रमिकों को हस्तांतरित किया गया और शेष नियोजकों ने अपनी जेबों में डाल लिया। इसका श्रम-कल्याण पर बुरा असर पड़ा।

नोट

उक्त विश्लेषण का सार यह है कि आर्थिक सुधारों की मूल समस्या यह है कि श्रम को एक परिसम्पत (Asset) न मानकर, इसे केवल एक उपकरण (Instrument) मानना। सुधार प्रक्रिया के समर्थक श्रम-लोचशीलता (Labour flexibility) अर्थात् श्रमिक को काम पर लगाने और हटाने में पूर्ण स्वतंत्रता की वकालत करते हैं और इसके लिए सुरक्षा-तन्त्र (Safety net) की उपलब्धि की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। श्रम के प्रति इस यांत्रिक दृष्टि का एक ओर मजदूर संघ विरोध करते हैं और दूसरी ओर न्यायपालिका इसे अनुचित ठहराती हैं। नियोजकों के लिए तो यह आकार-संकुचन (Downsizing) का प्रयास है जिसके द्वारा वे लागत कम करना चाहते हैं परन्तु श्रमिक के लिए तो यह नौकरी से हाथ धोना है। विकसित देशों में तो सामाजिक सुरक्षा (Social security) का विस्तृत रूप में विकास हो चुका है और आकार संकुचन की क्रिया कहीं कम दु:खदायी है क्योंकि श्रमिक को बेरोजगारी-भत्ता (unemployment allowance) मिलता है और इस प्रकार उसे जीवित रहने के लिए न्यूनतम राशि प्राप्त हो जाती है परन्तु अल्पविकसित देशों में इस छटनी (Retrenchment) के कारण श्रमिक को अपनी आजीविका से ही हाथ धोने पड़ते हैं। इस बात को दृष्टि में रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा–"छँटनी के कारण श्रमिक अचानक और बिना अपने और ट्यूबवैलों में निजी निवेश ने सहारा दिया।"

तालिका 7–कृषि में सकल पूंजी निर्माण

1999-00 की कीमतों पर (करोड़ रुपये)

	कृषि में निवेश		कृषि-निवेश में भाग प्रतिशत			कृषि में निवेश,
	कुल	सार्वजनिक	निजी	सार्वजनिक	निजी	जी.डी.पी. का प्रतिशत
1999-00	43,473	7,716	35,757	17.7	82.3	2.2
2000-01	38,735	7,155	31,580	18.5	81.5	1.9
2001-02	47,043	8,746	38,297	18.6	81.4	2.2
2002-03	46,823	7,962	38,861	17.0	83.0	2.1
2003-04	45,132	9,376	35,756	20.8	79.2	1.9
2004-05	48,576	10,267	38,309	21.1	78.9	1.9
2005-06	54,539	13,219	41,320	24.2	75.8	1.9

*शीघ्र अनुमान

स्रोत–केन्द्रिय सांख्यिकी संगठन

यदि हम पानी-बीज-उर्वरक तकनालॉजी (Water-Seed-Fertilizer Technology) के कार्यान्वयन का अध्ययन करें (जिसे लोकप्रिय भाषा में हरित क्रांति कहा जाता है), तो यह पता चलता है कि 1970-71 से 1980-81 के दौरान सिंचाई-अधीन क्षेत्रफल में औसत वार्षिक वृद्धिदर 3.6 प्रतिशत थी जो 1980-81 से 1990-91 के दशक में गिरकर 2.7 प्रतिशत हो गयी और 1990-91 से 1997-98 के दौरान केवल 1.9 प्रतिशत रह गयी। चूंकि सिंचाई एक मूल आदान (Input) है जो बीज एवं उर्वरक के पूर्ण प्रयोग में सहायक होती है, इसलिए सिंचाई आधीन क्षेत्रफल में वृद्धि घटती हुई दर ने चावल और गेहूं के उत्पादन की वृद्धिदर पर प्रभाव डाला। दालों के संदर्भ में सिंचाई अधीन क्षेत्रफल में नकारात्मक वृद्धि हुई। इसी प्रकार की प्रवृत्ति अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के आधीन क्षेत्रफल के विस्तार में पायी जाती है। इसी प्रकार, उर्वरकों का उपभोग जिसकी अस्सी के दशक में वृद्धिदर 8.5 प्रतिशत थी, कम होकर नब्बे के दशक में 3.7 प्रतिशत रह गयी।

इस सम्बन्ध में बड़ी एवं छोटी सिंचाई की प्रवृत्ति पर विचार करना चाहिए। बड़ी सिंचाई छोटी सिंचाई के पूरक का काम करती है ताकि जलस्तर (Water table) को ऊंचा रखा जा सके, जब कि छोटी सिंचाई किसान को वर्षा की विफलता की परिस्थिति में जल-सुरक्षा प्रदान करती हैं। छोटी सिंचाई के आधीन नब्बे के दशक में सिंचाई-आधीन क्षेत्रफल की

नोट

वृद्धिदर का 2.3 प्रतिशत तक कम हो जाना जबकि यह अस्सी के दशक में 3.5 प्रतिशत थी, समग्र कृषि विकास को मन्द करने वाला एक अन्य कारणतत्व है। आर्थिक सुधारों में सिंचाई के विस्तार पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया और यह नब्बे के दशक में कृषि उत्पादन एवं उत्पादिता (Productivity) में अपेक्षाकृत कम वृद्धि के लिए उत्तरदायी है।

अत: राज्य सरकार के लिए यह जरूरी हो जाता है कि कृषि, सिंचाई और ग्राम-आधारसंरचना (Rural Infrastructure) से अपने हाथ पीछे खींचने की अपेक्षा, इन क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश को मजबूत करे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. नयी आर्थिक नीति का मूल बल निजी क्षेत्र के लिए अधिक ..... का प्रावधान करना है।
2. 1980-81 से 1984-85 के दौरान ..... का औसत घाटा 5,933 करोड़ रु. था।
3. ..... ने विश्व बैंक और अंतराष्ट्रीय कोष को 7 अरब डालर का भारी ऋण देने के लिए प्रार्थना पत्र भेजा ताकि देश इस संकट से मुक्त हो सके।
4. 15 उद्योगों की सूची को छोड़ अन्य सभी औद्योगिक प्रोजेक्टों के लिए औद्योगिक ..... हटा लिये गये हैं।
5. सरकार ने 1 अप्रैल 2001 से सभी मदों पर मात्रात्मक ..... समाप्त कर दिए हैं।
6. भारत में आर्थिक सुधार 1991 में कांग्रेस सरकार द्वारा जिसके प्रधानमंत्री ..... पी.वी नरसिम्हाराव थे, लागू किए गए।
7. ..... केवल संगठित क्षेत्र तक ही सीमित है, विशेषकर निगम क्षेत्र तक।
8. विश्व बैंक के उपाध्यक्ष ..... हैं।
9. ..... ने श्रमिकों को संगठित क्षेत्र से धकेल कर असंगठित क्षेत्र में भेज दिया।
10. आर्थिक सुधारों का मूल दोष ..... की उपेक्षा है।
11. बड़ी सिंचाई छोटी सिंचाई के ..... का काम करती है।

10.2 सारांश (Summary)

- 1985 में श्री राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के फौरन बाद सरकार की आर्थिक नीति में नयी प्रवृत्तियों की रूपरेखा खींची। प्रधानमंत्री ने इस सम्बन्ध में जिस अकसीर का सुझाव दिया, वह थी–उत्पादिता में सुधार, आधुनिक तकनालाजी को आत्मसात करना (Absorption of modern technology) और क्षमता के पूर्णतर प्रयोग को एक राष्ट्रीय अभियान का रूप देना।
- प्रोफेसर के. एन. राज. नयी आर्थिक नीति का सार इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं–"किन्तु इस बात पर एक आम सहमति प्राप्त हो गयी है कि इन नीति सम्बन्धी परिवर्तनों का कुल मिलाकर एक प्रमुख लक्षण निजी क्षेत्र के अप्रतिबन्धित विकास के लिए अधिक क्षेत्र-विस्तार करना है, ऐसा विशेषकर विनिर्माण उद्योग के निगम क्षेत्र के लिए किया जा रहा है।
- कांग्रेस की सरकार ने 21 जून 1991 को सत्ता संभालने के पश्चात् बहुत से स्थिरीकरण (Stabilisation) संबंधी उपायों की घोषणा की ताकि आन्तरिक एवं विदेशी विश्वास प्राप्त किया जा सके।
- आर्थिक रणनीति में केंद्र के रूप में सरकार ने राजकोषीय असंतुलन (Fiscal imbalance) को कम करने का प्रोग्राम बनाया जिसके समर्थन के लिए आर्थिक नीति में सुधार किये गये जो कि अर्थव्यवस्था की विकास-प्रक्रिया को एक नयी गति प्रदान करने के लिए अनिवार्य थे।
- हमारा मध्यमकालीन लक्ष्य समग्र सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे को जो सकल देशीय उत्पाद के 12.5 प्रतिशत तक पहुंच गया है कम करके 1990 के दशक के मध्य तक सकल देशी उत्पाद के 4 प्रतिशत तक लाना है।

नोट

- स्फीतिकारी दबावों को कम करने और लक्षित भुगतान–शेष में सुधार लाने के लिए प्रतिबंधात्मक मौद्रिक नीति चलायी जायेगी।
- सरकार के स्थिरीकरण (Stabilisation) और आयात संकुचन उपायों से यह प्रत्याशा की गयी कि वे विदेशी खाते के घाटे को कम करके 1991–92 में सकल देशीय उत्पाद के 2 प्रतिशत पर लाया जाए।
- वह विनिमायक ढांचा (Regulatory Framework) विकास के मार्ग में रुकावट था, जुलाई 24, 19991 को घोषित नीति द्वारा बुनियादी रूप में परिवर्तित किया गया।
- औद्योगिक नीति (1991) विदेशी निवेश के लिए अधिक अवसर भी प्रदान करती है ताकि तकनालाजी हस्तांतरण, विपणन विशेषज्ञता और आधुनिक प्रबंधकीय तकनीकों के प्रयोग का लाभ उठाया जा सके।
- सरकार का मत है कि सार्वजनिक क्षेत्र ने बड़े पैमाने पर आन्तरिक अतिरेक (Internal surpluses) पैदा नहीं किये हैं क्योंकि इसके लिए अपर्याप्त प्रतिस्पर्द्धा का अभाव रहा है। इसने उच्च लागत ढांचे को प्रोन्नत किया है।
- भारत में आर्थिक सुधार 1991 में कांग्रेस सरकार द्वारा जिसके प्रधानमंत्री श्री पी.वी नरसिम्हा राव थे, लागू किए गए। राजनैतिक दलों में आर्थिक सुधारों के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में लगभग एकमत है।
- सुधार प्रक्रिया ने अब 16 वर्ष पूरे कर लिए हैं और यह समय–अवधि इतनी छोटी नहीं कि सुधार प्रक्रिया के प्रभाव का मूल्यांकन न किया जा सके।
- सुधार प्रक्रिया का मूल्यांकन करने से पहले यह वांछनीय होगा कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया के लक्ष्य स्पष्ट कर दिए जाएं।
- इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक सुधार के परिणामस्वरूप सकल देशीय उत्पाद (GDP) की सापेक्षत: उच्च वृद्धिदर प्रोन्नत हुई। पहले दो वर्षों अर्थात् 1991–92 और 1992–93 की आरंभिक कठिनाइयों के पश्चात् 1993–94 से 1997–98 के दौरान औसत वृद्धितर 7 प्रतिवर्ष थी।
- विश्व बैंक के डा. गौरव दत्त ने अपने लेख "Has Poverty Declined Since Economic Reforms?" में सुधार–पूर्व एवं सुधार–उपरान्त काल में गरीबी में कमी का तुलनात्मक अध्ययन किया है।
- राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 61वें रौंद के आधार पर, योजना आयोग ने समान–स्मरण–अवधि (Unifor recall period) के आधार पर 1993–94 से 2004–05 के दौरान गरीबी अनुपात का अनुमान लगाया है।
- चूंकि सुधार प्रक्रिया का मुख्य बल संगठित क्षेत्र (Organised sector) पर है, इस लिए संगठित क्षेत्र में रोज़गार की वृद्धि का परिक्षण करना रूचिकर होगा।
- सुधार–प्रक्रिया ने श्रम पर भी दुष्प्रभाव ही डाला है। इस का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि सुधार–पूर्व काल में तालाबन्दियों (Lockouts) के परिणामस्वरूप मानव–हितों की हानि 46 प्रतिशत थी परन्तु सुधार उपरान्त काल में यह एकदम छलांग लगाकर 60 प्रतिशत हो गयी।
- औद्योगिक लाबियां कई बार यह आरोप लगाती हैं कि श्रमिकों द्वारा उत्पादिता में वृद्धि नहीं की जाती परन्तु वे वास्तविक मजदूरी को बढ़ाने के लिए उद्योगपतियों को मजबूर करते हैं।
- आर्थिक सुधारों की मूल समस्या यह है कि श्रम को एक परिसम्पत (Asset) न मानकर, इसे केवल एक उपकरण (Instrument) मानना। सुधार प्रक्रिया के समर्थक श्रम–लोचशीलता (Labour flexibility) अर्थात् श्रमिक को काम पर लगाने और हटाने में पूर्ण स्वतंत्रता की वकालत करते हैं और इसके लिए सुरक्षा–तन्त्र (Safety net) की उपलब्धि की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।
- सुरक्षा–तन्त्र (Safety net) की उपलब्धि का विरोध करते हुए जोजेफ स्टिग्लिट्स ने इस बात पर बल दिया है कि कोई भी सुरक्षा–तन्त्र अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार (Full employment) के स्तर पर संचालन के द्वारा उपलब्ध करायी गयी सुरक्षा को विस्थापित नहीं कर सकता।

नोट

- सार्वजनिक कृषि निवेश में गिरावट ने ग्राम विकास और सिंचाई पर प्रतिकूल प्रभाव डाला जिससे कृषि और विशेषकर खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धिदर मन्द पड़ गयी। तीसरे, नेबार्ड (NABARD) ने ग्रामीण आधार-संरचना और विकास निधि में 13,500 करोड़ रुपये इकट्ठे कर लिए किन्तु वह इसका केवल 30 प्रतिशत इस्तेमाल कर पाया।
- यदि हम पानी-बीज-उर्वरक तकनालॉजी (Water-Seed-Fertilizer Technology) के कार्यान्वयन का अध्ययन करें (जिसे लोकप्रिय भाषा में हरित क्रांति कहा जाता है), तो यह पता चलता है कि 1970-71 से 1980-81 के दौरान सिंचाई-अधीन क्षेत्रफल में औसत वार्षिक वृद्धिदर 3.6 प्रतिशत थी जो 1980-81 से 1990-91 के दशक में गिरकर 2.7 प्रतिशत हो गयी और 1990-91 से 1997-98 के दौरान केवल 1.9 प्रतिशत रह गयी।
- राज्य सरकार के लिए यह जरूरी हो जाता है कि कृषि, सिंचाई और ग्राम-आधारसंरचना (Rural Infrastructure) से अपने हाथ पीछे खींचने की अपेक्षा, इन क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश को मजबूत करे।

10.3 शब्दकोश (Keywords)

- **अवशिष्ट**–बचा हुआ, बाकी।
- **लाबियां**–उपकोष्ठियाँ।
- **विनियामक**–अवरूद्ध करना।

10.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सुधार के पूर्व की आर्थिक नीतियों की समीक्षा कीजिए।
2. सुधार की दूसरी लहर क्या थी? विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. आर्थिक सुधारों का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. कार्यभार
2. व्यापार शेष
3. भारत
4. लाइसेन्स
5. प्रतिबन्ध
6. पी.वी. नरसिम्हा राव
7. सुधार-प्रक्रिया
8. जोजेफ स्टिग्लिट्ज
9. विकास-प्रक्रिया
10. कृषि
11. पूरक।

10.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
2. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–11: क्षेत्रीय प्रर्दशनः कृषि, वृद्धि, उत्पादिता, प्रवृत्तियाँ और फसल प्रतिरूप (Sectoral Performance: Agriculture, Growth, Productivity Trends and Crop Patterns)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 क्षेत्रीय प्रदर्शनः कृषि, वृद्धि एवं उत्पादिता (Sectoral Performance: Agriculture, Growth and Productivity)

11.2 भारत में फसल-प्रतिरूप एवं प्रवृत्तियाँ (Trand and Cropping Patterns in India)

11.3 सारांश (Summary)

11.4 शब्दकोश (Keywords)

11.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

11.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- क्षेत्रीय प्रर्दशनः कृषि, वृद्धि एवं उत्पादिता का विवेचन करने में।
- भारत में फसल के प्रतिरूप एवं प्रवृत्तियों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। पिछले दो दशकों से अधिक अवधि में औद्योगीकरण के संगठित प्रयास के बावजूद कृषि का गौरवपूर्ण स्थान बना हुआ है। देश का सबसे बड़ा उद्योग होने के कारण, कृषि देश की 65 प्रतिशत जनता की जीविका का स्रोत है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि महत्त्वपूर्ण स्थान है।

11.1 क्षेत्रीय प्रदर्शनः कृषि, वृद्धि एवं उत्पादिता (Sectoral Performance: Agriculture, Growth and Productivity)

कृषि की इतनी अधिक प्रधानता है कि भारतीय कार्यकारी जनसंख्या (Working population) का बहुत बड़ा भाग रोजगार के लिए इस पर आश्रित है। जनगणना द्वारा उपलब्ध कराये गये आँकड़ों से पता चलता है कि जहा 1951 में कुल मुख्य श्रमिकों (Main workers) का लगभग 70 प्रतिशत कृषि तथा सम्बद्ध क्रियाओं में कार्यरत था, वहां 2001 में कृषि के भाग में गिरावट हुई और यह 59 प्रतिशत हो गया। कुल रूप में, कृषि द्वारा 23.5 करोड़ व्यक्तियों को रोज़गार उपलब्ध कराया गया। यह बात बहुत निराशाजनक है कि 1951–2001 के दौरान, कृषि श्रमिकों के

नोट

अनुपात में वृद्धि हुई है और यह 20 प्रतिशत से बढ़कर 27 प्रतिशत हो गया। इसके विरुद्ध, कृषकों की मात्रा 50 प्रतिशत से कम होकर 32 प्रतिशत हो गयी।

तालिका 1: कृषि में मुख्य श्रमिकों को रोज़गार

करोड़ों में

	1951		*2001*	
कुल जनसंख्या	36.1	102.7		
ग्राम जनसंख्या	29.9	(83)	74.2	(72)
कृषक	7.0	(50)	12.8	(32)
कृषि-श्रमिक	2.7	(20)	10.7	(27)
अन्य श्रमिक	4.3	(30)	16.7	(41)
कुल कार्यकारी जनंसख्या	14.0	(100)	40.2	(100)

नोट : ब्रैकिट में दिए गए आँकड़ों कुल कार्यकारी जनसंख्या का प्रतिशत हैं।

परन्तु संयुक्त राज्य और संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल 2-3 प्रतिशत कार्यकारी जनसंख्या कृषि में लगी हुई थी, फ्रांस में यह अनुपात 7 प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में 6 प्रतिशत था। केवल पिछड़े हुए और अल्पविकसित देशों में कृषि में कार्यकारी जनसंख्या का अनुपात काफी ऊँचा होता है। उदाहरणार्थ, यह मिस्र में 42 प्रतिशत, बंगलादेश में 50 प्रतिशत, इन्डोनेशिया में 52 प्रतिशत और चीन में 68 प्रतिशत है।

औद्योगिक विकास के लिए कृषि का महत्त्व–भारत में कृषि के महत्त्व का कारण यह है कि इससे हमारे प्रमुख उद्योगों को कच्चा माल मिलता है। सूती और पटसन वस्त्र-उद्योग, चीनी, वनस्पति तथा बगान उद्योग (Plantation), ये सब सीधे कृषि पर निर्भर हैं और भी ऐसे अनेक उद्योग हैं जो कृषि पर अप्रत्यक्ष रूप में निर्भर हैं। हाथ करघा बुनाई, तेल निकालना, चावल कूटना आदि बहुत से लघु और कुटीर उद्योगों को भी कृषि से कच्चा माल मिलता है। विनिर्माण-क्षेत्र में उत्पन्न आय का 50 प्रतिशत इस क्षेत्र से प्राप्त होता है।

किन्तु इधर कुछ वर्षों से उद्योगों के लिए कृषि का महत्त्व कम होता जा रहा है क्योंकि अनेक ऐसे उद्योग विकसित हो गए हैं जो कृषि पर निर्भर नहीं हैं। पंचवर्षीय योजना के आधीन लौह और इस्पात उद्योग, रसायन उद्योग, मशीनी-औजार और अन्य इंजीनियरी उद्योग तथा विमान-निर्माण एवं सूचना टेक्नोलॉजी आदि आरम्भ किए गए हैं जो कृषि पर निर्भर पारम्परिक उद्योगों (Traditional industries) के मुकाबले अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे हैं। इसके बावजूद कृषि द्वारा बहुत से उद्योगों अर्थात् चीन, चाय, सूती वस्त्र और पटसन, वनस्पति तेल, खाद्य-पदार्थों, साबुन और अन्य कृषि पर आधारित उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कृषि का महत्त्व–भारतीय कृषि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण है। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मुख्य कृषि वस्तुएँ ही हैं–चाय, तम्बाकू, तेल निकालने के बीज, गर्म मसाले, आदि। पिछले कुछ वर्षों में भारत के निर्यात की मात्रा और मूल्य दोनों में ही वृद्धि हुई है। यह वृद्धि विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे मशीनों और कच्चे माल के आयात की अदायगी में सहायता मिलती है।

नोट्स स्थूल रूप में कुल निर्यात में कृषि-वस्तुओं का अनुपात लगभग 50 प्रतिशत है और कृषि से बनी वस्तुओं (यथा निर्मित पटसन और कपड़ा) का अनुपात लगभग 20 प्रतिशत है। इस प्रकार भारत के निर्यात में कृषि और उससे सम्बन्धित वस्तुओं का कुल भाग लगभग 70 प्रतिशत है।

नोट

आर्थिक आयोजन में कृषि क्षेत्र का कार्यभाग–राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्त्व के और भी अनेक कारण हैं। कृषि भारत की परिवहन-व्यवस्था का मुख्य अवलम्ब है क्योंकि रेलवे और सड़क मार्ग का अधिकांश व्यापार कृषि-वस्तुओं को लाना-ले जाना है। अन्तर्देशीय व्यापार की वस्तुएँ भी मुख्यत: कृषि वस्तुएँ ही हैं। इसके अतिरिक्त, अच्छी फसल के कारण किसानों की क्रय शक्ति बढ़ जाती है जिससे उद्योग-निर्मित वस्तुओं की मांग और कीमते बढ़ जाती हैं। परिणामत: उद्योगों की प्रगति होने लगती है। इस प्रकार यदि फसल बुरी हुई तो व्यापार में मन्दी आ जाती है। अन्त में सरकार के, विशेषतया राजकीय सरकारों के वित्त साधन बहुत कुछ कृषि की सम्पन्नता पर निर्भर करते हैं।

इसके साथ यह भी सत्य है कि कृषि में प्रति व्यक्ति उत्पादिता उद्योग की तुलना में कम है। परिणामत: अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के अनेक विद्वानों का मत है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता ही भारत की प्रति व्यक्ति आय के बहुत कम होने का कारण है। उनके मतानुसार जब तक भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता बनी रहेगी, तब तक प्रति व्यक्ति आय वांछनीय स्तर तक नहीं उठ पाएगी।

क्या आप जानते हैं कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है और कृषि की सम्पन्नता पर भारतीय अर्थव्यस्था की समृद्धि निर्भर करती है।

पंचवर्षीय योजनाओं के आधीन कृषि की प्रगति (Progress of Agriculture under the Five Year Plans)

प्रथम योजना (1951-56) के आरम्भ के समय कृषि की दशा निराशाजनक और ख़राब थी। हमारे किसान महाजनों के ऋण-जाल में बुरी तरह ग्रस्त थे। उनकी जोतों (Holdings) का आकार बहुत छोटा था और वे बिखरी हुई थीं। उनके पास न तो पैसा ही था और न ही ज्ञान जिसके आधार पर वे उचित उपकरण, अच्छे बीज और रासायनिक खाद खरीद सकें। कुछ क्षेत्रों को छोड़, अधिकतर क्षेत्रों के किसान वर्षा पर निर्भर थे और उन्हें मानसून की अनिश्चितता सहन करनी पड़ती थी। भूमि तथा श्रम की उत्पादिता (Productivity) लगातार कम होती जा रही थी और यह विश्व में सबसे कम थी। बावजूद इसके कि हमारी जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत कृषि में कार्य करता था, देश खाद्यान्नों के उत्पादन में स्वावलम्बी नहीं था और इसे खाद्यान्नों के आयात पर निर्भर करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त, 1947 में देश के विभाजन ने कृषि की स्थिति और बिगाड़ दी क्योंकि हमारे हिस्से में जनसंख्या का अधिक भाग और इसकी अपेक्षा भूमि का कम भाग प्राप्त हुआ।

कृषि क्षेत्र के लिए आयोजन के लक्ष्य

कृषि क्षेत्र के विकास का आयोजन करते हुए योजना आयोग ने चार मुख्य उद्देश्य रखे–

1. **कृषि उत्पादन में वृद्धि** का लक्ष्य सदैव रखा गया है और इसके लिए
   (क) कृषि आधीन क्षेत्र में लगातार वृद्धि करना;
   (ख) प्रति हैक्टेयर उत्पाद (अर्थात् कृषि उत्पादिता) में वृद्धि के लिए, कृषि-आदानों (Agricultural inputs) जैसे सिंचाई, उन्नत बीजों, उर्वरकों आदि का अधिकाधिक प्रयोग करना;
   (ग) कृषि उत्पादन में वृद्धि करना।
2. **रोज़गार के अवसर बढ़ाना**–कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ, कृषि क्षेत्र को रोज़गार के अतिरिक्त अवसर कायम करने होंगे और इस प्रकार हमारे गांवों में गरीब वर्गों की आय बढ़ानी होगी।
3. **भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करना**–चूंकि जनसंख्या का भारी भाग भूमि पर निर्भर है, इसलिए कृषि क्षेत्र के आयोजन का एक और बुनियादी लक्ष्य कृषि पर काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या को

नोट

कम करना है। अतिरिक्त श्रमिकों को द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों (Secondary and tertiary sectors) की और हस्तांतरित करना होगा।

4. **ग्रामीण क्षेत्र में आय की असमानताओं को कम करना**–सरकार को मुज़ारों (Tenants) के शोषण को समाप्त कर देना चाहिए और अतिरिक्त भूमि को छोटे तथा सीमान्त किसानों (Marginal farmers) में इस प्रकार वितरित करना चाहिए कि इससे ग्राम क्षेत्र में कुछ हद तक समानता एवं न्याय कायम हो सके।

ये चार उद्देश्य सामान्यतया सभी योजनाओं में अपनाए गए हैं, परन्तु व्यवहार में भारत में कृषि-आयोजन (Agricultural planning) का अर्थ केवल कृषि-उत्पादन में वृद्धि ही समझा जाता है अर्थात् केवल पहले लक्ष्य की प्राप्ति और अन्य सभी उद्देश्यों की या तो उपेक्षा की गयी या उन्हें निम्न प्राथमिकता दी गयी।

कृषि में प्रयुक्त रणनीति (Strategy)

कृषि उत्पादन में वृद्धि एवं रोज़गार में वृद्धि प्राप्त करने के लिए, पंचवर्षीय योजनाओं में विभिन्न कार्यक्रमों का उपयोग किया गया जैसे सामुदायिक विकास प्रोग्राम और कृषि-विस्तार सेवाओं (Agricultrual Extension Services) को देशभर में फैलाना, सिंचाई सुविधाओं, उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि-मशीनरी, अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों का विस्तार। इनके साथ-साथ परिवहन, पावर, विपणन (Marketing) और संस्थानात्मक उधार (Institutional credit) का विस्तार भी किया गया।

भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करने के लिए योजना आयोग ने ग्राम-विकास (Rural Development) की रणनीति अपनायी। इसके लिए ग्राम-क्षेत्रों में कृषि-आधारित उद्योग (Agro-based industries) और हस्तशिल्प स्थापित किए गए। इसके साथ-साथ ग्रामीण परिवहन एवं संचार प्रोन्नत किया गया और लोगों को कृषि से उद्योगों और सेवा क्षेत्र की ओर जाने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

अन्तिम, ग्रामों में समानता एवं न्याय कायम करने के लिए योजना आयोग ने भू-सुधारों (Land reforms) की रणनीति अपनायी जिसके अन्तर्गत ज़मीदारों जैसे बिचौलियों को समाप्त किया गया, काश्तकारों की सुरक्षा के लिए काश्तकारी कानून (Tenancy legislation) बनाया गया और जोत की अधिकतम सीमा को लागू करने से प्राप्त अतिरिक्त भूमि भूमिहीन श्रमिकों, छोटे तथा सीमान्त किसानों में बांटी गयी।

कृषि-क्षेत्र में निवेश का ढांचा

कृषि क्षेत्र में निवेश का ढांचा तालिका- 3 में दिया गया है।

तालिका 7: कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों में सरकारी परिव्यय का ढांचा

करोड़ रुपये

योजना	*अवधि*	*कुल योजना परिव्यय*	*कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र*	*कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का कुल परिव्यय में प्रतिशत*
प्रथम योजना	1951-56	2,380	350	14.9
दूसरी योजना	1956-61	4,500	500	11.3
तीसरी योजना	1961-66	8,580	1,090	12.7
चौथी योजना	1969-74	15,800	2,320	14.7
पांचवी योजना	1974-79	39,430	4,870	12.3
छठी योजना	1980-85	97,500	5,700	5.8

नोट

सातवीं योजना	1985–90	1,80,000	10,530	5.9
आठवीं योजना	1992–92	4,34,400	22,470	5.2
नौवीं योजना	1997–02	8,59,000	42,460	4.9
दसवीं योजना	2002–07	15,25,640	79,810	5.2

आरम्भ में "कृषि क्षेत्र" के अर्थ की व्याख्या करना आवश्यक है। पहली तीन योजनाओं में, "कृषि क्षेत्र" में शामिल थे कृषि और सम्बद्ध क्षेत्र (उद्यान-कृषि (Horticulture), पशुपालन और मत्स्य) एवं सिंचाई तथा बाढ़-नियंत्रण। उत्तरोत्तर योजनाओं में, "ग्रामीण विकास" और "विशेष क्षेत्र कार्यक्रम" जोड़े गए और सिंचाई एवं बाढ़-नियत्रंण को छोड़ दिया गया। तालिका- 3 में,

(क) पांचवी योजना तक कृषि पर परिव्यय में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र, विशेष क्षेत्र कार्यक्रम और ग्रामीण विकास शामिल किए गए, और

(ख) पांचवी योजना के पश्चात्, कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों में केवल अनुसंधान और शिक्षा को शामिल कि गया और ग्रामीण विकास को छोड़ दिया गया।

यह बात साफ़ हो जाती है कि प्रत्येक योजना में परिव्यय में वृद्धि हुई और इसके तदनुरूप कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों पर परिव्यय में भी वृद्धि हुई परन्तु कुल योजना परिव्यय के प्रतिशत के रूप में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों का प्रतिशत प्रथम योजना और पांचवी योजना के दौरान 11.3 प्रतिशत के बीच रहा। इस क्षेत्र में कृषि के अतिरिक्त पशुपालन, विशेष क्षेत्र कार्यक्रम, ग्रामीण विकास और वन शामिल हैं। छठी योजना और इसके बाद कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों पर व्यय का भाग 4.9 प्रतिशत से 5.9 प्रतिशत के बीच रहा। परन्तु यहां कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों में केवल पशुपालन और अनुसंधान एवं शिक्षा ही शामिल हैं।

टास्क "कृषि क्षेत्र" का क्या अर्थ है? स्पष्ट कीजिए।

भारतीय योजना आयोग ने वे विभिन्न प्रोग्राम निश्चित कर दिए जो कृषि उत्पादन को बढ़ाएगें। इनमें शामिल किए गए: सिंचाई, भू-सरंक्षण (Soil conservation), शुष्क खेती (Dry farming) और भू-उद्धरण (Land reclamation), उर्वरकों एवं खादों का संभरण, और देश भर में कृषि-विस्तार सेवाए, भू-सुधारों का प्रयोग, परिवहन, पावर, विपणन और अन्य बुनियादी। तीसरी योजना के पश्चात् सबसे अधिक बल सिंचाई-उर्वरक-बीज तकनालाजी (Irrigation, fertilizer and seed technology) पर दिया गया जिसके कारण हरी-क्रान्ति (Green Revolution) संभव हुई।

यदि हम सिंचाई एवं बाढ़ नियंत्रण और ग्रामीण विकास को शामिल कर लें, तो कृषि पर व्यय कुल योजना परिव्यय के 20 से 24 प्रतिशत के बीच रहा। इसका अपवाद केवल पहली योजना थी, जिसमें यह 1 प्रतिशत के उच्च स्तर पर था।

तालिका 8. विभिन्न योजनाओं में कृषि क्षेत्र की उपलब्धियाँ

योजना	*खाद्यान्न*		*तिलहन*		*गन्ना*		*रुई*		*पटसन*	
	लक्ष्य	*वास्तविक*	*लक्ष्य*	*वास्तविक*	*लक्ष्य*	*वास्तविक*	*लक्ष्य*	*वास्तविक*	*लक्ष्य*	*वास्तविक*
पहली योजना	620	670	55	56	630	600	42	40	54	42
दूसरी योजना	810	800	76	65	780	1,040	65	54	65	40
तीसरी योजना	1,000	720	98	64	1,000	1,270	70	46	62	45

नोट

चौथी योजना	1,290	1,040	105	87	1,500	1,400	80	58	74	62
पांचवी योजना	1,250	1,320	120	89	1,650	1,650	80	71	77	71
छठी योजना	1,540	1,460	111	130	2,150	1,700	92	85	91	78
सातवीं योजना	1,800	1,710	180	170	2,170	2,100	95	105	95	79
आठवीं योजना	2,100	1,990	230	250	2,750	2,770	140	143	95	110
नौवीं योजना	2,340	2,110	300	207	3,360	3,000	157	101	--	116

नोट– 1. खाद्यन्नों, तिलहनों एवं गन्ने का उत्पादन लाख टन **स्रोत–**योजना प्रलेख एवं आर्थिक समीक्षाएँ

2. रुई का उत्पादन 180 किलोग्राम के लाख गट्ठे

3. पटसन का उत्पादन 170 किलोग्राम के लाख गट्ठे

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. विनिर्माण-क्षेत्र में उत्पन्न आय का 50 प्रतिशत ..... क्षेत्र से प्राप्त होता है।
2. ..... से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मुख्य कृषि वस्तुएँ ही हैं।
3. कृषि भारत की परिवहन-व्यवस्था का मुख्य ..... है।
4. प्रथम योजना के आरम्भ में किसान, महाजनों के ..... में बुरी तरह ग्रस्त थी।
5. भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करने के लिए योजना आयोग ने ..... की रणनीति अपनायी।

11.2 भारत में फसल-प्रतिरूप एवं प्रवृत्तियाँ (Trand and Cropping Patterns in India)

फसल प्रतिरूप (Cropping pattern) से हमारा अभिप्राय किसी समय-विशेष पर विभिन्न फसलों के आधीन क्षेत्रफल के अनुपात से है। फसल-प्रतिरूप में परिवर्तन का अर्थ विभिन्न फसलों के आधीन क्षेत्रफल में फेर-बदल से है। फसलों को मोटे तौर पर दो भागों में बांट लिया जाता है–खाद्य फसलें और खाद्येतर फसलें (Non-food crops)। बीसवीं शताब्दी में इन दोनों प्रकार की फसलों के आधीन क्षेत्रफल का वितरण तालिका 7 में दिया गया है।

तालिका : फसल-वितरण का स्वरूप

प्रतिशत वितरण

फसल	1950-51	1970-71		1980-81		2003-04
( )	सभी फसलें	100	100	100	100	
( )	खाद्य फसलें	74	78	80	76	
( )	खाद्येतर फसलें	26	22	20	24	

इस शताब्दी के आरम्भ में खाद्य एवं खाद्येतर फसलों के अधीन क्षेत्रफल का वितरण क्रमशः 83 प्रतिशत और 17 प्रतिशत था जोकि 1950-51 तक परिवर्तित होकर 74 प्रतिशत और 26 प्रतिशत हो गया परन्तु 1960-61 के बाद के आँकड़े इस प्रवृत्ति के पलटाव का व्यक्त करते हैं और यह परिवर्तन निश्चय ही खाद्येतर फसलों से खाद्य-फसलों की ओर हुआ। 1980-81 तक, खाद्य एवं खाद्येतर फसलों का अनुपात 80 : 28 हो गया। इसके दो मुख्य कारण थे, खाद्यान्नों की कीमतों में तीव्र वृद्धि के कारण किसान अनाज का उत्पादन ठीक उसी प्रकार मण्डी के लिए करने लगे हैं जैसे वे तिलहनों, रुई या अन्य वाणिज्य फसलों का करते थे। दूसरे शब्दों में, वाणिज्य फसलों और खाद्य-फसलों में पारम्परिक भेद अब अपना महत्त्व खोता चला आ रहा है। दूसरे, खाद्यान्न फसलों की खेती अब बहुत लाभदायक बन गई है और नयी तकनीक के प्रभावाधीन अधिक उत्पादक भी हो गई है।

नोट

खाद्यान्नों के सम्बन्ध में, क्षेत्र में सबसे अधिक वृद्धि गेहूं में रिकार्ड की गई अर्थात् 150 प्रतिशत। जबकि चावल के आधीन क्षेत्रफल में मर्यादित वृद्धि हुई (अर्थात् 36 प्रतिशत), मोटे अनाजों में नाममात्र वृद्धि हुई। जाहिर है कि फसल-प्रतिरूप छोटी फसलों की तुलना में मुख्य फसलों की ओर परिवर्तित हुआ है। पारम्परिक वाणिज्यिक फसलों अर्थात् तिलहनों, रुई, पटसन, गन्ना आदि के क्षेत्र में प्रभावशाली वृद्धि हुई जो कि खाद्य फसलों (केवल गेहूं को छोड़कर) में वृद्धि से अधिक थी। इनमें से सबसे आश्चर्यजनक वृद्धि आलू के आधीन क्षेत्रफल में हुई है अर्थात् 1951 और 2004 के बीच 300 प्रतिशत। 2003-04 तक, खाद्यान्नों और गैर-खाद्यान्न-फसलों के आधीन क्षेत्रफल और गैर-खाद्यान्न फसलों के आधीन क्षेत्रफल परिवर्तित होकर 76 : 24 हो गया है।

भारत में फसल-प्रतिरूप (Cropping pattern) को प्रभावित करने वाले कारणतत्व

किसी देश अथवा प्रदेश के फसलों के प्रतिरूप (Cropping pattern) में परिवर्तन की संभावना के विषय में दो मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि फसलों के प्रतिरूप में परिवर्तन नहीं किया जा सकता जबकि दूसरे विद्वान यह मानते हैं कि सुविचारित नीति के सहारे इसे बदला जा सकता है। श्री एस.एन. सिन्हा ने पहले प्रकार का विचार प्रकट किया है–"परम्पराबद्ध तथा ज्ञान के अत्यन्त निम्न स्तर वाले देश के किसान प्रयोग करने को उद्यत नहीं होते। वे प्रत्येक बात को विरक्ति और भाग्यवाद की भावना से स्वीकार करते हैं। उनके लिए कृषि वाणिज्य-व्यापार की वस्तु न होकर जीवन की एक प्रणाली है–एक ऐसे कृषि-प्रधान समाज में जिसके सदस्य परम्पराबद्ध और अशिक्षित हैं, फसल में परिवर्तन की अधिक सम्भावना नहीं रहती।"[1] अब इस बात को सही नहीं समझा जाता जैसा कि पंजाब में फसल-प्रतिरूप में परिवर्तन से स्पष्ट हो गया है। अब यह बात अधिकतर विद्वानों द्वारा स्वीकार कर ली गई है कि भारत जैसे देश में भी फसल-प्रतिरूप बदला जा सकता है और इसे बदलना चाहिए।

फसलों के प्रतिरूप को निर्धारित करने वाले बहुत से कारण हैं–भौतिक, तकनीकी, आर्थिक, समाजशास्त्री, प्रशासनिक और यहां तक कि राजनीतिक भी। इनमें आर्थिक तत्वों का महत्त्व सबसे अधिक है।

भौतिक एवं तकनीकी तत्व–किसी प्रदेश की फसल-प्रतिरूप उसकी भौतिक विशिष्टताओं अर्थात् मिट्टी, जलवायु, मौसम, वर्षा आदि पर निर्भर करती है। उदाहरणतया, एक ऐसे शुष्क क्षेत्र में, जिसमें थोड़ी वर्षा होती है तथा मानसून बहुत अनिश्चित होता है, ज्वार और बाजरा पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि यह खेती कम वर्षा में भी हो सकती है। देश के अधिकांश भागों में यही काम किया जा सकता है। फसल चक्र (Crop rotation) का निर्धारण भी भौतिक कारणों से होता है। किन्तु तकनीकी उपायों से फसल-चक्र बदला जा सकता है। तो भी कुछ परिस्थितियों में भौतिक बाधाएँ निर्णायक होती हैं। उदारहरणतया, पंजाब के संगरूर और लुधियाना जिलों के कुछ भागों में जलरोध (Water-logging) के कारण चावल के उत्पादन क्षेत्र में वृद्धि हो गई है क्योंकि अन्य फसलों के मुकाबले चावल की अतिरिक्त पानी को भली-भांति सह सकती है। मध्य प्रदेश में जिस भूमि का हाल ही में पुनरुद्धार (Reclamation) किया गया है, उसमें चावल उगाने से पहले कुछ वर्षों तक मोटा अनाज बोया जा रहा था।

मिट्टी एवं जलवायु की परिस्थितियों के अतिरिक्त, किसी क्षेत्र की फसलों के प्रतिरूप पर सिंचाई सुविधाओं के प्रकार और उनकी उपलब्धता का भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ पानी उपलब्ध हो जाता है, वहाँ न केवल विभिन्न प्रकार की फसल बोई जा सकेगी; बल्कि दोहरी या तिहरी फसल संभव हो सकेगी। जब नयी सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं, तो खेती का पूरा ढंग ही बदल जाता है। एक बढ़िया फसल उगाई जा सकती है, एक नया फसल-चक्र संभव हो सकता है। गन्ने और तम्बाकू आदि की खेती में वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण सिंचाई सुविधाओं का विस्तार किया जाना है। यह सम्भव है कि पूंजी का अभाव, अच्छे औजारों, उन्नत बीजों और उर्वरकों के लिए वित्त न मिलने के कारण, उचित प्रकार की फसल कराई जाती हैं, फसलों के ढांचें में परिवर्तन हो जाता है।

आर्थिक कारणतत्व (Economic factors)–देश की फसलों के प्रतिरूप का निर्धारण करने में आर्थिक कारणों का महत्त्व सबसे अधिक है। अतीत भारत में स्थिति चाहे जो रही हो, अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि भारतीय किसान अब आर्थिक कारणतत्वों से प्रभावित हो रहा है। इनमें महत्त्वपूर्ण तत्व निम्न हैं–

नोट

(1) कीमत और आय को अधिकतम करना—अनेक व्यावहारिक अध्ययनों से कीमत में परिवर्तनों और फसलों के ढांचे में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। डॉ. एन.ए. मजूमदार ने कीमत-समता अनुपात (Price parity ratio) की गतियों और गन्ने के अखिल भारतीय क्षेत्रफल में परिवर्तन के बीच तथा पटसन एवं चावल के आधीन क्षेत्रफल और इन वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों (Relative prices) के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रमाणित किया है। खाद्य और कृषि मंत्रालय के अध्ययन से पता चलता है कि कीमतों में परिवर्तन का क्षेत्रफल के परिवर्तन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। "ऐसा प्रतीत होता है कि कीमतों का फसलों के आधीन क्षेत्रफल पर दो रूपों में प्रभाव पड़ता एक और तो अन्त:कीमत समता (Inter-price parity) फसल-फसल के बीच, और दूसरी और ऊंची कीमतों की अपेक्षा कीमत-स्तर (Price level) को स्थिर रखने से उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने की कहीं अधिक प्रेरणा मिलती है बशर्ते कि इस स्तर को अनेक वर्षों तक कायम रखने में अनिश्चितता न हो।"

कुछ विद्वानों के अनुसार अधिकतम आय की प्रेरणा भी फसलों का ढाँचा (Pattern of crops) बदलने पर और भी अधिक प्रभाव डालती है क्योंकि किसान उसी फसल को उगाना पसन्द करेगा जिससे उसे अधिकतम आय प्राप्त होगी। किन्तु डॉ. राजकृष्ण का मत है कि फसलों के प्रतिरूप को प्रभावित करने वाला मुख्य कारण प्रति-एकड़ सापेक्ष लाभ (Relative profit) होता है। किसी भी परिस्थिति में, फसल का चुनाव करने में किसान पर जिन बातों का प्रभाव पड़ता है, वे हैं—विभिन्न वस्तुओं के बीच कीमत-समता (Price parity), आय का अधिकतम होना और प्रति-एकड़ सापेक्ष लाभ।

(2) खेत का आकार (Size of Farms)—खेत के आकार और फसलों के ढांचे के बीच भी सम्बन्ध रहता है। छोटे किसान बड़ें किसानों के मुकाबले व्यापारिक फसलों के लिए सापेक्षत: कम भाग का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि छोटे किसान सबसे पहले अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्यान्न उत्पन्न करना चाहते हैं। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर चुकने पर ही वे व्यापारिक फसलें उगाते हैं। परन्तु हाल ही में उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि लगभग सभी किसान, बड़े तथा छोटे, कुछ नकद फसलें (Case crops) उगाने का प्रयत्न करते हैं। वास्तव में हाल ही के वर्षों में बड़े किसानों की अपेक्षा छोटे किसान गन्ने के आधीन क्षेत्रफल को बढ़ाते रहते हैं।

यह सत्य है कि निर्वाह की आवश्यकता के कारण छोटे किसानों का फसलों का ढाँचा परम्परा से प्रभावित होता आया है किन्तु उनकी मौद्रिक आय की सीमान्त आवश्यकता किसी भी प्रकार बड़ें किसान से अधिक नहीं हो सकती। अर्थव्यवस्था की प्रगति के साथ-साथ छोटे किसानों द्वारा अपनी आय अधिकतम करने के उद्देश्य से अपने शस्य प्रतिरूप (Cropping pattern) में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सीमान्त परिवर्तन होने की सम्भावना है।

(3) जोखिम के विरुद्ध बीमा—फसल विफलता का जोखिम कम से कम करने की आवश्यकता का भी फसलों के ढांचे पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणतया, अनेक क्षेत्रों में ज्वार-बजारे आदि मोटे अनाज की खेती के लगातार होने का कारण मुख्यत: वर्षा की अनिश्चितता से बचने का प्रयत्न है।

(4) आदानों की उपलब्धता (Availability of inputs)—शस्य प्रतिरूप बीज, उर्वरक, पानी-संग्रह, विपणन (Marketing) और परिवहन आदि आदानों पर भी निर्भर रहता है। मूँगफली के बीच की उपलब्धता के कारण मध्य प्रदेश में अनेक कृषकों को मूंगफली की खेती अधिक विस्तृत क्षेत्र में करने की प्रेरणा मिली। किसानों द्वारा रूई के मुकाबले मूँगफली को श्रेष्ठ समझने का एक कारण यह भी है कि रूई की फसल विलम्ब से तैयार होती है जबकि मूँगफली की फसल शीघ्र तैयार हो जाती है।

(5) भू-धारण (Tenure)—फसल बटाई प्रणाली (Crop sharing system) के अन्तर्गत भू-स्वामी को फसलों के चुनाव का प्रमुख अधिकार प्राप्त होता है जिसके परिणामस्वरूप, आय को अधिक करने वाला फसलों को ढाँचा अपनाया जाता है।

सरकारी कार्यवाही और फसलों का ढाँचा

सरकार वैधानिक और प्रशासनिक अपायों से फसलों के ढांचे के निर्धारण पर प्रभाव डाल सकती है। किसानों को

नोट

कृषिगत आदान (Agricultrual inputs) और ज्ञान उपलब्ध कराने में साहाय्य (Subsidies) प्रदान कर सकती है। सरकार कुछ प्रकार की फसलों के लिए कुछ सुविधाएँ उपलब्ध करा सकती है। सिंचाई सुविधाएँ, उर्वरक और बीज आदि उपलब्ध कराने की व्यवस्था को विशेष शस्य-प्रतिरूप (Crop pattern) से सम्बन्धित किया जा सकता है। यद्यपि खाद्य शस्य अधिनियम (Food Crops Acts), भू उपयोग अधिनियम (Land Use Acts), धान, कपास, तिलहन आदि की सघन खेती (Intensive cultivation) की योजनाएँ, उत्पाद-शुल्क (Excise duties) तथा निर्यात शुल्क (Export duties) आदि के प्रयोग से या इन विभिन्न उपायों के एक साथ प्रयोग से कल्पित दिशा में फसलों क ढांचें को प्रभावित किया जा सकता है, तथापि सम्भव है कि उक्त समस्त उपायों का सम्पूर्ण फसलों के ढांचे पर कुल प्रभाव ऐसा न पड़े जो राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप हो।

निष्कर्ष

शस्य-प्रतिरूप (Cropping pattern) को प्रभावित करने वाले कारणों में आर्थिक कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। भारत जैसे देश में जहाँ किसान दरिद्र व रूढ़िग्रस्त हैं तथा जिनके पास भूमि के बहुत छोटे खण्ड ही हैं, आर्थिक अभिप्रेरणाओं (Economic incentives) द्वारा फसलों के ढांचे को बदला जा सकता है। हाल ही के वर्षों का अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि जब कभी किसान को शस्य-प्रतिरूप को बदलना युक्तिसंगत लगता है, तो वह इस युक्ति को अवश्य स्वीकार करता है।

उद्यान खेती : नई पहल

भारतीय किसान अब उद्यान-खेती (Horticulture) के महत्त्व को समझने लगे हैं। इस क्षेत्र में शामिल हैं–फल और सब्जियाँ, मसाले, पुष्प-खेती (Floricultrue) और नरियल। इस खेती से भूमि की उत्पादिता (Productivity) को उन्नत करने, रोज़गार कायम करने, पोषण-सम्बन्धी सुरक्षा (Nutritional security) प्राप्त करने और किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने में मदद मिलेगी। 2003-04 में उद्यान-खेती के आधीन 170 लाख हैक्टेयर भूमि लायी गयी जो देश के कुल काश्त-आधीन क्षेत्रफल का 8.5 प्रतिशत थी, जबकि यह खेती 1991-92 में 123 लाख हैक्टेयर भूमि में की जाती थी। 1992 और 2004 के दौरान, मुख्य उद्यान-खेती सम्बन्धी फसलों का उत्पादन 970 लाख टन से बढ़कर 1,560 लाख टन हो गया। भारत में उद्यान खेती सम्बन्धी उत्पादों को बढ़ाने के लिए अत्यधिक क्षेत्र विद्यमान है। भारत विश्व में फल उगाने का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक है (480 लाख टन और विश्व-उत्पादन का 10 प्रतिशत) और सब्जियों का सबसे बड़ा उत्पादक है (900 लाख टन)। भारतीय किसान बड़े उत्साह से नयी फसलों और बदलते हुए उत्पादन के ढांचे को अपना रहे हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. इस शताब्दी के आरम्भ में खाद्य एवं खाद्येतर फसलों के क्षेत्रफल का वितरण क्रमशः था-
   (क) 80 और 20 (ख) 83 और 15
   (ग) 82 और 81 (घ) 83 और 17
2. 1951 से 2004 के बीच आलू के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई-
   (क) 15% (ख) 300%
   (ग) 200% (घ) 400%
3. 2003-2004 तक खाद्यान्नों और गैर खाद्यान्न फसलों के अधीन क्षेत्रफल परिवतर्तित होकर हो गया-
   (क) 70 : 20 (ख) 73 : 18
   (ग) 72 : 25 (घ) 76 : 24

नोट

4. गेहूँ के क्षेत्र में वृद्धि दर्ज की गई-

(क) 100% (ख) 150%

(ग) 120% (घ) 200%

11.3 सारांश (Summary)

- कृषि की इतनी अधिक प्रधानता है कि भारतीय कार्यकारी जनसंख्या (Working population) का बहुत बड़ा भाग रोजगार के लिए इस पर आश्रित है। जनगणना द्वारा उपलब्ध कराये गये आँकड़ों से पता चलता है कि जहा 1951 में कुल मुख्य श्रमिकों (Main workers) का लगभग 70 प्रतिशत कृषि तथा सम्बद्ध क्रियाओं में कार्यरत था, वहां 2001 में कृषि के भाग में गिरावट हुई और यह 59 प्रतिशत हो गया।
- भारत में कृषि के महत्त्व का कारण यह है कि इससे हमारे प्रमुख उद्योगों को कच्चा माल मिलता है। सूती और पटसन वस्त्र-उद्योग, चीनी, वनस्पति तथा बगान उद्योग (Plantation), ये सब सीधे कृषि पर निर्भर हैं और भी ऐसे अनेक उद्योग हैं जो कृषि पर अप्रत्यक्ष रूप में निर्भर हैं। हाथ करघा बुनाई, तेल निकालना, चावल कूटना आदि बहुत से लघु और कुटीर उद्योगों को भी कृषि से कच्चा माल मिलता है। विनिर्माण-क्षेत्र में उत्पन्न आय का 50 प्रतिशत इस क्षेत्र से प्राप्त होता है।
- भारतीय कृषि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण है। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मुख्य कृषि वस्तुएँ ही हैं–चाय, तम्बाकू, तेल निकालने के बीज, गर्म मसाले, आदि।
- अत: कृषि क्षेत्र में कोई भी परिवर्तन-सकरात्मक या नकरात्मक-अर्थव्यवस्था पर गुणक प्रभाव डालता है। कृषि क्षेत्र खाद्य-सुरक्षा बनाए रखने में मुख्य योगदान अदा करता है और इस प्रकार यह राष्ट्रीय सुरक्षा को भी मज़बूत करता है। परिस्थितिकीय संतुलन (Ecological balance) को कायम रखने के लिए, कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का पोषणीय एवं संतुलित विकास आवश्यक है।
- अत: यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। ग्रामीण क्षेत्र कम-कीमत वाली एवं मध्यम कीमत वाली उपभोग-वस्तुओं जिनमें चिरस्थायी उपभोग वस्तुएं (Consumer durables) भी शामिल हैं का सबसे बड़ा बाजार हैं। इसके अतिरिक्त, संसाधन गतिमान करने के लिए ग्रामीण बचत कुल बचत का एक महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है।
- कृषि क्षेत्र के विकास का आयोजन करते हुए योजना आयोग ने चार मुख्य उद्देश्य रखे–
  - (*i*) **कृषि उत्पादन में वृद्धि** का लक्ष्य सदैव रखा गया है और इसके लिए
    - (क) कृषि आधीन क्षेत्र में लगातार वृद्धि करना;
    - (ख) प्रति हैक्टेयर उत्पाद (अर्थात् कृषि उत्पादिता) में वृद्धि के लिए, कृषि-आदानों (Agricultural inputs) जैसे सिंचाई, उन्नत बीजों, उर्वरकों आदि का अधिकाधिक प्रयोग करना;
    - (ग) कृषि उत्पादन में वृद्धि करना।
  - (*ii*) **रोज़गार के अवसर बढ़ाना**
  - (*iii*) **भूमि पर जनंसख्या के दबाव को कम करना**
  - (*iv*) **ग्रामीण क्षेत्र में आय की असमानताओं को कम करना**
- ये चार उद्देश्य सामान्यतया सभी योजनाओं में अपनाए गए हैं, परन्तु व्यवहार में भारत में कृषि-आयोजन (Agricultural planning) का अर्थ केवल कृषि-उत्पादन में वृद्धि ही समझा जाता है अर्थात् केवल पहले लक्ष्य की प्राप्ति और अन्य सभी उद्देश्यों की या तो उपेक्षा की गयी या उन्हें निम्न प्राथमिकता दी गयी।
- आरम्भ में "कृषि क्षेत्र" के अर्थ की व्याख्या करना आवश्यक है। पहली तीन योजनाओं में, "कृषि क्षेत्र" में शामिल थे कृषि और सम्बद्ध क्षेत्र (उद्यान-कृषि (Horticulture), पशुपालन और मत्स्य) एवं सिंचाई तथा बाढ़-नियंत्रण।

नोट

- कृषि के पिछड़ेपन के कारणों का विश्लेषण उपयोगी होगा क्योंकि इससे सरकार द्वारा कृषि के सुधार के लिए अपनाए गए उपायों और नीतियों को समझने में सहायता मिलेगी। ये कारण तीन वर्गों में बांटे जा सकते हैं–(क) सामान्य कारण, (ख) संस्थानात्मक कारण, और (ग) तकनीकी कारण।
- इस प्रकार कृषि पर निर्भर अत्यधिक जनसंख्या के परिणामस्वरूप खेत विकसित होकर छोटे–छोटे टुकड़ों में बंट गए, प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा कम हो गई और कृषि में अदृश्य बेरोज़गारी प्रकट हुई। भूमि पर जनसंख्या के निरन्तर दबाव के कारण प्रति किसान कृषि भूमि की मात्रा (Cultivated area per cultivator) 1901 से 2001 तक कुल क्षेत्रफल में वृद्धि के बावजूद 0.43 हैक्टेयर से कम होकर 0.20 हैक्टर हो गई।
- भारतीय कृषि को फार्म–भिन्न सेवाओं अर्थात् वित्त और विपणन (Finance and marketing) की व्यवस्था आदि की अपर्याप्तता के कारण परेशानी उठानी पड़ी है। या तो ये सुविधाएँ सर्वथा विद्यमान ही नहीं या बहुत महंगी हैं।
- भारत में ज़ोत का औसत आकार बहुत छोटा है, अर्थात् पांच एकड़ से भी कम। ये जोतें न केवल छोटी हैं, बल्कि छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटी हुई हैं। देश के कुछ भागों में खेत इतने छोटे होते हैं कि उनमें साधारण हल भी नहीं चलाया जा सकता। खेतों के छोटा होने के कारण वैज्ञानिक विधि से खेतीबाड़ी संभव नहीं है। परिणामत: समय, श्रम और पशुशक्ति का भारी अपव्यय होता है, सिंचाई सुविधाओं के उचित उपयोग में कठिनाई होती है।
- भारतीय कृषक उत्पादन की पुरानी और अक्षम विधियों तथा तकनीकों (Techniques) का प्रयोग करता चला आ रहा है। निर्धन एवं परम्परावादी होने के कारण, वह पश्चिमी देशों में और जापान में बड़े पैमाने पर अपनाई गई आधुनिक तकनीकों (Modern techniques) को नहीं अपना सका है।
- तात्पर्य यह है कि भारत में कृषि की निम्न उत्पादिता का एक महत्त्वपूर्ण कारण उत्पादन की घटिया तकनीक का प्रयोग करना है।
- भारतीय कृषि के पिछड़ेपन का एक मूल कारण यह है कि हमारे देश के अधिकांश किसानों को वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता था और कृत्रिम सिंचाई सुविधाएँ बहुत कम को उपलब्ध थीं। उदाहरणतया, देश–विभाजन से पूर्व केवल 19 प्रतिशत भूमि में सिंचाई होती थी। योजनाकाल में बड़ी और छोटी सिंचाई योजनाओं के प्रबल विकास के बावजूद कुल खेती योग्य भूमि के केवल 33 प्रतिशत में ही सिंचाई होती है।
- किसी प्रदेश की फसल–प्रतिरूप उसकी भौतिक विशिष्टताओं अर्थात् मिट्टी, जलवायु, मौसम, वर्षा आदि पर निर्भर करती है। उदाहरणतया, एक ऐसे शुष्क क्षेत्र में, जिसमें थोड़ी वर्षा होती है तथा मानसून बहुत अनिश्चित होता है, ज्वार और बाजरा पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि यह खेती कम वर्षा में भी हो सकती है।
- देश की फसलों के प्रतिरूप का निर्धारण करने में आर्थिक कारणों का महत्त्व सबसे अधिक है।
- खेत के आकार और फसलों के ढांचे के बीच भी सम्बन्ध रहता है। छोटे किसान बड़ें किसानों के मुकाबले व्यापारिक फसलों के लिए सापेक्षत: कम भाग का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि छोटे किसान सबसे पहले अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्यान्न उत्पन्न करना चाहते हैं। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर चुकने पर ही वे व्यापारिक फसलें उगाते हैं।
- फसल विफलता का जोखिम कम से कम करने की आवश्यकता का भी फसलों के ढांचे पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणतया, अनेक क्षेत्रों में ज्वार–बजारे आदि मोटे अनाज की खेती के लगातार होने का कारण मुख्यत: वर्षा की अनिश्चितता से बचने का प्रयत्न है।
- फसल बटाई प्रणाली (Crop sharing system) के अन्तर्गत भू–स्वामी को फसलों के चुनाव का प्रमुख अधिकार प्राप्त होता है जिसके परिणामस्वरूप, आय को अधिक करने वाला फसलों को ढाँचा अपनाया जाता है।

नोट

11.4 शब्दकोश (Keywords)

- **चिर-स्थायी–** अधिक समय तक स्थायी रहने वाला
- **अतिरेक–** अतिरिक्त बचत, अधिक बचत

11.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

2. पंचवर्षीय योजनाओं ने भारतीय कृषि प्रणाली को सुधारने में किस तरह योगदान दिया। विवेचन कीजिए।

3. निम्न उत्पादित के क्या कारण हैं? व्याख्या कीजिए।

4. भारत में फसल प्रतिरूप से आप क्या समझते है? समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. कृषि 2. भारत 3. अवलम्ब 4. ऋण काल
   5. ग्राम विकास
2. 1. (घ) 2. (ग) 3. (घ) 4. (ग)

11.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–12: हरित क्रान्ति (Green Revolution)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 भारतीय हरित क्रान्ति (Green Revolution)

12.2 सारांश (Summary)

12.3 शब्दकोश (Keywords)

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.4 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- हरित क्रांति की व्यवस्था करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

हरित क्रान्ति कृषि उत्पादन में होने वाली वह भारी वृद्धि है क्रान्ति का अभिप्राय यह है कि (1) कृषि उत्पादन में काफी अधिक वृद्धि तथा (2) दीर्घकालीन में कृषि उत्पादन के ऊँचे स्तर को स्थिर रखना। 1967-1968 में कृषि के उत्पादन में जो परिवर्तन हुए, वे योजना काल के 16 वर्षों में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक तथा तीव्र गति से हुए इसलिए इसे हरित क्रान्ति का नाम दिया गया। भारत में हरित क्रान्ति का आरंभ 1965-66 में हुआ।

12.1 भारतीय हरित क्रांति (Green Revaluation)

1960-70 के दशक के मध्य के पश्चात् भारत में पारम्परिक कृषि व्यवहारों (Agricultural practices) का प्रतिस्थापन आधुनिक टेक्नोलॉजी एवं फार्म-व्यवहारों से किया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप भारत में एक कृषि क्रान्ति व्यक्त हुई। आरम्भ में, नयी टेक्नोलॉजी का प्रयोग 1960-61 में सात आई. ए. डी. पी. जिलों में मार्गदर्शी परियोजना (Pilot project) के रूप में किया गया। इसके बाद, अधिक उपजाऊ किस्म के बीज (High yielding varieties) के प्रोग्राम को आई. ए. डी. पी. के साथ जोड़ दिया गया और इस विकास-रणनीति का पूरे देशभर में विस्तार करने का लक्ष्य तय किया गया। इसे हरित क्रान्ति (Green revolution) कहने की बजाए यह कहीं बेहतर होगा कि इसे भारतीय कृषि का आधुनिकीकरण (Modernisation) कहा जाए।

पारम्परिक कृषि अधिकतर देशीय आदानों (Indigenous inputs) पर निर्भर करती है। इसमें कार्बनिक खादों, साधारण हलों एवं अन्य आदिकालीन कृषि औजारों, बैलों आदि का प्रयोग होता है। इसके विरुद्ध, आधुनिक तकनालाजी में रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों, बीजों की उन्नत किस्मों (जिनमें संकर बीज भी शामिल हैं), कृषि मशीनरी, विस्तृत सिंचाई, डीज़ल और विद्युत शक्ति आदि का प्रयोग सम्मिलित हैं। 1966 के पश्चात् आधुनिक कृषि

नोट

आदानों (Modern agricultural inputs) के प्रयोग में 10 प्रतिशत की वार्षिक चक्रवृद्धि दर से उन्नति हुई है और इसकी तुलना में इसी काल के दौरान पारम्परिक आदानों का प्रयोग केवल 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ा है।

नयी कृषि-तकनालाजी ऐसे संसाधनों अर्थात् उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि-मशीनरी आदि पर आधारित है जो कृषि क्षेत्र के बाहर उत्पन्न किए जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप आधुनिक फार्म-आदानों (Farms inputs) के उत्पादन करने वाले उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ है। फार्म-यन्त्रीकरण (Farm mechanization) और सिंचाई के महान प्रोग्रामों के फलस्वरूप ग्राम-क्षेत्रों में बिजली और डीज़ल के उपभोग में वृद्धि हुई।

आधुनिक तकनालाजी के गुह्यार्थ

नयी तकनालाजी अपनाने के फलस्वरूप फसल के कुल उत्पादन और उत्पादिता एवं-रोजगार में लगातार वृद्धि हुई है। गेहूँ, चावल, मक्का, आलू आदि के सम्बन्ध में प्रभावशाली परिणाम प्राप्त हुए हैं। नयी तकनालाजी के अपनाने से रोजगार में भी वृद्धि हुई है क्योंकि बहु-विधि फसलों और भाड़ा-मजदूरों के प्रयोग से रोजगार के अवसरों का विविध दिशाओं में विस्तार हुआ है। इसके साथ ही कृषि-मशीनरी के अत्याधिक प्रयोग से श्रम का विस्थापन (Displacement of labour) भी हुआ है।

नयी तकनालाजी और कृषि के आधुनिकीरण से कृषि और उद्योग के परस्पर सम्बन्ध को और मजबूत बना दिया है। पारम्परिक कृषि से भी कृषि एवं उद्योग का अग्रगामी-सम्बन्ध (Forward linkage) बहुत प्रबल था क्योंकि कृषि उद्योग के लिए बहुत से आदान मुहैया कराती है परन्तु इनमें प्रतिगामी सम्बन्ध (Backward linkage) बहुत कमजोर था क्योंकि कृषि द्वारा उद्योग से उत्पन्न बहुत कम निर्मित वस्तुओं का प्रयोग होता था। परन्तु कृषि के आधुनिकरण के कारण कृषि द्वारा उद्योग के माध्यम से उत्पन्न आदानों (inputs) की माँग में भारी वृद्धि हुई है और परिणामत: कृषि का प्रतिगामी सम्बन्ध और मजबूत हो गया है। इस प्रकार कृषि एवं उद्योग में सम्बन्ध प्रबल हो गया है।

आधुनिक टेक्नोलॉजी से ऐसे क्षेत्रों को सबसे अधिक लाभ हुआ है जो साधन-सम्पन्न हैं और इसके परिणामस्वरूप अन्त:क्षेत्रीय असमानताओं (Inter-regional disparities) में वृद्धि हुई है। भारत के 70 प्रतिशत क्षेत्रफल में अब भी कृषि वर्षों की अनिश्चितता पर निर्भर है और नयी टेक्नोलॉजी इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कर पायी। इससे देश के बहुत से भागों में उत्पादन एवं उत्पादिता के निम्न स्तर की व्याख्या होती है। इससे कुछ वर्षों में खाद्यान्नों एवं नकद फसलों के उत्पादन के निम्न स्तरों की भी व्याख्या होती है।

छोटे किसान जिनके वित्तीय स्त्रोत बहुत क्षीण हैं और जिनकी ऋणपात्रता बहुत कमजोर है, नयी तकनालाजी को बड़े पैमाने पर अपना नहीं सके हैं। ग्राम-परिवारों का बहुसंख्यक भाग जिसके पास बहुत थोड़ी भूमि है या भूमि है ही नहीं, नई तकनालाजी में अन्तर्निहित अधिक जोखिम, संसाधनों पर सीमित नियन्त्रण और संस्थानात्मक सुविधाओं का अभाव कृषि की आधुनिक तकनीक के विकास में मुख्य अड़चनें है।

नयी टेक्नोलॉजी ने किसान को बाजार-प्रेरित (Market-oriented) बना दिया है। किसान आदानों के सम्भरण के लिए और अपने उत्पाद की माँग के लिए बाजार पर अधिक निर्भर हो गए हैं। इसके साथ-साथ जैसे-जैसे नयी तकनालाजी के प्रयोग से किसानों की नकद आवश्यकताओं में वृद्धि हुई है, उनकी कृषि-उधार की माँग भी बढ़ गई है।

अन्तिम, आधुनिक टेक्नोलॉजी ने पारम्परिक टेक्नोलॉजी पर अपनी श्रेष्ठता केवल उन्हीं क्षेत्रों में स्थापित की है जिनमें "उचित परिस्थितियाँ" विद्यमान हैं परन्तु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, ये परिस्थितियाँ तो कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही पायी जाती हैं और देश का शेष भाग उन्नत तकनालाजी के लिए उचित नहीं है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी कम-लागत वाली तकनालाजी (Low cost technology) का विकास किया जाए जो छोटे किसानों द्वारा अपनायी जा सके और जिसके द्वारा स्थानीय संसाधनों का प्रयोग एवं विदोहन हो सके।

12.1.1 नयी कृषि विकास रणनीति (जतंजमहल) की उपलब्धियाँ (Achievement of New Agricultural Development (Strategy))

नयी कृषि विकास-रणनीति की मुख्य उपलब्धि अनाजों अर्थात् गेहूँ और चावल के उत्पादन को बढ़ावा देना है। तालिका 1 में पिछले कुछ वर्षों के दौरान मुख्य खाद्य फसलों का उत्पादन दिया गया है। तालिका पर ध्यानपूर्वक

नोट

विचार करने से पता चलता है कि चावल का उत्पादन जो 1970–71 में 350 लाख टन था बढ़ कर 2005–06 में 910 लाख टन हो गया। ज़ाहिर है भारत की इस मुख्य फसल में उत्पादन तेजी से बढ़ा है। प्रति हेक्टेयर उत्पादन में भी वृद्धि हुई है और यह 1960–61 में 1,123 किलोग्राम से बढ़कर 2004–05 में 2,026 किलोग्राम हो गया। गेहूँ का उत्पादन जो 1970–71 में 238 लाख टन था यह बढ़कर 1999–00 में 750 लाख टन हो गया परन्तु 2004–05 में कम होकर 695 लाख टन हो गया। इस वृद्धि का कुछ भाग तो क्षेत्रफल में विस्तार के कारण था, परन्तु इसी अवधि के दौरान प्रति हेक्टेयर उत्पादन 1,307 किलोग्राम से 2004–05 में बढ़कर 2,720 किलोग्राम हो गया अर्थात् 34 वर्षों के दौरान इसमें 108 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जबकि मक्का ने भी प्रभावशाली प्रगति दिखायी है, अन्य मोटे अनाजों और दालों में कोई वृद्धि नहीं हुई, बल्कि इस अवधि के दौरान इनमें गिरावट आयी है।

तालिका 1: खाद्यान्नों के उत्पादन की प्रगति लाख टन

	1970–1971	1990–1991	2003–2004	2005–2006
चावल	422	750	870	910
गेहूँ	238	550	720	695
मोटे अनाज	300	320	380	347
(क) कुल अनाज	960	1,620	1,970	1,952
(ख) कुल दालें	118	140	150	131
कुल खाद्यान्न (क + ख)	**1,084**	**1,760**	**2,120**	**2,083**

हरी क्रांति की आरम्भिक सफलता के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी रहेगी। इसी कारण 1970–71 में खाद्यान्न उत्पादन बढ़कर 1,084 लाख टन हो गया। यह बात बड़े गर्व से घोषित की गयी कि हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप खाद्य-आयात बन्द कर दिए गए है और काफी अच्छी मात्रा में बफर-स्टॉक एकत्र कर लिए गए हैं। परन्तु 1972–73 में सूखा पड़ने के कारण यह स्थिति कायम न रह सकी। पाँचवी योजना के दौरान भी खाद्यान्न के उत्पादन में तेज उच्चावचन हुए हैं। 1974–75 के 1,000 लाख टन के निम्न स्तर से उत्पादन बढ़ कर 1975–76 में 1,210 लाख टन हो गया। फिर 1976–77 यह गिर कर 1,110 लाख टन हो गया। 1985–86 में 1,520 लाख टन का रिकार्ड खाद्यान्न उत्पादन हुआ किन्तु बुरे मौसम के कारण यह गिरकर 1987–88 में 1,380 लाख टन रह गया। 1990–91 में खाद्यान्न का उत्पादन एकदम तेजी से बढ़कर 1,760 लाख टन हो गया, परन्तु 1991–92 के दौरान गिरकर 1,670 लाख टन रह गया। 2005–06 में खाद्यान्न उत्पादन पुनः बढ़कर 2,083 लाख टन हो गया।

नयी कृषि विकास रणनीति के आरम्भ के पश्चात कृषि उत्पादन में उच्चावचन सम्बन्धी दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

(क) अनाज का उत्पादन पहले की भाँति मौसम पर बहुत हद तक निर्भर है; और

(ख) अब गत वर्षों की अपेक्षा अधिकतम एवं न्यूनतम उत्पादन कहीं अधिक है।

चूँकि हरित क्रान्ति का मुख्य बल खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाना था, इसलिए वाणिज्य फसलों (Commercial crops) के उत्पादन में वृद्धि की आशा करना उचित नहीं होगा। तालिका 2 से स्पष्ट है कि 1969–70 और 1974–75 के दौरान गन्ने, रुई पटसन और तिलहनों के उत्पादन में कोई उल्लेखनीय उन्नति व्यक्त नहीं हुई। डॉ. धर्म नारायण ने इस परिस्थिति को रोप-फसलों के उत्पादन में लगभग पक्षाघात (Paralysis) की संज्ञा दी है। 1974–75 के पश्चात् गन्ने के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। परन्तु इस वृद्धि को क्रान्ति कहना उचित नहीं होगा। परन्तु 1980–81 के पश्चात् वाणिज्य फसलों के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई।

नोट

तालिका 2: भारत में वाणिज्य फसलों का उत्पादन

वस्तु	इकाई	1960-61	1990-91	2003-04	2005-06
गन्ना (गुड़)	लाख टन	1,100	2,540	2,450	2,784
रुई	लाख गठ्टे	60	100	140	196
पटसन	लाख गठ्टे	40	80	110	101
तिलहन	लाख टन	70	190	250	277

स्त्रोत: भारत सरकार, **आर्थिक समीक्षा,** 2005-06.

कुल रूप में, हरित क्रान्ति ने दालों के उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं डाला जबकि 1970-71 में खाद्यान्नों में इनका उत्पादन 118 लाख टन था, यह 1990-91 में बढ़कर 140 लाख टन हो गया परन्तु 2005-06 में फिर 101 लाख टन हो गया। अत: दालों का उत्पादन पिछले 35 वर्षों में अवरुद्ध ही रहा या इसमें नाममात्र वृद्धि हुई। अत: हरित क्रान्ति केवल अनाजों जिनमें मुख्यत: गेहूँ, मक्का और बाजरा गिने जा सकते हैं।, तक ही सीमित रही। जबकि चावल का उत्पादन 1968-69 से 1978-79 के दौरान बड़ी मन्द गति से बढ़ा परन्तु इसके बाद चावल के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई।

नोट्स हरित क्रान्ति की आरम्भिक सफलता के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी रहेगी।

12.1.2 नयी कृषि विकास रणनीति की कमजोरियाँ (Demerits of New Agricultural Development Strategy)

(1) भारतीय कृषि में पूँजीवादी खेती का विकास–अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरकों और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पड़ता है। भारी विनियोग करना छोटे और मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर है। भारत में लगभग 810 लाख जोतें हैं परन्तु केवल 6 प्रतिशत बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत है और केवल वही नलकूप, पम्पिंग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर रहे हैं। परिणामत: नई कृषि-उत्पादन रणनीति के कारण भारत में पूँजीवादी खेती का विकास हुआ है। अत: कृषि-क्रान्ति में प्रसार-प्रभाव का अभाव और इस कारण भारतीय खेती में विकास कुछ आर्थिक घेरों में सीमित हो गया है। परिणामत: निर्धन किसानों को लाभ नहीं हुआ बल्कि इसके कारण ग्रामीण जनसंख्या के उच्चतम 10 प्रतिशत भाग के हाथ में सम्पत्ति का संकेन्द्रण हुआ है। अत: भारत में भद्र किसानों (Gentlemen farmers) की संख्या में वृद्धि का काफी प्रमाण उपलब्ध है। इनमें मिलिटरी की नौकरी से रिटायर हुए अफसर, रिटायर्ड सिविल अफसर, शहरी व्यापारी शमिल हैं जो अपनी आय उद्योग या व्यापार से प्राप्त करते हैं और जिन्होंने हाल ही में कृषि को एक उद्योग के रूप में चलाना आरम्भ किया है। यह वर्ग कृषि में विनियोग को लाभदायक समझता है। पंजाब में इनकी संख्या कुल किसानों की संख्या का 3 प्रतिशत है। पूँजीवादी किसानों, जिनमें भद्र किसानों के अतिरिक्त प्रगतिशील किसान भी शामिल हैं, के आधीन कुल फार्मों का 8.5 प्रतिशत फार्म हैं जो कि कुल कृषि योग्य क्षेत्रफल के 27 प्रतिशत क्षेत्र पर फैले हुए हैं। इस वर्ग के किसान ही ट्रैक्टरों, नलकूपों, पम्पिंग सेटों और अन्य उपकरणों पर विनियोग कर सकते हैं। इसी प्रकार ये किसान अपनी जोतों पर बिल्डिंग, भू-सुधार और अन्य मरम्मत आदि के लिए पूँजी-व्यय करने की सामर्थ्य रखते हैं। सर्वेक्षण के आधार पर यह परिणाम निकला है कि बड़े फार्मों पर प्रति एकड़ अधिक पूँजी-व्यय किया जाता है जो कि इनमें यन्त्रीकरण (Mechanisation) का सूचक है।

फ्राँसीन फ्रकनेल, USAID विशेषज्ञ ने भारत के किसानों पर नयी कृषि विकास-रणनीति के समाजार्थिक सम्बन्धों (Socio-economic relations) पर प्रभाव का अध्ययन किया।

नोट

(2) भारतीय कृषि में संस्थानात्मक सुधारों (Institutional reforms) की आवश्यकता पर बल न देना–नई उत्पादन रणनीति कृषि में संस्थानात्मक सुधारों की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करती। किसानों के अधिकतर भाग को भू-अधिकार उपलब्ध कराने की तो बात ही क्या, हम भू-धारण की निश्चितता भी उपलब्ध नहीं करा पाए हैं। परिणामत: किसानों की बेदखलियाँ बड़े पैमाने पर की गई हैं। इसके नतीजे के तौर पर काश्तकारों को विवश होकर फसल सहभाजकों (Share croppers) की स्थिति स्वीकार करनी पड़ रही है। मिन्हास और श्रीनिवास ने उर्वरक प्रयोग के सम्बन्ध में फसल-सहभाज (Crop sharing) के प्रभाव का अध्ययन किया है। उनकी मूल कल्पना यह है कि उर्वरकों पर व्यय कृषकों द्वारा उधार प्राप्त करके किया जाता है और इस उधार के लिए 10 प्रतिशत ब्याज देना पड़ता है। चूँकि एक फसल अवधि लगभग 6 मास होती है, इसलिए ब्याज को कुल खर्च का लगभग 20 प्रतिशत माना जाएगा। यदि हम लाभ अधिकतम करने के पूँजीवादी सिद्धान्त को कसौटी मानें, तो वह किसान जो भू-स्वामी हैं, सिंचाई-प्राप्त गेहूँ के क्षेत्रों में 180 प्रतिशत लाभ प्राप्त करते हैं और चावल के सम्बन्ध में यह लाभ 183 प्रतिशत है। इसकी तुलना में काश्तकारी-कृषि (Tenancy cultivation) जो 50 प्रतिशत के आधार पर की जाती है, से यह लाभ गेहूँ के सम्बन्ध में 65 प्रतिशत और चावल और सम्बन्ध में 67 प्रतिशत रह जाता है। 40 प्रतिशत के आधार पर फसल सहभाजन की अवस्था में यह लाभ घट कर केवल 43 प्रतिशत रह जाता है। अत: यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि उर्वरक प्रयोग के विस्तार में काश्तकारी खेती एक बड़ी बाधा है। अधिकतम लाभ प्राप्त करने वाली कसौटी, जोकि पूँजीवादी अर्थशास्त्र का आधार है, इस बात को सुस्पष्ट करती है कि काश्तकारों की अपेक्षा भू-स्वामी ही उर्वरकों की अधिक मात्रा का प्रयोग कर सकते हैं।

(3) आय की बढ़ती हुई असमानताएँ–कृषि में तकनीकी परिवर्तनों का ग्राम-क्षेत्रों में आय-वितरण पर दुष्प्रभाव हुआ है। भारतीय कृषि में तकनीकी परिवर्तन और वितरण सम्बन्धी लाभों के बारे में अपने अध्ययन से सी. एच. हनुमन्त राव यह निष्कर्ष प्राप्त करता है: "तकनीकी परिवर्तनों से एक ओर विभिन्न क्षेत्रों, छोटे और बड़े फार्मों और भू-स्वामियों के बीच आय की असमानताएँ बढ़ी हैं और दूसरी ओर भूमिहीन मजदूरों और मुजारों में खाई और चौड़ी हो गयी है। किन्तु परम रूप में तकनीकी परिवर्तन के लाभ सभी वर्गों में बँटे हैं। इनका संकेत तकनीकी परिवर्तन के अनुभव करने वाले क्षेत्रों में वास्तविक मजदूरी एवं रोजगार में वृद्धि और छोटे किसानों की आय में वृद्धि के रूप में मिलता है।"

फिर भी हरित क्रान्ति के प्रधान लाभ प्राप्तकर्त्ता तो बड़े किसान ही हैं जो अपने लाभ के लिए उन्नत किस्म के आदानों और ऋण-सुविधाओं को हथिया लेते हैं। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि नीतियों में इस प्रकार परिवर्तन किया जाए। डा. वी. के. आर. वी. राव के शब्दों में: "यह बात अब सर्वविदित है कि तथाकथित हरित क्रान्ति जिसने देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी ह, के साथ ग्रामीण आय में असमानता में वृद्धि हुई है, बहुत से छोटे किसानों को अपने काश्तकारी अधिकार छोड़ने पड़े और ग्राम-क्षेत्रों में सामाजिक एवं आर्थिक तनाव बढ़े हैं।"

(4) श्रम-विस्थापन (Labour displacement) समस्या–श्रम-विस्थापन के रूप में हरित क्रान्ति की आड़ में कृषि यन्त्रीकरण के प्रभाव को आंकने के लिए, बहुत ही थोड़े अध्ययन उपलब्ध हैं। उमा के. श्रीवास्तव, राबर्ट क्राऊन और हैडी ने हरित क्रान्ति के दौरान दो प्रकार की नवक्रियाओं (Innovations) के चालू करने के प्रभाव की जाँच की है–

(*i*) जीव-विज्ञान सम्बन्धी नवक्रियाएँ (Biological innovations) और यान्त्रिक नवक्रियाएँ (Mechanical innovations)। जीव-विज्ञान सम्बन्धी नवक्रियाओं से हमारा अर्थ कृषि-आदानों (Agricultural inputs) में किए गए उन परिवर्तनों से है जो भू-उत्पादिता को बढ़ाते हैं। अच्छे बीज, जिन्हें आमतौर पर अधिक उपजाऊ किस्म के बीज कहते हैं और खादों का प्रयोग इस श्रेणी की नवक्रियाएँ हैं। इस दृष्टि से, हरित क्रान्ति बीज-खाद तकनीक में परिवर्तन हैं। यान्त्रिक नवक्रियाओं में वे नए औजार शामिल किए जाते हैं जो मानव या पशु-श्रम का विस्थापन करते हैं अत: हरित क्रान्ति को जैविकीय एवं यान्त्रिक क्रान्ति (Biological mechanical revolution) कहना उचित होगा। श्रम-प्रयोग और श्रम-विस्थापित करने वाली नवक्रियाओं का शुद्ध प्रभाव वह सीमा निर्धारित करेगा पर तक यन्त्रीकरण (Mechanisation) को लागू किया जाए ताकि श्रम-विस्थापन न हो। इस अध्ययन का निष्कर्ष यह

नोट

है–"चूँकि यन्त्रीकरण से श्रम की माँग, जो बीजों और खादों के विस्तृत प्रयोग से बढ़ रही थी पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है, इसलिए भारत जैसी श्रम-अतिरेक वाली अर्थव्यवस्थाओं (Labour-surplus economies) में समय-पूर्व यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन देने से बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा।" परिणामत: ऐसी नीतियों पर, जो सस्ते उधार की व्यवस्था द्वारा बड़ी श्रम-विस्थापन मशीनरी को बिना सोचे समझे प्रोत्साहन देती हैं पर पुनर्विचार करना होगा।

क्या आप जानते हैं हार्वेस्ट कम्बाइन (Harvest combine) बड़े पैमाने पर फार्म-श्रम का विस्थापन करेगी जबकि इसके भूमिवर्धन-प्रभाव (Land augmenting effects) नाममात्र होंगे।"

सी. एच. हनुमन्ता राव रोजगार पर नयी टेक्नोलॉजी के अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभावों को इस प्रकार व्यक्त करता है–"यदि हरित को उन्नत किस्म के बीजों एवं उर्वरकों के प्रयोग का एकमुश्त प्रोग्राम मान लिया जाए, तो इसका रोजगार में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, नलकूपों द्वारा भी रोजगार में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है. ..श्रम गुणांक (Labour co-efficient) संकार्य क्षेत्र के सम्बन्ध मे सबसे अधिक है और इसके बाद उन्नत किस्म के बीजों और सिंचाई का नम्बर आता है।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)-

1. नई टेक्नोलॉजी का प्रयोग ..... में सात ए.डी.पी. जिलों में मार्गदर्शी परियोजना के रूप में किया गया।
2. 1966 के पश्चात आधुनिक कृषि आदनों के प्रयोग में 10 प्रतिशत की वार्षिक ..... दर को उन्नत्ति हुई है।
3. नई टेक्नोलॉजी ने किसान को ..... बना दिया है।
4. ..... के परिणाम स्वरूप खाद्य आपात बंद कर दिए गए हैं। और काफी अच्छी मात्रा में बफर-स्टॉक एकत्रित कर लिए गए हैं।
5. गहन उत्पादन प्रणाली भारतीय कृषि में ..... करने का एकमात्र उपाय है।

12.1.3 कृषि के नए विकास-क्षेत्र (New Developing Sector of Agricultural Development Strategy)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पिछले 5 दशकों के दौरान भारतीय कृषि ने कई दिशाओं में प्रगति की है। प्रथम, खाद्यान्नों का उत्पादन जो 1950-51 में लगभग 500 लाख टन था, बढ़कर 1970-71 में दुगने से भी थोड़ा अधिक होकर 1,084 लाख टन तक पहुँच गया और 1983-84 में 1,524 लाख टन के उच्च स्तर तक पहुँच गया। इसके पश्चात् लगातार चार वर्ष सूखा पड़ने के कारण उत्पादन 1984-85 के शिखर स्तर के नीचे ही रहा किन्तु 1998-99 के अच्छा मानसून वर्ष होने के कारण खाद्यान्न 2,009 लाख टन के रिकार्ड स्तर तक पहुँच गया।

दूसरे, सिंचाई आधीन सकल क्षेत्रफल जो 1950-51 में 226 लाख हैक्टेयर था बढ़कर 1994-95 में 880 लाख हैक्टेयर हो गया। इस प्रकार 45 वर्षों (1950-51 से 1994-95) के दौरान सिंचाई आधीन क्षेत्र में 2.6 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। 1950-51 में एक से अधिक बार बोया जाने वाला क्षेत्र 131 लाख हैक्टेयर था किन्तु 1994-95 में यह बढ़कर 453 लाख हैक्टेयर हो गया।

तीसरे, अधिकाधिक सिंचाई प्राप्त क्षेत्र को अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के अधीन लाने की नीति अपनायी गयी। इसके परिणामस्वरूप अधिक उपजाऊ बीजों के अधीन क्षेत्रफल जो 1970-71 में 154 लाख हैक्टेयर था, बढ़ कर 1997-98 में 760 लाख हैक्टेयर हो गया। इसके साथ-साथ रासायनिक उर्वरकों का उपभोग जो 1970-71 में 22 लाख टन था बढ़कर 1997-98 में 162 लाख टन हो गया।

नोट

इन सभी विकास कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप, भारत खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो गया और इसके खाद्यान्न-आयात नाममात्र हो गए। वह 220 लाख टन का बफर-स्टाक कायम करने में सफल हो गया ताकि किसी एक वर्ष, या लगातार दो अथवा तीन वर्षों में पड़े सूखे का सामना कर सके। इससे हमारी कृषि सबल बन गयी।

परन्तु कृषि की इन उपलब्धियों के कारण हमें आत्मसन्तुष्ट नहीं बन जाना चाहिए क्योंकि अभी बहुत से ऐसे विकास-क्षेत्र हैं जिनकी ओर हमारी कृषि-नीतियाँ मोड़ी जानी चाहिएँ ताकि कृषि विकास में अवलम्बनीयता (Sustainability) और न्याय पर बल दिया जा सके।

(1) मोटे अनाजों के आधीन क्षेत्रफल और उत्पादन में नाममात्र वृद्धि–न ही मोटे अनाजों के अधीन क्षेत्रफल और न ही उनके उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। इन फसलों के लिए अधिक उपजाऊ किस्म के बीज विकसित करने की ओर कोई ध्यान न दिया गया। चूँकि मुख्य आदानों का प्रयोग गेहूँ और चावल की ओर निर्देशित किया गया, मोटे अनाज उपेक्षित रहे और इनके उत्पादन को बढ़ाना अब कृषि-विकास का मुख्य क्षेत्र है।

(2) दालों के उत्पादन में गतिरोध–1970-71 में दालों का उत्पादन 118 लाख टन था। 1990-91 में जोकि खाद्यान्न उत्पादन का सर्वोच्च वर्ष था, दालों का उत्पादन 143 लाख टन था अर्थात् 20 वर्षों की अवधि में केवल 21 प्रतिशत की वृद्धि। 1990-91 से 1994-95 के दौरान दालों का उत्पादन 140-145 लाख टन के बीच ही रहा है। 2001-02 में यह फिर गिरकर 132 लाख टन हो गया। दालों का प्रति व्यक्ति उपभोग जो 1971 में 69 ग्राम प्रतिदिन था कम होकर 2001 में 29 ग्राम हो गया। दालों के उपभोग में यह तीव्र गिरावट चिन्ता का विषय है, विशेषकर गरीब वर्गों के लिए जिनके लिए दालें प्रोटीन का मुख्य स्रोत हैं।

दालें अधिकतर गैर-सिंचाई वाली परिस्थितियों में घटिया भूमि पर उगायी जाती हैं और इनके लिए कम मात्रा में आदानों का प्रयोग किया जाता है। दालों के आधीन 217 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल में से केवल 27 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल की सिंचाई प्राप्त है। दालों के लिए उर्वरकों एवं कीटनाशकों की भी अधिक मात्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती। अल्प-अवधि की किस्मों और उन्नत खुश्क-खेती-टेक्नोलॉजी के विकास के कारण दालों का उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में नयी आशाएँ पैदा हो गयी हैं। पिछले दशक के दौरान हुए अनुसंधान के परिणामस्वरूप अरहर की ऐसी किस्मों का आविष्कार हुआ है जो गरीब किसानों के लिए उचित हैं और इनसे प्रति हैक्टेयर 2-3 टन उत्पादन करना सम्भव है और इसके अतिरिक्त 6-8 टन खुश्क डण्ठल (stalks) भी प्राप्त हो सकते हैं जोकि ईंधन के रूप में इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इसी प्रकार काली-मिट्टी-प्रबन्ध-तकनालाजी (Black soil management technology) द्वारा बंगाली चने की उत्पादिता बढ़ायी जा सकती है जो कि दालों की प्रधान फसल है। अरहर और चना दोनों मिलकर दालों के कुल उत्पादन का 60 प्रतिशत उपलब्ध कराते हैं और इनकी उत्पादिता को बढ़ाने के लिए प्रयास संकेन्द्रित किय जाएँ, तो इससे दालों की उत्पादिता में वृद्धि करने की काफी गुंज़ाइश है।

(3) एक अन्य विकास-क्षेत्र खाद्य-तेलों के उत्पादन को बढ़ाना है–भारत खाद्य-तेलों (Edible oils) के उत्पादन में आत्मनिर्भर नहीं है। 1970-71 में, खाद्य तेलों का आयात केवल 23 करोड़ रुपये था, परन्तु बढ़ती हुई माँग को अपने देशीय उत्पादन से पूरा न कर सकने के कारण आयात में वृद्धि होती गयी। यह आशा की जाती है कि भारत द्वारा 2003-04 में 11,680 करोड़ रुपये के खाद्य-तेलों का आयात किया गया।

वर्तमान परिस्थितियों के परिणामस्वरूप, दो कठिन समस्याओं का सामना करना होगा; (*i*) खाद्य-तेल आयात द्वारा हमारी विदेशी मुद्रा का लगातार निकास होता रहेगा; और (*ii*) भारत एक महत्त्वपूर्ण खाद्य-पदार्थ के लिए विश्व के अन्य देशों पर निर्भर रहेगा।

भारत में उत्पन्न होने वाले मुख्य खाद्य-तेल है: मूँगफली, तोरिया (Rapeseed), तिल (Sesamum), जाफरान (Safflower), सूर्यमुखी, सोयाबीन आदि। भारत में तिलहनों के उत्पादन की मुख्य समस्या निम्न उत्पादिता है। न केवल भारत विकसित देशों की तुलना में बहुत पीछे है, इसके प्रति हैक्टेयर उत्पादिता चीन की तुलना में भी काफी कम है। इसी कारण भारत सरकार ने तिलहन-तकनालाजी मिशन (Oilseeds technology mission) कायम किया है जिसने निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए हैं–

नोट

1994-95 में तिलहनों का उत्पादन 210 लाख टन था। सन् 2000 तक इसे बढ़ाकर 260 लाख टन करना ताकि इनसे 80 लाख टन तेल प्राप्त किया जा सके। किन्तु 2001-02 में तिलहनों का उत्पादन बढ़कर केवल 205 लाख टन ही हो पाया। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित उपाय करने होंगे–(*i*) अतिरिक्त तिलहन क्षेत्रों को सिंचाई आधीन लाना; (*ii*) आधुनिक फसल-तकनालाजी का प्रयोग करना; (*iii*) फसल-प्रतिस्थापन (Crop substitution); (*iv*) बेहतर खुश्क खेती करना; (*v*) बेहतर ढंग से तेल निकालना; (*vi*) तेल के अपारम्परिक स्रोतों का विदोहन; और (*vii*) तिलहनों के उत्पादन का अपारम्परिक क्षेत्रों और अपारम्परिक मौसमों में परिवर्तन करना। ऐसे अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के विकास के कारण जो कि सूखा और टिड्डी दल के प्रतिरोधक हैं, यह आशा की जाती है कि तिलहनों के उत्पादन और उत्पादिता बढ़ाने के द्वार खुल गए हैं।

(4) सिंचाई और जल प्रबन्ध की नयी विकास-विधि–अगले 12 से 15 वर्षों के दौरान कुल उपलब्ध जल संग्रह 1,000 लाख हैक्टेयर मीटर होगा। 1,240 लाख हैक्टेयर कुल कृषि आधीन क्षेत्र से 1,924 लाख टन खाद्यान्न पैदा किया गया। दूसरे शब्दों में, औसत रूप में प्रति हैक्टेयर उत्पादन 1.55 टन ही है। इसके विरुद्ध चीन में प्रति हैक्टेयर उत्पादन 4 टन है। यदि भारत को अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का पोषण करना है, तो सन् 2,020 तक अपनी 128 करोड़ प्रत्याशित जनसंख्या के लिए 2,410 लाख टन खाद्यान्न उत्पन्न करना ही होगा।

चूँकि जल एक दुर्लभ संसाधन है, इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसके अधिक कुशल प्रयोग पर बल दिया जाए। वर्तमान परिस्थिति यह है कि 90 प्रतिशत जल सिंचाई के लिए इस्तेमाल होता है। विशेषज्ञों के अनुसार यह जल का अपव्यय एवं व्यर्थ प्रयोग है। अत: सिंचाई रणनीति ऐसी होनी चाहिए जो मितव्ययी ढंग से जल-प्रयोग कर सके। इस सम्बन्ध में लक्ष्य होना चाहिए कि अगले 12 वर्षों में सिंचाई के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले जल का अनुपात घटा कर 77 प्रतिशत कर दिया जाए ताकि औद्योगिक और नगरपालिका सम्बन्धी आवश्यकताओं की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति की जा सके।

(5) छोटी सिंचाई के पक्ष में परिवर्तन पर बल–सातों पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान बड़ी तथा मध्यम सिंचाई परियोजना पर अत्यधिक बल दिया गया। अब यह बात महसूस की जा रही है कि बड़ी सिंचाई परियोजनाओं ने प्रति हैक्टयेर सिंचाई की लागत बहुत ही ऊँचा कर दी है। औसत रूप में प्रति हैक्टेयर सिंचाई लागत 60,000 रुपए है जोकि बहुत ज्यादा है। अत: छोटी सिंचाई की प्रति एकड़ लागत अपेक्षाकृत बहुत कम है और इसलिए भविष्य में छोटी सिंचाई पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

(6) बायोफर्टलाइजर के प्रयोग का विस्तार करना–जीव-टेक्नोलॉजी एवं आनुवंशिक इंजीनियरिंग (Bio technology and genetic engineering) में हाल ही में हुए अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कुछ सूक्ष्म-जीव (Micro-organisms) जैसे बैक्टीरिया और नीले-हरे शैवाल (Algae) नाइट्रोजन-निश्चयक (Nitrogen fixers) का कार्य कर सकते हैं और पौधों को पोषण उपलब्ध करा सकते हैं। सबसे आम-इस्तेमाल होने वाला जीव-उर्वरक (Biofertilizer) राइजोबियम (Rhizobium) है जो विशिष्ट बीजकोष (Legumes) की जड़ों में प्रवेश करके जड़-ग्रन्थिकाएँ (Root nodules) बना लेता है। ये ग्रन्थिकाएँ अमोनिया उत्पादन की फैक्टरियाँ बन जाती हैं। राइजोबियम बीजकोष के साथ सम्बन्ध स्थापित करके एक फसल-मौसम में 100-300 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति हैक्टेयर निश्चित कर सकता है और अगली फसल के लिए भी काफी नाइट्रोजन छोड़ सकता है। सूक्ष्म-जीवों द्वारा नाइट्रोजन-जनन में महत्त्वपूर्ण तकनीक खोजने, जिसका सारा खर्च स्वयं प्रकृति अदा करती है, दूसरी हरित क्रान्ति के द्वार खोल दिए गए हैं।

(7) खुश्क खेती पर बल देना चाहिए–भारत में कुल कृषि आधीन 1,630 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल में से 1,000 हैक्टेयर अर्थात् कुल का 61 प्रतिशत खुश्क खेती (Dry farming), के अधीन है परन्तु खुश्क खेती आधीन क्षेत्र का कुल उत्पादन में भाग 30 प्रतिशत से भी कम है

इसमें सन्देह नहीं कि सिंचाई के कारण खाद्यान्नों में स्वावलम्बिता प्राप्त हो सकी है परन्तु इसके साथ समृद्ध और गरीब के बीच खाई भी चौड़ी हो गई है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि खुश्क भूमि पर खेती करने वाले 72 प्रतिशत किसानों के पास 2 हैक्टेयर से कम भूमि है और यह भी बिखरे हुए और विभाजित खण्डों में उपलब्ध है। चूँकि

नोट

देश को काफी समय तक खुश्क-भूमि खेती करनी होगी, इसलिए यह आवश्यक है कि खुश्क-भूमि खेती की तकनालाजी विकसित की जाए ताकि खुश्क भूमि में उत्पादन के बढ़ाने की सम्भावनाओं का लाभ उठाया जा सके। इसके लिए खुश्क भूमि क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन करना आवश्यक है ताकि क्षेत्र-विशेष तकनालाजी का विकास किया जा सके। उर्वरकों का मर्यादित प्रयोग, उन्नत बीजों और वर्षा के पानी के बेहतर संग्रहरण और इसके उचित प्रयोग द्वारा हम उत्पादिता में 40 से 50 प्रतिशत तक वृद्धि कर सकते है। कुशल तथा समय-अनुसार प्रबन्ध वर्षा पर आधारित क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने की कुंजी है।

सार रूप में हमने कृषि में मुख्य विकास-क्षेत्रों का संकेत किया है। परन्तु कृषि सुधारों के अभाव में प्रत्याशित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकेंगे। डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन, विख्यात कृषि वैज्ञानिक ने पंजाब में हरित क्रान्ति की सफलता का विश्लेषण करते हुए उल्लेख किया है–

"पंजाब में हरित क्रान्ति कोई अचम्भा नहीं है। यह इसलिए सफल हो पाई क्योंकि 1960-70 के दशक के मध्य में वे सभी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जो इसकी सफलता के लिए अनिवार्य थीं–(क) भू-चकबन्दी तथा समतलीकरण, (ख) स्वामी द्वारा खेती जिससे भूमि में लम्बे काल के लिए रुचि पैदा हो, (ग) ग्राम-संचार, (घ) ग्राम-बिजलीकरण, और (ङ) एक गत्यात्मक कृषि विश्वविद्यालय।"

"यदि ये परिस्थितियाँ विद्यमान न होतीं, तो पंजाब के किसानों के लिए गेहूँ और चावल की प्रबन्ध-प्रत्युत्तर किस्मों द्वारा उत्पादिता-क्षमता को वास्तविक उत्पादन में बदलना कठिन हो जाता। अन्ततः उत्पादिता दो कारणतत्वों की परस्पर क्रिया पर निर्भर करती है-पौधे की आनुवंशिक कुशलता (Genetic effciency) और किसान की प्रबन्ध कुशलता। किसानों की तन्मयता, कठोर परिश्रम, नवक्रिया और भारतीय कृषि के भविष्य को परिवर्तित करने में त्वरक कार्य कर रहे हैं।"

टास्क बायोफर्टलाइजर किसे कहते हैं?

12.1.4 हरित क्रान्ति-भावी सम्भावनाएँ (Green Revolution-future prospects)

हरित क्रान्ति जो 1960 के दशक के दौरान आरम्भ की गयी का उद्देश्य अर्द्ध-बौने उपजाऊ किस्म (Semi-dwarf high yielding varieties) के बीजों का प्रयोग करके सिंचाई और रासायनिक उर्वरकों के साथ कार्य कर कृषि-उत्पादन को बढ़ाना था। इसके अच्छे परिणाम प्राप्त हुए और पहले चरण में गेहूँ के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई और बाद में चावल के उत्पादन को बढ़ाने में भी अच्छा सफलता प्राप्त हुई। परन्तु हाल ही के वर्षों में यह महसूस किया जा रहा है कि अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के परिणामस्वरूप उत्पादन अपनाने की चरम सीमा पर पहुँच चुका है और उत्पादन में अतिरिक्त वृद्धि करने की सम्भावनाएँ बहुत सीमित हैं। दूसरे शब्दों में, यह तर्क दिया जा रहा है कि बीज-पानी उर्वरक तकनालाजी (Seed-water-fertilizer technology) अपनी सम्भाव्य क्षमता का पूरा प्रयोग कर चुकी है और ऐसे बिन्दु पर पहुँच गयी है कि इसमें ह्रासमान प्रत्याय (Diminishing return) की अवस्था आरम्भ हो गयी है।

परन्तु योजना आयोग ने सन् 2007-08 के लिए खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ा कर 30 करोड़ टन करने का लक्ष्य रखा है प्रश्न उठता है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति की सम्भावना क्या है?

श्री हरीश दामोदरण इस विचार से सहमत नहीं है कि उत्पादन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने पिछले चार दशकों के दौरान खाद्यान्नों के औसत प्रति हैक्टेयर उत्पादन के परिकलन तैयार किए हैं–

नोट

तालिका 4: औसत खाद्यान्न उत्पादन

किलोग्राम प्रति हैक्टेयर

	1970-80	1980-90	1990-2000	2004-05
खाद्यान्न	**894**	**1,156**	**1,490**	**1,700**
गेहूँ	1,382	1,921	2,449	2,720
चावल	1,158	1,470	1,827	2,062

तालिका 4 में दिए गए आँकड़ों से संकेत मिलता है कि खाद्यान्नों का प्रति हैक्टेयर उत्पादन लगातार बढ़ता ही गया है। यह 1960-70 के दशक में 719 किलोग्राम से बढ़कर 1980-90 के दशक में 1,156 किलोग्राम और फिर 1990-91 से 1999-2000 के दौरान और बढ़कर 1,490 किलोग्राम हो गया। प्रति हैक्टेयर उत्पादन में वृद्धि गेहूँ के सम्बन्ध में 1960-70 के दशक में 950 किलोग्राम से बढ़ कर 1990-91 से 1999-00 के दौरान लगभग 2,450 किलोग्राम हो गयी और फिर 2004-05 में 2,720 किलोग्राम हो गयी जबकि इस अवधि के दौरान चावल का प्रति हैक्टेयर उत्पादन 1,000 किलोग्राम से बढ़ कर 2,063 किलोग्राम हो गया अर्थात् इसमें 106 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अत: गेहूँ के प्रति हैक्टेयर उत्पादन में चावल की तुलना में अपेक्षाकृत कहीं अधिक वृद्धि व्यक्त हुई।

जबकि अधिक उपजाऊ बीजों के आधीन क्षेत्रफल में वृद्धि के परिणामस्वरूप औसत प्रति हैक्टेयर उत्पादन में लगातार वृद्धि व्यक्त हुई, परन्तु अधिकतम उत्पादन की औसत दरों में प्रतिरोध के लक्षण दिखायी दिए हैं। अत: जो ढाँचा पिछले चार को में उभरा है उसमें औसत उत्पादन लगातार प्रगति हुई परन्तु सर्वोच्च स्तर पर गतिरोध कायम हो गया।

तालिका 5: उत्तर-पश्चिम भारत में गेहूँ के उत्पादन में आनुवंशिक लाभ

अधिक उपजाऊ किस्म के बीच	वर्ष	प्रति हैक्टेयर* उत्पादन (टन)
शरबती सोनारा	1965	3.37
कल्याण सोना	1970	4.20
डब्ल्यु एल-711	1975	4.68
एच.डी. 2009	1980	4.58
एच.डी. 2329	1985	4.71
सी.पी.ए.एन. 3004	1990	4.87
यू.पी. 2338	1994	5.13
पी.बी. डब्ल्यू 343	1995	5.42

* प्रदर्शनीय प्रयोग पर आधारित

इसलिए यह जरूरी है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिकतम औसत उत्पादन और वास्तव में प्राप्त अधिकतम में भेद को समझा जाए। तालिका 5 पर ध्यान देने से पता चलता है कि हरित क्राान्ति की किस्म शरबती सोनारा ने लगभग 3.4 टन प्रति हैक्टेयर औसत उत्पादन की सम्भावना व्यक्त की। इसके बाद 1970 में कल्याणसोना किस्म के बीज से औसतन 4.2 टन उत्पाद प्राप्त हुआ और फिर 1975 में डब्ल्यु एल 711 से 4.7 टन। इसके पश्चात् औसत उत्पादन में वृद्धि प्राप्त करने के लिए देश को 1994 तक इन्तजार करना पड़ा। जब नयी बीजों की किस्मों जैसे यू.पी. 2338 ने 5.1 टन और 1995 में पी. बी. डब्ल्यू 343 ने 5.4 टन प्रति हैक्टेयर का रिकार्ड प्राप्त किया।

नोट

परन्तु चावल के सम्बन्ध में तस्वीर इतनी उत्साहवर्धक नहीं है। 1966 में आई. आर–8 और 1966 में जय के आरम्भ के पश्चात् अभी तक कोई भी आनुवंशिक किस्म (Genetic variety) विकसित नहीं कि जा सकी जो संभाव्य औसत उत्पादन में आरम्भ में चालू किए गए बीजों की पथप्रदर्शक किस्मों की तुलना में सुनिश्चित उन्नति दिखा सके।

परिणामत: आलोचकों का मत है हरित क्रान्ति की बीज रोपन की पारम्परिक तकनीकें अपने चरमान्त पर पहुँच गयी हैं। जो भी सफलता चावल में प्राप्त की गयी है। उसका कारण आरम्भिक अधिक उपजाऊ किस्मों के बीजों के अधीन क्षेत्र का विस्तार है ताकि देश इनकी क्षमता का पूर्ण लाभ प्राप्त कर सके। इसका केवल यह अर्थ है कि देश अधिकतम सीमा की ओर बढ़ता हुआ बेहत्तर उत्पादन प्राप्त कर रहा है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमने वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों में अन्तर्निहित क्षमता का पूरा लाभ उठा लिया है। पंजाब के फार्मों में किए गए परीक्षणों से यह बात सुनिश्चित हो जाती है कि प्रति हैक्टेयर 5.5 टन की संभाव्य क्षमता दर्शायी जा चुकी है, परन्तु वास्तविक औसत उत्पादन 4.25 टन प्रति हैक्टेयर के इर्द–गिर्द है। जाहिर है कि पंजाब में भी एक टन प्रति हैक्टेयर की उत्पादन–क्षमता का विदोहन किया जा सकता है। इसी प्रकार, गेहूँ उगाने वाले अन्य राज्यों की परिस्थिति का विश्लेषण करने से संकेत मिलता है कि प्राप्य (A ttainable) और वास्तविक औसत उत्पादन में 2 टन प्रति हैक्टेयर का अन्तर विद्यमान है। अत: हरीश दामोदरण इस निष्कर्ष पर पहुँचते है: "वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से भी सिन्धु–गंगा मैदान में जहाँ किसानों द्वारा 260 लाख हैक्टेयर कुल भूमि में से 180 लाख हैक्टेयर में गेहूँ बोया जाता है, वहाँ उन्नत फसल प्रबन्ध व्यवहार (Farm management practices) और समय पर आदानों के सम्भरण और आकर्षक कीमतों आदि से 250 लाख टन अतिरिक्त गेहूँ पैदा किया जा सकता है। चावल के औसत प्रति हैक्टेयर उत्पादन में आधे टन की वृद्धि द्वारा 200 लाख टन अतिरिक्त चावल देश में धान की फसल के अधीन 420 लाख हैक्टेयर क्षेत्र से पैदा किया जा सकता है।" दूसरे शब्दों में, यदि इस दिशा में परिदृढ़ प्रयास किया जाए, तो सन् 2006–07 तक 450 लाख टन अतिरिक्त गेहूँ और चावल का उत्पादन सम्भव हो सकता है। इसी प्रकार दसवीं योजना ने यह परिकल्पना की है कि मक्की के उत्पादन पर विशेष बल दिया जाए ताकि छोटे अनाजों के उत्पादन को 340 लाख टन से बढ़ा कर 2006–07 तक 480 लाख टन किया जाए।

कई बार आलोचकों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि पंजाब में 4 से 4.5 टन गेहूँ की औसत उपज के विरुद्ध नीदरलैण्डस जैसे ठण्डे देशों में लगभग 8 टन उपज प्रति हैक्टेयर पैदा की जाती है, परन्तु यह तुलना इन दो देशों की फसल–प्रणालियों (Cropping system) में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर की उपेक्षा कर देती है। सुप्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक डा. एम. एस. स्वामीनाथन ने इस बात पर बल देते हुए यह उल्लेख किया कि केवल अलग–अलग फसलों के आधार पर शुद्ध रूप में तुलना करना अवैज्ञानिक है परन्तु समग्र फसल–प्रणालियों की तुलना करना अधिक वैज्ञानिक होगा। उदाहरणार्थ, पंजाब का किसान 140 दिनों की अवधि में गेहूँ की फसल से 4 से 4.5 टन उत्पादन कर सकता है, परन्तु नीदरलैण्ड्स में खेती करने वाला किसान 10–मास की शीत–ऋतु गेहूँ फसल (Winter wheat crop) के रूप में 8 टन उत्पादन कर सकता है। इस अन्तर की क्षतिपूर्ति के लिए पंजाब का किसान उसी वर्ष के दौरान उसे 3 से 3.5 टन प्रति हैक्टेयर की चावल की फसल पैदा कर सकता है। वह आलू या फली या कोई अल्पविधि सब्जी भी उत्पन्न कर सकता है। अत: किसान की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण बात पूरे वर्ष के दौरान कुल फसल उपज से है, न कि केवल प्रति हैक्टेयर उत्पादन से। अत: एक–फसल (Mono-cropping) से बहु–फसल प्रणाली (Multi-cropping system) में परिवर्तन के परिणामस्वरूप चावल और गेहूँ की किस्मों को जो भिन्न–भिन्न परिपक्वता वाली हैं, एक समन्वित प्रोग्राम में जिसे हरित क्रान्ति का नाम दिया गया, परोया गया। अत: हरित क्रान्ति की सफलता किसानों द्वारा पूरे वर्ष के दौरान समग्र उपज (आय) के रूप में की जानी चाहिए, न किसी एक फसल की प्रति हैक्टेयर उत्पादिता के रूप में।

भावी सम्भावनाएँ

भारत के वैज्ञानिक चावल और गेहूँ के संकर–बीजों (Hybrid seeds) को विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं।

नोट

ताकि उत्पादिता के वर्तमान अवरोधक को तोड़ा जा सके। यह उल्लेख करना जरूरी है कि ये दो फसलें मिलकर भारत में कुल खाद्यान्नों का तीन-चौथाई उपलब्ध कराती हैं।

चावल के सम्बन्ध में किए गए फार्म-परीक्षणों (Farm trials) से यह पता चला कि इनसे औसत रूप में प्रति हैक्टेयर उत्पादन 6.8 टन प्राप्त किया गया जबकि यह पारम्परिक शुद्ध-वांशिक चावल की किस्मों द्वारा 5.2 टन था। अत: इस प्रकार एक हैक्टेयर से 1.6 टन अतिरिक्त चावल (या 31%) प्राप्त किया जा सकता है। कुछ हालतों में तो संकर चावल द्वारा पारम्परिक किस्मों की तुलना में 35 से 44 प्रतिशत अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, संकर चावल (Hybrid rice) से प्रति हैक्टेयर 1.5 से 1.75 टन अतिरिक्त उपज का अनुमान है। फार्म-परीक्षणों में सफलता

तालिका 6: अभी तक जारी किए गए संकर-बीजों से उपज प्राप्ति टन प्रति हैक्टेयर

संकर बीज	फार्म-परीक्षणों से उत्पादिता		1 की 2	राज्य
	संकर बीज	वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्में	पर प्रतिशत वृद्धि	
	(1)	(2)	(3)	(4)
ए.पी.एच.आर-1	7.14	5.27 (चैतन्य)	35.5	आन्ध्र प्रदेश
ए.पी.एच.आर-2	7.52	5.21 (चैतन्य)	44.3	आन्ध्र प्रदेश
एम.जी.आर.-1	6.08	5.23 (आई.आर-50)	16.2	तमिलनाडू
के.आर.एच.-2	7.40	6.10 (जय)	21.3	कर्नाटक
डी.आर.आर.एच-1	7.30	5.50 (टेला हमसा)	32.7	आन्ध्र प्रदेश

के बावजूद, भारत केवल 1.5 लाख हैक्टेयर भूमि संकर बीजों के आधीन ला पाया है चाहे सन् 2000 तक 20 लाख हैक्टेयर भूमि इनके आधीन लाने का लक्ष्य रखा गया था। इस मन्द प्रगति के लिए निम्नलिखित कारणतत्व जिम्मेदार हैं–

1. चूँकि संकर बीजों (Hybrid seeds) की अतिरिक्त लागत 1,500 रुपये प्रति हैक्टेयर है, इस कारण उत्पादिता में अधिक वृद्धि किसान को प्राप्त उच्च लाभ के रूप में परिवर्तित नहीं की जा सकी। परिणामत: किसानों में संकर चावल के प्रयोग के लिए अधिक उत्साह प्रतीत नहीं होता।
2. संकर-चावल के दाने में सुगन्ध और चिपचिपाहट (Stickiness) होने के कारण यह उपभोक्ताओं, विशेषकर दक्षिण भारत के उपभोक्ताओं, को स्वीकार्य नहीं बन पाया। परिणामत: संकर चावल से कम कीमत वसूल की जा सकती है जिसका किसान की प्रत्याय-दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।
3. संकर-चावल पर विनाशकारी कीटों एवं बीमारियों का अधिक प्रभाव पड़ता है।

इन सभी कारणत्वों के समूचे प्रभाव के फलस्वरूप संकर-चावल के आधीन लाए जाने वाले क्षेत्र की प्रगति मन्द रही।

श्री हरीश दामोदरण के अनुसार "कोई एक देश जिसने संकर बीज तकनालाजी का प्रयोग वस्तुत: एक महत्वपूर्ण रूप में किया है, वह चीन है। देश के चावल के आधीन 320 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल का 50 प्रतिशत से अधिक भाग आज संकर-चावल के आधीन है जिससे चावल की कुल उपज का 70 प्रतिशत प्राप्त होता है। 1976 में सबसे पहला वाणिज्यक संकर बीज चालू करने के बाद, संकर-चावल ने चीन को अपने चावल के उत्पादन में 30 करोड़ टन की वृद्धि करने में सहायता दी है जिससे हर वर्ष 10 करोड़ अतिरिक्त जनसंख्या का पोषण हो सकता है।" संकर-चावल को किसानों में और स्वीकार्य बनाने के लिए चीन ने साहय्यित दरों (Subsidized rates) पर किसानों

नोट

को बीज उपलब्ध कराए। इसके अतिरिक्त, चीनी सरकार ने संकर–बीजों उगाने वालों को कई प्रकार के प्रोत्साहन दिए ताकि वे इनकी लागत कम कर सकें। चीन ने संकर–बीज उत्पादन की तकनीक का भी मानकीकरण (Standardization) किया है जिससे बीजों का उत्पादन औसतन 2.5 टन प्रति हैक्टेयर होने लगा है जबकि भारत में यह अनुभवी बीज–उत्पादकों द्वारा 1 से 1.5 टन के बीच था।

भारत सरकार को चीन के अनुभव से सही सबक प्राप्त करने चाहिएँ और संकर–चावल के बीजों के उत्पादन का मानकीकरण करके बीजों की लागत कम करनी चाहिए। सरकार द्वारा किसानों को संकर–चावल के बीज साहाय्यित दरों पर उपलब्ध कराने चाहिएँ। चावल अनुसन्धान संस्थानों को संकर–बीजों से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान का प्रयास करना चाहिए।

किन्तु गेहूँ में संकर तकनालाजी (Hybrid technology) अभी भी विकास की शिशु अवस्था में है और इस सम्बन्ध में काफी समय तक अनुसन्धान प्रयासों को और मजबूत करना होगा ताकि प्रति हैक्टेयर उत्पादिता के अवरोधक को तोड़ा जा सके।

इस समग्र विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि हरित क्रान्ति की भावी सम्भावनाएँ इसके अगले चरण में संकर बीज तकनालाजी में अन्तर्निहित हैं। किन्तु तकनालाजी के इस हद तक मानकीकरण में समय लगेगा और तभी यह बीज–उत्पादकों, किसान वर्ग और उपभोक्ता द्वारा स्वीकार की जाएगी। अभी तक तो भारत ने अर्द्ध–बौने अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों की क्षमता का भी पूर्ण लाभ नहीं उठाया। भारत को उपलब्ध अधिक बीजों से प्राप्य उत्पादिता और वास्तविक उत्पादिकता में अन्तर को कम करना चाहिए। यह आशा की जा सकती है कि जब तक भारत वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से पूर्ण संभाव्य लाभों का प्रयोग कर लेगा, तब तक कृषि वैज्ञानिक संकर–चावल और गेहूँ की नयी किस्मों का विकास कर लेंगे जिससे हरित क्रान्ति के अगले चरण में प्रवेश करना सम्भव हो सकेगा

स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

2. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. भारत में पूँजीवादी खेती का विकास हुआ है–
   (क) नई कृषि–उत्पादन रणनीति के कारण (ख) विनियोग के कारण
   (ग) जनसंख्या वृद्धि के कारण (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. उर्वरक के प्रयोग के संबंध में फसल–सहभाज के प्रभाव का अध्यापन किया है–
   (क) फ्रेकनेल ने (ख) निन्हास और फ्रकनेलने
   (ग) मिन्हास और तिनिवास ने (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. तालिका चार में दिये गये आँकड़ों से क्या संकेत मिलता है–
   (क) खाद्यानों क प्रति हैक्टेयर उत्पादन लगातार घटता ही गया।
   (ख) खाद्यानों क प्रति हैक्टेयर उत्पादन लगातार बढ़ता ही गया।
   (ग) खाद्यानों क प्रति हैक्टेयर उत्पादन लगातार स्थिर ही गया।
   (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. किस तालिका से यह पता लगता है कि हरित क्रांन्ति की किस्म शरबती सोनार ने लगभग 3.4 टन प्रति हेक्टेयर उत्पादन की संभावना व्यक्त की हैं–
   (क) तालिका 2 (ख) तालिका 4
   (ग) तालिका 5 (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

5. चावल और गेहूँ के संकर बीजों को विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं-

(क) भारत के वैज्ञानिक (ख) अमेरिका के वैज्ञानिक

(ग) चीन के वैज्ञानिक (घ) इनमें से कोई नही

12.2 सारांश (Summary)

- 1960-70 के दशक के मध्य के पश्चात् भारत में पारम्परिक कृषि व्यवहारों (Agricultural practices) का प्रतिस्थापन आधुनिक टेक्नोलॉजी एवं फार्म-व्यवहारों से किया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप भारत में एक कृषि क्रान्ति व्यक्त हुई। आरम्भ में, नयी टेक्नोलॉजी का प्रयोग 1960-61 में सात आई. ए. डी. पी. जिलों में मार्गदर्शी परियोजना (Pilot project) के रूप में किया गया। इसके बाद, अधिक उपजाऊ किस्म के बीज (High yielding varieties) के प्रोग्राम को आई. ए. डी. पी. के साथ जोड़ दिया गया और इस विकास-रणनीति का पूरे देशभर में विस्तार करने का लक्ष्य तय किया गया। इसे हरित क्रान्ति (Green revolution) कहने की बजाए यह कहीं बेहतर होगा कि इसे भारतीय कृषि का आधुनिकीकरण (Modernisation) कहा जाए।
- **नयी तकनालाजी अपनाने के फलस्वरूप फसल के कुल उत्पादन और उत्पादिता एवं-रोजगार में लगातार वृद्धि हुई है।**
- कृषि के आधुनिकरण के कारण कृषि द्वारा उद्योग के माध्यम से उत्पन्न आदानों (inputs) की माँग में भारी वृद्धि हुई है और परिणामत: कृषि का प्रतिगामी सम्बन्ध और मजबूत हो गया है। इस प्रकार कृषि एवं उद्योग में सम्बन्ध प्रबल हो गया है।
- आधुनिक तकनालाजी से ऐसे क्षेत्रों को सबसे अधिक लाभ हुआ है जो साधन-सम्पन्न हैं और इसके परिणामस्वरूप अन्त:क्षेत्रीय असमानताओं (Inter-regional disparities) में वृद्धि हुई है।
- नयी विकास रणनीति के समर्थकों के अनुसार गहन उत्पादन प्रणाली भारतीय कृषि में अल्पकाल में उग्र विकास करने का एकमात्र उपाय है। खाद्यान्नों में स्वावलम्बिता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है कि ऐसी उत्पादन-विधि अपनाई जाए जिससे पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त अन्न उत्पन्न हो सके।
- अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरकों और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पड़ता है। भारी विनियोग करना छोटे और मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर है। भारत में लगभग 810 लाख जोतें हैं परन्तु केवल 6 प्रतिशत बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत है और केवल वही नलकूप, पम्पिंग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर रहे हैं।
- स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पिछले 5 दशकों के दौरान भारतीय कृषि ने कई दिशाओं में प्रगति की है। प्रथम, खाद्यान्नों का उत्पादन जो 1950-51 में लगभग 500 लाख टन था, बढ़कर 1970-71 में दुगने से भी थोड़ा अधिक होकर 1,084 लाख टन तक पहुँच गया और 1983-84 में 1,524 लाख टन के उच्च स्तर तक पहुँच गया। इसके पश्चात् लगातार चार वर्ष सूखा पड़ने के कारण उत्पादन 1984-85 के शिखर स्तर के नीचे ही रहा किन्तु 1998-99 के अच्छा मानसून वर्ष होने के कारण खाद्यान्न 2,009 लाख टन के रिकार्ड स्तर तक पहुँच गया।
- जीव-टेक्नोलॉजी एवं आनुवंशिक इंजीनिरिंग (Bio technology and genetic engineering) में हाल ही में हुए अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कुछ सूक्ष्म-जीव (Micro-organisms) जैसे बैक्टीरिया और नीले-हरे शैवाल (Algae) नाइट्रोजन-निश्चयक (Nitrogen fixers) का कार्य कर सकते हैं और पौधों को पोषण उपलब्ध करा सकते हैं।
- जीव-टेक्नोलॉजी एवं आनुवंशिक इंजीनिरिंग (Bio technology and genetic engineering) में हाल ही में हुए अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कुछ सूक्ष्म-जीव (Micro-organisms) जैसे बैक्टीरिया और

नोट

नीले-हरे शैवाल (Algae) नाइट्रोजन-निश्चयक (Nitrogen fixers) का कार्य कर सकते हैं और पौधों को पोषण उपलब्ध करा सकते हैं।

- भारत में कुल कृषि आधीन 1,630 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल में से 1,000 हैक्टेयर अर्थात् कुल का 61 प्रतिशत खुश्क खेती (Dry farming), के अधीन है परन्तु खुश्क खेती आधीन क्षेत्र का कुल उत्पादन में भाग 30 प्रतिशत से भी कम है
- हरित क्रान्ति जो 1960 के दशक के दौरान आरम्भ की गयी का उद्देश्य अर्द्ध-बौने उपजाऊ किस्म (Semi-dwarf high yielding varieties) के बीजों का प्रयोग करके सिंचाई और रासायनिक उर्वरकों के साथ कार्य कर कृषि-उत्पादन को बढ़ाना था। इसके अच्छे परिणाम प्राप्त हुए और पहले चरण में गेहूँ के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई और बाद में चावल के उत्पादन को बढ़ाने में भी अच्छा सफलता प्राप्त हुई।
- भारत के वैज्ञानिक चावल और गेहूँ के संकर-बीजों (Hybrid seeds) को विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं। ताकि उत्पादिता के वर्तमान अवरोधक को तोड़ा जा सके। यह उल्लेख करना जरूरी है कि ये दो फसलें मिलकर भारत में कुल खाद्यान्नों का तीन-चौथाई उपलब्ध कराती हैं।
- हरित क्रान्ति की भावी सम्भावनाएँ इसके अगले चरण में संकर बीज तकनालाजी में अन्तर्निहित हैं। किन्तु तकनालाजी के इस हद तक मानकीकरण में समय लगेगा और तभी यह बीज-उत्पादकों, किसान वर्ग और उपभोक्ता द्वारा स्वीकार की जाएगी। अभी तक तो भारत ने अर्द्ध-बौने अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों की क्षमता का भी पूर्ण लाभ नहीं उठाया। भारत को उपलब्ध अधिक बीजों से प्राप्य उत्पादिता और वास्तविक उत्पादिकता में अन्तर को कम करना चाहिए। यह आशा की जा सकती है कि जब तक भारत वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से पूर्ण संभाव्य लाभों का प्रयोग कर लेगा, तब तक कृषि वैज्ञानिक संकर-चावल और गेहूँ की नयी किस्मों का विकास कर लेंगे जिससे हरित क्रान्ति के अगले चरण में प्रवेश करना सम्भव हो सकेगा

12.3 शब्दकोश (Keywords)

- **पटसन–** एक प्रकार की फसल जिससे रस्सी बनाई जाती है
- **कपास–** एक प्रकार की फसल जिससे कपड़े बनते है
- **जूट–** इससे भी रस्सी बनती है

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. नई कृषि विकास रणनीति और 1960 के पश्चात् भारतीय कृषि के आधुनिकीकरण की विवेचना कीजिए।
2. नयी कृषि विकास रणनीति की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
3. नई विकास रणनीति के पक्ष में क्या तर्क दिये जाते हैं?
4. नई कृषि विकास रणनीति की कमजोरियों की व्याख्या कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-
   (*i*) कृषि के नए विकास क्षेत्र
   (*ii*) हरित क्रान्ति की भावी संभावनाएँ।

नोट

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. 1960-61 2. चक्रवृद्धि 3. बाजार-प्ररित 4. हरित क्रान्ति
   5. उग्र-विकास
2. 1. (क) 2. (ग) 3. (ख) 4. (ग)
   5. (क)

11.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–13: भारतीय कृषि में तत्कालीन मुद्दे (Recent Issues in Indian Agriculture)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 भारतीय कृषि में तत्कालीन मुद्दे (Recent Issues in Indian Agricultural)

13.2 सारांश (Summary)

13.3 शब्दकोश (Keywords)

13.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारतीय कृषि के तत्कालीन मुद्दों की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कृषि क्षेत्र कई मंचों पर चुनौतियों का समाना कर रहा है। आपूर्ति के सन्दर्भ में, अधिकांश फसलों की उपज में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं दिखाई दिया और कुछ मामलों में उपज घटी है। निवल बुवाई क्षेत्र में वृद्धि की गुजांइश सीमित है और खेतों का आकार सिकुड़ता जा रहा है। गन्ने जैसी कतिपय फसलों के मामले में, पिछले वर्षों में प्रति एकड़ और उत्पादन में भारी मात्रा में घट-बढ़ चिन्ता का विषय है। दूसरी और, दालों के मामले में, उत्पादन आवश्यकता के अनुरूप नहीं हुआ जिसके फलस्वरूप मूल्यों में बढ़ोतरी हुई। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इसकी उपलब्धता सीमित है।

इसीलिए उत्पादकता में सुधार करने के लिए स्पष्ट तौर पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है, इसके साथ ही सम्बद्ध गतिविधियों और गैर-कृषि गतिविधियों को बढ़ाने की आवश्यकता है जो मूल्य वर्धन में सुधार करने में सहायक हो सकती हैं। ग्रामीण आधारभूत संरचना विशेष रूप से ग्रामीण सड़कों के विकास पर मौजूदा फोकस को बनाए रखने की आवश्यकता है, चूँकि इससे अन्ततः कनेक्टविटी में सुधार होगा और जो कृषि उत्पादों की आवश्यकता हेतु आवश्यक है। सिंचाई क्षेत्र में निवेश तथा आधुनिक प्रबन्धन दोनों की संदर्भ में नए सिरे से ध्यान देने की जरूरत है। लघु सिंचाई-प्रणालियों और जल संभरण के विकास की पर्याप्त सम्भावना है और इसे प्राप्त करने हेतु सहयोगीपूर्ण दृष्टिकोण का उपयोग करने की जरूरत है।

उपर्युक्त विपणन समर्थन के जरिए उत्पादक मूल्यों तथा उपभोक्ता मूल्यों के बीच के अन्तर को कम करने की जरूरत है। आधुनिक प्रौद्योगिकी से संचालित विपणन आधारभूत संरचना और भण्डारण तथा भाण्डागार तथा कोल्ड चेन और हाजिर बाजार के विकास से इस आवश्यकता के समाधान में सहायता मिलेगी।

नोट

13.1 भारतीय कृषि में तत्कालीन मुद्दे (Recent Issus in Indian Agriculture)

आज भी देश के अधिसंख्यक लोग कृषि में काम करते हैं (60 प्रतिशत)। कृषि का आर्थिक महत्व है, लगभग 15 प्रतिशत योगदान ळक्च में। तीव्र आर्थिक समृद्धि के लिए, गरीबी उन्मूलन और लोगों के जीवन स्तर में सुध ार के लिए कृषि विकास में सुधार जरूरी होगा। लगभग 3/4 से अधिक गरीब लोग ग्रामीण इलाकों में, विशेषतौर भूमिहीन मजदूर, लघु और सीमांत किसान है।

कृषि क्षेत्र का विस्तार दर बहुत धीमा 2 प्रतिशत से कम रह रहा है ये कृषि की कमजोरी को दर्शाता है, इससे गरीबी की समस्या और गंभीर बनती है। नक्सलवाद के रूप में सामाजिक और राजनीतिक तनाव बढ़ते हैं। अब भारत की कोशिश है कि हम कृषि में 4 प्रतिशत वृद्धि हासिल की जाये। और कृषि के क्षेत्र में सतत् विकास की संकल्पनाओं को कार्यान्वयन हेतु कृषि संसाधनों का कुशल उपयोग हो-मृदा, जल आदि का संरक्षण हो।

11वीं योजना में कृषि पर मुख्य बल दिया गया है। 4.1 प्रतिशत वृद्धि दर का लक्ष्य। कृषि क्षेत्र में समस्या यह है कि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश कम है। निजी निवेश सार्वजनिक निवेश पर निर्भर है, यह आवश्यक है कि सार्वजनिक निवेश में वृद्धि हों ताकि सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, जल, मृदा प्रबंधन परिवहन सुविधाओं में सुधार हो, कृषि क्षेत्र में सब्सिडी का बढ़ता हुआ बोझ विशेष तौर पर उर्वरक सब्सिडी। राज्य स्तर पर विद्युत सब्सिडी का अधि क बोझ होने के कारण संसाधन उपलब्ध नहीं होते, इसी कारण से सार्वजनिक निवेश कम रहता है। इसलिए योजना आयोग का सुझाव है कि सब्सिडी को नियंत्रित करने की कोशिश और संसाधनों का उपयोग स्थायी एवं उत्पादक निवेश में होना चाहिए। सब्सिडी का लाभ सीमान्त एवं लघु किसानों को मिलें, कृषि क्षेत्र में तकनीकी सुधार पर व्यय, विशेष तौर पर जैव-प्रौद्योगिकी का उपयोग करने की कोशिश होनी चाहिए। बड़े पैमाने पर कृषि में साख भी गंभीर समस्या है–किसानों के लिए ऋण की उपलब्धता, यहां पर सरकार की जो नीति है-वह यह है कि प्राथमिकता वाले क्षेत्र को 40 प्रतिशत ऋण मिलना चाहिए। 18 प्रतिशत जिसमें कृषि के लिये दिया जाना चाहिए। लेकिन इसके बावजूद बहुत सारे किसानों को पर्याप्त साख उपलब्ध नहीं हो पाता है, जिसका कि उपयोग वे कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए कर सके–इसका कारण यह भी है कि ग्रामीण इलाकों में बैंकों के ऋणों का अनुभव बहुत सकारात्मक नहीं रहा है इसी कारण बैंक अक्सर प्रत्यक्ष ऋण की जगह, कृषि क्षेत्र के लिए उत्पादन समर्थन को ज्यादा महत्व देते हैं। किसानों को ऋण के लिए असंगठित क्षेत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। सरकार ने कृषि साख बढ़ाने के लिए व्यापक कदम उठाये हैं, लेकिन अभी तक सीमित है।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन (एनएफएसएम)

11वीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक चावल, गेहूं तथा दालों का उत्पादन क्रमशः 10 मिलियन टन, 8 मिलियन टन तथा 2 मिलियन टन बढ़ाने की दृष्टि से रबी 2007-08 में एनएफएसएम प्रारम्भ किया गया। मिशन का उद्देश्य क्षेत्र विस्तार तथा उत्पादकता के जरिए उत्पादन में वृद्धि करना, रोजगार अवसरों का सृजन और किसानों का विश्वास भी पुनर्बहाली-हेतु कृषि स्तरीय अर्थव्यवस्था को बढ़ाना था। 2010-11 से दाल उत्पादन कार्यक्रम को बढ़ाने के लिए एनएफएसएम के तहत दलहन फसलों के पर्याप्त संवर्धन के कार्यक्रलापों को अपनाया गया है। ये है:

1. तिलहन, दाल, ऑइलपाम और मक्का (आईएसओपीओएम) एकीकृत योजना के दाल संघटक को एनएफएसएम में मिला दिया गया है ताकि दाल कार्यक्रम का कवरेज क्षेत्र बढ़ सके। झारखंड और असम में चूंकि चावल की परती भूमि मे दाल संवर्धन की अत्यधिक संभावना है, अतः इन्हें इस कार्यक्रम में शामिल कर लिया है।
2. एनएफएसएम के तहत नए कार्यक्रम त्वरित दलहन उत्पादन कार्यक्रम (ए3पी) के माध्यम से तकनीकी के 1000 ब्लॉक प्रदर्शनों को 2010-11 से शुरू किया गया है। यह कार्यक्रम पांच मुख्य दलहन फसलों अर्थात् तुर, मूंग, उड़द, चना और मसूर के प्रत्येक 1000 हैक्टेयर के सघन खण्डों में पौध पोषक तत्वों और पौध संरक्षण केन्द्रित तकनीकियों का निश्चित रूप से संवर्धन करेगा।

नोट

वर्षा सिंचित क्षेत्र में 60,000 दलहन और तिलहन गांवों में शुष्क भूमि कृषि संवर्धन के लिए बजट 2012-13 में 100 करोड़ रुपए की राशि प्रदान की गई है। 'पूर्वोत्तर राज्यों में हरित क्रांति लाना', सात राज्यों–उत्तर प्रदेश, झारखण्ड, बिहार, पश्चिम बंगाल, असम, उड़ीसा और छत्तीसगढ़ में चल रहा है। इन राज्यों में कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए किए गए दलहन संवर्धन कार्य योजना और अन्य पहलों के अलावा, चावल विकास और दलहन और तिलहन ग्रामों का संचालन अन्य कार्यक्रम है।

राष्ट्रीय कृषि विकास योजना (आरकेवीवाई)

सार्वजनिक निवेश को बढ़ाने के लिए राज्यों को प्रोत्साहित करने के लिए ग्यारहवीं योजना के लिए 25,000 करोड़ रुपए के परिव्यय के साथ 2007-08 में आरकेवीवाई शुरू की गई ताकि योजना के दौरान कृषि और संबंद्ध क्षेत्रों में 4 प्रतिशत की वृद्धि दर प्राप्त की जा सके। 2010-11 में आरकेवीवाई के तहत शुरू की गई निम्नलिखित तीन नई पहलों के लिए विशिष्ट आबंटन करना होगा:

1. अनुशंसित कृषि प्रौद्योगिकियों और प्रक्रिया पैकेजों के माध्यम से गहन खेती के द्वारा क्षेत्र की फसल उत्पादकता की वृद्धि के लिए, असम, बिहार, छत्तीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश, और पश्चिम बंगाल राज्यों सहित देश के पूर्वोत्तर क्षेत्र तक हरित क्रांति का विस्तार करना।
2. चिन्हित वाटरशेड़ों में, जहां दलहन और तिलहन किसानों को किराए पर छषि मशीनरी और उपस्कर प्रदान किए जाते हैं, 60,000 दलहन और तिलहन ग्रामों का आयोजन कर शुष्क भूमि क्षेत्रों में दलहनों और तिलहनों के लिए विशेष पहल। ये पहल, तिलहन और दलहन उत्पादन संवर्धन के घटकों वाली भारत सरकार की अन्य योजनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित है।
3. राष्ट्रीय केसर मिशन कार्यान्वयन-2010-11 के दौरान जम्मू और कश्मीर केसर क्षेत्र का आर्थिक पुनरुत्थान।

क्या आप जानते हैं आरकेवीवाई ने केन्द्रीय सहायता का 50 प्रतिशत कृषि और संबद्ध क्षेत्रों पर राज्य आयोजना व्यय के प्रतिशत से जोड़ दिया है।

किसानों के लिए नई पहल

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कृषि क्षेत्र को बेहतर बनाने की सिफारिशों के लिए हरियाणा के मुख्यमंत्री भूपेंद्र सिंह हुड्डा की अध्यक्षता में कार्यदल बनाया था। कार्यदल ने 16 दिसंबर, 2010 अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंप दी।

इस रिपोर्ट में कार्यदल ने किसानों को दिए जाने वाले ऋण की ब्याज दर अधिकतम 4 प्रतिशत रखने की सिफारिश की है। इसके अलावा कार्यदल ने न्यूनतम समर्थन मूल्य को किसानों की लागत से 50 प्रतिशत अधिक रखने की सिफारिश की है। इस कार्यदल का गठन देश में कृषि उत्पादन बढ़ाने के साथ ही कृषि क्षेत्र की विकास रफ्तार बढ़ाने के लिए लंबी अवधि की नीतियों से संबंधित सिफारिशें देने के लिए किया था। बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार, पंजाब के मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल और पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य इसके सदस्य थे।

रिपोर्ट में व्यापक नीति का समर्थन करते हुए कार्यदल ने बीमा कवर के दायरे में सभी फसलों और मवेशियों को शमिल करने की सिफारिश की है। इसके साथ ही यह भी कहा है कि इसके लिए वित्तीय मदद केंद्र सरकार को मुहैया करानी चाहिए। किसानों को बिजली आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए रिपोर्ट में ऊर्जा क्षेत्र में होने वाले निवेश को बढ़ाने की सिफारिश भी की गई है। इसके साथ ही बेहतर उत्पादन करने वाली किस्में विकसित करने के लिए कृषि शोध में भी अधिक निवेश करने पर जोर दिया गया है।

ब्लॉक के बजाय गांव को ही राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना की इकाई बनाए जाए। कार्यदल की सिफारिश है कि आपदा राहत कोष में संशोधन कर बाढ़, सूखे और पाले जैसी प्राकृतिक आपदा के कारण फसल खराब होने पर 25,000 रुपए प्रति हेक्टेयर के हिसाब से मुआवजा दिया जाए। खेती में उपकरणों के इस्तेमाल का बढ़ावा देने के लिए कृषि उपकरणों

नोट

पर से आयात शुल्क हटाने की भी सिफारिश की गई है।

देश में फसलों के उत्पादन में आने वाला अंतर घटाने के लिए क्षेत्रवार नीतियां बनाने की सिफारिश की गई है। रिपोर्ट के अनुसार राष्ट्रीय औसत से कम उत्पादन वाले राज्यों को राष्ट्रीय औसत के करीब आना चाहिए और अधिक उत्पादन वाले राज्यों को अधिकतम कृषि उत्पादन स्तर पर पहुंचने की कोशिश करनी चाहिए। रिपोर्ट में कृषि विपणन, भूमि सुधार में सरकारी-निजी भागीदारी से फसलों को सीधे तौर पर उपभोक्ताओं तक पहुंचने की भी सिफारिश की गई हैं।

भारत में कृषि और किसान की स्थिति

हाल में किसानों में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ी है इसके पीछे क्या कारण है, इसके लिए सरकार क्या पहल कर रही है?

आत्महत्या का कारण

मौसम प्रतिकुल, अंतर्राष्ट्रीय दबाव/प्रभाव पर्यावरण, बाजार की प्रतिकूलता (अधिकतम उत्पादन में मूल्य में गिरावट)

1. हरित क्रांति अपनाये जाने वाले क्षेत्रों में ही किसान आत्महत्या कर रहे हैं न कि परम्परागत खेती करने वाले क्षेत्रों में कारण महंगे कृषि आगत (input) (मशीन, बीज) के उपयोग के कारण संस्थागत एवं गैर-संस्थागत स्रोतों से ऋण लेना पड़ता है। लेकिन पर्याप्त कृषि आधारभूत ढांचा न होने के कारण मौसम की प्रतिकूल परिस्थिति में उत्पादन प्रभावित होता है और किसाना ऋण की अदायगी में असफल होते हैं।
2. जिन वर्षो में मौसम अनुकूल होता है उत्पादन की अधिकता रहती हैं परन्तु उचित विपणन प्रणाली न होने के कारण किसानों को अपने उपज का उचित कीमत नहीं मिल पाता है तथा कई बार विदेशों से आयातित कृषि उत्पाद पर न्यूनतम टैरिफ प्रशुल्क के कारण भी किसानों को विपरित परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इन्हीं सब दबावों के कारण किसान आत्महत्या के लिए बाध्य होता है।

किसानों को आत्महत्या करने से रोकने के उपाय–

1. मौसम प्रतिकूल होन की स्थिति में उत्पादन प्रभावित होने पर सरकार को तत्काल संज्ञान में लेते हुए ब्याज एवं मूलधन की वसूली को स्थगित किया जाना चाहिए।
2. नए ब्याज को माफ किया जाए।
3. नकदी सहायता देकर जटिल स्थिति से उबारा जाना चाहिए। अर्थात्-नये ऋण दिये जाये।
4. मौसम की प्रतिकूलता के असर को कम करने हेतु स्थाई आधारभूत ढांचा विकसित किया जाए।
5. लघु सीमांत किसान तथा कृषि मजदूर एवं अन्य को संस्थागत श्रोत से ऋण बांटने हेतु सरल प्रक्रिया अपनाया जाए।
6. जनता के निकट सम्पर्क वाले संस्थाओं को ऋण बांटने में उपयोग किया जाए। जैसे–Post Office, किराने की दुकान को Agent बनाकर।
7. Micro finance सूक्ष्म ऋण का प्रसार भूमिहीन एवं मजदूरों के बीच किया जाए। इस दिशा में त्वरित कार्यवाही हेतु सरकार को निगरानी प्रणाली विकसित करनी चाहिए।

विभिन्न प्रकार की खेतियों के नाम	
हार्टी कल्चर (Horitculture)	बागवानी
फ्लोरीकल्चर (Floriculture)	फूल विज्ञान
ओलरीकल्चर (Olericulture)	सब्जी विज्ञान
पोमोलांजी (Pomology)	फल विज्ञान
विटीकल्चर (Viticulture)	अंगूर की खेती

नोट

वर्मीकल्चर (Vermiculture)	केंचुआ पालीन
पिसीकल्चर (Pisiculture)	मत्स्य पालन
सेरीकल्चर (Sericulture)	रेशम उद्योग
मोरीकल्चर (Moriculture)	रेशम कीट हेतु शहतूत उगाना
एपीकल्चर (Apiculture)	मोंन पालन (मधुमक्खी पालन)
एरोपोनिक (Aeroponic)	पौधों को हवा में उगाना

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थाल

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान की स्थापना मूल रूप से सन् 1905 में पूसा 'बिहार' में हुई थी। इसे एक अमेरिकी समाज सेवक श्री हेनरी क्रिप्स ने वित्तीय सहायता दी थी। आगे चलकर जब बिहार में भारी भूकम्प आया और पूसा 'बिहार' स्थित इसके भवन को भारी क्षति हुई तो उसे सन् 1936 में नई दिल्ली के वर्तमान परिसर में स्थानांतरित कर दिया। संस्थान का लोकप्रिय नाम 'पूसा संस्थान' इसके मूल स्थान पूसा से जाना जाता है।

नोट्स भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान देश में कृषि अनुसंधान, शिक्षा और प्रसार का एक अग्रणी राष्ट्रीय संस्थान है।

संस्थान को सौपें गये कार्य

1. सभी जटिल प्रक्रियाओं को समझने के उद्देश्य से आधारभूत एवं नीतिपरक अनुसंधान करना ताकि पर्यावरण के अनुरूप फसल में सुधार और कृषि उत्पादकता को टिकाऊ बनाया जा सके;
2. कृषि विज्ञान में स्नातकोत्तर शिक्षा के क्षेत्र में एक श्रेष्ठ शैक्षणिक संस्था के रूप में कार्य करना;
3. नई अवधारणाओं, परिकल्पनाओं और प्रौद्योगिकीयों का विकास दर कृषि अनुसंधान और प्रसार में राष्ट्रीय नेतृत्व करना।

कृषि में अभिनव पहल

सरकार ने कृषि उत्पादन में गिरती हुई प्रवृत्ति को रोकने और किसानों की सक्षम आजीविका और आय स्तर के स्थायी समाधान खोजने के लिए हाल के वर्षों में पहले ही अनेक महत्वपूर्ण पहल की है। कुछेक महत्वपूर्ण नई पहल हैं: (1) भारत निर्माण, (2) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी कार्यक्रम, (3) राष्ट्रीय बागवानी मिशन (4) किसानों के लिए संस्थागत ऋण का विस्तार, (5) राष्ट्रीय मधुमक्खी बोर्ड की स्थापना, (6) राष्ट्रीय वर्षा सिंचित क्षेत्र प्राधि करण की स्थापना, (7) राष्ट्रीय मात्स्की विकास बोर्ड की स्थापना, (8) पनधारा विकास और लघु सिंचाई कार्यक्रम, (9) कृषि विपणन में सुधार और विपणन ढांचे का विकास, (10) सहकारिता क्षेत्र का पुनरूद्धार, (11) लघु किसान कृषि-व्यवसाय संघ द्वारा उद्यम पूंजी भागीदारी के जरिए कृषि-व्यवसाय विकास, (12) कृषि विस्तार सेवाओं के लिए सुधार और समर्थन, (13) राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, (14) राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन, (15) कृषि क्षेत्र में राज्यों को और अधिक निवेश के लिए प्रेरित करने के लिए राष्ट्रीय कृषि विकास योजना, (16) एकीकृत खाद्य कानून, (17), भण्डारण विकास और नियमन के लिए विधायी रूपरेखा, (18) पौधे किस्मों और किसाना अधिकार संरक्षण (पी वी वी एफ आर) अधिनियम, 2001, 19) राष्ट्रीय बांस मिशन और (20) ग्रामीण सामान्य सेवा केन्द्रों (सी जी एस सी) के माध्यम से ज्ञान संयोजकता तथा सूचना प्रौद्योगिकी संबंधी पहल।

नोट

उर्वरक और सब्सिडी नीति

पिछले एक दशक से भी ज्यादा समय से सरकारी नियमों की जंजीरों में जकड़ा भारतीय फर्टिलाइजर उद्योग अब धीरे-धीरे इस बंधन से मक्त हो रहा है। पिछले दो सालों में इस इंडस्ट्री के प्रति सरकारी नीतियों में सकारात्मक बदलाव नजर आ रहा है। इस बदलाव से छोटी अवधि में इंडस्ट्री के मुनाफे में कुछ खास बदलाव तो मुमकिन नहीं है, लेकिन इससे कंपनियों को कुछ हद तक मदद जरूर मिलेगी। हाल ही में सरकार ने न्यूट्रिएंट बेस्ड सब्सिडी (एनबीएस) पॉलिसी और गैरयूरिया फर्टिलाइजरों की कीमतों को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने की घोषणा की थी। इसके अलावा यूरिया की कीमतों में 10 प्रतिशत इजाफा करने का फैसला 1 अप्रैल 2010 से लागू हो गया। अब गैर यूरिया उर्वरकों के लिए सब्सिडी की सीमा तय होगी जबकि इसकी खुदरा कीमतों मे अंतर्राष्ट्रीय भाव के साथ उतार-चढ़ाव होगा।

उर्वरक की कीमतों पर प्रतियोगिता शुरू होने के बाद कंपनियां बेहतर सोर्सिंग, वितरण और कामकाजी क्षमताओं का सही इस्तेमाल कर अपनी लागत घटाकर प्रॉफिट मार्जिन बढ़ा सकती हैं। नई नीति के तहत नए प्रोडक्ट और बेहतर तकनीकों या ज्यादा क्षमताओं में निवेश करने पर वित्तीय सहूलियतें दी जाएंगी। यूरिया निर्माताओं के लिए खुदरा कीमतों में 10 प्रतिशत बढ़ोत्तरी का मतलब है सब्सिडी पर निर्भरता कम होना जो वित्त वर्ष 2009 के दौरान बढ़कर आमदनी का 65-75 प्रतिशत तक हो गई थी दिसंबर 2009 के दौरान घरेलू उर्वरक कंपनियों ने शानदार प्रदर्शन किया था। इस अवधि में 24 उर्वरक कंपनियों का कुल लाभ सालभर पहले की तुलना में बढ़कर 88.5 प्रतिशत हो गया है। हालांकि, इस दौरान 28.5 प्रतिशत की कमी आई।

पहले यह उद्योग निवेशकों का पसंदीदा सेक्टर था।, किन्तु अब इसकी रफ्तार धीमी पड़ गई है। दुनिया में जनसंख्या लगातार बढ़ रही है और उम्मीद है कि 2050 तक विश्व की आबादी बढ़कर 9 अरब हो जाएगी। आर्थिक वृद्धि के कारण लोगों की खाने-पीने की आदतें भी बदल रही हैं। अब लोग मीट और चावल जैसे ज्यादा हाई-प्रोटीन फूड को तरजीह दे रहे हैं। जमीन की उत्पादकता बढ़ाने में उर्वरक की बेहद अहम भूमिका है।

पिछले कुछ वर्षों में घरेलू उर्वरक उद्योग में निवेश कम हुआ है, लेकिन विदेशी कंपनियों अधिग्रहण की राह पर तेजी से बढ़ रही हैं। यूरिया उत्पादन करने वाली दुनिया की सबसे बड़ी कंपनी नॉर्वे की यारा ने हाल ही में 4.1 अरब डॉलर में अमेरिकी कंपनी टेरा को अपने कब्जे में किया है। इसी तरह ब्राजीलियाई खनन कंपनी वेल कॉरपोरेशन ने दो अमेरिकी कंपनियों के स्थानीय फर्टिलाइजर कारोबार को 4.8 अरब डॉलर में खरीदा था। दुनिया की सबसे बड़ी खनन कंपनी बीएचपी बिलिटॉन ने कनाडाई फर्टिलाइजर कंपनी अथाबास्का पोटाश को जनवरी 2010 में 32 करोड़ डॉलर में हासिल किया। कनाडा की एग्रियम लगातार प्रतिद्वंद्वी कंपनी सीएफ इंडस्ट्रीज के शेयरधारकों को अपनी तरफ आकर्षित करने की कोशिश कर रही है। इसमें अमेरिका की मोजैक और ब्राजील की कोपेब्रास के बीच हुआ सौदा भी शामिल है। आने वाले समय में दुनियाभर की फर्टिलाइजर इंडस्ट्री के लिए काफी अच्छा साबित होने वाला है। भारत में भी फर्टिलाइजर इंडस्ट्री पर से सरकारी नियमों का शिकंजा ढीला पड़ता जा रहा है। इस इंडस्ट्री में हुए हालिया बदलाव की रफ्तार अभी धीमी है, लेकिन इससे सकारात्मक रूझान साफ नजर आने लगा है। जुलाई 2008 में सरकार ने आयात आधारित प्राइसिंग की जगह कॉस्टप्लस प्राइसिंग की नीति अपनाई थी। आयात आधारित में आयात किए जाने वाले उत्पाद के सामान घरेलू उत्पादों की कीमत तय की जाती है जबकि कॉस्ट प्लस में उत्पादक अपनी लागत के अनुसार कीमत तय करता है। अप्रैल 2009 से इंडस्ट्री को प्राकृतिक गैस की उपलब्धता बढ़ने से भी काफी फायदा हुआ है। अब न्यट्रिएंट आधारित प्राइसिंग भी शुरू हो गई है। इससे इंडस्ट्री के मुनाफे पर बहुत ज्यादा असर तो नहीं पड़ेगा, लेकिन बेहतर तकनीक में निवेश करने से उन्हें वित्तीय सहूलियतें दी जाएंगी। फर्टिलाइजर की कीमतों से सरकारी नियंत्रण हटने से भी आने वाले दिनों में इंडस्ट्री को लागत घटाने और बिजनेस बढ़ाने से लाभ होगा।

ऋण और बीमा

ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली की कार्यकुशलता और पहुंच (आउटरीच) में सुधार की आवश्यकता है। इसके लिये किसानों

नोट

को उचित ब्याज दर पर वित्तीय सेवाएं सहीं समय पर, पर्याप्त मात्रा में और सरलता से पहुंचनी चाहिए। बैकिंग प्रणाली के अंतर्गत कृषि के स्तर को ऊंचा उठाने, ग्रामीण और कृषि-व्यवसाय उद्यमों और रोजगार के विकास को बढ़ावा देने के लिए अपेक्षित बड़ी ऋण क्षमता का पता लगाने और वित्तीय व्यवस्था करने के लिए कदम उठाने की आवश्यकता है। कृषि अत्यधिक जोखिम वाला एक आर्थिक कार्यकलाप हैं अत: किसानों को उपभोक्ता-अनुकूल बीमा साधनों की जरूरत है जिनके अंतर्गत उत्पादन, अर्थात् बुवाई से लेकर फसलोत्तर कामकाज को शामिल किया जाए। बीमें में किसानों को वित्तीय संकट से बचाने के लिए सभी फसलों के संबंध में मंडी जोखिम शामिल किया जाए और इस प्रकार कृषि को वित्तीय रूप से व्यवहार्य बनाया गया। राष्ट्रीय कृषि बीमा स्कीम को किसानों के लिए और अधिक अनुकुल बनाने हेतु इसमें सुधार लाने के प्रयास किए जायेंगे।

नोट्स गांवों में ऋण और बीमा दोनों प्रकार की जानकारी में ज्ञान चौपाल (गांव ज्ञान केन्द्र) सहायक हो सकते हैं।

कृषि मूल्य, विपणन और व्यापार

कृषि उत्पादकता और लाभप्रद बढ़ाने में आश्वस्त और लाभप्रद विपणन अवसर प्रदान करना सतत प्रगति का मुख्य पहलू है।

1. न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम एस पी) पद्धति को देशभर में अधिक प्रभावी ढंग से कार्यान्वित किया जाएगा।
2. बाजार हस्तक्षेप स्कीम (एम आई एस) को आकस्मिकताओं की स्थिति में, विशेष रूप से वर्षापोषित क्षेत्रों में संवेदनशील फसलों के मामलें में शीघ्रता में अमल में लाने के लिए सुदृढ किया जाएगा।
3. सामुदायिक खाद्यन्न बैंकों की स्थापना को बढ़ावा दिया जायेगा, जिससे अल्प प्रयुक्त फसलों के विपणन में मदद मिलेगी और इस प्रकार कृषि जैव विविधता के संरक्षण में आर्थिक विकास को बल मिलेगा।
4. सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी डी एस) के नेटवर्क के जरिए पोषक मिलेट्स जैसे कि बाजारा, ज्वार व रागी व अन्य फसलों को भंडारण करने व बेचने के जरिए खाद्य सुरक्षा समूह (बास्केट) का विस्तार किया जायेगा। देश में कटाई पश्चात अवसंरचना पूरी तरह से अपर्याप्त है जिसकी वजह से अत्याधिक अक्षमता और अपशिष्ट उत्पन्न होता है। फसल के प्रकृति और जलवायु की दशाओं पर निर्भर करते हुए अनुचित रख रखाव तथा परिवहन हानियों के कारण भण्डारण, ग्रेडिंग, पैकिंग तथा विपणन की विभिन्न स्थितियों में फसलोंपरान्त हानियों का प्रतिशत अत्यधिक परिवर्तनशील है। कृषि उत्कृष्टता केन्द्र (फसल और पशुपालन, मात्स्यिकी और वानिकी स्थापित किए जायेंगे।)

कृषि बीमा

चार कृषि बीमा योजनाएं नामत: राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना (NAIS), प्रायोगिक संशोधित NAIS (MNAIS)] प्रायोगिक जोखिम आधारित फसल बीमा योजना (WBCIS), और प्रायोगिक नारियल ताड़ बीमा योजना (CPIS) का देश में कार्यान्वयन किया जा रहा है।

1. संशाधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना

संयुक्त दल की सिफारिशों और संशोधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना पर किसानों द्वारा आये सुझावों को भारत सरकार ने मंजूरी दे दी है। इन्हें 2010-11 के रबी फसल मौसम से 11वीं पंचवर्षीय योजना के शेष बचे दो वर्षों के दौरान 50 जिलों में प्रयोग के तौर पर लागू किया जायेगा। इस संशोधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

(*i*) सभी किसानों के लिए 40% से 75 तक की प्रिमियम सब्सिडी के साथ बीमा प्रीमियम की राशि देना।

नोट

(*ii*) केवल अपफ्रंट प्रीमियम राशि केंद्र और राज्य सरकारें आधी-आधी देंगी और सभी बीमा दावों को बीमा कंपनियों द्वारा भुगतान किया जायेगा।

(*iii*) बीमा का युनिट एरिया प्रमुख फसलों के लिए घटाकर गांव/गांव पंचायत कर दिया गया है।

(*iv*) तूफान या बंवडर के कारण फसल के बुआई/रोपण और कटाई के बाद होने वाले नुकसान की क्षतिपूर्ति

(*v*) संभावित बीमा दावों को 25% अग्रिम राशि का तुरंत भुगतान।

(*vi*) न्यूनतम् क्षतिपूर्ति को 60% से बढ़ाकर 70% कर दिया गया है।

(*vii*) इस योजना का लाभ कर्जदार या गैर कर्जदार सभी किसानों को मिलेगा।

(*vii*) योजना के अंतर्गत कर्जदार किसानों को अधिसूचित फसलों के लिए अधिकार सूचित क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से शामिल किया जायेगा जबकि गैर कर्जदार किसान अपनी इच्छानुसार योजना में शामिल हो सकते हैं।

(*ix*) कर्जदार और गैर कर्जदार दोनों तरह के किसानों के लिए सामाजिक अनुशासन एक समान रहेगा।

(*x*) कृषि बीमा के क्षेत्र में स्पर्द्धा जगाने के लिए निजी बीमा कंपनियों को भागीदारी।

2. प्रायोगिक संशोधित एनएआईएस (MNAIS)

मौजूदा योजना की सीमाओं/दोषों को देखते हुए सरकार ने 2010-11 के रबी मौसम से 50 जिलों में संशोधित एनएआईएस को प्रायोगिक आधार पर कार्यान्वयन हेतु अनुमोदित किया है। एमएनआईएस में किए गए मुख्य सुधार निम्नलिखित हैं: प्रीमियम में विभिन्न दरों पर सब्सिडी के रनव नीमांकिक प्रीमियम अर्थात किसानों को प्रदत्त स्लैब के आधार पर 40 प्रतिशत से 75 प्रतिशत बीमाकर्ता को सभी दावों की देयता, प्रमुख फसलों के लिए बीमा के यूनिट क्षेत्र को कम कर ग्राम पंचायत स्तर पर कर दिया गया, रुकावट/बुआई/रोपण जोखिम और तूफान के कारण फसल कटाई पश्च हानियों के लिए क्षतिपूर्ति, तत्काल राहत के रूप में संभावित दावों के 25 प्रतिशत अग्रिम तक का भुगतान प्रारंभिक आय के हिसाब के लिए अधिक सही आधार 60 प्रतिशत के बजाय 70 प्रतिश को न्यूनतम क्षतिपूर्ति स्तर और अनुमत पर्याप्त अवसंरचना के निजी क्षेत्र के बीमाकर्ता (वर्तमान में आईसीआईआई लोम्बार्ड, इफको टोकियों और चोलामंडलम (एमएस)। केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा केवल वैध प्रीमियम सब्सिडी का बंटवारा 50;50 आधार पर किया जाता है और दावे बीमा कम्पनियों की देयता होते हैं। रबी 2010-11 के दौरान सात राज्यों को इस योजना के कार्यान्वयन हेतु पहले ही क्षेत्र अधिसूचित कर दिए हैं। ऐसी प्रत्याशा है कि 14-15 राज्यों द्वारा यह योजना अधिसूचित कर दी जाएगी।

3. मौसम आधारित फसल बीमा योजना (WBCIS)

केन्द्रीय बजट 2007 में यथा घोषित मौसम आधारित फसल बीमा योजना (डब्ल्यूबीसीआईएस) आरम्भ कर पायलट आधार पर चुनिंदा क्षेत्रों में फसल बीमा के तहत अधिक किसानों को कवर करने के प्रयास किए गए हैं। डब्ल्यूबीसीआईएस का उद्देश्य प्रतिकूल मौसम संबंधी घटनाओं, जिसमें फसल उत्पादन कर प्रतिकूल प्रभाव है, से किसानों को बीमा सुरक्षा प्रदान करना है। डब्ल्यूबीसीआईएस प्रीमियम के बीमांकिक दरों पर आधारित है। परन्तु योजना के आकर्षक बनाने के लिए किसानों से वास्तविक रूप में लिए जाने वाले प्रीमियम को एनएआईएस के सममूल्य पर सीमित कर दिया गया है। भारतीय कृषि बीमा कम्पनी लि. (एआईसी) के अतिरिक्त निजी बीमाकर्ताओं को भी चुनिंदा क्षेत्रों में योजना के कार्यान्वय हेतु शामिल किया गया है।

अनुबंध कृषि

कॉन्ट्रैक्ट खेती वैसे तो भारत के लिए नई नहीं है। सबसे पहले 1920 के दशक में आईटीसी ने तंबाकू की खेती से इसकी शुरूआत की थी। कंपनी ने आंध्र प्रदेश के गुटूर और प्रकाशन जिला में में फ्लयु क्योर्ड वर्जिनिया तंबाकू (सिगरेट का तंबाकू) उपजाने के लिए किसानों को तकनीक देकर कॉन्ट्रैक्ट खेती कराई थी। उसके पहले भारत में बीड़ी और हुक्के में आम आने वाला तंबाकू ही पैदा होता था। इसी कहानी को उसके कुछ समय बाद चीनी मिलों ने गन्ना उत्पादन में अपनाया लेकिन उस समय इसे कॉन्ट्रैक्ट खेती जैसा आधुनिक नाम नहीं दिया गया। हाल

नोट

के दिनों में कॉन्ट्रैक्ट खेती की शुरूआत पंजाब से हुई है। वहां पंजाब एग्रो फंड्स कॉरपोरेशन किसान और कम्पनियों के बीच की कड़ी का काम, कर रहा है। कॉन्ट्रैक्ट खेती में कंपनियों को किसानों से सीधे खरीददारी की सुविधा दी जाती है। इसके लिए कृषि उत्पाद विपणन समिति (एपीएमसी) नोडल एजेंसी है। अधिनियम में संशोधन की जरूरत है। देश के 9 राज्य ऐसा कर चुके हैं जबकि कुछ कानून में संशोधन करने वाले हैं। पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों में यह कानून ही नहीं है। पहले साल 22,000 एकड़ और 9100 किसानों से शुरू हुई काट्रैक्ट खेती का क्षेत्रफल पिछले सीजन में 4.5 लाख एकड़ को पार कर गया था।

टास्क मेगा फूड पार्क स्कीम क्या है?

अनुबन्ध कृषि क्या है?

1. कृषकों से अनुबंधकों के फसलों को उपजाने के लिए इसमें अनुबन्ध किया जाता है।
2. यह पूर्व निर्धारित कीमतों पर होता है।
3. इसके अन्तर्गत सभी आवश्यक आगत एवं सहायता कृषकों को अनुबंधकों द्वारा समय-समय पर उपलब्धता करायी जाती है।

अनुबंध कृषि क्यों?

1. केन्द्रीय एवं राज्य स्तर खरीद व्यवस्था/प्राप्त व्यवस्था पर से बोझ कम करने के लिए।
2. कृषि क्षेत्र में निजी क्षेत्र के निवेश को या भागीदारी को बढ़ाने के लिए।
3. एक ऐसी बाजार की स्थापना जिसके तहत भारतीय किसान उत्पादन के क्रम मे उचित फसलों का चुनाव कर सकें।
4. किसानों के व्यक्तिगत आय में एक स्थिरतापूर्ण वृद्धि के लिए।
5. प्रसंस्करण एवं मूल्यांकन को बढ़ावा देने के लिए।
6. ग्रामीण समुदाय के अन्तर्गत रोजगार के अवसर के सृजन के लिए खासकर भूमिहीन किसानों के लिए उचित रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए।
7. ग्रामीण क्षेत्रों से शहर की और प्रवास रोकने के लिए।
8. ग्रामीण क्षेत्र की आत्मनिर्भरता में स्थानीय संसाधनों के उपयोग द्वारा वृद्धि करने के लिए।

अनुबंध कृषि के लाभ

कृषकों के लिए

1. विश्व स्तरीय कृषि तकनीकी से संबंध।
2. कृषकों के उपज का उचित मूल्यांकन एवं बिक्री के लिए बाजार की उपलब्धता।
3. ऐसी फसलों को उपजाने के लिए कोई बाध्यता नहीं जो ताजी होने पर ही विक्रय होती है।
4. फसलों के समय-समय पर निरीक्षण, तकनीकी सलाह कृषकों को उनके घरों में उपलब्ध होना।
5. अन्नत: पारितोषक आय वापसी के रूप में अर्थात् कृषकों को उनकी मेहनत का उचित फल प्राप्त होना।
6. विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य संबंधी सहायता, कृषीय विधियों की जानकारी, तकनीकी समाचारों एवं नवाचारों की जानकारी कृषकों को प्राप्त होना इत्यादि।

नोट

अनुबंध करने वाली कंपनी के लिए

1. बिना किसी रूकावट के लगातार आधारभूत सामग्री का प्रवाह।
2. बाजार मूल्यों के उतार चढ़ाव से सुरक्षा।
3. दीर्घकालीन योजना को सफलता।
4. इस संकल्पना को कंपनी अन्य दूसरों फसलों पर की विस्तारित कर सकता है।
5. दीर्घकालीन संबंधों का निर्माण।
6. समर्पित आपूर्त्तिकर्त्ताओं का समूह।
7. संगठन के लिए अच्छे संबंधों का निर्माण आदि।

अनुबंध कृषि को बढ़ावा देने के कुछ सुझाव

1. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद एवं अन्य कृषि विश्वविद्यालयों द्वारा क्षेत्रीय विशेषता संबंधी फसलों के विषय में आम लोगों को जानकारी प्रदान करना।
2. आयातित उच्च गुणवत्ता वाले बीजों की पहुँच कृषकों तक बनाना जो अनुबंधित है। जिससे बाजार आधारित एवं मूल्य वृद्धि आधारित विकास को बढ़ावा दिया जा सके।
3. कृषि क्षेत्र के अनुसंधानकर्त्ताओं को अनुबंधित कृषि कार्यक्रम में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करना।
4. अनुसंधान व्यवस्था में कृषकों एवं निजीक्षेत्र दोनों को सम्मिलित करना।
5. खरीद में किसी तीसरे पार्टी का हस्तक्षेप अनुबंधित कृषि में एक अपराध माना जाना।
6. अनुबंध प्रर्वत्तन के लिए एक अर्द्ध-न्यायिक व्यवस्था की आवश्यकता।
7. राज्य स्तर पर एकल नियमन की व्यवस्था अनुबंध कृषि के लिए।
8. अनुबंधित कृषि संगठनों को वास्तविक फसल बीमा नीतियों के निर्माण के लिए अनुमति/स्वीकृति प्रदान करना।
9. किसी भी प्रकार के शुल्क एवं करों का अधिरोपण अनुबंध कृषि के लिए आयातित कृषकों यंत्रों पर न करना।
10. सभी प्रकार के अधिभार, कर, शुल्क, फीस इत्यादि का समापन अनुबंध कृषि कार्यक्रम के ऊपर से।

नोट–17 राज्यों ने एपीएमसी अधिनियम में कांट्रेक्ट फार्मिंग का प्रावधान किया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct Option)–

1. किस योजना में कृषि पर मुख्य बल दिया गया है–

   (क) चौथी योजना में (ख) छठीं योजना में

   (ग) 11वीं योजना में (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन का उद्देश्य था–

   (क) उत्पादन में वृद्धि करना (ख) रोजगार के अवसरों का सृजन

   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. बिहार के मुख्यमंत्री कौन हैं–

   (क) नीतिश कुमार (ख) प्रकाश सिंह बादल

   (ग) बुद्धदेव भट्टाचार्य (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना की इकाई किसे बनाया जाए–

   (क) प्लाक को (ख) गांव को

नोट

(ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान की स्थापना किस सन् में हुई थीं–

(क) 1905 में (ख) 1908 में (ग) 1911 में (घ) इनमें से कोई नहीं।

6. इंडस्ट्र को कब से प्राकृतिक गैस की उपलब्धता का फायदा हुआ–

(क) फरवरी 2009 से (ख) मार्च 2009 से (ग) अप्रैल 2009 से (घ) इनमें से कोई नहीं।

7. अनुबंध कृषि की शुरूआत किस दशक में हुई–

(क) 1920 में (ख) 1921 में (ग) 1922 में (घ) इनमें से कोई नहीं।

13.2 सारांश (Summary)

- आज भी देश के अधिसंख्यक लोग कृषि में काम करते हैं (60 प्रतिशत)। कृषि का आर्थिक महत्व है, लगभग 15 प्रतिशत योगदान GDP में। तीव्र आर्थिक समृद्धि के लिए, गरीबी उन्मूलन और लोगों के जीवन स्तर में सुधार के लिए कृषि विकास में सुधार जरूरी होगा। लगभग 3/4 से अधिक गरीब लोग ग्रामीण इलाकों में, विशेषतौर भूमिहीन मजदूर, लघु और सीमांत किसान है।
- **11वीं योजना** में कृषि पर मुख्य बल दिया गया है। 4.1 प्रतिशत वृद्धि दर का लक्ष्य। कृषि क्षेत्र में समस्या यह है कि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश कम है। निजी निवेश सार्वजनिक निवेश पर निर्भर है, यह आवश्यक है कि सार्वजनिक निवेश में वृद्धि हों ताकि सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, जल, मृदा प्रबंधन परिवहन सुविधाओं में सुधार हो, कृषि क्षेत्र में सब्सिडी का बढ़ता हुआ बोझ विशेष तौर पर उर्वरक सब्सिडी।
- 11वीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक चावल, गेहूं तथा दालों का उत्पादन क्रमशः 10 मिलियन टन, 8 मिलियन टन तथा 2 मिलियन टन बढ़ाने की दृष्टि से रबी 2007–08 में एनएफएसएम प्रारम्भ किया गया। मिशन का उद्देश्य क्षेत्र विस्तार तथा उत्पादकता के जरिए उत्पादन में वृद्धि करना, रोजगार अवसरों का सृजन और किसानों का विश्वास भी पुनर्बहाली–हेतु कृषि स्तरीय अर्थव्यवस्था को बढ़ाना था।
- प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कृषि क्षेत्र को बेहतर बनाने की सिफारिशों के लिए हरियाणा के मुख्यमंत्री भूपेंद्र सिंह हुड्डा की अध्यक्षता में कार्यदल बनाया था। कार्यदल ने 16 दिसंबर, 2010 अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंप दी।
- हरित क्रांति अपनाये जाने वाले क्षेत्रों में ही किसान आत्महत्या कर रहे हैं न कि परम्परागत खेती करने वाले क्षेत्रों में कारण महंगे कृषि आगत (input) (मशीन, बीज) के उपयोग के कारण संस्थागत एवं गैर–संस्थागत स्रोतों से ऋण लेना पड़ता है। लेकिन पर्याप्त कृषि आधारभूत ढांचा न होने के कारण मौसम की प्रतिकूल परिस्थिति में उत्पादन प्रभावित होता है और किसाना ऋण की अदायगी में असफल होते हैं।
- भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान की स्थापना मूल रूप से सन् 1905 में पूसा 'बिहार' में हुई थी। इसे एक अमेरिकी समाज सेवक श्री हेनरी क्रिप्स ने वित्तीय सहायता दी थी। आगे चलकर जब बिहार में भारी भूकम्प आया और पूसा 'बिहार' स्थित इसके भवन को भारी क्षति हुई तो उसे सन् 1936 में नई दिल्ली के वर्तमान परिसर में स्थानांतरित कर दिया। संस्थान का लोकप्रिय नाम 'पूसा संस्थान' इसके मूल स्थान पूसा से जाना जाता है।
- पिछले एक दशक से भी ज्यादा समय से सरकारी नियमों की जंजीरों में जकड़ा भारतीय फर्टिलाइजर उद्योग अब धीरे–धीरे इस बंधन से मक्त हो रहा है। पिछले दो सालों में इस इंडस्ट्री के प्रति सरकारी नीतियों में सकारात्मक बदलाव नजर आ रहा है।
- ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली की कार्यकुशलता और पहुंच (आउटरीच) में सुधार की आवश्यकता है। इसके लिये किसानों को उचित ब्याज दर पर वित्तीय सेवाएं सहीं समय पर, पर्याप्त मात्रा में और सरलता से पहुंचनी चाहिए। बैकिंग प्रणाली के अंतर्गत कृषि के स्तर को ऊंचा उठाने, ग्रामीण और कृषि–व्यवसाय उद्यमों और रोजगार के

नोट

विकास को बढ़ावा देने के लिए अपेक्षित बड़ी ऋण क्षमता का पता लगाने और वित्तीय व्यवस्था करने के लिए कदम उठाने की आवश्यकता है।

- कृषि उत्पादकता और लाभप्रद बढ़ाने में आश्वस्त और लाभप्रद विपणन अवसर प्रदान करना सतत प्रगति का मुख्य पहलू है।
- चार कृषि बीमा योजनाएं नामत: राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना (NAIS), प्रायोगिक संशोधित NAIS (MNAIS)] प्रायोगिक जोखिम आधारित फसल बीमा योजना (WBCIS), और प्रायोगिक नारियल ताड़ बीमा योजना (CPIS) का देश में कार्यान्वयन किया जा रहा है।
- कॉन्ट्रैक्ट खेती वैसे तो भारत के लिए नई नहीं है। सबसे पहले 1920 के दशक में आईटीसी ने तंबाकू की खेती से इसकी शुरूआत की थी। कंपनी ने आंध्र प्रदेश के गुटूर और प्रकाशन जिलामें में फ्लयु क्योर्ड वर्जिनिया तंबाकू (सिगरेट का तंबाकू) उपजाने के लिए किसानों को तकनीक देकर कॉन्ट्रैक्ट खेती कराई थी। उसके पहले भारत में बीड़ी और हुक्के में आम आने वाला तंबाकू ही पैदा होता था।

13.3 शब्दकोश (Keywords)

- **पुनर्बहाली**–फिर से नियुक्ति करना।
- **फर्टिलाइजर**–उर्वरक
- **कॉन्टैक्ट**–अनुबंध

13.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय कृषि के तत्कालीन मुद्दे की विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. भारत में कृषि एवं किसानों की स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. अनुबंध कृषि पर एक निबंध लिखिए।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
   (*i*) राष्ट्रीय कृषि विकास योजना
   (*ii*) उर्वरक और सब्सिडी नीति
   (*iii*) ऋण और बीमा
   (*iv*) कृषि बीमा

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1 (ग)	2 (ग)	3 (क)	4 (ख)
5 (क)	6 (घ)	7 (क)	

13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–14: कृषि वित्त एवं विपणन (Rural Credit and Marketing)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 कृषि वित्त (Rural Credit)

14.2 कृषि विपणन से आशय (Meaning of Agriculture Marketing)

14.3 सारांश (Summary)

14.4 शब्दकोश (Keywords)

14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

14.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- कृषि वित्त एवं विपणन की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कृषि की वह साख जिसकी उसे कृषि कार्यों को पूर्ण करने में आवश्यकता होती है कृषि वित्त या साख के अंतर्गत आती है। जबकि कृषि विपणन वह क्रिया है जिसमें माल की प्राप्ति, उसका एकत्रीकरण, विपणन, प्रक्रियाकरण, परिबंधन, परिवहन श्रेणीकरण और माल का वितरण शामिल है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले किसानों के खाद्यानों के विपणन की कोई व्यवस्था नहीं थी बीच के मध्यस्थ किसानों के माल की माप तौल मूल्य एवं अन्य प्रचलित प्रथाओं से उनका शोषण करते थे। इन परिस्थितियों में आजादी के बाद सरकार का इस क्षेत्र में सुधार करना आवश्यक था। इस समय सुधार के कई उपाय सरकार द्वारा किये जा रहे हैं।

14.1 कृषि वित्त (Rural Credit)

भारतीय किसानों की वित्त संबंधी आवश्यकताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

1. **अल्पकालीन ऋण** (Short-term Loan)–ये वे ऋण हैं जो खाद व बीज खरीदने के लिए, फसल बोने से काटने तक काम चलाने के लिए और पशुओं व पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, लिये जाते हैं। इनकी अवधि 15 महीने तक की होती है।

   इस प्रकार के ऋण प्राय: महाजन तथा सहकारी समितियाँ उपलब्ध कराती हैं।

2. **मध्यकालीन ऋण** (Medium-term Loan)–इसकी आवश्यकता औजार व बैल खरीदने, कृषि प्रणाली में सुधार करने व जमीन में सुधार करने के लिए पड़ती है। इसकी अवधि 15 महीने से 5 वर्ष तक की होती है।

नोट

यह ऋण प्राय: महाजनों, सहकारी समितियों तथा व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये जाते हैं।

3. **दीर्धकालीन ऋण** (Long-term Loan)–इसकी आवश्यकता किसानों को अपने पुराने ऋणों को चुकाने के लिए नयी भूमि खरीदने के लिए या भूमि पर कोई सुधार करने के लिए पड़ती है। इस प्रकार के ऋण प्राय: भूमि विकास बैंक से प्राप्त किये जाते हैं। इन ऋणों की अदायगी अवधि 5 वर्ष से अधिक होती है।

   भारत में कृषि क्षेत्र को प्रदत्त ऋणों में अल्पकालीन, मध्यम तथा दीर्धकालीन ऋणों का प्रतिशत निम्न सारणी के अंकों के अनुसार रहा है:

सारणी 1–भारत में कृषि क्षेत्र को प्रदत्त ऋण

वर्ष	*अल्पकालीन ऋण*	*मध्यम एवं दीर्धकालीन ऋण*	*कुल प्रतिशत*
1993	68.4	31.6	100
1997–98	64.2	35.8	100
1998–99	62.0	38.0	100

इस प्रकार स्पष्ट है कि हाल के वर्षों में कृषि क्षेत्र के कुल ऋणों में अल्पकालीन ऋणों का प्रतिशत घटा है तथा मध्यम एवं दीर्धकालीन ऋणों का प्रतिशत बढ़ा है।

ग्रामीण या कृषि वित्त के स्त्रोत (Sources of Rural Credit)

1. **महाजन एवं साहूकार** (Money Lenders)–पेशेवर साहूकार एवं कृषि साहूकार जो उधार पर पैसा देने को अपना द्वितीय व्यवसाय समझते थे पुराने समय में ग्रामीण साख के महत्त्वपूर्ण स्रोत थे। वह ग्रामीण क्षेत्रों में चर्चित थे, क्योंकि उनके उधार देने की प्रक्रिया सरल थी एवं वह अनुत्पादक उद्देश्य के लिए भी उधार देते थे। ये साहूकार (Money Lenders) बहुत अधिक ब्याज दर लेते थे एवं अशिक्षित एवं मासूम लोगों को धोखा भी देते थे।

   साहूकार के अलावा संबंधी, स्वामी एवं कमशीन एजेंट भी भारत में कृषि वित्त के गैर-संस्थागत स्रोत थे। RBI द्वारा 1951-52 में किए गए संपूर्ण भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अनुसार किसान 70% ऋण साहूकार से, 14% ऋण संबंधियों से, 30% सहकारी समितियों से, 3% सरकार से, 6% व्यापारियों से एवं बाकी अन्य लोगों से प्राप्त करते हैं।

2. **सरकार** (Government)–सरकार भी किसानों को आकस्मिक परिस्थितियों में ऋण प्रदान करती है। जैसे-बाढ़, सूखा या अन्य प्राकृतिक प्रकोप। यह ऋण TACCAVI ऋण जाने जाते हैं एवं लघु एवं मध्यम अवधि के लिए दिए जाते हैं। लेकिन प्रशासन में दफ्तरशाही की वजह से यह ऋण अधिक चर्चित नहीं है।

3. **वाणिज्यिक बैंक** (Commercial Banks)–जुलाई, 1969 में 14 बड़े वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीकरण से पूर्व, ग्रामीण साख में वाणिज्यिक बैंकों का योगदान बहुत कम था, बल्कि ग्रामीण साख का एक प्रतिशत से भी कम था। राष्ट्रीयकरण के बाद ग्रामीण क्षेत्र में इन बैंकों की बड़ी संख्या में शाखाएँ खुल गईं। भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष साख 189 करोड़ रुपये से बढ़कर जून 1988 में 4041 करोड़ रुपये हो गया।

4. **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक** (Regional Rural Banks)–वाणिज्य बैंक के सहायक बैंक के रूप में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक भी खोले गए। यह बैंक, वाणिज्य बैंक की तरह ग्राहकों से जमा प्राप्त करते और उन्हें उधार सुविधाएँ प्रदान करते थे। उनकी क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक थे एवं उनकी जमा 502 करोड़ थी और पेशगी (Advances) 577 करोड़ रुपये थी। 1989 के अंत में 370 राज्यों में 1996 RRBs थे, जिनकी 14,090 शाखाएँ थीं। शाखाएँ U.P., बिहार एवं मध्य प्रदेश में थी।

5. **कृषि साख सहकारी समिति** (Agriculture Co-operatives Credit Societies)–कृषि सहकारी, साख समिति कृषकों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साख का स्रोत है। प्राथमिक कृषि साख समितियाँ लघु एवं मध्यम

नोट

अवधि के ऋण उपलब्ध कराते हैं, जबकि भूमि विकास बैंक दीर्घ अवधि ऋण प्रदान करते हैं। 1982-83 के दौरान कृषि सहकारी साख समिति ने कृषकों को 2,590 करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया। भूमि विकास बैंक ने 1982-83 में कृषकों को लगभग 461 करोड़ रुपये का पेशगी भुगतान किया। 1987-88 के दौरान 90,000 साख समितियाँ थीं जिन्होंने 4,280 करोड़ की सीमा तक ऋण पेशगी प्रदान किया था। सरकारी संरचना की सबसे बड़ी कमज़ोरी बहुत अधिक मात्रा में बकाया (Overdues) का होना था। 1980 एवं 1990 में बकाया राशि (Overdues) का अनुमान 40-42% लगाया गया।

भारत में सहकारी संरचना बुरी तरह से असफल रही।

6. **रिजर्व बैंक एवं ग्रामीण साख** (Reserve Bank and Rural Credit)—भारतीय रिजर्व बैंक ने कृषि वित्त में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने अपने संगठन में एक विशेष कृषि साख विभाग की स्थापना की है। R.B.I. कम ब्याज दरों पर राज्य के सहकारी बैंकों को लघु अवधि ऋण प्रदान करता है, जिससे मौसमी कृषि कार्यों को वित्त प्रदान किया जा सके। यह सहकारी बैंकों को लघु अवधि ऋण प्रदान करता है।

7. **National Bank for Agriculture and Rural Development (NBARD)**—इस बैंक की स्थापना ग्रामीण विकास के क्षेत्र में कार्य करने वाली सभी संस्थाओं के प्रयास में समन्वय करना है। इसकी स्थापना जुलाई 1982 में हुई और इसे Agricultural Refinence and Development Corporation एवं रिजर्व बैंक द्वारा ग्रामीण साख के लिए किया जाने वाला कार्य सुपुर्द कर दिया गया।

   यह बैंक कृषि कार्यों के लिए अल्पावधि ऋण प्रदान करता है। मध्यावधि के लिए बैंक और क्षेत्रीय बैकों के ऋणों का पुनर्वित्त प्रबंधन भी करता है। इन दिनों इसे पुनवित्त के लिए 25 वर्ष के दीर्घकालीन ऋण की भी जिम्मेदारी सुपुर्द की गई है। मार्च 1990 तक बैंक ने 12,407 करोड़ रुपये का दीर्घावधि पुनर्वित्त प्रदान किया था।

8. **स्वयं सेवी समूह** (Self Help Group SHGs)—यह संस्था अपने प्रत्येक सदस्य से न्यूनतम योगदान प्राप्त करती है। जरूरतमंद सदस्यों को उचित ब्याज दर पर, छोटी किस्तों में वापस किए जाने वाले ऋण प्रदान किए जाते हैं। मार्च 2003 तक 7,17,360 SHGs की स्थापना हुई। इस योजना ने ग्रामीणवासियों की काफी आर्थिक सहायता की है। ऋण की व्यवस्था, उपभोग उद्देश्य के लिए की जाती है, जोकि इसका दुभाग्यपूर्ण पहलू है।

क्या आप जानते हैं ग़रीब महिलाओं का बैंक (Poor Women's Bank)-केरला में 1995 में ग्रामीण महिलाओं में बचत को प्रोत्साहित करने के लिए कुटुम्बश्री योजना आरंभ की गई। इस संस्था ने बचत के प्रोत्साहन द्वारा एक करोड़ रुपये एकत्र किया।

संस्थागत वित्त या साख (Institutional Finance)

संस्थागत वित्त या साख में ऐसी धनराशियाँ सम्मिलित की जाती हैं जो सहकारी समितियों, व्यापारिक बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों आदि द्वारा उपलब्ध करायी जाती हैं। विभिन्न स्तरों पर संस्थागत वित्त के स्रोतों को नीचे सारणी द्वारा दर्शाया गया है :

कृषि वित्त के संस्थागत स्रोत

ग्राम स्तर	*जिला स्तर*	*राज्य स्तर*	*राष्ट्रीय स्तर*
(*i*) प्राथमिक साख सहकारी समिति	(*i*) केन्द्रीय सहकारी बैंक	(*i*) राजकीय सहकारी बैंक	(*i*) NABARD
(*ii*) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की ब्रांचें	(*ii*) प्राथमिक भूमि विकास बैंक	(*ii*) भूमि विकास बैंक	
(*iii*) व्यावसायिक बैंक की ब्रांचें	(*iii*) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	(*iii*) व्यावसायिक बैंक	
(*iv*) व्यावसायिक बैंक			

नोट

संस्थागत स्त्रोतों की साख की प्रवृत्तियाँ (Trends of Institutional Financing)

विगत वर्षों में कृषि और उससे सम्बद्ध गतिविधियों के लिए संस्थागत ऋण के प्रवाह में सहकारी बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक और व्यापारिक बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जैसा कि नीचे की सारणी के अंकों से विदित होता है। 1996-97 में कुल संस्थागत ऋण 26,411 करोड़ रुपये के थे जो 1999-2000 में बढ़कर 44,612 2000-2001 में 53,504 करोड़ रुपये हो गये हैं।

सहकारी समितियों का कुल ग्रामीण साख में भाग जो 1996-97 में कुल 45 प्रतिशत था, कम होकर 2000-01 में 4% हो गया। तद्नुरूप **वाणिज्य बैंक** और **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों** का संयुक्त भाग 55 प्रतिशत से बढ़कर 59 प्रतिशत हो जायेगा।

सारणी 2–विभिन्न संस्थानात्मक स्त्रोतों से कृषि ऋण

वर्ष	*सहकारी बैंक*	*क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक*	*वाणिज्यिक बैंक*	*कुल*
1996-97	11,944	1.684	12,783	26,411
1998-99	15,957	2,460	18,443	36,860
1999-2000	18,429	3,329	22,854	44,612
2000-2001	21,909	3,807	27,788	53,504
2001-2002 (अ)	27,080	4,956	34,735	66,771

संस्थागत वित्त की विशेषताएँ (Features of Institutional Financing)

संस्थागत वित्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. संस्थानात्मक ऋण शोषणात्मक नहीं होते और उनका **मूल उद्देश्य** किसानों को अपनी उत्पादिता बढ़ाने या आय को अधिकतम कराने में सहायता देना है।
2. **ब्याज की दर** सापेक्ष दृष्टि से न केवल नीची होती है अर्थात् यह किसानों के भिन्न-भिन्न वर्गों और भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए अलग-अलग भी हो सकती है।
3. संस्थानात्मक ऋण में **अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों** की आवश्यकताओं में स्पष्ट भेद किया जाता है और उसके अनुसार उधार दिया जाता है।
4. संस्थानात्मक ऋण की आवश्यकता **गैर-सरकारी एजेन्सियों** द्वारा उपलब्ध कराये गये ऋण की अपर्याप्तता और इनके दोषों के कारण उत्पन्न होती है।
5. संस्थानात्मक ऋण कृषकों की अन्य आवश्यकताओं से पूर्णतया **समन्वित** होते हैं।
6. किसानों के लिए मिश्रित नगद ऋण सीमा लागू करना। बचत संबंधी घटकों सहित नये ऋण उत्पाद, ऋणों का नकद संवितरण, अदेय प्रमाण-पत्र से छुटकारा और 10,000 रुपये से अधिक से कृषि ऋणों के लिए मार्जिन जमानत राशि की आवश्यकता से संबधिंत मामलों पर बैंकों को विशेषाधिकार।
7. उच्च प्रौद्योगिकी कृषि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य में कम से कम एक विशिष्ट कृषि बैंक शुरू करना।
8. बैंकों की आन्तरिक अधिप्राप्ति के युक्तिकरण के माध्यम से ऋण सुपुर्दगी के लिए कार्यविधि संबंधी सरलीकरण।

नोट

नोट्स किसान क्रेडिट कार्ड योजना वर्ष 1998-99 में वाणिज्यिक बैंकों व क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों से प्राप्त ऋण को सुसाध्य बनाने के लिए प्रारम्भ की गई है। इस योजना में 5,000 रुपये अथवा अधिक के उत्पादन ऋण के लिए पात्र किसान किसान क्रेडिट कार्ड प्राप्त करने के हकदार होंगे।

कृषि साख की समस्याएँ (Problems of Agricultural Credit)

भारत में कृषि साख की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं :

1. **साख देने वाली संस्थाओं का अभाव** (Lack of Financing Institiutions)–ग्रामीण क्षेत्रों में साख प्रदान करने वाली संस्थाओं का अभाव है। अत: यहाँ महाजन व साहूकार ही प्रमुख रूप से ऋण प्रदान करने वाले स्त्रोत बने हुए हैं।
2. **समन्वय का अभाव** (Lack of Co-ordination)–कृषि वित्त संबंधी आपूर्ति करने वाली विभिन्न संस्थाओं के कार्यकलापों में समन्वय का अभाव था।
3. **अधिक लागत** (More Cost)–कृषकों को ऋण लेने के लिए अपनी भूमि सम्बन्धी कागजात 'नो ड्यूज सर्टिफिकेट' से सम्बन्धित लेख प्राप्त करके जमा करना होता है। इस कार्य के लिए सम्बन्धित कर्मचारियों को घूँस देनी पड़ती है। अत: ऋण की वास्तविक लागत बढ़ जाती है।
4. **समय व धन की हानि** (Loss of Time and Money)–कृषकों को ऋण प्राप्त करन में प्राय: अनेक बार वित्त संस्थाओं के चक्कर लगाने पड़ते हैं जिसमें समय तथा धन की हानि होती है।
5. **कृषि भण्डारण की समस्या** (problem of Agriculture Warehousing)–ग्रामीण क्षेत्र में कृषि उत्पादन के भण्डारण की उचित व्यवस्था नहीं की जा सकी है जिसके परिणामस्वरूप कृषक अपनी उपजों को गोदामों में जमानत के रूप में रखकर ऋण प्राप्त नहीं कर पाते हैं।
6. **ऊँची ब्याज दर** (High Rate of Interest)–ग्रामीण क्षेत्रों में जो साहूकार व महाजन साख प्रदान करते हैं, वे किसानों से ऊँची दर से ब्याज लेते हैं।
7. **ऋण आवश्यकतानुसार एवं उचित समय नहीं पर** (Non-availablility of Loan at Propose Time)–कृषकों को आवश्यकतानुसार एवं उचित समय पर ऋण नहीं मिल पाता।
8. **कार्य-प्रणाली में विभिन्नता** (Differences in Working System)–वित्त प्रदान करने वाले संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में विभिन्नता पायी जाती है जिससे कृषकों को ऋण प्राप्त करने में नई-नई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कृषि वित्त प्रणाली में सुधार के उपाय (Measures for Improvement in Agricultural Finance System)

प्रमुख संस्थागत एजेन्सियाँ निम्नलिखित हैं :

कृषि वित्त व्यवस्था में विद्यमान दोषों को दूर करना कृषि और कृषक समुदाय की उन्नति के लिए आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित कदम उठाये जा सकते हैं :

1. **संस्थागत साख का विस्तार** (Expansion of Institutional Credit)–कृषकों को महाजनों व साहूकारों से मुक्ति प्रदान करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थागत साख का तेजी से विस्तार किया जाना चाहिए। इसके लिए क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों व सहकारी वित्तीय संस्थाओं; जैसे–सहकारी समितियों का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि प्रत्येक गाँव का कृषक इनसे लाभ उठा सके।

नोट

2. **व्यापारिक बैंकों का ग्रामीण क्षेत्र में विस्तार** (Expansion of Commercial Banks in Rural Areas)–कृषि वित्त के क्षेत्र में वाणिज्य के योगदान में भारी वृद्धि लाना आवश्यक है। यह योगदान विभिन्न दिशाओं से बढ़ाया जा सकता है। इसमें आवश्यक बात यह है कि ये बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ बढ़ायें और अधिकाधिक मात्रा में वहाँ बचत की राशियों को इकट्ठा करें।
3. **जमानत पर जोर देना** (Emphasis on Pledge)–छोटे कृषकों को ऋण देते समय जमानत देने पर अधिक जोर न दिया जाय बल्कि इस बात का ध्यान रखा जाए कि कृषकों की ऋण चुकाने की क्षमता कैसी है।
4. **कृषि की विशेषताओं के अनुरूप ऋण** (Loan according to Characteristics of Agriculture)–ऋण देने के लिए भूमि को आधार न मानकर, भूमि की उत्पादन शक्ति, उत्पादन कार्यक्रम आदि तत्वों को आधार माना जाये। दूसरे शब्दों में, आधार सम्बन्धी सिद्धान्त को उत्पादनमूलक होना चाहिए।
5. **विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में समन्वय** (Co-ordination in Difference Financial Institutions)–विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में आपस में प्रभावी समन्वय होना चाहिए जिससे कि वे उन्हीं स्थानों पर विस्तार कर सकें जहाँ विस्तार की आवश्यकता है।
6. **उपभोग कार्यों के लिए ऋण** (Loans for Consumption Purposes)–वित्त संस्थाओं को उपभोग कार्यों के लिए भी ऋण प्रदान करना चाहिए तथा ऐसे ऋणों को उत्पादक ऋणों के साथ जोड़ देना हितकर रहेगा।
7. **ब्याज नीति** (Interest Policy)–ब्याज नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न ब्याज-दरों की व्यवस्था हो। छोटे किसानों को तथा ऐसे क्षेत्रों में जहाँ नई तकनीकी को बढ़ावा देना हो, वहाँ अन्य क्षेत्रों की तुलना में कम ब्याज पर अथवा ब्याज-मुक्त ऋण देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।
8. **ऋण की मात्रा, उपलब्धि एवं समय** (Quantity, Availability and Time of Loans)–कृषि सम्बन्धी विभिन्न कार्यों के लिए आवश्यक मात्रा में ऋण का उपलब्ध होना आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि ऋण कम ब्याज पर और यथासमय उपलब्ध हो, ताकि उसका उचित प्रयोग किया जा सके।
9. **ऋण प्रणाली में एकरूपता** (Uniformity in Credit Policy)–सभी वित्त संस्थाओं की ऋण प्रदान करने सम्बन्धी कार्य-प्रणाली में एकरूपता तथा सरलीकरण करना आवश्यक है जिससे कि अशिक्षित एवं ऋण लेने वाले कृषकों को कठिनाइयों का सामना करना न पड़े।
10. **ऋण का उत्पादक कार्यों में प्रयोग** (Use of Credit for Productive Purposes)–ऋण के समुचित प्रयोग के लिए ऐसी उचित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि ऋण का प्रयोग उत्पादन कार्यों के लिए हो सके।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. अल्पकालीन ऋण की अवधि होती है-
   (क) 6 महीने की (ख) 8 महीने की
   (ग) 15 महीने की (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. कृषि वित्त के स्रोत हैं-
   (क) महाजन एवं साहूकार (ख) सरकार
   (ग) वाणिज्यिक बैंक (घ) उपर्युक्त सभी।
3. सहकारी साख आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था-
   (क) 1904 में (ख) 1908 में
   (ग) 1909 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की स्थापना का कार्य शूरू हुआ था-
   (क) 1 जुलाई 1975 से (ख) 2 अक्टूबर 1975 से
   (ग) 6 अगस्त 1975 से (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

5. नाबार्ड की स्थापना हुई थी-

(क) 12 मई 1982 में (ख) 12 जून 1982 में

(ग) 12 जलाई 1982 में (घ) इनमें से कोई नहीं।

6. कृषि और ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय बैंक नाबार्ड के मुख्य कार्य हैं-

(क) पुनर्वित (ख) संरचनात्मक विकास

(ग) अन्य बैंकों के कार्यों का निरीक्षण (घ) उपर्युक्त सभी।

14.2 कृषि विपणन से आशय (Meaning of Agricultural Marketing)

कृषि विपणन से अर्थ इन सभी क्रियाओं से लगाया जाता है जिनका सम्बन्ध कृषि उत्पादन का कृषक यहाँ से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने में किया जाता है। इन क्रियाओं में कृषि उपज को एकत्रित करना, उनका श्रेणीक्रम एवं प्रमापीकरण करना, उन्हें बेचने के लिए मण्डियों व बाजारों तक ले जाना तथा उनकी बिक्री करना भी शामिल है।

भारत में कृषि विपणन प्रणाली की विशेषताएँ (Characteristics of Agricultural Marketing System in India)

भारत में वर्तमान में निम्नलिखित विपणन प्रणाली पायी जाती हैं :

1. **स्थानीय बाजार** (Local Market)–भारतवर्ष में किसान अपनी उपज का अधिकांश भाग ग्रामों में ही बेच देता है। एक अनुमान के अनुसार पंजाब में 60% गेहूँ, 25% कपास और 70% तिलहन तथा उत्तर प्रदेश में 80% गेहूँ, 40% कपास और 75% तिलहन ग्राम में ही बेच दिये जाते हैं। गाँवों में बेची जाने वाली उपज को गाँवों के साहूकार या महाजन, गाँव के बनिये या शहर के व्यापारी अथवा उनके आढ़तिये खरीद लेते हैं। किसान प्राय: ग्रामों में ही उपज बेचने के लिए विवश हो जाता है क्योंकि वह साहूकारों से ऋण लिये रहता है।
2. **अनियमित मण्डियाँ** (Unregulated Markets)–इन मण्डियों में क्रय-विक्रय प्राय: प्राचीन व्यवस्था के अनुसार होता है। इन मण्डियों में कोई निश्चित व्यापारिक नियम नहीं होते हैं। इनमें बहुत बड़ी संख्या में मध्यस्थ पाये जाते हैं। इन मण्डियों में कमीशन, दलाली, तौलाई, धर्मादा के रूप में बहुत कटौती होती है। वस्तुओं के मूल्य प्राय: दलाल और आढ़तिये तय करते हैं। इससे अनपढ़ किसान को कुछ पता नहीं चलता।
3. **नियमित मण्डियाँ** (Regulated Markets)–इन मण्डियों में नियमानुसार क्रय-विक्रय होता है। इसका नियमन राज्य कृषि उपज (बाजार) अधिनियम के अन्तर्गत किया जाता है। इनमें कार्य करने वाले को लाइसेन्स लेना पडता है। इन मण्डियों में कमीशन तथा अन्य कटौतियाँ आदि निर्धारित की गयी हैं और सौदा खुली बोली के अनुसार होता है। भारतवर्ष में गेहूँ, कपास, गन्ना, जूट आदि की नियमित मण्डियाँ पायी जाती हैं। इन मण्डियों में किसान के साथ कोई धोखा नहीं होता और उन्हें अपनी उपज का उचित मूल्य उपलब्ध हो जाता है।
4. **सहकारी विपणन समितियाँ** (Co-operative Marketing Societies)–सहकारी समितियों ने कृषि वस्तुओं के विपणन में भाग लेना आरम्भ कर दिया है। ये समितियाँ अपने सदस्यों की उपज का इकट्ठा बेचकर पर्याप्त मूल्य प्राप्त करती हैं।
5. **राज्य व्यापार** (State Trading)–भारत में राज्य द्वारा कृषि पदार्थों का विपणन भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए हैं। राज्य की एजेन्सियाँ; जैसे–भारतीय खाद्य निगम फसल तैयार होने के समय ग्रामीण क्षेत्रों या मण्डियों के निकट अपने विशेष केन्द्र स्थापित करता है जहाँ सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों पर उपज को खरीदा जाता है।

कृषि विपणन के दोष (Defects of Agricultural Marketing)

1. **विक्रय की बाध्यता** (Forced Sales)–प्राय: भारतीय कृषक स्वेच्छा से अपनी उपज को नहीं बेचता बल्कि दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण उसे अपनी उपज फसल काटने के तुरन्त बाद गाँव में ही बेचनी पड़ती है।

नोट

उसे फसल तुरन्त इसलिए बेचनी पड़ती है क्योंकि उस पर विभिन्न प्रकार के ऋण चढ़े होते हैं और उनका भुगतान करना आवश्यक होता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन में बताया है कि सामान्यतया उत्पादक अपनी उपज को प्रतिकूल स्थानों और प्रतिकूल समय पर बेचते हैं और सामान्यतया उनको प्रतिकूल शर्तों पर सौदे करने पड़ते हैं।

2. **परिवहन के साधनों का अभाव** (Lack of Means of Transport)–देश में परिवहन के साधन अपर्याप्त, अविकसित एवं दोषपूर्ण हैं। हमारे अधिकांश ग्राम रेलों व सड़कों द्वारा मण्डियों के साथ सम्बन्धित नहीं हैं इसलिए किसान अपनी उपज ग्राम में ही बेच देने के लिए बाध्य हो जाता है। **शाही कृषि आयोग** के शब्दों में, ''यातायात के दोषपूर्ण साधनों के कारण ही बहुत-से मध्यस्थों का प्रवेश हो जाता है जो किसानों को अपनी उपज का ठीक मूल्य नहीं मिलने देते।''

3. **कृषि उपज की घटिया किस्म** (Inferior Quality of Agriculture Produces)–भारत में कृषि उपज की किस्म प्रायः घटिया होती है जिसके कारण कृषकों को कम मूल्य मिलता है। कृषि उपज घटिया किस्म की होने के कई कारण हैं; जैसे–खराब बीजों का प्रयोग, फसलों के रोग, कीड़े-मकोड़ों के आक्रमण, अनावृष्टि या अतिवृष्टि, फसलों की कटाई का दोषपूर्ण ढंग आदि। भारतीय किसान अत्यन्त निर्धन, अशिक्षित और अपनी उपज की ही बिक्री-व्यवस्था से अपरिचित है। इसीलिए वह अपनी उपज की किस्म की ओर ध्यान नहीं दे पाता।

4. **संगठन का अभाव** (Lack of Organisation)–कृषकों का स्वयं का कोई सुंसगठित बिक्री संगठन न होने से उन्हें कृषि उपज के संगठित क्रेताओं से प्रतियोगिता में सदैव हानि उठानी पड़ती है। **शाही कृषि आयोग** ने ठीक ही कहा है, ''जब तक किसान व्यक्तिगत रूप से अथवा दूसरे उत्पादकों के साथ मिलकर बिक्री का ढंग नहीं सीखेगा, तब तक वह अपनी उपज के क्रेताओं से, जिनको बहुत विशिष्ट ज्ञान प्राप्त है तथा जिनके पास अपेक्षाकृत अधिक साधन हैं, कभी नहीं जीत सकता।''

5. **अपर्याप्त एवं अवैज्ञानिक संग्रहण व्यवस्था** (Inadequate and Unscientific Storage System)–कृषि उपज का वैज्ञानिक ढंग से संग्रहण करने के लिए गाँव में सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। प्रायः कृषि-उपज को खत्तियों, कुड, रस, कल्ली, ढेक्कास, कोठी, कोठिला, कुण्डा आदि विभिन्न प्रकार की मिट्टी के बनाये गये बर्तनों में रखा जाता है, जससे उसके सड़ने, गलने और चूहों एवं चींटियों द्वारा नष्ट होने की आशंका रहती है तथा ऐसी स्थिति में किसानों को अपनी उत्पत्ति को शीघ्र ही बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

6. **श्रेणीकरण व प्रमापीकरण का अभाव** (Lack of Grading and Standardisation)–हमारे देश में अधिकांश किसान अपनी उपज का श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण नहीं कर पाते। वे ऊँची व नीची दोनों किस्मों की उपज को मिलाकर बाजार में बेचते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें घटिया उपज के दाम ही मिल पाते हैं।

7. **मूल्य सूचना का अभाव** (Lack of Information of Price)–वर्तमान विपणन व्यवस्था का एक गम्भीर दोष यह है कि हमारे कृषकों को मण्डियों में प्रचलित एवं सम्भावित कीमतों का ज्ञान नहीं रहता, इसलिए किसान की जो भी कीमत बतायी जाती है, उसे वही स्वीकार करनी पड़ती है। प्रायः गाँव का बनिया मूल्य के बारे में झूठी सूचनाएँ देकर उन्हें ठग लेता है। इसका मुख्य कारण हमारे गाँवों में संचार की सुविधाओं का अभाव है।

8. **मध्यस्थों का बाहुल्य** (Pre-dominance of Intermediataries)–भारतवर्ष में किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच अनेक मध्यवर्ती लोग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, दलाल, थोक व्यापारी, खुदरा व्यापारी इत्यादि। इन लोगों की एक लम्बी कतार रहती है। इनमें से सभी अपनी-अपनी सेवाओं के लिए कुछ न कुछ लेते हैं। अनुमान लगाया गया है कि मूल्य में से उत्पादकों को 50% से 80% भाग ही प्राप्त होता है और शेष मध्यस्थों द्वारा ही हड़प लिया जाता है।

9. **कपटपूर्ण पद्धतियाँ** (Frandulant Prachices)–**शाही कृषि आयोग** के अनुसार, ''मण्डियों में प्रचलित ये कपटपूर्ण पद्धतियाँ किसी भी प्रकार चोरी से कम नहीं है।'' भारतवर्ष में जब कभी किसान अपना माल

नोट

मण्डियों (विशेषकर जो अनियमित हैं) में ले जाता है तो वहाँ प्रचलित बहुत-सी बुराइयों व धोखबाजी के कारण कृषक विक्रेता को बहुत-सी हानियाँ सहनी पड़ती हैं। 'राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने मण्डियों में प्रचलित निम्न धोखेबाजियों का संकेत किया है :

(*i*) उपज का एक अच्छा अंश नमूने या बानगी के रूप में निकाल लिया जाता है।

(*ii*) दलाल सदा ही क्रेता का पक्ष लेकर कार्य करता है।

(*iii*) यहाँ तराजू-बाँटों में गड़बड़ी की जाती है।

(*iv*) मूल्य आढ़तिया व क्रेता का दलाल तय करता है। किसान को विश्वास में नहीं लिया जाता है।

(*v*) विवाद की स्थिति में किसान के हितों की रक्षा करने वाला मण्डियों में कोई नहीं होता।

10. **कृषि आधिक्य का कम होना** (Shortage of Agriculture Surpulses)–उत्पादन में से वर्ष भर खाने के लिए व आगामी कृषि हेतु बीज रखने के बाद जो बचता है, उसे हम कृषि आधिक्य कहते हैं। यह कृषि आधिक्य छोटी-मोटी जोत होने के कारण बहुत ही कम मात्रा में होता है जिसे वह गाँव में ही इस कारण से बेच लेता है कि उसे बाजार में ले जाने में आनुपातिक दृष्टि से अधिक व्यय करना पड़ता है।

11. **वित्तीय सुविधाओं का अभाव** (Lack of Financial Facilities)–भारत में आज भी वित्तीय सुविधाओं का अभाव है। कृषि के लिए अल्पकालीन व दीर्धकालीन साख के लिए एवं दैनिक खर्च के लिए धन का अभाव रहता है। छोटे किसानों को ऋण सुविधाएँ प्रदान करने में राष्ट्रीयकृत बैंक व सहकारी समितियाँ असफल रही हैं जिससे कृषक अपनी उपज को साहूकार की इच्छानुसार बेचता है। देश के लगभग 80% कृषक इस श्रेणी में आते हैं।

12. **नियन्त्रित बाजारों की धीमी प्रगति** (Slow Progress of Regulated Markets)–मण्डियों में व्याप्त व्यापारियों के कार्यों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से तथा कृषक विक्रेताओं को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से देश में नियन्त्रित बाजारों की पगति काफी कम है। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पंजाब व गुजरात आदि राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में ऐसी व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. **दिये गये कथनों के सामने ☒ अथवा ☑ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements are 'Right' or 'Wrong')–

1. ग्रामीण क्षेत्रों में साख प्रदान करने वाली संस्थाओं का अभाव है यहाँ पर महाजन व साहूकार ही ऋण प्रदान करने वाले स्रोत है। ☐
2. ऋण देने के लिए भूमि को आधार न मानकर, भूमि की उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन तत्वों को आधार माना जाएं। ☐
3. भारतवर्ष में किसान अपनी उपज का अधिकांश भाग शहरों में बेच देते हैं। ☐
4. छोटे किसानों को ऋण सुविधाएँ प्रदान करने में राष्ट्रीयकृत बैंक व सहकारी समितियाँ सफल रही हैं। ☐
5. भारतीय किसान स्वेच्छा से अपनी फसलों को गाँव के साहूकारों व महाजनों को बेच देते हैं। ☐

कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार हेतु सरकारी प्रयास (Government Measures to Improve the System of Agricultural Marketing)

1. **नियमित मण्डियों की स्थापना** (Establishment of Regulated Markets)– सरकार ने कृषि बिक्री व्यवस्था में सुधार के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया है, वह है–नियमित मण्डियों की स्थापना। नियमित बाजारों की स्थापना का उद्देश्य कृषि पदार्थों की बिक्री को नियमित करना और कुशल बनाना है

नोट

जिससे बाजारों में प्रचलित अनुचित रीतियाँ समाप्त हो जायें। इन बाजारों का प्रबन्ध बाजार समितियों की देख-रेख में होता है जिनमें उत्पादकों, व्यापारियों व स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधि होते हैं। इन बाजारों का मुख्य लक्ष्य बाजारी कटौतियों को कम करना और किसानों को उचित मूल्य का विश्वास दिलाना है। भारत में वर्तमान में इस प्रकार की 7,062 नियमित मण्डियाँ हैं।

2. **गोदाम की सुविधाएँ** (Facilities for Storage)—सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों में ही व्यापारिक दृष्टि से कृषि उपज के लिए संग्रह एवं गोदामों की सुविधाएँ उपलब्ध कराने वलाी प्रमुख संस्थाएँ इस प्रकार हैं—केन्द्रीय एवं राज्य गोदाम निगम (C. S. W. C.), भारतीय खाद्य निगम तथा सहकारिताएँ।

3. **ग्राम्य गोदामों का निर्माण** (Construction of Village Storages)—1979-80 में सरकार ने एक नयी योजना 'ग्रामीण गोदामों का राष्ट्रीय ग्रिड' आरम्भ की जिसमें सहकारी समितियाँ, बाजार समितियाँ तथा राज्य भण्डारागार निगम के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में 200 से 1,000 टन क्षमता वाले गोदामों का निर्माण कराने का कार्य किया गया। इन गोदामों के निर्माण के लिए कुल लागत 50 प्रतिशत केन्द्र व राज्य के बीच बराबर बाँट लिया गया तथा 50 प्रतिशत वित्तीय संस्थाओं से ऋण के रूप में प्राप्त किया गया था।

4. **शोध एवं सर्वेक्षण** (Research and Survey)—भारत सरकार का विपणन एवं जाँच निदेशायलय कृषि पदार्थों के विपणन से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करने एवं उनके समाधान हेतु शोध एवं सर्वेक्षण का कार्य करता है।

5. **श्रेणीकरण व प्रमापीकरण की सुविधा** (Facilities of Grading & Standardisation)—कृषि उपज के श्रेणीकरण तथा प्रमापीकरण के लिए सरकार द्वारा अनेक व्यवस्थाओं की गयी हैं। विपणन एवं जाँच निदेशालय से 41 कृषि वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्यात करने से पूर्व किस्म जाँच करानी आवश्यक है। आन्तरिक उपभोग के लिए एगमार्ग (AGMARK) के अन्तर्गत महत्वपूर्ण वस्तुओं का श्रेणीकरण किया जाता है। वस्तुओं की शुद्धता एवं किस्म की जाँच करने के लिए नागपुर में केन्द्रीय एगमार्क प्रयोगशाला के अतिरिक्त 22 अन्य प्रादेशिक प्रयोगशालाएँ कार्य कर रही हैं। 1999-2000 में देश के अन्तर्गत 1,051 श्रेणीकरण केन्द्र कार्य कर रहे थे तथा विपणन एवं जाँच निदेशालय द्वारा 162 कृषि वस्तुओं का श्रेणीकरण किया गया।

6. **माप विधि तथा बाँटों में सुधार** (Improvement in Weight and Measurement Method)—नियमित बाजारों की स्थापना हो जाने से माप और बाँटों की समस्या बहुत-से उन बाजारों में बहुत हद तक दूर हो गयी है। 1 अप्रैल, 1962 से बाँटों और मापों में मीट्रिक पद्धति लागू करने से इस दिशा में बहुत सुधार हुआ है। प्रारम्भ में भारतीय अनपढ़ किसान को समझाने में अवश्य कठिनाई आयी होगी परन्तु अब स्थिति सन्तोषजनक है।

7. **बेहतर-यातायात की व्यवस्था** (Better Transport Arrangements)—समन्वित सड़क विकास कार्यक्रम में ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कों के विकास की उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी है ताकि देश के लाखों गाँवों को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मुख्य धारा में सम्मिलित किया जा सके। छठी योजना में यह लक्ष्य रखा गया था कि 1988 तक एक हजार या उससे अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक गाँव को सड़कों के साथ जोड़ दिया जायेगा।

   सड़कों के विकास के साथ बैलगाड़ी में सुधार करने के प्रयास किये जा रहे हैं क्योंकि गाँव में यही यातायात का प्रमुख साधन है।

8. **विपणन व निरीक्षण निदेशालय** (Directorate of Marketing and Inspection)—भारत सरकार ने सन् 1963 में विपणन व निरीक्षण निदेशालय की स्थापना की थी। कृषि विपणन सलाहकार के निर्देशन में इस विभाग का कार्य आरम्भ हुआ। इस निदेशालय ने कोलकता, मुम्बई, मद्रास (चेन्नई), दिल्ली, लखनऊ, जयपुर, शिलांग व भोपाल में क्षेत्रीय कार्यालय खोले हैं जहाँ से उन क्षेत्रों की विपणन समाचार व्यवस्था की उचित देखभाल की जाती है।

9. **विपणन कर्मचारियों का प्रशिक्षण** (Training of Marketing Employees)—कृषि विपणन व्यवस्था से सम्बद्ध कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए 3 पाठ्यक्रमों की व्यवस्था है। पहला पाठ्यक्रम राजकीय

नोट

क्रय-विक्रय विभागों के उच्चाधिकारियों के लिए है। इसकी व्यवस्था नागपुर में है। यह पाठ्यक्रम 1 वर्ष का है। दूसरा पाठ्यक्रम क्रय-विक्रय सचिवों तथा अधीक्षकों के लिए 5 माह की अवधि का है। तीसरा वर्गीकरण निरीक्षण के लिए त्रैमासिक पाठ्यक्रम है। इन पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत 1,100 से अधिक कर्मचारी प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं।

10. **फलोत्यादन तथा प्रशोतन** (Fruit Production and Airconditioning)—फलोत्पादन आदेश, 1935 के अन्तर्गत फलों तथा सब्जियों की किस्म, नियन्त्रण व्यवस्था के लिए लाइसेन्स दिये जाते हैं। कोल्ड स्टोरेज आदेश, 1964 के अनुसार आकार 8.5 घन मीटर है। उससे अधिक प्रशीतन क्षमता वाले शीतागारों को भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार से सलाह लेना आवश्यक है।

11. **मूल्य स्थिरीकरण** (Price Stabilisation)—कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिए कृषि तथा कृषि मूल्यों में स्थिरता लाने की दृष्टि से सन् 1966 से सरकार प्रति वर्ष खाद्यान्नों के न्यूनतम मूल्यों की घोषणा करती है।

12. **सहकारी विपणन** (Co-operative Marketing)—सरकार ने सहकारी विपणन समितियों की स्थापना द्वारा कृषि विपणन के दोषों को दूर करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना आगे की गयी है।

13. **विशेष बोर्डों की स्थापना** (Establishment of Special Boards)—भारत सरकार ने रबड़, कॉफी, चाय, तम्बाकू, गर्म मसाले, नारियल, तिलहन और वनस्पति तेल आदि के बारे में विशिष्ट वस्तु-बोर्ड (Specialise Commodity Boards) स्थापित किये हैं। हाल ही के वर्षों में, राष्ट्रीय दुग्धशाला विकास बोर्ड ने न केवल 'आप्रेशन फ्लड' में सहायता दी है बल्कि यह तेल और अन्य भूमि वस्तुओं के विक्रय का भी कार्य कर रहा है।

14. **सहकारी विपणन समितियों का संगठन** (Organisation of Co-operative Marketing Societies)—भारत सरकार ने बहु-उद्देशीय सहकारी समितियों के संगठन को प्रोत्साहन देने के लिए सक्रिय प्रोत्साहन दिया है और इस कार्य में विशेष बल उधार एवं विपणन पर ही रखा गया। प्राथमिक विपणन समितियों को केन्द्रीय विपणन समितियाँ और राज्यीय स्तर पर शिखर विपणन समितियाँ कायम करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। इसी प्रकार राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ (NAFED) भी कायम किया गया। सरकार ने सहकारी विपणन समितियों और संघों और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों के माध्यम से अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराये।

15. **कृषि सम्बन्धी सूचना** (Agricultural Information)—किसानों में **कृषि सम्बन्धी सूचना** के प्रसारण के लिए सरकार रेडियो और टेलीविजन का भी प्रयोग करती रही है। रेडियो तथा दूरदर्शन के प्रसारण में मुख्य वस्तुओं के दैनिक मूल्यों, स्टॉक तथा बाजार की गतिविधियों सम्बन्धी सूचना दी जाती है। बहुत-से किसान इन प्रसारणों को सुनकर लाभ उठाते हैं।

16. **वित्त की व्यवस्था** (Provision of Finance)—ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा में विकास एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। बहुत-सी सार्वजनिक एजेंसियाँ कृषकों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

17. **खाद्यान्नों का राजकीय व्यापार** (State Trading in Food-grains)—खाद्यान्नों का राज्य व्यापार सबसे पहले केन्द्र एवं राज्य सरकारों के खाद्य विभागों ने आरम्भ किया। सन् 1965 में भारतीय खाद्य निगम की स्थापना की गयी। इस निगम को खाद्यान्नों की खरीद, संग्रह, यातायात, विपरण और विक्रय का कार्य सौंपा गया। यह आशा व्यक्त की गयी कि खाद्यान्नों के विणन में FCI एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। खाद्य निगमों द्वारा सम्पन्न किये गये कुछ कार्य भी FCI को सौंप दिये गये हैं।

18. **राष्ट्रीय कृषि विपणन पुरस्कार** (National Agricultural Marketing Awards)—जून 1993 में राष्ट्रीय कृषि विपणन पुरस्कार समिति का गठन किया गया और इस समिति की सिफारिशों के आधार पर

नोट

निम्नलिखित वर्गों में वार्षिक पुरस्कार आरम्भ किये गये– (*i*) कृषि विपणन के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवा/योगदान के लिए व्यक्तिगत पुरस्कार–दो पुरस्कार (प्रथम/द्वितीय) ध्यान में रखे बिना, (*ii*) राज्य कृषि विपणन बोर्डो/कृषि विपणन विनियोगों के लिए पुरस्कार–तीन पुरस्कार (प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरस्कार), पूर्वोत्तर राज्यों के लिए (सिक्किम सहित) एक विशेष पुरस्कार/इस प्रकार में प्रमाण-पत्र और प्रशस्ति पत्र के साथ ही एक शील्ड/स्मृति चिन्ह भी दिया जाता है। इसमें नकद राशि नहीं होती है। पहला पुरस्कार वितरण समारोह 29 जुलाई, 1997 को आयोजित किया गया था जिसमें हरियाणा, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश के कृषि विपणन बोर्डो/कृषि विपणन निदेशालयों को पुरस्कार प्रदान किये गये।

19. **कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा** (Encouragement to Export of Agriculture Goods)–विगत वर्षो में कृषि वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने आर्थिक सहायताा दी है जिसके कारण कृषि वस्तुओं का निर्यात जो 1952-53 में 7,880 करोड़ रुपये था, 1998-99 में 25,000 करोड़ रुपये से भी अधिक हो गया।

20. **भावी व्यापार** (Future Trading)–आर्थिक सुधारों के अंग के रूप में सरकार ने गुड़, आलू, एरण्ड के बीज, काली मिर्च, हल्दी, पटसन, कॉफी, तिलहन, खल एवं खाद्य तेलों में भावी व्यापार करने की अनुमति दे दी है।

21. **ट्राइफेड की स्थापना** (Establishment of TRIFED)–जनजातीय लोगों का शोषण करने वाले निजी व्यापारियों से छुटकारा दिलाने और उनके द्वारा तेयार की गयी वस्तुओं का अच्छा मूल्य दिलाने के उद्देश्य से सरकार ने अगस्त 1987 में भारतीय जनजातीय सहकारी विपणन विकास परिसंघ (Tribal Co-operative Marekting Development Federation of India Ltd.–TRIFED) की स्थापना की थी। इसने अप्रैल, 1998 को कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। इसे पेड़ों तथा वनों के तिलहन उत्पादों के एकत्रीकरण, प्रसंस्करण, भण्डारण और विकास की प्रमुख एजेन्सी भी घोषित किया गया है। गेहूँ और धान की सरकारी खरीद के लिए ट्राइफेड भारतीय खाद्य निगम के एजेण्ट अैर मोटे अनाजों, दालों और तिलहनों की सरकारी खरीद में कृषि एवं सहकारिता विभाग के एजेण्ट के रूप में काम करती है। मूल्यों के उतार-चढ़ाव से होने वाले अचानक नुकसान की भरपाई के लिए कृषि मन्त्रालय इसे अनुदान देता है।

टास्क नाबार्ड से आप क्या समझते हैं?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

3. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)-

1. सरकार ने कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार के लिए नियमित ..... की स्थापना की।
2. कृषि उपज के श्रेणीकरण तथा ..... के लिए सरकार द्वारा अनेक व्यवस्थाएं की गई है।
3. भारत सरकार ने ..... में विणपन व निरीक्षण निदेशालय की स्थापना की।
4. ..... में भारतीय खाद्य निगम की स्थापन की गई।
5. कृषि विपणन में सुधार की आवश्यकता पर बल 1928 में ..... ने दिया था।

14.3 सारांश (Summary)

- कृषि की वह साख जिसकी उसे कृषि कार्यों को पूर्ण करने में आवश्यकता होती है कृषि वित्त या साख के अंतगर्त आती है। जबकि कृषि विपणन वह क्रिया है जिसमें माल की प्राप्ति, उसका एकत्रीकरण, विपणन, प्रक्रियाकरण, परिबंधन, परिवहन श्रेणीकरण और माल का वितरण शामिल है।

नोट

- कृषि सहकारी, साख समिति कृषकों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साख का स्रोत हैं। प्राथमिक कृषि साख समितियाँ लघु एवं मध्यम अवधि के ऋण उपलब्ध कराते हैं, जबकि भूमि विकास बैंक दीर्घ अवधि ऋण प्रदान करते हैं।
- इस बैंक की स्थापना ग्रामीण विकास के क्षेत्र में कार्य करने वाली सभी संस्थाओं के प्रयास में समन्वय करना है। इसकी स्थापना जुलाई 1982 में हुई और इसे Agricultural Refinance and Development Corporation एवं रिजर्व बैंक द्वारा ग्रामीण साख के लिए किया जाने वाला कार्य सुपुर्द कर दिया गया।
- संस्थागत वित्त या साख में ऐसी धनराशियाँ सम्मिलित की जाती हैं जो सहकारी समितियों, व्यापारिक बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों आदि द्वारा उपलब्ध करायी जाती हैं।
- विगत वर्षों में कृषि और उससे सम्बद्ध गतिविधियों के लिए संस्थागत ऋण के प्रवाह में सहकारी बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक और व्यापारिक बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जैसा कि नीचे की सारणी के अंकों से विदित होता है। 1996-97 में कुल संस्थागत ऋण 26,411 करोड़ रुपये के थे जो 1999-2000 में बढ़कर 44,612 2000-2001 में 53,504 करोड़ रुपये हो गये हैं।
- सहकारी समितियों का कुल ग्रामीण साख में भाग जो 1996-97 में कुल 45 प्रतिशत था, कम होकर 2000-01 में 4: हो गया। तद्नुरूप **वाणिज्य बैंक** और **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों** का संयुक्त भाग 55 प्रतिशत से बढ़कर 59 प्रतिशत हो जायेगा।
- देश में कृषि एवं ग्रामीण विकास कार्यों की वित्त व्यवस्था करने के लिए 12 जुलाई, 1982 को एक शीर्षस्थ बैंक के रूप में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) की स्थापना उल्लेखनीय ऐतिहासिक घटना है। नाबार्ड का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में कृषि, लघु एवं कुटीर उद्योग, दस्तकारी एवं ग्रामीण कला के विकास हेतु वित्तीय सुविधा प्रदान करना है।
- ऋण देने के लिए भूमि को आधार न मानकर, भूमि की उत्पादन शक्ति, उत्पादन कार्यक्रम आदि तत्वों को आधार माना जाये।
- भारतवर्ष में किसान अपनी उपज का अधिकांश भाग ग्रामों में ही बेच देता है। एक अनुमान के अनुसार पंजाब में 60: गेहूँ, 25: कपास और 70: तिलहन तथा उत्तर प्रदेश में 80: गेहूँ, 40: कपास और 75: तिलहन ग्राम में ही बेच दिये जाते हैं।
- **शाही कृषि आयोग** के अनुसार, ''मण्डियों में प्रचलित ये कपटपूर्ण पद्धतियाँ किसी भी प्रकार चोरी से कम नहीं है।'' भारतवर्ष में जब कभी किसान अपना माल मण्डियों (विशेषकर जो अनियमित हैं) में ले जाता है तो वहाँ प्रचलित बहुत-सी बुराइयों व धोखबाजी के कारण कृषक विक्रेता को बहुत-सी हानियाँ सहनी पड़ती हैं। 'राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने मण्डियों में प्रचलित निम्न धोखेबाजियों का संकेत किया है

14.4 शब्दकोश (Keywords)

- **अधिप्राप्ति**–प्राप्ति होना
- **सुपुर्दगी**–किसी के अधिकार में सौपना
- **आदतिये**–व्यापारी
- **अनावृष्टि**– वर्षा कम होना, वर्षा न के बराबर होना

नोट

14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. कृषि साख की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में कृषि वित्त के विभिन्न स्रोत कौन-कौन से हैं? इसके सापेक्षिक महत्त्व की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
3. भारतीय कृषि विपणन के प्रमुख दोषों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए। किस सीमा तक सहकारी विपणन समितियों द्वारा इनका निराकरण किया जा सकता है?
4. संस्थागत वित्त किसे कहते हैं? कृषि विपणन प्रणाली की व्याख्या कीजिए।
5. कृषि विपणन से क्या आशय है? कृषि विपणन प्रणली की विशेषताएं बताइए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   (*i*) व्यापारिक या वाणिज्यिक बैंक (*ii*) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक
   (*iii*) नाबार्ड

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (ग) 2. (घ) 3. (क) 4. (ख)
   5. (ग) 6. (घ)
2. 1. ☑ 2. ☑ 3. ☒ 4. ☒
   5. ☒
3. 1. मंडियों 2. प्रमापीकरण 3. सन् 1963 4. सन् 1965
   5. शाही कृषि आयोग

14.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–15: विश्व व्यापार संगठन और कृषि (WTO and Agriculture)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

15.1 विश्व व्यापार संगठन और कृषि (WTO and Agriculture)

15.2 सारांश (Summary)

15.3 शब्दकोश (Keywords)

15.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

15.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- विश्व व्यापार संगठन एवं कृषि की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्राचीन काल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है तथा आज भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता। कृषि अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। 'उरुग्वे चक्र' समझौते के एक भाग के रूप में 'कृषि पर समझौता पर मोरक्को के मर्राकाश शहर में अप्रैल 1994 में हस्ताक्षर किये गये तथा यह समझौता 1 जनवरी 1995 से लागू हो गया।

15.1 विश्व व्यापार संगठन और कृषि (WTO and Agriculture)

विश्व व्यापार संगठन रूपी अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर एक नये अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिवेश के विकसित होने की अपेक्षा है। इस मंच पर अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों में घरेलू संरक्षण की प्रवृत्ति तथा नियन्त्रण समाप्त हो जायेंगे। अतिरिक्त विदेशी व्यापार पर क्रियाशील विभिन्न प्रतिबन्धों की समाप्ति हो जायेगी। कृषि क्षेत्र में विकास कार्यक्रमों पर भी विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अनेक समझौते सम्पन्न हुए हैं। इन समझौते से विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की कृषि व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगत होंगे। नि:सन्देह इन प्रभावों की नकारात्मकता अथवा सकारात्मकता सम्बन्धित देश में कृषि उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करेगा। यदि हम विश्व व्यापार संगठन में किये गये समझौतों के परिपेक्ष्य में भारतीय कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होता है कि इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्न वर्णित तीन पक्षों पर बल दिया गया है:

(1) घरेलू बाजार में प्रवेश की सुगमता,

(2) घरेलू समर्थन को नियन्त्रित करना, तथा

(3) निर्यात सहायता में कमी करना।

नोट

उपर्युक्त सभी वर्णित प्रभाव की संक्षिप्त विवेचना निम्न प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है–

(1) घरेलू बाजार में प्रवेश की सुगमता (Easy Market Access)–इस सम्बन्ध में विश्व व्यापार संगठन में "कृषि पर समझौते" में यह व्यवस्था की गयी है कि वर्तमान क्रियाशील मात्रात्मक प्रतिबन्धों में विश्व व्यापार के आकार को बाधित किया है। अत: भविष्य में विश्व व्यापार के आकार में वृद्धि की दृष्टि से इन प्रतिबन्धों को बाधित किया है। अत: भविष्य में विश्व व्यापार के आकार में वृद्धि की दृष्टि से इन प्रतिबन्धों की समाप्ति श्रेयकर होगा। अब तक लागु रहे प्रशुल्कों (Tariff) में बदलाव की आवश्यकता अनुभव की गयी। जिससे पूर्व की भाँति संरक्षण विद्यमान रहे। यद्यपि आगामी वर्षों में विद्यमान शुल्कों की मात्रा में कमी करना आवश्यक होगा। विकसित राष्ट्रों से यह कहा गया है कि वे छ: वर्षों की अवधि में (अर्थात् वर्ष 2000 के अन्त तक) प्रशुल्कों में औसतन 36 प्रतिशत की कमी करें। विकासशील देशों से यह कहा गया है कि वे 10 वर्ष की अवधि में (अर्थात् 2004 के अन्त तक) प्रशुल्क में औसतन 24 प्रतिशत की कमी करें। इस सम्बन्ध में विश्व व्यापार संगठन द्वारा किये गये समझौते को तालिक-1 में उल्लेखित तथ्यों द्वारा भी परखा जा सकता है–

तालिका-1

कृषि समझौते के अन्तर्गत समर्थन कम करने की वचनबद्धता

	विकसित देश (1995-2000 तक)	विकासशील देश (1995-2000 तक)
सभी कृषि वस्तुओं के लिए औसत प्रशुल्क	36 प्रतिशत	24 प्रतिशत
कटौती (आधार 1986-88)		
घरेलू समर्थन, समर्थन का समग्र माप (आधार 1986-88)	20 प्रतिशत	13 प्रतिशत
निर्यात सहायता (आधार 1986-90)	36 प्रतिशत	24 प्रतिशत
निर्यात सहायता के लिए बजट व्यवस्था अथवा सहायता प्रदान निर्यातों की मात्रा	21 प्रतिशत	14 प्रतिशत

(2) घरेलू समर्थन को नियन्त्रित करना (Regulation Domestic Support)–घरेलू समर्थन में कमी के सम्बन्ध में विश्व व्यापार संगठन में हुये कृषि पर समझौते के अन्तर्गत घरेलू समर्थन को निम्न दो भागों में विभाजित किया गया है–

(अ) व्यापार को बाधित करने वाला समर्थन (Trade Distorting Support)–व्यापार को बाधित करने वाले घरेलू समर्थन को "अम्बर बाक्स" (Amber Box) में रखा गया है। इस बाक्स में व्यापार को संकुचित करने वाले सभी घरेलू समर्थनों को रखा गया है। इन समर्थनों का आकलन समग्र माप (Aggregate Measure of Support) द्वारा किये जाने अथवा उसे समाप्त किये जाने की बात कही गयी है। समर्थन के समग्र माप के निम्नलिखित दो प्रमुख भाग हैं–

(*i*) *उत्पाद विशिष्ट समर्थन* (*Product Specific Support*)–उत्पाद विशिष्ट समर्थन को घरेलू समर्थन कीमतों (उदाहरण के लिए भारत में वसूली कीमतें) के बाह्य संकेतक कीमतों (External Reference Price) से अन्तर को समर्थन प्राप्त उत्पादन से गुणा करके प्राप्त किया जाता है।

(*ii*) *गैर उत्पाद विशिष्ट समर्थन* (*Non-Product Specific Support*)–इसके अन्तर्गत विभिन्न कृषि आगतों जैसे उर्वरकों, बिजली, सिंचाई, साख इत्यादि पर प्रदान की जाने वाली सहायता को सम्मिलित किया जाता है।

विश्व व्यापार संगठन में कृषि पर हुये समझौते में यह व्यवस्था है कि विकसित राष्ट्र छ: वर्ष की अवधि

नोट

में समर्थन के समग्र माप को 20 प्रतिशत तथा विकासशील देश 10 वर्ष की अवधि में 13 प्रतिशत कम कर देंगे। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि "कम करने की वचनबद्धता" सम्पूर्ण घरेलू समर्थन के परिपेक्ष्य में ज्ञात की जानी चाहिए न कि व्यक्तिगत वस्तुओं के सन्दर्भ में। विकसित देशों में जिन नीतियों के प्रयोग से उत्पादन के मूल्यों के 5 प्रतिशत से कम तथा विकासशील देशों में उत्पादन के मूल्य से 10 प्रतिशत से कम घरेलू समर्थन प्राप्त होगा। उनको कम करने की वचनबद्धता से मुक्त रखा गया है।

क्या आप जानते हैं जिन नीतियों का उत्पादन पर कोई संकुचित प्रभाव नहीं होता है या बहुत कम प्रभाव होता है, उन्हें भी वचनबद्धता से मुक्त रखा गया है।

(ब) व्यापार को बाधित करने वाला अथवा न्यूनतम बाधित करने वाला समर्थन (Non-Trade Distorting or Minimal Trade Distorting Support)–व्यापार को बाधित अथवा संकुचित करने वाले घरेलू समर्थन को निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया गया है–

(*i*) *ग्रीन बॉक्स* (*Green Box*)–इसके अन्तर्गत वह आर्थिक सहायता रखी गयी है। जो पर्यावरण संरक्षण कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्रदान की जाती है। इसमें प्रमुख रूप से अनुसंधान, प्रशिक्षण इत्यादि सेवाओं पर सहायता, बाजार सूचना के लिए सहायता, ग्रामीण आधारित संरचना के कुछ रूपों पर सहायता इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। इस बाक्स में सम्मिलित गतिविधियों पर वर्तमान में दी जाने वाली सहायता को विश्व व्यापार समझौते में किसी प्रकार की कमी किये जाने की आवश्यकता नहीं दर्शायी गयी है। अर्थात् यह सहायता "कम करने की वचनबद्धता" के बन्धन से मुक्त है। इस प्रकार की सहायता पर किसी प्रकार की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की गयी है।

(*ii*) *ब्ल्यू बॉक्स* (*Blue Box*)–इस बाक्स के अन्तर्गत उस आर्थिक सहायता को रखा गया है जो किसानों को हानिपूर्ति के रूप में अथवा उत्पादन को सीमित करने से हुई हानि की क्षतिपूर्ति के रूप में प्रदान की जाती है। उदाहरण के लिए अमरीका में सरकारी न्यूनतम समर्थन मूल्य और बाजार मूल्य में अन्तर के बराबर "हानि पूर्ति भुगतान" प्रत्यक्ष रूप से किसानों को किया जाता है। इसी प्रकार यूरोपीय संघ के देशों में उत्पादन सीमित करने के बदले में क्षतिपूर्ति के रूप में प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। ब्ल्यू बाक्स के अन्तर्गत प्रदान की जाने वाली सहायता भी "कम करने की वचनबद्धता" से मुक्त है। यद्यपि इस प्रकार की सहायता के सम्बन्ध में अधिकतम सीमा निर्धारित की गयी है।

(*iii*) *स्पेशल तथा डिफ्रैन्शल बाक्स* (*Special and Differential Box*)–इस बाक्स में विकासशील देशों से विकास करने वाले निर्धन एवं निम्न आय वर्ग वाले उत्पादकों को प्रदान की जाने वाली निवेश सहायता तथा कृषि आदानों पर प्रदान की जाने वाली सहायता को सम्मिलित किया गया है।

(3) निर्यात सहायता में कमी करना (Containing Export Subsidies)–तालिका में प्रस्तुत किये गये आंकड़े यह तथ्य इंगित करते हैं कि विश्व व्यापार संगठन द्वारा विकसित देशों के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि वे अनुदान प्राप्त निर्यातों (Subsidised Export) की मात्रा को छः वर्ष की अवधि में 21 प्रतिशत तथा निर्यात सहायता के लिए बजट में 36 प्रतिशत की कटौती करेंगे। यह भी व्यवस्था की गयी है कि विकासशील देशों में सहायता प्रदस्त निर्यातों की मात्रा को 10 वर्ष की अवधि में 10 प्रतिशत तथा निर्यात सहायता के लिए बजट में 24 प्रतिशत कटौती करेंगे। यद्यपि उपयुक्त वर्णित समझौतों का कृषि क्षेत्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा किन्तु इसके अतिरिक्त विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्गत लागू किये जाने वाले कुछ अन्य समझौतों का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा इनमें सर्वाधिक प्रमुख है व्यापार सम्बध बौद्धिक सम्पदा अधिकार (Trade Related Intellectual Property Right) है जिसके अधिन पेटेन्ट व काफीराइट संरक्षण (Patent and Copyrights Protection) की व्यवस्था है।

नोट

वैश्वीकरण का भारत का कृषि पर प्रभाव (Impact fo Globalisation of Indian Agriculture)

यद्यपि विश्व व्यापार संगठन के सम्मेलनों में कृषि के सम्बन्ध में अनेक संधियों को अन्तिम रूप प्रदान किया गया है किन्तु इन संधियों का सैद्धान्तिक पक्ष विकासशील दंशों के हित में प्रतीत नहीं होता है। ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि इन संधियों के अन्तर्गत हुये समझौते के कार्यान्वयन का विकासशील देशों की कृषि व्यवस्था पर दुष्प्रभाव पड़ा है तथा भविष्य में भी दुष्प्रभाव ही पड़ने की सम्भावना है। इन संधियों में यह उल्लेख किया गया है कि विकसित देशों द्वारा कृषि को प्रदान की जाने वाली सहायता को आगामी छः वर्षों के दौरान 20 प्रतिशत कम करना है जबकि विकासशील देशों द्वारा इन सहायताओं को 10 वर्षों में 13 प्रतिशत तक कम करना है।

नोट्स विकसित देश ग्रीन बॉक्स तथा ब्ल्यू बॉक्स सहायता के अधिन अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि को प्रदान की जाने वाली सहायता के क्रम को जारी रखेंगे।

ग्रीन बॉक्स अनुदान (Green Box Subsidies) इस वर्ग के अन्तर्गत सरकारी सेवाओं पर व्यय की जाने वाली उन राशियों को सम्मिलित किया गया है जो अनुसंधान, रोग नियन्त्रण, आकार संरचना और खाद्य सुरक्षा पर व्यय किये जाने हेतु प्रस्तावित की गयी है। इस राशि में वे भुगतान भी सम्मिलित है जो कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से किये गये है जिससे वे उत्पादन को प्रोत्साहित कर सके। इन भुगतानों में प्रमुख है: कृषि के पुनर्गठन के लिये आय रूप सहायता और पर्यावरण एवं नियमित सहायता कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष भुगतान आदि सम्मीलित है। निःसन्देह अनुदान की उपयुक्त वर्णित परिभाषा अन्तन्त ही विस्तरित है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के सरकारी अनुदान सम्मिलित किये गये है।

ब्ल्यू बॉक्स अनुदान (Blue Box Subsidies) इस वर्ग के अन्तर्गत प्रदान की जाने वाली अनुदान राशि में किसानों को प्रदान किये जाने वाले कतिपय ऐसे भुगतान सम्मिलित है जो या तो किसानों को उत्पादन सीमित करने के लिये अथवा सरकार द्वारा विकासशील देशों में कृषि एवं ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों को प्रौत्साहित करने के लिये दिया जाना प्रसतावित है।

स्वदेशी समर्थन अनुदान के समान ही विकासशील देशों को अपने नाममात्र निर्यात अनुदान में वृद्धि करने की अनुमति नहीं प्रदान की जाती है। इसके विपरीत विकसित देशों को अपने आधार स्तर पर अनुदान को 64 प्रतिशत तक कायम रखने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। इसके परिणामस्वरूप विकसित देशों में कृषि आयात राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में विद्यमान कीमत से कहीं कम कीमत पर प्राप्त किये जा सकते है। मानवीय विकास प्रतिवेदन 1977 में उपर्युक्त वर्णित समस्या की समीक्षा करते हुए यह उल्लेख किया गया है कि ओ. ई. सी. डी. के अनुसार, "संयुक्त राज्य अमरिका के कृषकों को 1955 में प्रति व्यक्ति हस्तान्तरण 29 हजार डॉलर था।" *मिन्डानाओं* और *कगायन* के अनुसार, "घाटी के मक्का उत्पादन क्षेत्रों में कृषकों की औसत प्रति व्यक्ति आय 300 अरब डॉलर थी।"

अमरीका के प्रत्येक कृषक को फिलीपाइन में मक्का उत्पादन करने वाले कृषकों की आय की तुलना में शत प्रतिशत अनुदान के रूप में राशि प्राप्त होती है।

वास्तविक आर्थिक राष्ट्रीय जगत में उन लोगों की दुनिया सर्वथा पृथक है जो काल्पनिक या मुख्य व्यापार के पक्षधर है। यह बात स्पष्ट है कि कृषि बाजारों में अस्तित्व बनाये रखने के लिय तुलनात्मक लागत पर कम निर्भर रहने की आवश्यकता है और अनुदान पर तुलनात्मक रूप से अधिक आश्रित रहना श्रेयकर होगा। स्थानिय खाद्य बाजारों में अवांछत प्रतिस्पर्धा के कारण उदारीकरण कुशलता उत्पन्न करने का कोई महत्वपूर्ण उपाय नहीं है वरन् यह लोगों की जीविक नष्ट करने का एक फार्मूला है।

यदि हम कृषि पर ऊरूग्वे रौंद की संधि के कार्यान्वयन पर विचार करे तो यह स्पष्ट होता है कि इससे आगामी

नोट

पाँच वर्षो तक कृषि क्षेत्र में किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के घटित होने की सम्भावना नहीं है। कृषि अनतर्राष्ट्रीय व्यापार का एक मात्र ऐसा क्षेत्र है जिसमें निर्यात-डम्पिंग को एक वैद्य व्यापार के रूप में स्वीकार किया जाता है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि कुछ वर्षों पूर्व भारतीय कृषि वस्तुओं की कीमतें अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से कम थी। किन्तु विकसित देशों द्वारा कृषि निर्यात के लिये भारी मात्रा में अनुदान प्रदान किये जाने के कारण परिस्थिति में तेजी से बदलाव दृष्टिगत हुआ। अब अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से नीचे हो गयी है जिसके परिणामस्वरूप भारतीय किसानों को अत्यन्त हानि का सामना करना पड़ा है। भारत के अनेक भागों में कृषकों द्वारा खुले आम की जाने वाली आत्महत्यायें और राज्यों के कृषि क्षेत्र में बढ़ती हुई अशांति इस बात का द्योतक है कि कृषि निर्यात वस्तुओं में संलग्न कृषकों को घोर संकट का सामना करना पड़ रहा है। भारतीय समाज में यह एक अत्यन्त गहन मानवीय समस्या बन चुकी है इस बात से प्रेरित होकर प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने विश्व व्यापार संगठन के समझौतों से उत्पन्न हुई विपरीत स्थिति के कारण किसानों की दयनीय स्थिति की तरफ सरकार का ध्यान आकर्षित किया है। इस सम्बन्ध में प्रो. पी. आर. बह्मानन्द ने तो इस स्तर की टिप्पणी कर दी है कि: "हमें अपने देश के किसानों के हितों को सर्वोपरी स्थान प्रदान करना चाहिए। यदि इस पुनित कार्य हेतु हमें विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता छोड़ना भी पड़े तो में इसे अनुचित नहीं समझता।"

टास्क ब्लू बाक्स अनुदान में किस प्रकार के भुगतान सम्मिलित है?

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की निर्णायक भूमिका है कृषि तथा सम्बद्ध गतिविधियों द्वारा भारत के सकल घरेलू उत्पाद में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया जाता है। भारत के सकल घरेलू उत्पाद का 27 प्रतिशत भाग कृषि से प्राप्त होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था में लगभग 65 प्रतिशत जनसंख्या को कृषि द्वारा रोजगार प्रदान किया जाता है। कृषि संवृद्धि का गरीबी सुधार पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है भारत के कुल निर्यातों में कृषि उत्पादों का महत्वपूर्ण स्थान है भारत के अधिकांश उद्योग धन्धे आज भी कच्चे माल तथा बाजार उपलब्धि की दृष्टि से कृषि पर आश्रित है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... में विकास कार्यक्रमों पर भी विश्व व्यापर संगठन के अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अनेक समझौते सम्पन्न हुये हैं।
2. विकसित राष्ट्रों से यह कहा गया है कि वे छ: वर्षो की अवधि में ..... में औसतन 36 प्रतिशत की कमी करें।
3. यूरोपिय संघ के देशों में उत्पादन सीमित करने के बदले में क्षतिपूर्ति के रूप में प्रत्यक्ष ..... प्रदान की जाती है।
4. विकसित देशों को अपने आधार स्तर पर अनुदान को ..... प्रतिशत तक कायम रखने की स्वतंन्त्रता प्रदान की गई है।
5. कृषि अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का एक मात्र ऐसा क्षेत्र है जिसमें ..... को एक वैद्य व्यापार के रूप में स्वीकार किाय जाता है।
6. ..... में कृषि की निर्णायक भूमिका है।

15.2 सारांश (Summary)

- विश्व व्यापार संगठन रूपी अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर एक नये अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिवेश के विकसित होने की अपेक्षा है। इस मंच पर अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों में घरेलू संरक्षण की प्रवृत्ति तथा नियन्त्रण समाप्त हो

नोट

जायेंगे।

- यदि हम विश्व व्यापार संगठन में किये गये समझौतों के परिपेक्ष्य में भारतीय कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होता है कि इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्न वर्णित तीन पक्षों पर बल दिया गया है–
- यद्यपि आगामी वर्षों में विद्यमान शुल्कों की मात्रा में कमी करना आवश्यक होगा। विकसित राष्ट्रों से यह कहा गया है कि वे छः वर्षों की अवधि में (अर्थात् वर्ष 2000 के अन्त तक) प्रशुल्कों में औसतन 36 प्रतिशत की कमी करें। विकासशील देशों से यह कहा गया है कि वे 10 वर्ष की अवधि में (अर्थात् 2004 के अन्त तक) प्रशुल्क में औसतन 24 प्रतिशत की कमी करें।
- घरेलू समर्थन में कमी के सम्बन्ध में विश्व व्यापार संगठन में हुये कृषि पर समझौते के अन्तर्गत घरेलू समर्थन को निम्न दो भागों में विभाजित किया गया है।
- व्यापार को बाधित करने वाले घरेलू समर्थन को "अम्बर बाक्स" (Amber Box) में रखा गया है। इस बाक्स में व्यापार को संकुचित करने वाले सभी घरेलू समर्थनों को रखा गया है। इन समर्थनों का आकलन समग्र माप (Aggregate Measure of Support) द्वारा किये जाने अथवा उसे समाप्त किये जाने की बात कही गयी है। समर्थन के समग्र माप के निम्नलिखित दो प्रमुख भाग हैं।
- विश्व व्यापार संगठन में कृषि पर हुये समझौते में यह व्यवस्था है कि विकसित राष्ट्र छः वर्ष की अवधि में समर्थन के समग्र माप को 20 प्रतिशत तथा विकासशील देश 10 वर्ष की अवधि में 13 प्रतिशत कम कर देंगे। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि "कम करने की वचनबद्धता" सम्पूर्ण घरेलू समर्थन के परिपेक्ष्य में ज्ञात की जानी चाहिए न कि व्यक्तिगत वस्तुओं के सन्दर्भ में। विकसित देशों में जिन नीतियों के प्रयोग से उत्पादन के मूल्यों के 5 प्रतिशत से कम तथा विकासशील देशों में उत्पादन के मूल्य से 10 प्रतिशत से कम घरेलू समर्थन प्राप्त होगा। उनको कम करने की वचनबद्धता से मुक्त रखा गया है। इसी प्रकार जिन नीतियों का उत्पादन पर कोई संकुचित प्रभाव नहीं होता है या बहुत कम प्रभाव होता है, उन्हें भी वचनबद्धता से मुक्त रखा गया है।
- व्यापार को बाधित अथवा संकुचित करने वाले घरेलू समर्थन को निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया गया है।
- इसके अन्तर्गत वह आर्थिक सहायता रखी गयी है। जो पर्यावरण संरक्षण कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्रदान की जाती है। इसमें प्रमुख रूप से अनुसंधान, प्रशिक्षण इत्यादि सेवाओं पर सहायता, बाजार सूचना के लिए सहायता, ग्रामीण आधारित संरचना के कुछ रूपों पर सहायता इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। इस बाक्स में सम्मिलित गतिविधियों पर वर्तमान में दी जाने वाली सहायता को विश्व व्यापार समझौते में किसी प्रकार की कमी किये जाने की आवश्यकता नहीं दर्शायी गयी है। अर्थात् यह सहायता "कम करने की वचनबद्धता" के बन्धन से मुक्त है। इस प्रकार की सहायता पर किसी प्रकार की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की गयी है।
- इस बाक्स के अन्तर्गत उस आर्थिक सहायता को रखा गया है जो किसानों को हानिपूर्ति के रूप में अथवा उत्पादन को सीमित करने से हुई हानि की क्षतिपूर्ति के रूप में प्रदान की जाती है। उदाहरण के लिए अमरीका में सरकारी न्यूनतम समर्थन मूल्य और बाजार मूल्य में अन्तर के बराबर "हानि पूर्ति भुगतान" प्रत्यक्ष रूप से किसानों को किया जाता है। इसी प्रकार यूरोपीय संघ के देशों में उत्पादन सीमित करने के बदले में क्षतिपूर्ति के रूप में प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। ब्ल्यू बाक्स के अन्तर्गत प्रदान की जाने वाली सहायता भी "कम करने की वचनबद्धता" से मुक्त है। यद्यपि इस प्रकार की सहायता के सम्बन्ध में अधिकतम सीमा निर्धारित की गयी है।
- विश्व व्यापार संगठन द्वारा विकसित देशों के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि वे अनुदान प्राप्त निर्यातों (Subsidised Export) की मात्रा को छः वर्ष की अवधि में 21 प्रतिशत तथा निर्यात सहायता के लिए बजट

नोट

में 36 प्रतिशत की कटौती करेंगे। यह भी व्यवस्था की गयी है कि विकासशील देशों में सहायता प्रदस्त निर्यातों की मात्रा को 10 वर्ष की अवधि में 10 प्रतिशत तथा निर्यात सहायता के लिए बजट में 24 प्रतिशत कटौती करेंगे।

- वास्तविक आर्थिक राष्ट्रीय जगत में उन लोगों की दुनिया सर्वथा पृथक है जो काल्पनिक या मुख्य व्यापार के पक्षधर है। यह बात स्पष्ट है कि कृषि बाजारों में अस्तित्व बनाये रखने के लिय तुलनात्मक लागत पर कम निर्भर रहने की आवश्यकता है और अनुदान पर तुलनात्मक रूप से अधिक आश्रित रहना श्रेयकर होगा।

15.3 शब्दकोश (Keywords)

- **प्रदस्त**–देना
- **पेटेन्ट**–अपने उत्पाद से संबंधित निर्माण अधिकार को सुरक्षित करना
- **कापीराइट**–अधिकार

15.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. विश्व व्यापार संगठन और कृषि किस प्रकार एक-दूसरे से संबंधित हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. कृषि क्षेत्र 2. प्रशुल्कों 3. आर्थिक सहायता 4. 64
5. निर्यात-डम्पिंग 6. भारतीय अर्थव्यवस्था।

15.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–16: पूर्व सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Pre-Reform Period)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

16.1 पूर्व-सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Pre-Reform Period)

16.2 सारांश (Summary)

16.3 शब्दकोश (Keywords)

16.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

16.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पूर्व-सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र का विवेचन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कृषि-क्षेत्र के बाद अब हम देश की अर्थव्यवस्था के औद्योगिक क्षेत्र सम्बन्धी बातों को ले सकते हैं। इस इकाई में हम ब्रिटिश काल एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आयोजन-काल के दौरान औद्योगिक विकास के कुछ पहलुओं का विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम, इस सन्दर्भ में औद्योगीकरण की आवश्यकता अथवा देश के आर्थिक विकास में इसके योगदान या भूमिका की जानकारी उपयोगी होगी।

16.1 पूर्व-सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Pre-Reform Period)

भारत जैसे विकासशील देश के लिए औद्योगीकरण की आवश्यकता बहुत अधिक है और स्पष्ट भी। यह द्रुतगति से देश के आर्थिक विकास के लिए परमावश्यक है। वास्तव में विभिन्न प्रकार के उद्योगों के अभाव में देश के आर्थिक विकास का कार्य अधूरा ही रहेगा। उद्योगों के समुचित विकास के बिना लोगों की आय में अर्थपूर्ण एवं नियमित रूप से वृद्धि लाना सम्भव नहीं है। औद्योकीकरण के फलस्वरूप अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर देश के लिए उद्योगों की आवश्यकता या महत्त्व की कल्पना आसानी से की जा सकती है, और साथ ही हम इस बात को भली प्रकार समझ सकेंगे कि वर्तमान समय में इस ओर क्यों अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। औद्योगीकरण के विभिन्न आर्थिक और आर्थिकेतर लाभों को, संक्षेप में, इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

(*i*) **सुदृढ़ एवं संतुलित अर्थव्यवस्था की स्थापना**–औद्योगीकरण देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने, उसके स्तर को ऊपर उठाने तथा उसमें सन्तुलन लाने में बहुत सहायक होगा। सच तो यह है कि इसके बिना यह कार्य भली प्रकार संभव ही नहीं है। भारत की अर्थव्यवस्था बहुत पिछड़ी हुई है और संतुलित अवस्था

नोट

में है। अभी कृषि ही यहां के लोगों का मुख्य धन्धा है। इस प्रकार से इसी पर बहुत बड़ी सीमा तक देश की सारी अर्थव्यवस्था टिकी हुई है, और यह तो सभी जानते हैं कि कृषि कितना अनिश्चित व्यवसाय है, विशेषत: भारत में जहां खेती मुख्यत: वर्षा के सहारे की जाती है। आधार अनिश्चित होने से देश की आर्थिक स्थिति सदैव डांवाडोल रहती है। उत्पादन-मात्रा तथा व्यापार-व्यवसाय में और फलस्वरूप लोगों के जीवन-स्तर में भारी उतार-चढ़ाव आता रहता है। इसके अतिरिक्त असंतुलित अर्थव्यवस्था से और भी मुसीबतें पैदा होती हैं। उद्योग-धन्धों के अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था में होने के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या को ठीक प्रकार से काम मिल पाता। बहुत-से लोग काम न मिलने के कारण बेकार रहते हैं या ऐसे कार्यों में लग जाते हैं जहां उनकी शक्ति या क्षमता के हिसाब से उत्पादित या आय कम होती है। दोनों दशाओं में परिणाम यह होता है कि देश में गरीबी बढ़ती है। बढ़ती हुई गरीबी के प्रभाव से जनसंख्या में प्राय: और तेजी से वृद्धि होने लगती है।

इस प्रकार यह कुचक्र निरन्तर चलता रहता है। यदि हम आगे बढ़ना चाहते हैं, तो इस कुचक्र को तोड़ना होगा। इसके लिए औद्योगिक विकास के सहारे विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के बीच सन्तुलन स्थापित हो सकता है तथा अर्थव्यवस्था को ऊंचे स्तर पर ले जाया जा सकता है। तभी देश में बेकारी तथा गरीबी की समस्याओं को स्थायी रूप से हल किया जा सकेगा।

(*ii*) **कृषि-विकास में सहायता–**हमारी कृषि बहुत पिछड़ी हुई है। इसका एक मुख्य कारण हमारी कृषि-भूमि का निरंतर विभाजन और उप-विभाजन है। जोतों के उत्तरोत्तर छोटे होते चले जाने का कारण भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक बोझ का पड़ना है। तेजी से बढ़ती हुई देश की जनसंख्या, अन्य कोई धन्धा अथवा व्यवसाय नपा सकने के कारण, खेती में ही लगती जाती है। इसके फलस्वरूप भूमि पर भार बढ़ता जाता है जिसके प्रभाव से कृषि-जोत उत्तरोत्तर छोटी होती चली जा रही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जोतों के इस निरन्तर विभाजन और उप-विभाजन को रोके बिना कृषि में उन्नति लाना बहुत-कुछ असंभव है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि देश में तरह-तरह के उद्योग स्थापित किए जाएं। उद्योग-धन्धों के विकास से कृषि-भूमि पर जनसंख्या का असह्य भार कम होने लगेगा। इस प्रकार तीव्र गति से कृषि-उन्नति संभव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि को रासायनिक खाद, बिजली, उन्नत औजारों आदि की महत्त्वपूर्ण सुविधाएं भी भली प्रकार उपलब्ध होने लगेंगी। कृषि-विकास के लिए इस प्रकार की सुविधाएं कम आवश्यक नहीं हैं। अत: कृषि-विकास तथा उसको आधुनिक रूप देने की दृष्टि से भी औद्योगीकरण का योगदान विशेष महत्त्व रखता है।

नोट्स कृषि-सुधार तथा उसके पुनर्गठन और आधुनिकीकरण के लिए भी औद्योगिक विकास बहुत आवश्यक है।

(*iii*) **उत्पादिता में वृद्धि–**आर्थिक विकास के लिए प्रति व्यक्ति उत्पादिता में वृद्धि लाना आवश्यक है। यह कार्य उद्योग-धन्धों के सहारे अधिक अच्छी तरह से पूरा किया जा सकता है। कारण, उद्योग-क्षेत्रों में मानवीय नियंत्रण का अपेक्षाकृत अधिक हाथ होता है और इस क्षेत्र में विशिष्टीकरण, मशीनों का इस्तेमाल या बड़े पैमान की उत्पादन-प्रणाली का अधिक सहारा लिया जा सकता है। कृषि के सम्बन्ध में यह सब इतना संभव नहीं है। और फिर, एक सीमा के बाद कृषि-उत्पादिता उद्योगों के विकास पर निर्भर करती है। जैसाकि ऊपर कहा गया है, कृषि-उत्पादिता में वृद्धि लाने के लिए रासायनिक खाद, बिजली, उन्नत किस्म के कृषि-उपकरण आदि की आवश्यकता पड़ती है। ये साधन औद्योगिक विकास के बिना देश के भीतर उपलब्ध नहीं हो सकते।

(*iv*) **अधिक रोजगार एवं श्रेष्ठतर व्यावसायिक ढांचा–**औद्योगिक उन्नति से देश में श्रम की मांग बढ़ेगी। इससे बेकारी दूर होगी, और लोगों की आय में वृद्धि होगी। उद्योग-धन्धों में लोगों को कृषि की अपेक्षा अधिक

नोट

काम मिल सकता है। ज्यों-ज्यों उद्योग धन्धों का विकास होगा, अधिकाधिक लोगों को काम दिलाना संभव हो जाएगा और खेती तथा अन्य अपेक्षाकृत कम लाभकारी कार्यों में लगे हुए फालतू लोग उद्योग, व्यापार, परिवहन, व्यवसाय, सेवा-क्षेत्र आदि की ओर खिंच आयेंगे। इस प्रकार औद्योगीकरण से यहीं नहीं कि रोजगार के अवसर बढ़ेंगे, बल्कि देश का व्यावसायिक ढांचा भी ठीक प्रकार का हो सकेगा। ऐसा होने से देश के साधनों का समुचित ढंग से उपयोग संभव बन जाएगा और फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी।

(*v*) **जीवन-स्तर में सुधार**—आर्थिक विकास का उद्देश्य लोगों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाकर उनके कल्याण में वृद्धि लाना है। इसके लिए न केवल आय में वृद्धि की आवश्यकता होती है, बल्कि उपभोग में विविधता की आवश्यकता होती है। उद्योग-धन्धों का विकास इस दृष्टि से भी बहुत आवश्यक ठहरता है। इससे लोगों की आय में वृद्धि होगी और साथ ही देश में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन संभव हो सकेगा। फलस्वरूप लोगों का जीवन-स्तर ऊपर उठ सकेगा। यहां यह कहा जा सकता है कि कृषि-प्रधान देश अपना निर्यात बढ़ाकर दूसरे देशों से विभिन्न प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं आयात कर सकता है। लेकिन यहां महत्त्वपूर्ण बात निर्यात-वृद्धि की है। भारत जैसे अल्पविकसित देशों के निर्यात में पर्याप्त लोचशक्ति नहीं है। अनेक सुपरिचित कारणों से खेती के सहारे यहां के निर्यात इच्छित गति से नहीं बढ़ाए जा सकते।

(*vi*) **बचत और निवेश में वृद्धि**—औद्योगीकरण से एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ यह प्राप्त होगा कि इसमें पूंजी-निर्माण में वृद्धि होगी जो कि आर्थिक विकास के लिए एक आवश्यक शर्त है। पूंजी-निर्माण में आवश्यक वृद्धि तभी संभव हो सकती है, जबकि बचत अधिक मात्रा में हो और उत्पादन में लाभप्रद ढंग से उसे लगाने के लिए क्षेत्र और अवसर अधिक हों। औद्योगीकरण इस दृष्टि से भी बहुत लाभकारी है। इससे आय बढ़ती है और आय-वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त बचत-प्रवृत्ति (marginal propensity to save) भी बढ़ती है। इसके अतिरिक्त, उद्योग-धन्धों के विकास में पूंजी लगाने के लिए क्षेत्र और सुविधाएं भी बढ़ती हैं। इस प्रकार औद्योगीकरण पूंजी-निर्माण में भी सहायक है।

(*vii*) **देश की सुरक्षा**—साथ ही देश की सुरक्षा के लिए भी औद्योगीकरण की विशेष आवश्यकता है। वर्तमान युग में युद्ध के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के साज-सामान और चीजों की आवश्यकता पड़ती है। यह सब सामग्रियां विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। इन आवश्यक पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना एक प्रकार से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना होगा। युद्ध छिड़ जाने पर बाहरी देशों से माल मंगाना कठिन हो जाता है। यही नहीं बल्कि युद्धकाल अथवा राजनीतिक संकट के समय आवश्यक पूंजीगत साज-सामान के लिए आयात पर निर्भरता निवेश-कार्यक्रम में बाधा बनकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गतिहीन कर सकती है और तरह-तरह की कठिनाइयां पैदा कर सकती है।

(*viii*) **व्यक्ति और समाज का बहुमुखी विकास**—औद्योगीकरण व्यक्ति और समाज के संपूर्ण एवं बहुमुखी विकास के लिए भी आवश्यक है। इससे मनुष्य में अनेक आवश्यक गुणों के सृजन में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है जैसे कि नियमितता, समय-निष्ठता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, आविष्कार कौशल, तकनीकी प्रगति के लिए तत्परता आदि। इन अनेक गुणों के विकास से मनुष्य विभिन्न दिशाओं में आगे बढ़ने के लिए समर्थ हो जाता है। डेनमार्क, आस्ट्रेलिया आदि देश काफी बड़ी सीमा तक कृषि-प्रधान देश हैं, फिर भी यहां के लोगों में ये विशेषताएं पायी जाती हैं। लेकिन इससे इस बात का खण्डन नहीं होता। कारण, इन देशों में औद्योगिक क्षेत्र काफी बड़ा एवं विकसित दशा में है।

औद्योगीकरण से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ढांचे में व्यापक परिवर्तन आता है। इसके प्रभाव से उत्पादन-प्रक्रिया में परिवर्तनों का तांता लगा रहता है। फिर, इन परिवर्तनों की सफलता के लिए परिवहन, चालन शक्ति, बैंकिंग, प्रबन्ध व व्यवस्था आदि अनेक क्षेत्रों में विकास लाया जाना आवश्यक बन जाता है। साथ ही औद्योगीकरण से सामाजिक मूल्यों तथा तौर-तरीकों में आवश्यक परिवर्तन लाने, शिक्षा व स्वास्थ्य की सुविधाओं की व्यवस्था तथा शहरीकरण की दिशा में विशेष सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बहुमुखी विकास में औद्योगीकरण का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण ठहरता है।

नोट

इन सब बातों से स्पष्ट है कि देश के विकास अथवा सुख-समृद्धि के लिए औद्योगीकरण कितना लाभप्रद और आवश्यक है। वैसे तो यह सदा ही वांछनीय है, किन्तु हमारी आज की परिस्थितियों में जबकि हमारी आय का स्तर बहुत नीचा है, देश में बेकारी फैली हुई है, कृषि पर असह्य बोझ लदा हुआ है और जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, यह और भी आवश्यक बन गया है। इससे देश की ठीक प्रकार से सुरक्षा हो सकेगी और अर्थव्यवस्था को ऊंचे स्तर पर ले जाकर उसमें उचित सन्तुलन लाना संभव हो सकेगा। वास्तव में हमारे जैसे विकासशील देश के लिए आर्थिक विकास और औद्योगीकरण बहुत बड़ी सीमा तक एक ही चीज ठहरते हैं।

क्या आप जानते हैं स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से देश में औद्योगीकरण पर अधिक बल दिया जा रहा है।

परम्परागत उद्योगों का पतन (Deciline of Traditional Industries)

भारत आज एक बहुत पिछड़ा औद्योगिक क्षेत्र है, लेकिन औद्योगिक दृष्टि से इसका अतीत बहुत समृद्ध और गौरवपूर्ण था। आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति के उदय होने से काफी पहले भारत औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे था। यह अपने उद्योगों और कारीगरों की कला व कौशल के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वहां अनेक प्रकार के उद्योग, उस समय की परिस्थितियों की दृष्टि से, बहुत विकसित और उन्नत अवस्था में थे। उनकी ख्याति विश्व-भर में फैली हुई थी। कताई और बुनाई यहां के राष्ट्रीय उद्योग थे जो देश भर में फैले हुए थे। रंगाई, छपाई, सोने-चांदी के धागे व वस्त्र-निर्माण के कार्य की कताई-बुनाई उद्योग से सम्बद्ध थे। वस्त्र उद्योग के अलावा, भारत भवन-निर्माण, ईंट व चूना बनाने, पत्थर व लकड़ी की नक्काशी, चीनी, नमक व नील के उत्पादन, कागज बनाने, सोने-चांदी व जवाहरात के कार्य, तांबा, पीतल, कांसा आदि से सम्बन्धित विभिन्न उद्योगों के लिए भी विश्व-विख्यात था। लोहे की गलाई और ढलाई के काम में भी भारतउस समय काफी आगे बढ़ा हुआ था जिसका स्पष्ट प्रमाण दिल्ली के निकट स्थिति प्रसिद्ध लौह-स्तम्भ में मिलता है। देश को समुद्री जहाज बनाने की कला की भी अच्छी जानकारी थी। बंगाल में बने जहाज लन्दन तक माल ले जाया करते थे।

इन उद्योगों से केवल स्थानीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं होती, अपितु इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएं भारी मात्रा में विदेशों को भी निर्यात की जाती थीं। दक्षिण-पूर्वी एशिया, ईरान, अरब-देश, पूर्वी व पश्चिमी अफ्रीका, यूरोप और जापान भारतीय वस्तुओं के मुख्य ग्राहक थे। भारत प्रमुख रूप से सूती माल, रेशमी तथा ऊनी कपड़े, चीनी, नील, काली मिर्च, दाल चीनी, जरी व कला-वस्तुएं निर्यात करता था। भुगतान-शेष भारत के पक्ष में रहता था जिसका निपटारा सोने-चांदी के रूप में किया जाता था। इस प्रकार 17वीं और 18वीं शताब्दी तक भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत बढ़ा-चढ़ा था और इसके निर्यात-व्यापार में औद्योगिक वस्तुओं की प्रधानता थी। अनेक इतिहासकारों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में भारत में औद्योगिक विकास के स्तर एवं यहां के लोगों की औद्योगिक दक्षता एवं प्राविधिक कुशलता का मोटा अनुमान टी. एच. हालैण्ड की अध्यक्षता में नियुक्त भारतीय औद्योगिक आयोग के इन शब्दों से लगाया जा सकता है–"जिस समय पश्चिमी यूरोप में, जो आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म-स्थान है, असभ्य जातियां निवास करती थीं, उस समय भारत अपने शासकों के वैभव एवं अपने शिल्पकारों की उच्च कलापूर्ण निपुणता के लिए विख्यात था। यही नहीं बल्कि काफी समय के बाद भी जब पश्चिम से साहसी व्यापारी भारत में पहली बार आए, तब भी देश का औद्योगिक विकास, किसी भी रूप में, यूरोपीय राष्ट्रों की तुलना में घटिया नहीं था।"

अठारहवीं शताब्दी के अन्त से देश के पुराने अथवा परम्परागत उद्योग, जो प्रधानतः हस्तशिल्प अथवा दस्तकारी उद्योग के रूप में थे, एक-एक करके नष्ट होने लगे। उद्योगों के उजड़ने की प्रक्रिया वस्त्र उद्योग से शुरू हुई और धीरे-धीरे अन्य अनेक उद्योग भी इसकी लपेट में आ गए। इस प्रक्रिया के जोर पकड़ने से भारत औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ने लगा और अन्ततः औद्योगिक देश से एक कृषि-प्रधान देश बन गया। देश में उद्योगों के पतन में अनेक कारणों का हाथ था। इनमें मुख्य निम्नलिखित थे–

नोट

(*i*) **देशी राजाओं और नवाबों का अन्त**–देश के राजे-महाराजे और नवाब आदि उद्योगों के बड़े हितैषी और संरक्षक थे। ये विभिन्न प्रकार से उद्योगों को बढ़ावा देते थे। अनेक कुशल कारीगरों को राज-दरबारों में आश्रय मिलता था। वे निश्चिन्त होकर अपनी कला के विकास में लगे रहते थे। इसके अतिरिक्त, देश के राजे-महाराजे स्वयं अनेक वस्तुओं की मांग के प्रमुख स्रोत थे। दरबारों की साज-सज्जा के लिए तरह-तरह की वस्तुओं की निरन्तर बड़ी मांग बनी रहती थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप देशी राज-दरबार समाप्त होने लगे। इससे एक तो उद्योगों को जो राज-दरबारों से संरक्षण व सहारा मिलता था, वह छिन गया। और दूसरे, इस दिशा से अनेक औद्योगिक वस्तुओं की मांग लगभग खत्म हो गई। इस प्रकार देश के उद्योगों को गहरी ठेस लगी और उनका पतन होने लगा।

(*ii*) **मांग की कमी**–पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के प्रभाव से अनेक विदेशी औद्योगिक वस्तुओं की मांग देश में तेजी से बढ़ने लगी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त एवं धनी वर्ग के लोग देशी वस्तुओं की बजाय विदेशी वस्तुएं पसन्द करने लगे। विदेशी वस्तुओं का उपयोग प्रतिष्ठा, गौरव व बड़प्पन का चिह्न समझा जाने लगा। इस प्रकार भारतीय वस्तुओं की मांग घटने लगी और फलस्वरूप उनसे सम्बन्धित उद्योगों को गहरी चोट लगी और वे नष्ट होने लगे।

(*iii*) **विदेशी व्यापारियों द्वारा कारीगरों का शोषण**–देशी शासकों की शक्ति क्षीण होने पर ब्रिटिश व्यापारी एवं भारत में स्थिति उनके कमीशन एजेण्ट देश के कारीगरों पर इस बात के लिए अवैध दबाव डालने लगे कि वे बहुत नीची कीमत पर उन्हें प्राथमिकता के आधार पर माल दें। प्रायः कारीगर माल देने के सम्बन्ध में ऐसे ठेके करने पर विवश किए जाते थे जिनके लिए वे सामान्य परिस्थितियों में कभी भी तैयार नहीं होते। ऐसे ठेकों का निभाना बहुत कठिन होता था। ठेका पूरा न हो सकने की दशा में कारीगरों को भारी दण्ड भुगतना पड़ता था और उनके साथ तरह-तरह के दुर्व्यवहार किए जाते थे। इस शोषण और दुर्व्यवहार के कारण अनेक कारीगर अपने धन्धे मोड़कर दूर-दूर चले गए। ऐसी स्थिति में उद्योगों को क्षति पहुंचना स्वाभावित था।

(*iv*) **मशीन से बनी वस्तुओं से प्रतियोगिता**–इस बीच औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप में बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा तरह-तरह की सस्ती वस्तुएं बनने लगीं। देश की परम्परागत उद्योगों के लिए, जो पुराने तौर-तरीकों का व्यवहार करते थे, इस प्रतियोगिता में ठहरना कठिन बनता गया क्योंकि विदेशी उद्योग वैज्ञानिक मशीन, बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली एवं अन्य साधनों से परिपूर्ण थे। स्वेज नहर के निर्माण तथा देश में परिवहन व संचार साधनों के विस्तार से यह प्रतियोगिता और तेज हो गयी। इस प्रकार भारतीय उद्योगों की मुसीबतें और बढ़ीं और वे तेजी से खत्म होते गए।

टास्क राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ढांचे में किस प्रकार परिवर्तन आता है?

(*v*) **विदेशी सरकार की दूषित औद्यौगिक व व्यापारिक नीति**–देश में उद्योगों के पतन का सर्व प्रमुख कारण विदेशी सरकार की भारत-विरोधी औद्योगिक व व्यापारिक नीति थी। पहले ईष्ट इण्डिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश सरकार ने जो औद्योगिक व व्यापारिक नीति देश के लिए अपनायी, वह स्पष्टतः बहुत अनुचित, अहितकर और देश के उद्योगों के लिए निश्चित रूप से घातक थी। आरम्भ में जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति ने जोर नहीं पकड़ा था, तब इंग्लैंड में भारतीय माल पर भारी शुल्क लगाने की व्यवस्था की गई और कुछ विशेष वस्तुओं के आयात और प्रयोग पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया गया। आगे चलकर औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से इंग्लैंड के उद्योग जमकर चलने लगे और उनकी प्रतियोगिता में ठहरने की शक्ति बढ़ गयी। तब वहीदेश जो कुछ समय पहले तक संरक्षण-नीति का भारी सहारा ले रहा था, मुक्त अथवा निर्बाध व्यापार (free trade) की दुहाई देने लगा। निर्बाध व्यापार की नयी नीति ब्रिटिश हितों के अनुकूल थी। इसके सहारे

नोट

ब्रिटिश उद्योगों और जनसंख्या के लिए कच्चा माल तथा बनाज सस्ते भाव पर जुटाए जा सकते थे और निर्मित माल की खपत के लिए विस्तृत बाजार उपलब्ध हो सकते थे। अत: इंगलैंड के लिए इस नीति का अपनाना आवश्यक था। ब्रिटिश स्वार्थों की सिद्धि के लिए यह नीति भारत पर लाद दी गयी, यद्यपि भारत के हितों की दृष्टि से यह नीति बिलकुल विरोधी थी। यदि भारत स्वतन्त्र होता, तो उपयुक्त नीति अपनाकर बदला लेता। लेकिन परतन्त्र होने के कारण ऐसा संभव न था। फलस्वरूप भारतीय परम्परागत उद्योगों के पतन की प्रक्रिया तीव्रतर होती रही।

इन अनेक कारणों से देश के विश्व-प्रसिद्ध उद्योग एक-एक करके नष्ट होने लगे और अन्तत: भारत औद्योगिक देश से मुख्यत: एक खेतिहर देश बन गया। इस औद्योगिक पतन से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और इसके विभिन्न अंगों के बीच जो तालमेल था, वह जाता रहा। इससे देश में बेकारी, गरीबी, भुखमरी आदि गंभीर रोगों को तेजी से बढ़ने का अवसर मिला।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. **रिक्त स्थानों की पूर्ती करें** (Fill in the blanks)–

   1. औद्योगिक द्रुतगति से देश के ..... के लिए परमावश्यक है।
   2. भारत के लोगों का मुख्य व्यवसाय ..... है।
   3. कृषि के पिछड़ेपन का कारण ..... का निरंतर विभाजन और उपविभाजन है।
   4. आर्थिक विकास का उद्देश्य लोगों के जीवन स्तर को ऊपर उठाकर उनके ..... में वृद्धि लाना है।
   5. ..... से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ढांचे में परिवर्तन आता है।
   6. देश में उद्योगों के ..... का सर्वप्रमुख कारण विदेशी सरकार की भारत विरोधी औद्योगिक व व्यापारिक नीति थी।

16.2 सारांश (Summary)

भारत जैसे विकासशील देश के लिए औद्योगीकरण की आवश्यकता बहुत अधिक है और स्पष्ट भी। यह द्रुतगति से देश के आर्थिक विकास के लिए परमावश्यक है।

औद्योगीकरण देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने, उसके स्तर को ऊपर उठाने तथा उसमें सन्तुलन लाने में बहुत सहायक होगा। सच तो यह है कि इसके बिना यह कार्य भली प्रकार संभव ही नहीं है। भारत की अर्थव्यवस्था बहुत पिछड़ी हुई है और संतुलित अवस्था में है। अभी कृषि ही यहां के लोगों का मुख्य धन्धा है। इस प्रकार से इसी पर बहुत बड़ी सीमा तक देश की सारी अर्थव्यवस्था टिकी हुई है, और यह तो सभी जानते हैं कि कृषि कितना अनिश्चित व्यवसाय है, विशेषत: भारत में जहां खेती मुख्यत: वर्षा के सहारे की जाती है। आधार अनिश्चित होने से देश की आर्थिक स्थिति सदैव डांवाडोल रहती है।

उद्योग-धन्धों के विकास से कृषि-भूमि पर जनसंख्या का असह्य भार कम होने लगेगा। इस प्रकार तीव्र गति से कृषि-उन्नति संभव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि को रासायनिक खाद, बिजली, उन्नत औजारों आदि की महत्त्वपूर्ण सुविधाएं भी भली प्रकार उपलब्ध होने लगेंगी।

आर्थिक विकास का उद्देश्य लोगों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाकर उनके कल्याण में वृद्धि लाना है। इसके लिए न केवल आय में वृद्धि की आवश्यकता होती है, बल्कि उपभोग में विविधता की आवश्यकता होती है।

वर्तमान युग में युद्ध के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के साज-सामान और चीजों की आवश्यकता पड़ती है। यह सब सामग्रियां विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। इन आवश्यक पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना एक प्रकार से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना होगा।

नोट

औद्योगीकरण व्यक्ति और समाज के संपूर्ण एवं बहुमुखी विकास के लिए भी आवश्यक है। इससे मनुष्य में अनेक आवश्यक गुणों के सृजन में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है जैसे कि नियमितता, समय-निष्ठता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, आविष्कार कौशल, तकनीकी प्रगति के लिए तत्परता आदि।

औद्योगीकरण से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ढांचे में व्यापक परिवर्तन आता है। इसके प्रभाव से उत्पादन-प्रक्रिया में परिवर्तनों का तांता लगा रहता है।

भारत आज एक बहुत पिछड़ा औद्योगिक क्षेत्र है, लेकिन औद्योगिक दृष्टि से इसका अतीत बहुत समृद्ध और गौरवपूर्ण था। आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति के उदय होने से काफी पहले भारत औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे था। यह अपने उद्योगों और कारीगरों की कला व कौशल के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था।

इन उद्योगों से केवल स्थानीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं होती, अपितु इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएं भारी मात्रा में विदेशों को भी निर्यात की जाती थीं।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त से देश के पुराने अथवा परम्परागत उद्योग, जो प्रधानत: हस्तशिल्प अथवा दस्तकारी उद्योग के रूप में थे, एक-एक करके नष्ट होने लगे। उद्योगों के उजड़ने की प्रक्रिया वस्त्र उद्योग से शुरू हुई और धीरे-धीरे अन्य अनेक उद्योग भी इसकी लपेट में आ गए। इस प्रक्रिया के जोर पकड़ने से भारत औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ने लगा और अन्तत: औद्योगिक देश से एक कृषि-प्रधान देश बन गया।

औद्योगिक पतन से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और इसके विभिन्न अंगों के बीच जो तालमेल था, वह जाता रहा। इससे देश में बेकारी, गरीबी, भुखमरी आदि गंभीर रोगों को तेजी से बढ़ने का अवसर मिला।

16.3 शब्दकोश (Keywords)

- **डांवाडोल**–अस्थिर स्थिति
- **निर्बाध**–मुक्त।

16.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. क्या भारत में औद्योगिकरण की आवश्यकता है? विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. भारत में परम्परागत उद्योगों के पतन का कारण बताइए।
3. पूर्व सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र किस प्रकार का था?

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

(*i*) आर्थिक विकास (*ii*) कृषि (*iii*) कृषि भूमि (*iv*) कल्याण

(*v*) औद्योगिक (*vi*) पतन

16.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–17: उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Post-Reform Period)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

17.1 उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Post-Reform Period)

17.2 औद्योगिक विकास और योजनाएँ (Industrial Development and the Plans)

17.3 औद्योगिक विकास का मुल्यांकन (Industrial Development: An Evaluation)

17.4 सारांश (Summary)

17.5 शब्दकोश (Keywords)

17.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

17.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र, औद्योगिक विकास और योजनाओं की व्याख्या करने में।
- औद्योगिक विकास का मूल्यांकन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

बीसवीं शताब्दी के आरंभ के साथ स्वदेशी आन्दोलन से औद्योगिक विकास को थोड़ा-बहुत बढ़ावा मिला। भारतीय पूंजी और उद्यमकर्त्ता, विशेष रूप से पारसी, गुजराती और मारवाड़ी उद्यमकर्ता औद्योगिक क्षेत्र में भाग लेने लगे। साबुन, दियासलाई, पैंसिल, चमड़ा, एल्युमिनियम आदि के अनेक छोटे-छोटे कारखाने देश में खुले। नि:संदेह इस बीच सबसे महत्त्वपूर्ण और दूरदर्शी उद्यम जमशेद जी टाटा का रहा। विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद वह देश में इस्पात का सर्वप्रथम कारखाना 1907 में जमशेदपुर में खोलने में सफल हुए। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में कुछ विविधता तो नजर आने लगी। फिर भी उपभोग-वस्तुओं से सम्बन्धित हल्के उद्योग ही प्रमुख बने रहे। आधुनिक उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों का अधिकांश भाग वस्त्र और पटसन उद्योगों में ही लगा हुआ था। भारी और बुनियादी उद्योग के क्षेत्र में प्रगति न होने के बराबर थी। फलस्वरूप देश का औद्योगिक ढांचा कमजोर और खोखला बना रहा। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ होने तक देश में मुख्य रूप से हल्क उद्योगों का ही विकास हुआ और प्रगति बहुत धीमी व थोड़ी थी। सरकार की भारत-विरोधी आर्थिक व औद्योगिक नीति, देश में पूंजी, तकनीक श्रमिकों एवं कुशल व्यवस्थापकों की कमी आदि कारक इसके लिए जिम्मेदार थे।

नोट

17.1 उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Sector in Post-Reform Period)

प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक–काफी लंबी अवधि की औद्योगिक निष्क्रियता के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देश में आधुनिक उद्योगों की शुरूआत हुई। 1850-60 के दशक में वस्त्र और पटसन उद्योगों की स्थापना की गयी। इसी बीच रेल-निर्माण का कार्य शुरू हुआ और कोयला-खनन उद्योग भी स्थापित किया गया। बागान-उद्योग भी बढ़े और रेल से सम्बन्धित मरम्मत व सुधार-कार्य के लिए कुछ छोटे-मोटे इन्जीनियरी कारखाने भी खोले गए। रेल-निर्माण के कार्य को छोड़कर, सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में कोई दिलचस्पी नहीं ली। यहां तक कि कुछ सामान्य सुविधाओं की व्यवस्था के लिए भी सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया। देश में आधुनिक उद्योगों की स्थापना का कार्य मुख्य रूप से निजी ब्रिटिश पूंजी और उद्यम के सहारे किया गया। इसके लिए व्यवसाय-संगठन की एक विशेष प्रणाली को अपनाया गया जिसे मैनेजिंग एजेन्सी का नाम दिया गया। यह प्रणाली स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ समय बाद तक देश में बनी रही। मैनेजिंग एजेंटों ने तकनीकी जानकारी, वित्त और प्रबन्ध आदि की आवश्यक सेवाएं उपलब्ध करके आधुनिक उद्योगों की स्थापना और संचालन में महत्त्वपूर्ण हाथ बंटाया। उस समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में जबकि सरकार उपेक्षा की नीति का पालन कर रही थी और देश में वित्त एवं तकनीकी जानकारी सम्बन्धी संस्थाओं का बड़ा अभाव था, मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया था।

देश में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आधुनिक उद्योगों की इस प्रकार की शुरूआत तो हुई, लेकिन विदेशी पूंजी और उद्यम ने ऐसे उद्योगों को चुना जिनसे कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक लाभ कमाया जा सकता था अथवा जो विदेश व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा गया कि उद्योग ऐसे न हों जिनसे ब्रिटिश उद्योगों के लिए प्रतियोगिका की संभावना बने। फलस्वरूप देश में मुख्य रूप से हल्के किस्म के एवं उपभोग वस्तुओं से सम्बन्धित इने-गिने उद्योग ही स्थापित हो सके। यही नहीं बल्कि औद्योगिक विकास की गति बहुत ही धीमी और अनिश्चित थी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक देश आधुनिक उद्योगों के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं कर सका। उस समय तक भारत मुख्यत: कच्चे माल का निर्यात और तैयार माल का आयात करने वाला देश बना रहा।

प्रथम विश्वयुद्ध के काल में देश में उद्योगों को बढ़ाने के लिए कुछ अवसर मिला। एक तो युद्ध-काल में औद्योगिक वस्तुओं का आयात बहुत कम हो गया। शत्रु-देशों से आयात तो बन्द हुआ ही, मित्र-देश भी युद्ध सम्बन्धी सामान तैयार करने में लगे होने के कारण कम माल भेज सकने की स्थिति में थे। जहाज भी कम मिलते थे और माल के भेजने में खतरा भी बहुत बढ़ गया था। इस प्रकार युद्ध-काल में आयात में भारी कमी हुई और फलस्वरूप देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचकर पनपने का अच्छा अवसर मिला। इसके अतिरिक्त, युद्ध-काल में लोहा व इस्पात, सूती वस्त्र, पटसन के पदार्थ, ऊनी व चमड़े के माल, साबुन आदि अनेक औद्योगिक वस्तुओं की मांग में भारी वृद्धि हुई। बाजार की इस तेजी से देश के उद्योगों को विशेष बढ़ावा मिला। और फिर, युद्ध काल के दौरान उद्योगों के प्रति सरकार के रुख व नीति में कुछ अनुकूल परिवर्तन आया। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा भारत युद्ध की तैयारी में अपना पूरा योगदान देने में असमर्थ था। उन दिनों विदेशी माल की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि संभव न थी क्योंकि आयात में भारी कटौती हो चुकी थी। औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण भारत इस कमी को पूरा नहीं कर सकता था। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से भारत एक कमजोर कड़ी सिद्ध हुआ। सरकार ने इस गलती को महसूस किया और देश के उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए कुछ कदम उठाए।

इन अनेक अनुकूल बातों के फलस्वरूप अनेक भारतीय उद्योगों जैसे कि लोहा इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, पटसन उद्योग, चमड़ा उद्योग, कोयला-खनन उद्योग आदि ने युद्ध-काल के दौरान बड़ी तेजी से प्रगति की। उत्पादन-मात्रा और उद्योगों के लाभ में भारी वृद्धि हुई। इस बीच औद्योगिक रोजगार की मात्रा भी काफी तेजी से बढ़ी। विभिन्न कारखानों में लगे श्रमिकों की संख्या 1919 में 11.7 लाख थी, जबकि 1909 में यह केवल 7.9 लाख के लगभग थी। फिर भी देश में कल-पुर्जों, मशीनों, रासायनिक वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक साज-सामान की कमी

नोट

के कारण युद्ध-जनित अवसरों से पूरा-पूरा लाभ उठाया नहीं जा सका। इन सब चीजों के लिए हम विदेशों पर निर्भर थे। युद्ध-काल में इनका आयात कठिन बन गया था। फलस्वरूप अवसर मिलने पर भी मूल व भारी उद्योगों के अभाव में देश के उद्योग पर्याप्त तेजी से आगे न बढ़ सके।

दोनों विश्वयुद्धों के बीच का समय–प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश के औद्योगिक विकास के इतिहास में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। इस अवधि में देश के उद्योगों ने अपेक्षाकृत तेजी से प्रगति की। युद्ध-काल में लोगों ने जो भारी लाभ कमाया, उससे प्रभावित होकर बड़ी मात्रा में पूंजी और उद्यम औद्योगिक क्षेत्र की ओर खिंचने लगे। राष्ट्रीय जागृति से भी देश में औद्योगिक विकास को बढ़ावा मिला। लेकिन सबसे महत्त्पूर्ण कारण जिससे औद्योगिक विकास की गति विशेष रूप से तेज हुई, वह था सरकार की औद्योगिक नीति में परिवर्तन। सामान्य तौर से सरकार अभी तक आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति अथवा मुक्त या निर्बाध व्यापार-नीति का व्यवहार कर रही थी। लेकिन युद्ध-काल की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए एवं सार्वजनिक दबाव के कारण सरकार ने अब उस रास्ते को छोड़कर उद्योगों के लिए संरक्षण की नीति को अपनाया। यही नहीं कि सरकारी स्टोर की क्रय नीति में भारतीय उद्योगों को सहायता देने के उद्देश्य से कुछ परिवर्तन किए गए, बल्कि 1921 में नियुक्त प्रथम भारतीय राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) की सिफारिश के आधार को पूरा करने पर उद्योग को सरकारी संरक्षण दिया जा सकता था। इसी कारण इस नीति को "भेदमूलक संरक्षण नीति" (discriminating protection policy) कहा जाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार की "भेदमूलक संरक्षण" नीति बहुत संतोषजनक नहीं थी। इसकी अवधारणा और कार्य-प्रणाली अनेक दृष्टियों से दोषयुक्त थी। इसके अन्तर्गत विकास के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकने के सीमित दृष्टिकोण से उद्योगों को संरक्षण देने की व्यवस्था की गई थी। संरक्षण देने की शर्तें बहुत कड़ी थीं और बड़ी कठोरता से इनको लागू किया जाता था। साथ ही इस नीति से विभिन्न बातों या कार्यवाहियों को पूरा करने में बहुत समय बीत जाता था और संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में शीघ्र निर्णय लेना सम्भव नहीं था। संरक्षण प्राप्त उद्योगों की देखभाल तथा तत्सम्बन्धी बातों पर निगरानी रखने एवं इस सम्बन्ध में व्यापक व दीर्घकालिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए इस नीति के अन्तर्गत किसी स्थायी टैरिफ बोर्ड की व्यवस्था नहीं थी। और फिर, यह नीति नए और बुनियादी उद्योगों की स्थापना और विकास की दृष्टि से बिल्कुल अनुपयुक्त थी।

इस प्रकार देश के उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने संरक्षण देने का जो कदम उठाया, वह बहुत अपर्याप्त और कमजोर था एवं बहुत देर में उठाया गया। लेकिन इन सबके बावजूद संरक्षण-नीति के अन्तर्गत पहले की तुलना में देश में कहीं तेजी से औद्योगिक विकास हुआ। समय-समय पर नियुक्त टैरिफ बोर्ड ने 1923-39 की अवधि में उद्योगों के सम्बन्ध में कोई 51 जांच कीं और भिन्न-भिन्न मात्रा में अनेक उद्योगों को सरकार की ओर से संरक्षण दिया गया जैसे कि लोहा व इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, दियासलाई उद्योग, कागज उद्योग आदि। संरक्षण प्राप्त एवं कई अन्य उद्योगों ने इस अवधि में बड़ी तेजी से उन्नति की। उदाहरण के लिए, 1922-39 के दौरान इस्पात का उत्पादन लगभग 700 प्रतिशत, सीमेंट का उत्पादन 500 प्रतिशत तथा कागज और सूत्री वस्त्र का उत्पादन क्रमशः 180 और 150 प्रतिशत बढ़ा। चीनी के उत्पादन में तो कहीं अधिक वृद्धि हुई। इस बीच इसकी उत्पादन-मात्रा में लगभग 50 गुनी वृद्धि हुई। लोहा, साबुन, दियासलाई, बिजली के साज-सामान, कांच, वनस्पति आदि से सम्बन्धित उद्योगों ने भी प्रगति की।

इससे स्पष्ट है कि दोनों विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में उद्योगों के विकास की गति अपेक्षाकृत तेज थी और औद्योगिक ढांचे में कुछ विविधता भी दिखाई देने लगी। यह सब उस परिस्थिति में हुआ जबकि सरकार ने उद्योगों को थोड़ी मात्रा में और देर से सहायता दी। यदि समय पर और ठीक ढंग से भरपूर प्रयास सरकार द्वारा किये गये होते, तो देश में औद्योगिक विकास की कहानी दूसरी ही होती। तब तो भारत भी उस समय तक कुछ अन्य देशों की भांति औद्योगिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाने में सफल हो गया होता।

यह तो ठीक है कि इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में देश ने तेजी से प्रगति की, लेकिन यह प्रगति संतोषजनक नहीं थी। एक तो यह प्रगति अपने संसाधनों एवं अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बहुत अपर्याप्त थी। देश के विभिन्न फैक्टरी-उद्योगों में लगे श्रमिकों की कुल संख्या 1939 में 17.6 लाख थी, जो कुल कार्यशील जनसंख्या

नोट

का लगभग 2 प्रतिशत थी। दूसरी बात, जो कम गंभीर नहीं है, यह है कि औद्योगिक विकास बहुत बड़ी सीमा तक एकांगी बना रहा। मोटे तौर पर अधिक प्रगति उपभोग-वस्तुएं तैयार करने वाले उद्योगों के क्षेत्र में हुई। दो-एक उद्योगों को छोड़कर, देश में उत्पादक वस्तुओं से सम्बन्धित भारी व मूल उद्योगों का अभाव बना रहा। फलस्वरूप हम इन आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि के लिए विदेशों पर निर्भर थे। इस प्रकार यही नहीं कि देश का औद्योगिक ढांचा अल्प-विकसित था, बल्कि इसका आधार भी कमजोर था। यह कमजोरी द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में स्पष्ट रूप से सामने आई, जब आयात में कमी होने के कारण देश के जमे हुए उद्योगों को भी अपनी क्षमता को पूरी तरह इस्तेमाल करने तथा अपने काम को फैलाने में भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त, बड़े उद्योग देश के कुछ विशेष भागों में ही केन्द्रित थे। शेष भाग आधुनिक उद्योगों से लगभग अछूते थे। साथ ही देश के औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूंजी और उद्यम तथा देश के इने-गिने उद्योगपति छात्र हुए थे। उद्योगों के प्रबन्धन व संचालन का अधिकांश कार्य चन्द बड़ी-बड़ी मैनेजिंग फर्मों के हाथ में था।

द्वितीय विश्वयुद्ध का काल और देश-विभाजन–द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में भारतीय उद्योगों के विकास को और बढ़ावा मिला। इस अवधि में इंग्लैंड, जापान, जर्मनी आदि अनेक देशों से आयात बहुत कम हो गया। एक तो इन देशों में उद्योग युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे हुए थे। दूसरे, इस बीच जहाजरानी की बड़ी कमी हो चली थी और माल भेजने में खतरा भी बढ़ गया था। आयात में इस प्रकार भारी कमी होने से देश के उद्योगों को अतिरिक्त संरक्षण मिला जिससे उनके विकास की गति और तेज हो गई। इसके अतिरिक्त, युद्ध-काल के दौरान हमारे औद्योगिक माल की मांग में देश-विदेश की मंडियों में भारी वृद्धि हुई। शीघ्र ही अनेक मध्य-पूर्व के देशों को माल भेजने का भारत मुख्य देश बन गया। मांग में इस भारी वृद्धि से कीमतों और लाभ में वृद्धि हुई जिससे उद्योगों के विस्तार में विशेष प्रोत्साहन व सहायता मिली।

इस तरह की अनुकूल बातों के प्रभाव से युद्ध-काल के दौरान देश में तेजी से औद्योगिक विकास हुआ। इस अवधि में सीमेंट, कागज, लोहा व इस्पात, सूती वस्त्र और चीनी आदि उद्योगों ने भारी प्रगति की। इनकी उत्पादन क्षमता बढ़ी और पूरी क्षमता इस्तेमाल होने लगी। कई उद्योगों में बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए दो या तीन पारियों में काम होने लगा। इसके फलस्वरूप देश में औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बढ़ने लगी। 1939 और 1945 के बीच सूती वस्त्र का उत्पादन 411 करोड़ गज से बढ़कर 471 करोड़ गज तथा कागज का उत्पादन 67 हजार टन से बढ़कर 106 हजार टन हो गया। अन्य औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन में भी तेजी से वृद्धि हुई। उदाहरणतया 1939 और 1943 के बीच इस्पात का 38 प्रतिशत, सीमेंट का 45 प्रतिशत तथा चीनी का 30 प्रतिशत उत्पादन बढ़ा। कई और पुराने उद्योगों में भी इसी तरह की उन्नति हुई।

युद्ध का कुटीर, लघु एवं मध्याकार के उद्योगों पर विशेष अनुकूल प्रभाव पड़ा। देश में अनेक चीजों की कमी और तेजी से बढ़ती हुई कीमतों से इन उद्योगों को बहुत प्रोत्साहन मिला। युद्ध-काल में ऐसे उद्योगों का तेजी से विस्तार हुआ और तरह-तरह की उपभोग-वस्तुएं एवं उत्पादन-सामग्री इनके सहारे देश में तैयार होने लगी जैसे कि गौण रसायनिक, हस्त उपकरण, छुरी व कांटे का सामान, प्रसाधन-सामग्री, जाल, बोतल-बन्द, फल, नल आदि। इसके अतिरिक्त, युद्ध-काल के दौरान अनेक नए उद्योग देश में स्थापित हुए। इनमें से कुछ तो कल पुर्जे व अन्य उत्पादक साज-सामान बनाने वाले उद्योग थे जिनकी देश में बड़ी आवश्यकता थी। उदाहरण के लिए, देश में रेल-इंजन, डीजल-इंजन, पम्प-सेट, जहाज, सिलाई की मशीनें, मोटर-टायर कुद विशेष प्रकार के मशीन-औजार, रासायनिक पदार्थ, अलौह धातुओं के माल आदि अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के उत्पादन के सिलसिले में कदम उठाए गए। लेकिन इन वस्तुओं का उत्पादन बहुत सीमित था।

इस प्रकार युद्धकालीन परिस्थितियों से छोटे-बड़े तथा नये-पुराने उद्योगों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप देश औद्योगिक विकास के पथ पर पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ने में सफल हुआ। औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार में भारी वृद्धि हुई। अनुमान है कि युद्ध-काल के दौरान रोजगार में 103 प्रतिशत वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन में हुई वृद्धि अपेक्षाकृत कम थी। 1939 और 1946 के बीच औद्योगिक उत्पादन में कुल 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई। युद्ध-काल में औद्योगिक माल के लिए मांग में भारी वृद्धि का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका। उद्योगों की क्षमता

नोट

में मांग के अनुसार वृद्धि लाना संभव न हो सका, क्योंकि हम अपने उद्योगों के लिए अनेक प्रकार की मशीनों, रासायनिक पदार्थों व अन्य आवश्यक पूंजीगत वस्तुओं के लिए दूसरे देशों पर निर्भर थे और युद्ध-काल में इनका आयात बहुत कम हो गया था। इस प्रकार युद्ध-काल के दौरान देश में औद्योगिक विकास की गति तेज तो हुई, लेकिन देश औद्योगिक क्षेत्र में उतनी तेजी से प्रगति नहीं कर सका जितना कि उसे अवसर मिला था।

यही नहीं कि युद्ध-काल के अवसरों से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका, बल्कि इस अवधि में देश में अनेक समस्याएं भी उठीं जिनका औद्योगिक क्षेत्र पर तत्काल एवं आगे चलकर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए, विश्वयुद्ध ने पुरानी व घिसी हुई मशीनों एवं उनके प्रतिस्थापन की समस्या को बहुत जटिलतर बना दिया। युद्ध-काल में उत्पादन तो बढ़ा, लेकिन मुख्य रूप से यह वृद्धि मौजूदा संयन्त्रों और मशीनों पर ही अधिक समय तक काम करके लाई गई थी। युद्ध-काल में आयात में भारी कटौती के कारण नई मशीनों का मंगाना संभव न हो सका। यहां तक कि मशीनों का आवश्यक प्रतिस्थापन-कार्य भी बहुत बड़ी सीमा तक रुक गया। फलस्वरूप पुरानी व घिसी हुई मशीनों की समस्या जटिलतर बनती रही। इससे युद्ध खत्म होने के बाद औद्योगिक विकास के क्षेत्र में बड़ी कठिनाई पैदा हुई।

एक अन्य समस्या यह पैदा हुई कि चूंकि युद्ध-काल में अनेक चीजों की बड़ी कमी थी, इसलिए हर कोई चीज जो तैयार की जा सकती थी, उसके बेचने में किसी प्रकार की कठिनाई उठने की संभावना नहीं थी। माल अच्छा न होने पर भी ऊंची कीमतों पर बेचकर भारी मुनाफा कमाया जा सकता था। फलस्वरूप इस अवधि में अविचारित एवं असम्बद्ध ढंग से उद्योगों का विस्तार हुआ। इस काल में कुछ ऐसे उद्योग भी चल पड़े जिनकी स्थिति कच्चे माल, वित्त, बाजार अथवा अन्य बातों की दृष्टि से बहुत खराब थी। युद्ध के समाप्त होने पर ऐसे उद्योगों को भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा और ऐसी स्थिति में औद्योगिक विकास की गति का धीमा पड़ना स्वाभाविक ही था।

इसी प्रकार युद्ध-काल के दौरान व्यवसाय का नैतिक आधार बहुत कमजोर हो गया। उन दिनों अनेक ऐसे लोग व्यवसाय-क्षेत्र में उतरे जो शीघ्र-से-शीघ्र अधिकाधिक लाभ कमाने के चक्कर में थे। अन्य किसी और बात से उनका कोई सरोकार नहीं था। फलस्वरूप चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, झूठ, धोखा आदि अनैतिक व असामाजिक बातों को बहुत बढ़ावा मिला। लड़ाई के साथ ये रेग खत्म नहीं हुए, बल्कि धीरे-धीरे बढ़कर भारतीय जीवन के साधारण अंग बन गए। इससे देश को कितना धक्का लगा और आज भी लग रहा है, यह सर्वविदित है।

अस्तु, द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव से जहां पुराने उद्योग बढ़े और कुछ नए उद्योग भी स्थापित हुए, वहां तरह-तरह की समस्याएं भी उठीं जिनके कारण युद्ध के बाद कुछ समय तक कठिनाइयां बनी रहीं और इनका औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वैसे भी अगले दो-तीन वर्ष का काल राजनीतिक अस्थिरता का समय था जिसमें औद्योगिक विकास के सिलसिले में कोई ठोस कार्य किया जाना संभव न था।

1947 में देश आजाद हुआ, लेकिन आवश्यक शर्त के रूप में देश का विभाजन किया गया। इस देश-विभाजन से औद्योगिक अर्थव्यवस्था को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से चोट पहुंची। उदाहरणतया, विभाजन के फलस्वरूप देश में कच्चे माल की, विशेष रूप से कपास और पटसन की बड़ी कमी हो गई। पटसन के सब कारखाने देश में रह गए, लेकिन कुल 25 प्रतिशत पटसन-क्षेत्र ही हमें मिल सका। इसी प्रकार जहां लगभग 98 प्रतिशत सूती कपड़े के कारखाने हमारे पास रहे, वहां कपास-क्षेत्र का हमें मिलने वाला भाग मुश्किल से 60 प्रतिशत ही था। कच्चे माल की इस कमी के कारण हमारे कपड़ा तथा पटसन उद्योगों को विशेष रूप से गहरी ठेस लगी।

हमारे उद्योगों को इस बात से क्षति पहुंची कि देश की अनेक बड़ी मण्डियां पाकिस्तान के क्षेत्र में चली गयीं। ये मण्डियां अभी तक देश की अपनी संरक्षित मण्डियां थी। देश-विभाजन के कारण ये विदेशी मण्डिया बन गयीं। फलस्वरूप इन मंडियों में माल बेचना कठिन हो गया। पूंजी-बाजार पर भी देश-विभाजन का बुरा असर पड़ा। कुछ क्षेत्रों के लोगों को अपना घर-बार एवं अपना धन्धा-व्यवसाय छोड़कर भारत आना पड़ा। कुछ समय तक वे प्रमुख रूप से उपभोक्ता ही बने रहे। कुछ बचत करना अथवा पूंजी को उत्पादन-कार्य में लगाना उनके लिए सम्भव न था। देश में उस समय छाई हुई अनिश्चितता और अशान्ति का पूंजी-बाजार पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। और फिर, देश-विभाजन के फलस्वरूप कुछ विशेष कोटि के श्रमिकों की कमी बढ़ गई और परिवहन सम्बन्धी स्थिति काफी बिगड़ गई। इनके कारण औद्योगिक क्षेत्र की कठिनाइयों में और वृद्धि हुई।

नोट

इन प्रत्यक्ष प्रतिकूल प्रभावों के अतिरिक्त, परोक्ष रूप से भी देश-विभाजन का औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर बुरा असर पड़ा। उदाहरण के लिए, देश-विभाजन से भारत में खाद्य-समस्या पहले से कहीं अधिक गंभीर हो गई। कारण, जहां विभाजन के फलस्वरूप देश के हिस्से में लगभग 82 प्रतिशत जनसंख्या आई, वहां चावल-उत्पादन का कुल 68 प्रतिशत क्षेत्र और गेहूं-उत्पादन का केवल 65 प्रतिशत क्षेत्र ही भारत को मिल सका। साथ ही देश के सामने शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या भी उठी। देश के सीमित साधन इन समस्याओं को सुलझाने में लगाए जाने लगे, जो इन समस्याओं के न होने पर काफी सीमा तक औद्योगिक विकास के लिए प्रयोग किए जा सकते थे।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 100 वर्ष के औद्योगीकरण के बावजूद स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था बहुत पिठड़ी हुई अवस्था में थी। उस समय तक औद्योगिक विकास के क्षेत्र में जो प्रगति हुई थी, वह देश की आवश्यकताओं और संसाधनों की दृष्टि से बहुत अपर्याप्त थी। राष्ट्रीय आय और रोजगार में उद्याग का योगदान बहुत थोड़ा बना रहा। धीमी प्रगति के अलावा, औद्योगिक ढांचा कमजोर और बहुत बड़ी सीमा तक एकांगी था। देश में मूल व भारी उद्योगों का अभाव था, और जो ऐसे उद्योग थे भी, उनकी प्रगति बहुत धीमी और अवरुद्ध थी। वे अपना पूरा योगदान देने में असमर्थ थे। उद्योगों का प्रादेशिक वितरण भी बहुत दोषयुक्त था। अधिकांश उद्योग देश के कुछ विशेष क्षेत्रों में ही केन्द्रित थे। मौटे तौर पर औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूंजी और उद्यम की प्रधानता काफी बड़ी सीमा तक बनी हुई थी।

औद्योगिक अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन एवं असन्तोषजनक स्थिति का मूल कारण यह था कि विदेशी शासन-काल में देश के औद्योगीकरण में न तो सरकार ने सक्रिय रूप से भाग लिया और न आवश्यक सुविधाओं की समुचित व्यवस्था द्वारा इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। तकनीकी जानकारी, पूंजी एवं आवश्यक साज-सामान की कमी तथा विदेशी प्रतियोगिता के कारण देश के औद्योगिक विकास में जो भी कठिनाइयां पैदा हो रही थीं उनको दूर करने के लिए समय पर और सम्बद्ध रूप में कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किया गया।

नोट्स स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई दशा में थी। उसका तर नीचा था और आधार कच्चा व कमजोर था।

17.2 औद्योगिक विकास और योजनाएँ (Industrial Development and The Plans)

1947 में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना एवं विकास के लिए 1951 में आयोजन अपनाने के बाद देश के औद्योगिक क्षेत्र में अनेक और विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनके फलस्वरूप औद्योगिक अर्थव्यवस्था का रूप व आकार बहुत-कुछ बदल गया है। इसका आधार मजबूत हुआ है, स्तर ऊपर उठा है, और इसमें काफी विविधता दिखाई पड़ने लगी है। अब भारत की गिनती विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में की जाने लगी है। इसका मूल्यांकन करने के सिलसिले में सर्वप्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास के लिए की गई व्यवस्था एवं योजना-काल में हुई प्रगति की जानकारी लाभप्रद रहेगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)

देश की प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को नहीं, बल्कि कृषि-विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का निश्चय किया गया। देश की अल्पविकसित अर्थव्यवस्था तथा आयोजन के पूर्व की परिस्थितियों को देखते हुए यह आवश्यक ही था। उस समय देश में अनाज व अनेक प्रकार के कच्चे माल के सम्बन्ध में स्थिति बहुत खराब थी। अत: कृषि-क्षेत्र की ओर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक था। फिर भी इस योजना में औद्योगिक विकास की उपेक्षा नहीं की गई थी। योजना आयोग ने इस बात पर बल दिया कि देश के वर्तमान उद्योगों को बढ़ाया जाए, विशेषत: उन उद्योगों को जिनका सम्बन्ध उत्पादक वस्तुओं के तैयार करने से है। साथ ही औद्योगिक ढांचे को मजबूत बनाने के लिए नए उद्योग स्थापित करने की भी सिफारिश की गई थी।

नोट

इस योजना के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के विकास के लिए 188 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी; जो योजना की कुल आयोजित व्यय की रकम का लगभग 8 प्रतिशत था। इस अवधि में वास्तव में खर्च की गई रकम निर्धारित व्यय की रकम से भी कम थी–लगभग 97 करोड़ रुपये।

प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में काफी सन्तोषजनक प्रगति हुई। अनेक क्षेत्रों में उत्पादन-मात्रा में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप कई निर्धारित लक्ष्य समय से काफी पहले ही प्राप्त कर लिए गए। पुराने उद्योगों के विकास के अतिरिक्त, कई नये महत्त्वपूर्ण, भारी व बुनियादी उद्योगों की इस अवधि में स्थापना की गई। फलस्वरूप बहुत-सी वस्तुएं जो पहले केवल विदेशों से की आती थीं, अब देश में तैयार होने लगीं। निश्चय ही यह हमारी आर्थिक समृद्धि और आत्मनिर्भरता का शुभ लक्षण था।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61)

दूसरी पंचवर्षीय योजना में, जैसी कि आशा थी, औद्योगिक विकास को बहुत ऊंची प्राथमिकता दी गई। यदि पहली योजना को कृषि मूलक योजना कहा जाए, तो दूसरी योजना को औद्योगिक योजना का नाम देना अनुचित न होगा। इस योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर बहुत बल दिया गया, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में कृषि-क्षेत्र में काफी प्रगति होने के कारण देश में तीव्र औद्योगिक विकास के लिए स्थितियां अब कहीं अधिक अनुकूल थीं। इस योजना में औद्योगिक विकास पर जो अधिक बल दिया गया, वह इस बात से स्पष्ट है कि इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के लिए 950 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई, जो योजना की कुल राशि का 18.6 प्रतिशत था। इस योजना काल में खर्च की रकम और भी अधिक थी– लगभग 1125 करोड़ रुपये।

दूसरी योजना में दो प्रकार के उद्योगों पर विशेष रूप से बल दिया गया था–एक तो भारी मूल उद्योग पर और दूसरे, लघु और कुटीर उद्योगों पर। इनके लिए क्रमशः 690 करोड़ और 160 करोड़ रुपए निर्धारित किए गए थे। देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़, आत्मनिर्भर तथा विविधतापूर्ण बनाने के लिए भारी और बुनियादी उद्योगों का तीव्र विकास अत्यन्त आवश्यक था। साथ ही लघु तथा कुटीर उद्योगों के स्वस्थ विकास की ओर भी अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक था। इनके विकास के लिए पूंजी की कम आवश्यकता पड़ती है, और इनमें अपेक्षाकृत अधिक लोगों को काम मिल सकता है। इन दोनों बातों का हमारे लिए विशेष महत्त्व है। देश में पूंजी की बड़ी कमी है और बेकार लोगों की संख्या बहुत अधिक है। साथ ही इनके सहारे अपेक्षाकृत कम समय में उत्पादन में, विशेष रूप से उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि लाई जा सकती है। पूंजीगत उद्योगों के विकास के शुरू के चरणों में उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन में यथासंभव वृद्धि लाना बहुत आवश्यक होता है, अन्यथा कीमतों के बढ़ने अथवा स्फीतिकारी प्रवृत्तियों के जोर पकड़ने की संभावना बनेगी। अतः दूसरी योजना में जो इन दोनों प्रकार के उद्योगों पर अधिक बल दिया गया, वह हर दृष्टि से वांछनीय और आवश्यक था।

दूसरी योजना की अवधि में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में कई दृष्टियों से काफी तेज एवं संतोषजनक प्रगति हुई। सार्वजनिक और निजी, दोनों क्षेत्रों में निवेश की रकम में काफी भारी वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन-मात्रा काफी तेजी से बढ़ी। इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन में हुई औसत वार्षिक वृद्धि लगभग 6.4 प्रतिशत थी। इससे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इस अवधि में बुनियादी एवं पूंजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों ने, विशेष रूप से मशीन और इंजीनियरी उद्योगों ने भारी उन्नति की। इस्पात, सीमेंट, कोयला, एल्यूमिनियम आदि के उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई। अनेक उद्योगों में काम आने वाले कल-पुर्जों व मशीनों का अधिकाधिक निर्माण देश में होने लगा। साथ ही कुटीर व लघु उद्योगों के क्षेत्र में भी काफी उन्नति हुई।

टास्क कृषिमूलक योजना किसे कहा गयाा था?

नोट

तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66)

तीसरी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को और ऊंची प्राथमिकता दी गयी। इसमें इस बात पर बल दिया गया कि यदि राष्ट्रीय आय और रोजगार से सम्बन्धित दीर्घकालिक लक्ष्य पूरे किये जाने हैं, तो अगले 15 वर्षों में तीव्र औद्योगीकरण के लिए अभी नींव तैयार कर लेनी होगी। इसके लिए यह अनिवार्य ठहराया गया कि मशीन-निर्माण के कार्यक्रमों पर विशेष जोर देते हुए मूल उद्योगों और उत्पादक-पदार्थ उद्योगों की दिशा में तेजी से उन्नति की जाए। इस शर्त को पूरा किए बिना भावी औद्योगीकरण से सम्बन्धित आवश्यकताएं देश के निजी साधनों से पर्याप्त मात्रा में पूरी नहीं हो सकेंगी और न तब तक देश की प्रगति स्वत: विकासशील बन सकेगी।

इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के विकास के लिए 1784 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी, जो इस योजना की कुल राशि का लगभग 23 प्रतिशत था। इस काल में खर्च की रकम योजना में निर्धारित रकम से काफी अधिक थी—लगभग 1967 करोड़ रुपये। दूसरी योजना की भांति इस योजना में भी मूल व भारी उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया।

वार्षिक योजनाएं

तीसरी योजना की समाप्ति पर चौथी योजना को शुरु नहीं किया जा सका। इसे तीन वर्षों के लिए स्थगित कर दिया गया और इस अवधि (1966-690 में तीन वार्षिक योजनाओं का सहारा लिया गया। इन तीन वर्षों में छोटे-बड़े उद्योगों पर लगभग 1636 करोड़ रुपये खर्च किए गए। लेकिन विभिन्न कारणों से इस अवधि में देश की उद्योग-सम्बन्धी स्थिति बहुत असन्तोषजनक बनी रही। विदेशी सहायता के अभाव में देश के उद्योगों के लिए कच्चा माल और पूंजीगत सामान की प्राप्ति में कठिनाई चलती रही। उधर देश में लगातार दो वर्षों तक प्रतिकूल मौसम के कारण कृषि सम्बन्धी स्थिति भी काफी गम्भीर बनी रही। इससे बचत, निवेश और क्रय-शक्ति में कमी हुई, जिसके फलस्वरूप उद्योग-धन्धों को गहरी ठेस लगी। तीन वर्षों की इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक वृद्धि-दर केवल 2. 6 प्रतिशत थी, जबकि तीसरी योजना के काल में औसत वृद्धि-दर 7 प्रतिशत के लगभग थी।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74)

चौथी योजना में औद्योगिक विकास-कार्यक्रम और नीतियों के निर्धारण में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि औद्योगिक ढांचे के असन्तुलनों को दूर किया जाए और सृजित क्षमता को अधिकतम उपयोग में लाया जाए। साथ ही इस तरह की व्यवस्था की जाए कि जिससे कि भुगतान-शेष पर अनुचित दबाव डाले बिना औद्योगिक उत्पादन में तेजी से वृद्धि लाना संभव हो सके। मोटे तौर पर चौथी योजना में औद्योगिक क्षेत्र में निवेश के सम्बन्ध में ये उद्देश्य निर्धारित किए गए—(*i*) पहले से चल रहे निवेश-कार्यों को पूरा करना; (*ii*) भावी विकास की आवश्यकतानुसार वर्तमान क्षमता में वृद्धि लाना, विशेष रूप से आयात-प्रतिस्थापन एवं निर्यात-संवर्धन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में जरूरी चीजों को देश में उपलब्ध करने के लिए व्यवस्था; तथा (*iii*) देश में वर्तमान उपलब्धि तथा विकास का लाभ उठाते हुए नए उद्योगों की स्थापना अथवा उद्योगों के लिए नए आधारों का निर्माण।

इस योजना में इस बात पर भी जोर दिया गया कि पूंजी व अन्य साधन इस ढंग से इस्तेमाल में लाए जाएं कि देश में औद्योगीकरण का यथासंभव अधिकतम विस्तार हो और नए उद्यमकर्त्ता-वर्ग के बढ़ने के लिए प्रात्साहन मिले।

चौथी योजना में छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिजों के विकास के लिए कुल मिलाकर सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 3630 करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई जो तीसरी योजना की इस मद के लिए निर्धारित राशि से लगभग दुगुनी थी। लेकिन खर्च की रकम 3107 करोड़ रुपए थी जो आयोजित राशि से काफी कम थी।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)

औद्योगिक विकास के महत्त्व एवं चौथी योजना के काल में इस क्षेत्र में हुई असन्तोषजनक प्रगति को ध्यान में रखते हुए पांचवीं योजना में औद्योगिक विकास-कार्यक्रम को ऊंची प्राथमिकता दी गई। इस कार्यक्रम के लिए इस योजना

नोट

में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 10200 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई थी। योजना-काल में खर्च की गई रकम इससे थोड़ी कम थी–लगभग 9580 करोड़ रुपए। पिछली योजनाओं में इस कार्यक्रम के लिए निर्धारित राशियों से यह राशि कहीं अधिक बड़ी थी। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन के लिए वार्षिक वृद्धि-दर का लक्ष्य 9 प्रतिशत रखा गया था।

पांचवीं योजना में औद्योगिक विकास-कार्यक्रम तैयार करते समय मुख्य रूप से इन दो उद्देश्यों को सामने रखा गया–आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय सहित विकास। इस कार्यक्रम में मुख्य रूप से इन बातों पर विशेष बल दिया गया–आधारमूलक क्षेत्र (core sector) के उद्योगों का तेजी से विकास, निर्यात-संवर्धन, लोक-उपभोग वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति, अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन पर रोक, ग्रामीण व लघु उद्योगों को बढ़ावा, औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाकों का विकास, आदि। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पांचवीं योजना में जिन बातों को आवश्यक ठहराया गया, उनमें प्रमुख ये थीं–वर्तमान क्षमता से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना, चालू परियोजनाओं को जल्दी पूरा करना, वर्तमान इकाइयों जिनसे शीघ्र अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है उनमें विस्तार व तकनीकी सुधार लाना, योजना में निर्धारित प्राथमिकता के अनुसार नई क्षमता का सृजन तथा छठी योजना की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए लम्बी अवधि वाली परियोजनाओं की पहले से तैयारी।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85)

अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में, उसे आत्मनिर्भर बनाने एवं उसमें संरचनात्मक विविधता लाने में औद्योगिक विकास का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण ठहरता है। इस तथ्य पर बल देते हुए तथा इस बात को ध्यान में रखकर कि गत कई वर्षों से औद्योगिक प्रगति बहुत असन्तोषजनक थी, छठी योजना में औद्योगिक विकास को बहुत ऊंची प्राथमिकता दी गई। छोटे-बड़े उद्योगों और खनिज सम्बन्धी विकास-कार्यक्रम के लिए इस योजना में 15,018 करोड़ रुपये की राशि निर्धारित की गई। इसमें कोयला और पैट्रोलियम के लिए निर्धारित राशि शामिल नहीं है जो पहले इस मद के अन्तर्गत की जाती थी। इस निर्धारित राशि का बड़ा भाग (13,237 करोड़ रुपये) संगठित उद्योगों के लिए रखा गया। लघु और ग्राम-उद्योगों के लिए अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी राशि की व्यवस्था की गई–केवल 1780 करोड़ रुपये। इसमें यही नहीं कि उद्योग-क्षेत्र को अपेक्षाकृत ऊंची प्राथमिकता दी गई, बल्कि इस क्षेत्र के अन्तर्गत बड़े पैमाने के उद्योगों के विकासपर अधिक बल दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया ताकि पूंजीगत और उपभोग-वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग देश के भीतर अधिकाधिक पूरी हो सके और ऊंची उत्पादकता के स्तर पर लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया जा सके।

इस योजना में औद्योगिक विकास के संदर्भ में इन बातों पर विशेष जोर दिया गया। वर्तमान क्षमता का भरपूर उपयोग और उत्पादिता के स्तर को ऊपर उठाना; सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के अनेक उद्योगों की क्षमता में विस्तार लाना ताकि उपभोग-वस्तुओं और पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन को तेजी से बढ़ाया जा सके; पूंजीगत उद्योगों, खास तौर से इलेक्ट्रानिक उद्योगों पर जिन पर अन्य अनेक उद्योग निर्भर करते हैं, विशेष ध्यान देना जिससे कि उत्पादित माल की कोटि में गिरावट न होने पाए और लागत प्रतियोगी स्तर पर कायम रह सके; निर्यात संवर्धन के उद्देश्य से कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों जैसे इंजीनियरी उद्योगों के उत्पादनों में तेजी से वृद्धि लाना; उत्पादन-तकनीक में सुधार लाने के लिए अनुसंधान की समुचित व्यवस्था; पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए नए उपायों को खोज करना अथवा उपयुक्त कार्य-नीतियां तैयार करना, आदि।

इस योजना में औद्योगिक विकास के लिए जो व्यवस्था की गई थी, उसके आधार पर औद्योगिक संवृद्धि-दर का लक्ष्य 6.9 प्रतिशत वार्षिक रखा गया। पिछली दशाब्दी की संवृद्धि-दर को देखते हुए यह लक्ष्य थोड़ा ऊंचा था। लेकिन यह लक्ष्य पहुंच के बाहर नहीं था। आयोजन के प्रथम 15 वर्षों में वृद्धि-दर 7 प्रतिशत के लगभग थी। इसके बाद भी कई वर्ष ऐसे रहे हैं जब कि वृद्धि-दर इस स्तर के आस-पास थी। अत: ठोस प्रयास के सहारे इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता था। लेकिन पहले की भांति इस योजना काल में प्रगति असन्तोषजनक थी। इस अवधि (1980-85) में औद्योगिक उत्पादन में हुई वार्षिक वृद्धि-दर लगभग 6.2 प्रतिशत थी, जो 6.9 प्रतिशत के निर्धारित

नोट

लक्ष्य से थोड़ी कम थी। लक्ष्य की प्राप्ति इन अनेक कारणों से संभव नहीं हो सकी–विभिन्न रूपों में संरक्षण की व्यवस्था; तकनीक का अनुपयुक्त चयन; क्षमता-उपयोग की नीची दर; क्षमता और मांग के बीच असन्तुलन; बिजली, परिवहन आदि की ओर से बाधाएं आदि।

क्या आप जानते हैं सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार प्रमुखत: आधारभूत तथा भारी उद्योगों की दिशा में हुआ है।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90)

सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक संवृद्धि एवं उत्पादिता में सुधार के निर्देशक सिद्धांतों के अनुसार सातवीं योजना में औद्योगिक क्षेत्र के लिए निम्न उद्देश्य निर्धारित किए गए–(*i*) उचित कीमतों पर और ठीक किस्म की लोक-उपभोग की वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति को सुनिश्चित करना; (*ii*) पुनर्गठन और तकनीकी सुधार के सहारे उपलब्ध सुविधाओं का भरपूर उपयोग; (*iii*) विशाल घरेलू बाजार एवं अधिक निर्यात क्षमता वाले उद्योगों पर विशेष ध्यान; (*iv*) अपनी जरूरतों से जुड़े तथा ऊंची संवृद्धि-क्षमता के उद्योगों को बढ़ावा; तथा (*v*) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता एवं कुशल और प्रशिक्षित श्रमिकों के रोजगार-सृजन की दिशा में एकीकृत नीति का निरूपण।

कोयला और पैट्रोलियम के लिए व्यय-राशि के प्रावधान को निकालते हुए, उद्योग तथा खनिज सम्बन्धी विकास कार्यक्रमों के लिए इस योजना में 22,461 करोड़ रुपए की राशि निर्धारित की गई। इसमें से 2753 करोड़ रुपये लघु और ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए रखे गए। योजना में औद्योगिक उत्पादन के लिए औसत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य 8.3 प्रतिशत निर्धारित किया गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारतीय उद्योग को उत्पादिता के उच्चतर स्तर पर पहुंचना जरूरी समझा गया। इसके लिए तकनीक में सुधार लाना, उत्पादन-साधनों का कुशलतम उपयोग, उपलब्ध क्षमता का भरपूर उपयोग एवं उद्योग का आधुनिकीकरण आवश्यक ठहराया गया। योजना के प्रथम दो वर्षों में प्रगति पर्याप्त सन्तोषजनक रही। दोनों वर्षों में प्रगति लक्ष्य से अधिक रही। वार्षिक वृद्धि-दर 1985-86 में 8.7 प्रतिशत और 1986-87 में 9.1 प्रतिशत थी। तीसरे वर्ष 1987-88 में वृद्धि-दर लक्ष्य से कम थी–7.3 प्रतिशत। लेकिन चौथे वर्ष 1988-89 में फिर वृद्धि-दर निर्धारित लक्ष्य से अधिक थी–लगभग 8.7 प्रतिशत। योजना के अन्तिम वर्ष 1989-90 में वृद्धि-दर 8.6 प्रतिशत के करीब थी। इस प्रकार कुल मिलाकर सातवीं योजना के काल में औद्योगिक संवृद्धि-दर लगभग निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप रही। इस योजना-काल में औद्योगिक उत्पादन में हुई वार्षिक वृद्धि-दर 8.5 प्रतिशत थी, जो 8.3 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से थोड़ी अधिक ही थी।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97)

इस योजना में उद्योग एवं खनिज सम्बन्धी विकास-कार्यक्रमों के लिए 40,588 करोड़ रुपये की राशि निर्धारित की गई। लघु और ग्रामीण उद्योगों के लिए अलग से 6,334 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया। रकम की दृष्टि से निर्धारित राशि अपेक्षाकृत कहीं अधिक बड़ी थी। लेकिन कुल व्यय-राशि के प्रतिशत के रूप में यह काफी कम था–लगभग 10.8 प्रतिशत, जबकि यह प्रतिशत भाग छठी योजना में 15.5 और पांचवीं योजना में 24.3 था।

आठवीं योजना में औद्योगिक क्षेत्र में इन अनेक बातों पर विशेष बल दिया गया–उद्योगों की प्रतियोगिता-शक्ति को बढ़ाना, महत्त्वपूर्ण खनिजों का पता लगाना, औद्योगिक कंपनियों के आकार में वृद्धि लाना, हर संभव उपाय से सार्वजनिक उद्यमों को कार्य-कुशल और लाभकारी बनाना आदि। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का वार्षिक लक्ष्य सातवीं योजना के दौरान प्राप्त वृद्धि-दर (8.5%) की तुलना में थोड़ा कम रखा गया–8.2 प्रतिशत। कारण, 1990-92 के दो वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की स्थिति बहुत निराशाजनक रही थी। औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर 1990-91 में तो 7.8 प्रतिशत थी और 1991-92 में यह मात्र 0.6 प्रतिशत थी। आठवीं योजना के प्रथम दो वर्षों में औद्योगिक उत्पादन सम्बन्धी स्थिति असन्तोषजनक बनी रही, यद्यपि सुधार की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी थी। उदाहरण के लिए, उत्पादन-वृद्धि की दर 1992-93 में 4.2 प्रतिशत थी और 1993-94 में

नोट

5.8 प्रतिशत। तीसरे वर्ष 1994-95 में वार्षिक वृद्धि-दर बढ़कर 9.4 प्रतिशत और चौथे वर्ष 1995-96 में इससे भी अधिक थी –11.6 प्रतिशत। अन्तिम वर्ष 1996-97 में अनुमानित वृद्धि-दर (8.7 प्रतिशत) के आधार पर इस योजना के दौरान वृद्धि-दर 8.1 प्रतिशत आंकी गई है जो कि निर्धारित लक्ष्य के बराबर थी।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002)

इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योग एवं खनिज सम्बन्धी विकास-कार्यक्रमों के लिए 69,972 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया जो आठवीं योजना में इस मद के लिए निर्धारित राशि से यह लगभग डेढ़ गुनी अधिक थी। लेकिन कुल व्यय-राशि के प्रतिशत के रूप में यह अपेक्षाकृत कम रही। यह प्रतिशत मात्रा आठवीं योजना में 10.8, छठी योजना में 15.5 और पांचवीं योजना में 24.3 था, जबकि नौवीं योजना में कुल 8.1 ही थी। विभिन्न कारणों से इस योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता ऊर्जा के विकास को दी गई है। उसके बाद प्राथमिकता-क्रम में समाज-सेवा, कृषि और परिवहन का स्थान रहा। इस प्रकार उद्योग की दी गई प्राथमिकता अपेक्षाकृत काफी नीची रही।

स्व-मूल्यांकन (Choose the correct option)

1. **सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

   1. देश में आधुनि उद्योगों की शुरूआत कब हुई?
      (क) उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य (ख) उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में
      (ग) बीसवीं शताब्दी के मध्य (घ) इनमें से कोई नहीं।
   2. राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कब हुई?
      (क) 1945 में (ख) 1946 में
      (ग) 1947 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
   3. प्रथम पंचवर्षीय योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता किसे दी गई थी–
      (क) औद्योगिक विकास को (ख) कृषि को
      (ग) उद्योग को (घ) इनमें से कोई नहीं
   4. पंचवर्षीय योजना की पहली योजना को किस नाम से जाना जाता है?
      (क) कृषि मूलक योजना (ख) औद्योगिक योजना
      (ग) विकास योजना (घ) इनमें से कोई नहीं
   5. नवीं पंचवर्षीय योजना की कालअवधि कब से कब तक की है–
      (क) 1969-1974 (ख) 1974-1979
      (ग) 1997-2002 (घ) इनमें से कोई नहीं

17.3 औद्योगिक विकास का मूल्यांकन (Industrial Development : An Evaluation)

भारत में आयोजन के श्रीगणेश से लेकर अब तक की औद्योगिक वस्तुस्थिति एवं प्रवृत्तियों पर विचार कर लेने पर अब हम इस क्षेत्र में हुई उपलब्धियों का मूल्यांकन करेंगे। औद्योगिक विकास की दिशा में होने वाली कुछ घटनाएं वांछनीय रही हैं और कुछ अवांछनीय हैं। इसलिए अंतिम रूप से कोई निष्कर्ष निकालने से पहले इन दोनों का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

सकारात्मक पक्ष

औद्योगिक गतिविधियों का मूल्यांकन करते समय हमें सबसे पहले इस क्षेत्र की निम्नलिखित प्रमुख उपलब्धियों पर ध्यान

नोट

देना चाहिए।

सन्तोषजनक संवृद्धि दर—आयोजन काल के दौरान औद्योगिक उत्पादन की औसत वार्षिक वृद्धि-दर (6 प्रतिशत) अगर बहुत उत्साहजनक नहीं, तो सामान्यत: संतोषप्रद अवश्य रही है। यह वृद्धि-दर कृषि उत्पादन, जनसंख्या और राष्ट्रीय आय की औसत वृद्धि-दर से काफी अधिक है तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले की औद्योगिक संवृद्धि-दर की तुलना में तो यह लगभग तीन गुनी ज्यादा है। आयोजन-काल के दौरान औद्योगिक उत्पादन लगभग पांच गुना हो गया है। इस भारी वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय की संरचना में उद्योग-क्षेत्र का सापेक्ष योगदान पहले से काफी बढ़ गया हैं यह अवश्य है कि यह वृद्धि-दर विभिन्न योजनाओं में निर्धारित दरों से प्राय: कम रही हैं एक बात यह भी है कि छठे दशक के मध्य से अगले लगभग पन्द्रह वर्षों तक वृद्धि-दर प्राय: गिरने की ओर रही। फिर भी वृद्धि-दर के ऊपर की ओर उन्मुख दीर्घकालीन प्रवृत्ति की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। हाल के वर्षों में स्थिति सुधरी भी है। 1980-81 को आधार वर्ष मानते हुए, औद्योगिक उत्पादन में औसत वार्षिक वृद्धि-दर 1984-96 की अवधि में 8 प्रतिशत के आसपास रही।

कुछ देशों के साथ तुलना करने पर भी हमारी स्थिति सामान्यतया सन्तोषजनक ठहरती है। उदाहरण के तौर पर 1975 को आधार-वर्ष मानते हुए, 1982 में औद्योगिक सूचकांक सिंगापुर में 183, मलेशिया में 165, जापान में 139, रूस में 132 और अमरीका में 118 था। इसकी तुलना में भारत में यह सूचकांक 144 था। इसी प्रकार 1980-93 के दौरान वार्षिक वृद्धि-दर जहां भारत में 6.2 प्रतिशत थी, वहां यह दर चीन में 11.5 प्रतिशत, जापान में 5 प्रतिशत, श्रीलंका में 3 प्रतिशत और कनाडा में केवल 2.2 प्रतिशत ही थी। इस अवधि में सारे विश्व के लिए औसत वृद्धि 2.4 प्रतिशत थी।

आद्योगिक आधार में मजबूती—उत्पादन-मात्रा में वृद्धि तो सन्तोषजनक रही ही है, साथ ही औद्योगिक आधार मजबूत भी हुआ है जिसके सहारे आगे चलकर और अधिक तेजी से उत्पादन में वृद्धि लाना सम्भव हो गया है। इसका स्पष्ट बोध आधारमूलक और पूँजी-वस्तु उद्योगों के क्षेत्र में हुई भारी प्रगति से होता है। इस्पात, सीमेन्ट, इन्जीनियरी, पेट्रोलियम जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना और तेज विकास-विस्तार से अर्थव्यवस्था की क्षमता बहुत बढ़ गई है। इसके फलस्वरूप देश में विभिन्न प्रकार के उद्योग तेजी से प्रगति कर सकेंगे।

विविधता एवं आधुनिकीकरण—एक उल्लेखनीय बात यह है कि यहां की औद्योगिक संरचना में विविधता और आधुनिकता दिखाई पड़ने लगी है। अनेक आधुनिक किस्म के नए उद्योग महत्त्वपूर्ण हो गये हैं, जबकि उपभोग-वस्तु-उद्योगों का सापेक्ष महत्त्व कम हो गया है। इस तरह नये उद्योगों का योगदान बढ़ा है। यह विविधता अनेक बुनियादी और पूंजीगत वस्तु-उद्योगों की स्थापना में भी दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक में खाद्य-वस्तुएं और कपड़ा तैयार करने वाले उद्योगों को दिया जाने वाला महत्त्व अब कम हो गया है, जबकि रासायनिक पदार्थों तथा इंजीनियरी माल को दिये जाने वाले महत्त्व में काफी वृद्धि हुई है। औद्योगिक तकनीक, कौशल आदि क्षेत्रों में भी आधुनिकीकरण बढ़ा है। यह भी स्पष्ट है कि सकल घरेलू उत्पाद में परम्परागत उद्योगों की अपेक्षा नए-नए आधुनिक उद्योगों का योगदान बराबर बढ़ रहा है। औद्योगिक संरचना में आने वाली विविधता भारत के विदेशी व्यापार में भी दीख पड़ती है। बहुत-सी नयी विनिर्मित वस्तुएं—जैसे इंजीनियरी माल, इस्पात आदि—काफी विदेशी मुद्रा कमाने लगी हैं। निर्यात की परम्परागत संरचना भी बदली है। पहले इसमें कृषिजन्य वस्तुओं की बहुतायत होती थी। अब उनका स्थान नयी विनिर्मित वस्तुओं ने ले लिया है। आयात में भी परिवर्तन आया है। अब विनिर्मित वस्तुओं का आयात पहले से बहुत कम हो गया है, जबकि कच्चे माल और पूंजीगत पदार्थों के आयात में भारी वृद्धि हुई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था विविधतापूर्ण और आधुनिक रूप धारण कर रही है। साथ ही इसका आधार मजबूत हो चला है जिससे आगे चलकर विकास की गति और तेज हो सकेगी।

आत्म-निर्भरता—आत्म-निर्भरता की दिशा में निस्संदेह उल्लेखनीय प्रगति की गई है। कई वस्तुओं के मामले में देश आत्म-निर्भर हो गया है और अन्य अनेक वस्तुओं के बारे में 1950-51 की स्थिति की तुलना में, दूसरों पर हमारी निर्भरता काफी कम हो गयी है। मिसाल के तौर पर, अब इस्पात के मामले में दूसरों पर हमारी निर्भरता नहीं के बराबर है। मशीनों और उर्वरकों जैसी महत्त्वपूर्ण मदों में भी हमारी पराश्रितता में बहुत कमी हुई है। बहुत-सी विनिर्मित

नोट

उपभोग-वस्तुओं के लिए अब हम आयात पर निर्भर नहीं हैं। यह उपलब्धि वास्तव में औद्योगीकरण की उस कार्य-नीति का फल रही है जिसमें ऐसे उत्पादक वस्तु उद्योगों पर बल दिया गया, जिनके आधार पर आगे चलकर टिकाऊ उपभोग वस्तुएं–पंखे, साईकिलें, रेडियो, टी. वी. आदि–तैयार की जाने लगीं।

उल्लेखनीय निवेश–एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि निवेश में हो रही भारी वृद्धि से सम्बन्धित है। उद्योग-क्षेत्र में निवेश के लिए अधिकाधिक बड़ी मात्रा में धनराशियाँ अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त होने लगी हैं। औद्योगिक कम्पनियाँ नए-नए शेयर जारी करके पूँजी-बाजार के माध्यम से विशाल मात्रा में संसाधन जुटाने लगी हैं। विदेशी निवेशक भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। यही नहीं, निवेश का बड़ा भाग इन जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में लगा है–बिजली उत्पादन, तेल-शोधन, विद्यतु उपकरण, रसायन और निर्यात से जुड़े उद्योग। इसके फलस्वरूप आगे चलकर विकास की दर और तेजी पकड़ सकेगी।

नकारात्मक पक्ष

हमारे औद्योगिक मंच पर कुछ अवांछनीय घटनाएं भी घटित हुई हैं जिन्होंने इसका चित्र बहुत-कुछ धूमिल कर दिया है। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

अक्षम फर्मे–एक गंभीर प्रवृत्ति देश में अकुशल औद्योगिक फर्मों की संख्या में भारी वृद्धि का होना है। अक्षमता का प्रमाण ऊंची लागतों से मिलता है। कुछ फर्मों की लागतें तो विश्व-मूल्यों से दो-तीन गुना अधिक है। इन फर्मों की अक्षमता निम्न उत्पादिता-स्तरों से भी झलकती है। इसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि हमने आयात-प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगिक विकास की नीति अपनाई है। यह तर्क दिया जाता है कि इस नीति के कारण भारत में आयातों की कड़ी लाइसेंस-व्यवस्था, अनेक वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध और आयात-शुल्कों आदि के रूप में ऐसे संरक्षात्मक कदम उठाये गए जिनसे प्रभावकारी संरक्षण 80-100 प्रतिशत तक हो गया। इस प्रकार प्रतियोगिता की स्थिति के हटने से अनेक फर्मे लागत और क्वालिटी के बारे में सचेत नहीं रहीं। फिर भी आयात-प्रतिस्थापन इस स्थिति का एक मात्र कारण नहीं रहा है। दुर्भाग्य से पूंजी-प्रधान औद्योगीकरण की दिशा में बढ़ते हुए हम अनेक उद्योगों के लिए समुचित तकनीकों का चयन ही नहीं कर पाये। हमने गलती से वह तकनीक चुनी जिसमें पूंजी कर दरकार थी, वह नहीं जिसमें सस्ते श्रम का प्रयोग अधिक किया जा सकता था। ऊंची लागत और नीची उत्पाकदता का एक अन्य कारण औद्योगिक क्षमता का कम उपयोग बताया जाता हैं नि:सन्देह यह आरोप निराधार नहीं है।

उत्पादन में कमियां–कार्यकुशलता के अभाव के कारण अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों–जैसे आधारभूत इस्पात, कच्चे लोहे, कुछ प्रकार की मशीनों और उर्वरक–में उत्पादन कम रहा है। इसका औद्योगिक अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों पर–वास्तव में पूरी अर्थव्यवस्था के विकास पर–बहुत बुरा असर पड़ा है। कमियों का स्तर 25 प्रतिशत से लेकर 75 प्रतिशत तक या इससे भी अधिक रहा है। इन कमियों के अनेक कारण रहे हैं। मुख्य कारण इस प्रकार हैं–(1) काम शुरू होने के बाद डिजाइन आदि में फेर-बदल के कारण परियोजना-आयोजन में त्रुटियां; और (2) संयन्त्रों के निर्माण में अधिक समय का लगना जिसका मुख्य कारण यह था कि महत्त्वपूर्ण उद्योगों के काफी उपकरण विदेशी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत दूसरे देशों से आते थे। चूंकि विदेशी सहायता के बारे में लिखा-पढ़ी करने और माल सुपुर्दगी की प्रक्रियाएं अनिश्चित होती हैं और इनमें समय भी बहुत लग जाता है, इसलिए लक्ष्य पूरा करने में देरी हुई। लक्ष्य प्राप्ति के सम्बन्ध में इन कमियों ने न केवल अन्य क्षेत्रों में प्रगति में रुकावट डाली है, बल्कि विकास-व्यय भी बढ़ा दिया है। साथ ही छठे दशक के मध्य से अगले दस-पन्द्रह वर्षों तक वृद्धि-दर अपेक्षाकृत बहुत धीमी रही। साथ ही वृद्धि-दर में भारी घट-बढ़ भी होती रही। उदाहरण के लिए, जहां वृद्धि-दर 1978-79 में 11 प्रतिशत थी, वहां अगले वर्ष 1979-80 में यह 1.9 प्रतिशत से ऋणात्मक रही।

क्षमता का अल्प-उपयोग और औद्योगिक रुग्णता–हमारे औद्योगिक क्षेत्र की एक अन्य कमी यह है कि बहुत-सी सृजित क्षमता का उपयोग ही नहीं हो पा रहा है और अनेक औद्योगिक इकाइयां रुग्ण अवस्था में हैं। क्षमता के इस अल्प-उपयोग की मात्रा अलग-अलग उद्योगों में और वर्ष-प्रतिवर्ष भिन्न रही है। कुछ मामलों में तो यह 70 से 90 प्रतिशत तक जा पहुंची है। अनेक और विभिन्न प्रकार के उद्योग इस कमी के शिकार रहे हैं। इसके निम्नलिखित

नोट

गम्भीर परिणाम हुए हैं–निर्मित क्षमता का अपव्ययय; वित्तीय तथा प्रबन्धकीय कार्य-कुशलता का अपव्यय; नये उद्योग स्थापित करने में उत्साह में कमी; अनेक अनैतिक परिपाटियां जैसे दुर्लभ कच्चे माल का उपयोग उत्पादन के लिए किए जाने के पहले उद्योगपतियों द्वारा लाभ कमाने की भावना से काले बाजार में वस्तुओं का व्यापार; और संभावित रोजगार-क्षमता का नष्ट होना। निस्सन्देह देश में साधनों की कमी, बड़े पैमाने पर फैली हुई बेरोजगारी तथा कालाबाजारी के बढ़ते जोर को देखते हुए हमारे लिए क्षमता के अल्प-उपयोग की स्थिति की गंभीरता और भी बढ़ जाती है।

इतना ही चिन्ताजनक तथ्य यह है कि हमारे बहुत-से औद्योगिक उद्यम रुग्ण (sick) हो गये हैं। ये उद्यम है जो वित्तीय संकट में फंसे हुए हैं और लम्बे समय से अपनी देनदारियां चुकाने में असमर्थ हैं। मार्च 2001 में लगभग 253 हजार औद्योगिक इकाइयां रुग्ण अवस्था में थीं। 20 वर्ष पहले 1980 की तुलना में (24.5 हजार) यह संख्या लगभग दस गुनी अधिक थी। इससे पता चलता है कि ये इकाइयां किस तेजी से बढ़ रही हैं। बैंकों के साधन जो इनमें फंसे हुए हैं, उसमें भी तेजी से बढ़ोत्तरी हो रही है। 2001 में रुग्ण इकाइयों को दिए गए बैंक-ऋण की बकाया रकम 25,775 करोड़ रुपए थी, जबकि 20 वर्ष पहले यह राशि 1809 करोड़ रुपए ही थी। इस प्रकार 20 वर्षों के भीतर बकाया राशि लगभग चौदह गुनी बढ़ गई। निसन्देह यह विशेष चिन्ताजनक स्थिति ठहरती है। बीमार इकाइयां सब क्षेत्रों में मौजूद हैं–छोटे-बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में तथा निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में भी।

भारी क्षेत्रीय असन्तुलन–भारत के औद्योगिक विकास में एक बड़ी कमी यह रही है कि यहां सभी क्षेत्रों में समान रूप से विकास नहीं हुआ है। अत: देश में क्षेत्र या राज्य-स्तर पर भारी असमानता और असन्तुलन देखने को मिलता है। अधिकांश विकास कुछ ही राज्यों में हुआ है। उदाहरण के लिए, देश के लगभग 80 प्रतिशत कारखाने इन नौ राज्यों में स्थित हैं–महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, पंजाब, कर्नाटक, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश। इन नौ राज्यों का योगदान कुल औद्योगिक उत्पादन में 79 प्रतिशत और निवल संवर्धित मूल्य में 78 प्रतिशत के लगभग है। शेष राज्य औद्योगिक क्षेत्र में हर दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। यही नहीं, उपर्युक्त नौ राज्यों वे बीच भी बड़ी असमानता देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, जहां कुल औद्योगिक उत्पादन में महाराष्ट्र का प्रतिशत भाग 22 के लगभग है, वहां कर्नाटक का प्रतिशत केवल 4 है। इस तरह स्पष्ट है कि हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में कितनी अधिक असमानताएं मौजूद हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा औद्योगिक आयोजन विभिन्न क्षेत्रों में कितनी अधिक असमानताएं मौजूद हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा औद्योगक आयोजन कुछ इस तरह हुआ है कि उसमें उन्नत औद्योगिक क्षेत्र को और भी आगे बढ़ने की सुविधा मिली, जबकि पिछड़े इलाके वस्तुत: पिछड़े ही बने रहे।

मजदूरी-वस्तुओं का अपर्याप्त उत्पादन–हमारे वर्तमान औद्योगिक ढांचे की एक अन्य कमी यह है कि बहुत अधिक लोगों द्वारा बरती जाने वाली वस्तुओं–अर्थात् मजदूरी-वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में यह उत्पादन नहीं कर पाता है। अधिकांश औद्योगिक मजदूरी-वस्तुएं या विनिर्मित मजदूरी-वस्तुएं ऐसी हैं जो मूलत: कृषि की देन हैं, लेकिन जिन्हें कारखानों द्वारा उपभोग्य रूप दिया जाता हैं ऐसी कुछ वस्तुएं हैं सूती कपड़ा, चीनी, वनस्पति तेल, चाय आदि। इनमें से अनेक वस्तुओं का उत्पादन तेजी के साथ नहीं बढ़ा है। कृषिजन्य वस्तुओं के उत्पादन में होने वाली घट-बढ़ के परिणामस्वरूप इन वस्तुओं का उत्पादन भी घटता-बढ़ता रहता है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो कृषि की नई तकनीक का विस्तार पर्याप्त रूप से नहीं किया गया और उर्वरक-उत्पादन का स्तर नीचा रहा है, तथा दूसरी ओर बुनियादी व पूंजीगत वस्तु-उद्योगों पर अभी हाल तक अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है। मजदूरी-वस्तुओं की अपर्याप्तता का नतीजा यह हुआ है कि सामान्य उपभोग की चीजों की कीमतें बढ़ गई हैं और औद्योगिक प्रगति तथा रोजगार-सृजन का काम धीमा रहा है। किसी हद तक यह आलोचना उचित भी है, क्योंकि अगर कृषि की ओर थोड़ा अधिक ध्यान दिया जाता तथा उसमें कुछ और संसाधन लगाए जाते और विकास की रणनीति में मजदूरी वस्तु-क्षेत्र को उचित स्थान दिया जाता तो हमारा औद्योगिक उत्पादन अधिक बढ़ सकता था, रोजगार के अवसरों का तेजी के साथ विस्तार हो सकता था और हम विभिन्न इलाकों में जल्दी ही अपने उद्योगों को फैला सकते थे। इस बात को ध्यान में रखते हुए, वर्तमान नौवीं योजना में कृषि-विकास को ऊंची प्राथमिकता देने का प्रावधान किया गया है।

निवेश में वृद्धि के बावजूद हमारे विकासमूलक प्रयास बहुत-कुछ इस कारण निष्फल होते जा रहे हैं। अत: उत्पादिता में वृद्धि लाना हमारा केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। इससे सभी को लाभ पहुंचेगा–पूंजीपति, श्रमिक और उपभोक्ता।

नोट

उत्पादिता–वृद्धि के लिए तरह–तरह के उपाय सुझाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में दो–एक उपाय विशेष महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। एक तो समुचित सीमा तक औद्योगिक क्षेत्र में प्रतियोगिता की स्थिति का लाया जाना बहुत जरूरी है। ऐसी स्थिति के अन्तर्गत ही उत्पादकों पर लागत घटाने, गुण–कोटि में सुधार लाने तथा उत्पादन बढ़ाने के सिलसिले में आवश्यक दबाव डाला जा सकेगा। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि औद्योगिक क्षेत्र में विशेष रूप से ऐसे क्षेत्रों में जहां एकाधिकार की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक मजबूत रही है, ऐसी और विदेशी फर्में आसानी से प्रवेश कर सकें।

इसके अतिरिक्त, उत्पादन–तकनीक में सुधार लाना जरूरी है। इस संदर्भ में अनुसंधान–कार्य का मुख्य उद्देश्य उत्पादिता–स्तर को ऊपर उठाना तथा पूंजी, और अन्य सीमित संसाधनों के इस्तेमाल में किफायत करना होना चाहिए। यदि जरूरी हो तो इस उद्देश्य से कुछ मामलों में विदेशी तकनीक के आयात का भी सहारा लिया जा सकता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक प्रबन्धन का महत्त्व कम नहीं है। प्रबन्ध–क्षेत्र में आधुनिक तौर–तरीके अपनाकर प्रबन्धक लागत घटाने एवं उत्पादिता बढ़ाने में काफी योगदान दे सकते हैं। स्पष्टत: यह भूमिका प्रशिक्षित प्रबन्धक ही भली–भांति निभा सकते हैं और वह भी तभी जब वे कार्य करने में पर्याप्त स्वतंत्र हों।

साथ ही औद्योगिक वस्तुओं के लिए माँग में वृद्धि लाना कम जरूरी नहीं है। वर्तमान समय में इस दिशा से रुकावट पैदा हो रही है। यह कार्य अब इस कारण और जरूरी बन गया है कि आयात–प्रतिस्थापन के सहारे जो माँग में वृद्धि लाई गई थी, उसका प्रभाव लगभग समाप्त हो गया है। उधर हाल के वर्षों में सार्वजनिक निवेश में वृद्धि धीमी पड़ गई है। अत: हमें नए उपाय अपनाने होंगे। इस संदर्भ में औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों में कमी लाना प्रमुख उपाय ठहरता है। इससे देश–विदेश में हमारे माल की माँग बढ़ेगी। अप्रत्यक्ष करों में कटौती कीमतों को, कम रखने में सहायक रहेगी। उपभोग–वस्तुओं के सम्बन्ध में ब्राण्ड नाम के प्रयोग से बाजार का विस्तार सुविधाजनक बन जाता है, विशेष रूप से विदेशी बाजार का विस्तार।

स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... से आयोजन काल के लिए औसत संवृद्धि–दर का हिसाब लगाएँ, तो यह 6 प्रतिशत से थोड़ी अधिक बैठेगी।
2. दूसरी योजना के समय से ..... विशेष रूप से आधारभूत तथा भारी उद्योगों के विकास पर बहुत बल दिया जाता रहा है।
3. 1991 से आर्थिक क्षेत्र में अपनाई गई ..... की नीति के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार अपेक्षाकृत सीमित कर दिया गया है।
4. औद्योगिक संरचना में आने वाली विविधता ..... के विदेशी व्यापार में भी दिखाई पड़ती है।
5. उद्योगों में निवेश के लिए अधिकाधिक बड़ी मात्रा में ..... अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त होने लगी है।

17.4 सारांश (Summary)

काफी लंबी अवधि की औद्योगिक निष्क्रियता के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देश में आधुनिक उद्योगों की शुरूआत हुई। 1850–60 के दशक में वस्त्र और पटसन उद्योगों की स्थापना की गयी। इसी बीच रेल–निर्माण का कार्य शुरू हुआ और कोयला–खनन उद्योग भी स्थापित किया गया। बागान–उद्योग भी बढ़े और रेल से सम्बन्धित मरम्मत व सुधार–कार्य के लिए कुछ छोटे–मोटे इन्जीनियरी कारखाने भी खोले गए। रेल–निर्माण के कार्य को छोड़कर, सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में कोई दिलचस्पी नहीं ली।

नोट

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश के औद्योगिक विकास के इतिहास में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। इस अवधि में देश के उद्योगों ने अपेक्षाकृत तेजी से प्रगति की। युद्ध-काल में लोगों ने जो भारी लाभ कमाया, उससे प्रभावित होकर बड़ी मात्रा में पूंजी और उद्यम औद्योगिक क्षेत्र की ओर खिंचने लगे।

इस प्रकार देश के उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने संरक्षण देने का जो कदम उठाया, वह बहुत अपर्याप्त और कमजोर था एवं बहुत देर में उठाया गया। लेकिन इन सबके बावजूद संरक्षण-नीति के अन्तर्गत पहले की तुलना में देश में कहीं तेजी से औद्योगिक विकास हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में भारतीय उद्योगों के विकास को और बढ़ावा मिला। इस अवधि में इंग्लैंड, जापान, जर्मनी आदि अनेक देशों से आयात बहुत कम हो गया। एक तो इन देशों में उद्योग युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे हुए थे। दूसरे, इस बीच जहाजरानी की बड़ी कमी हो चली थी और माल भेजने में खतरा भी बढ़ गया था।

1947 में देश आजाद हुआ, लेकिन आवश्यक शर्त के रूप में देश का विभाजन किया गया। इस देश-विभाजन से औद्योगिक अर्थव्यवस्था को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से चोट पहुंची।

हमारे उद्योगों को इस बात से क्षति पहुंची कि देश की अनेक बड़ी मण्डियां पाकिस्तान के क्षेत्र में चली गयीं। ये मण्डियां अभी तक देश की अपनी संरक्षित मण्डियां थी। देश-विभाजन के कारण ये विदेशी मण्डिया बन गयीं।

औद्योगिक अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन एवं असन्तोषजनक स्थिति का मूल कारण यह था कि विदेशी शासन-काल में देश के औद्योगीकरण में न तो सरकार ने सक्रिय रूप से भाग लिया और न आवश्यक सुविधाओं की समुचित व्यवस्था द्वारा इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया।

1947 में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना एवं विकास के लिए 1951 में आयोजन अपनाने के बाद देश के औद्योगिक क्षेत्र में अनेक और विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनके फलस्वरूप औद्योगिक अर्थव्यवस्था का रूप व आकार बहुत-कुछ बदल गया है।

देश की प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को नहीं, बल्कि कृषि-विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का निश्चय किया गया।

17.5 शब्दकोश (Keywords)

- **निर्बाध**–बंधन मुक्त।
- **रूग्ण**–बिमार, दूषित।

17.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. उत्तर-सुधार काल के बाद की औद्योगिक क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
2. आयोजन अपनाने के बाद देश के औद्योगिक क्षेत्र में क्या परिवर्तन हुए?
3. औद्योगिक विकास की मुख्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
4. औद्योगिक विकास का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (क) 2. (ग) 3. (ख) 4. (क) 5. (ग)

नोट

2. 1. 1951 2. औद्योगीकरण 3. उदारीकरण 4. भारत
   5. मार्च 2001 6. धनराशियाँ

17.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–18: सार्वजनिक क्षेत्र की समस्यायें एवं मुद्दे (Issues and Problems of Public Sector)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

18.1 सार्वजनिक क्षेत्र की समस्यायें एवं मुद्दे (Issues and Problems of Public Sector)

18.2 सारांश (Summary)

18.3 शब्दकोश (Keywords)

18.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

18.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सार्वजनिक क्षेत्र की समस्याओं एवं मुद्दों की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इस समय विश्व के प्राय: सभी देशों में सार्वजनिक क्षेत्र एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। विशुद्ध समाजवादी देशों में तो उत्पादन के सभी साधनों पर पूर्णत: सार्वजनिक क्षेत्र का ही बोलबाला होता है, क्योंकि वहां निजी क्षेत्र लगभग होता ही नहीं है। पूंजीवादी देशों में भी, जहां उत्पादन-साधनों के मुख्य अंश पर निजी क्षेत्र का नियंत्रण रहता है, सार्वजनिक क्षेत्र का बहुत महत्त्व हो गया है, हालांकि सभी बातों में वह बाजार के तंत्रविधान के अन्तर्गत ही बना रहता है। विकासशील देशों के आर्थिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र को प्रधान स्थान प्राप्त है। जिन कारणों ने विकासशील देशों में सार्वजनिक क्षेत्र को बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंप दी है, उनका विवेचन यहां किया जा रहा है और इस सम्बन्ध में प्रधानतया भारत में प्राप्त अनुभव को आधार बनाया गया है। इसके पश्चात् इस देश में हुए सार्वजनिक क्षेत्र के बहुविध विकास-विस्तार पर प्रकाश डाला गया है।

18.1 सार्वजनिक क्षेत्र की समस्यायें एवं मुद्दे (Issues and Problems of Public Sector)

निस्सन्देह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास-विस्तार में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। लेकिन यह भी सही है कि इस क्षेत्र के सामने अनेक कठिनाइयां और समस्याएं हैं जिनके कारण इसके विकास एवं सुचारु रूप से संचालन में भारी रुकावटें आ रही हैं। साथ ही इसके सम्बन्ध में कई कमजोरियाँ देखने को मिलती हैं जिसके फलस्वरूप इसकी उपलब्धियाँ बहुत-कुछ धूमिल पड़ जाती हैं। यही नहीं, बल्कि सरकार को विवश हो कर सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में आंशिक रूप में निजीकरण करने की नीति को अपनाना पड़ा। हाल के वर्षों में कई सार्वजनिक उद्यमों के साथ निजी भागीदारी की व्यवस्था की गई है। अत: इसकी मुख्य समस्याओं और कमजोरियों का विवेचन आवश्यक है, ताकि सुधार के लिए आवश्यक उपाय प्रस्तुत किये जा सकें।

नोट

नियन्त्रण और स्वायत्तता

सार्वजनिक क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों की अपेक्षित स्वायत्तता और सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा उन पर नियंत्रण की आवश्यकता के बीच स्वस्थ एवं समुचित समायोजन किस तरह किया जाए। इन संस्थानों में लगा अधिकांश रुपया सरकारी है, जो वास्तव में करदाता का रुपया है। अत: इन प्रतिष्ठानों का मालिक होने के नाते जनता को यह कानूनी और सांविधानिक हक है कि वह इन प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रखे। इसके साथ-ही-साथ यह भी सच है कि इन प्रतिष्ठानों को इतनी आजादी तो मिलनी ही चाहिए कि वे कार्यकुशलता और मितव्ययिता के साथ अपना काम जारी रख सकें। अस्तु, जटिल समस्या यह है कि इन दोनों को कैसे अंगीकार किया जाए अथवा इन दोनों को समायोजित कैसे किया जाए?

अर्थ–सरकारी नियंत्रण में यह बात अंतर्निहित है कि प्रतिष्ठान सरकार के प्रति उत्तरदायी रहें। दूसरे शब्दों में, इसका आशय यह है कि सार्वजनिक उद्यम अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी हों। यह उत्तरदायित्त्व इसलिए अनिवार्य है, ताकि (1) सरकार, संसद और इनके माध्यम से जनता को यह भरोसा हो सके कि सार्वजनिक उद्यम कुशलता और प्रगतिशीलता के साथ चल रहे हैं, (2) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा हो सके, तथा (3) यह सुनिश्चित किया जा सके कि श्रमिक-सम्बन्ध और कार्मिक-प्रबन्धन इतना उत्तम हो कि हड़ताल और तालाबन्दी जैसी स्थितियों से बचा जा सके।

क्या आप जानते हैं सार्वजनिक क्षेत्र न केवल आर्थिक प्रगति का उपकरण है, बल्कि वह सामाजिक परिवर्तन का साधन भी है।

नियंत्रण का अर्थ यह भी है कि संसद को यह अधिकार रहे कि प्रतिष्ठान के काम पर विचार करके उनकी नीतियों और कार्यचालन में आवश्यक सुधार के लिए कानूनी तौर पर आदेश जारी कर सके। नियंत्रण और स्वायत्तता, दोनों का सीमा-विस्तार सम्बन्धित उद्यम के विविध कार्यों–उत्पादन, वितरण, विकास, लेखापालन, औद्योगिक सम्बन्धों आदि–पर प्रभाव डालने वाली नीतियों तथा सामान्य सिद्धान्तों के निर्धारण और कार्यान्वयन तक विस्तृत है।

स्वायत्तता का आशय यह है कि प्रबन्धकों को उस उद्यम के सामान्य कार्य-संचालन की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। मिसाल के तौर पर, उन्हें उत्पादन-साधन जुटाने तथा उनकी प्रबन्ध-व्यवस्था करने, कच्चा माल खरीदने और तैयार माल बेचने आदि के बारे में पूरी आजादी हो। वैसे यह आजादी इस अर्थ में सीमित ही है कि प्रबन्धकों को इसका प्रयोग संसद द्वारा निर्धारित नीतियों और सिद्धान्तों के अनुरूप ही करना होता है।

संगठन के रूप–नियंत्रण और स्वायत्तता का प्रश्न अंशत: सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के संगठनात्मक रूप के साथ जुड़ा हुआ है। भारत में संगठन के तीन रूप हैं। एक है विभागीय प्रतिष्ठान, जैसे कि रेल, डाक-तार आदि। ये सम्बन्द्ध मंत्रालय के विभाग के तौर पर चलाए जाते हैं। राजकोष से इनका वित्त पोषण होता है और इनकी आय का अधिकांश भाग राजकोष में जमा होता है। सरकारी बजट और जांच नियंत्रण के ये अधीन होते हैं। दूसरा रूप सरकारी कम्पनियों का है जो, अन्य कम्पनियों की तरह, कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की जाती हैं। इनकी सारी पूंजी का 51 प्रतिशत पूंजी सरकार द्वारा लगाई जाती है। तीसरा रूप सार्वजनिक निगमों का है जो विशेष कानून द्वारा खोले जाते हैं और ये सरकार के स्वामित्त्व में होते हैं।

इन तीनों प्रकार के संगठनों में व्यापारिक और औद्योगिक उद्यमों के लिए विभागीय प्रतिष्ठान सबसे कम उपयुक्त ठहरते हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध में स्वायत्तता नहीं के बराबर होती है। देश में कम्पनी का रूप अधिक लोकप्रिय है। इसमें पर्याप्त लचीलापन होता है जिसके कारण सार्वजनिक कम्पनी निजी क्षेत्र के प्रतिष्ठानों से प्रतियोगिता कर सकती है। योजना ने सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के लिए तीसरे प्रकार के संगठन-रूप का अर्थात् निगम का सुझाव दिया। निगम का रूप सेवाओं, विशेष रूप से लोकहित सेवाओं के लिए अधिक उपर्युक्त ठहरता है। इन दोनों के बीच जरूरतों के अनुसार चयन किया जाना चाहिए।

नोट

अस्पष्ट स्थिति–नियंत्रण और स्वायत्तता की लक्ष्यसिद्धि की स्थिति अब तक अस्पष्ट ही बनी रही है। इससे इन प्रतिष्ठानों के समुचित कार्यसंचालन में बाधा आती है। इस सम्बन्ध में अभी तक यह परिपाटी रही है: संसद-सदस्य संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों, प्रस्तावों तथा इन प्रतिष्ठानों की रिपोर्टों के माध्यम से इन प्रतिष्ठानों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। सम्बन्धित मंत्रालय की निधि-विषयक मांगों पर मतदान के समय वे संसद् में उन प्रसंगों पर वाद-विवाद करते हैं। इस संदर्भ में मंत्री विभागेतर उद्यमों को भी विभागीय उद्यमों की भाँति ही मानते हैं। मई 1964 से इस स्थिति में सुधार हुआ है। उस समय सार्वजनिक लेखा समिति तथा सार्वजनिक प्राक्कलन समिति के ढंग पर सार्वजनिक उद्यमों के विषय में एक संसदीय समिति गठित की गयी। यह समिति युक्तियुक्त कारोबारी सिद्धान्तों और विवेकसम्मत वाणिज्यिक परिपाटियों के आधार पर इन उद्यमों में कार्यचालन की परख करती है।

नियंत्रण और आजादी–नियंत्रण और स्वायत्तता के दोहरे लक्ष्य की सिद्धि के लिए संस्थागत व्यवस्था के साथ-साथ दो और बातें भी आवश्यक हैं। एक तो यह भली-भांति स्पष्ट होना चाहिए कि किन क्षेत्रों में संसद् का नियंत्रण रहेगा तथा कहां उक्त नियंत्रण का अंत और उद्यम की अपनी स्वायत्तता का आरम्भ होगा। दूसरे, संसद-सदस्यों के सांविधिक अधिकारों के बारे में स्वस्थ परिपाटियों की स्थापना आवश्यक है। उन्हें इस अधिकार का प्रयोग संयम और सावधानी के साथ ही करना चाहिए, नहीं तो नियंत्रण का मूल उद्देश्य–अर्थात् प्रतिष्ठान का समुचित कार्यसंचालन ही विफल हो जायेगा। इसके साथ-ही-साथ प्रबन्धकों पर भी यह दायित्त्व आ जाता है कि वे निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन न करें। अर्थात् राजकीय उद्यमों की नीति तथा लक्ष्य-निर्धारण में प्रबन्धकों का सहयोग आरम्भ से ही लिया जाना चाहिए। इस तरह सार्वजनिक हित के लिए नियंत्रण करने वाली सरकार और कार्य-कुशलता के लिए आजादी चाहने वाले प्रबंधकों के आपसी संघर्ष यथासंभव बचाये जा सकेंगे। यह अवश्य है कि नियंत्रण और स्वायत्तता के इस गठबन्धन के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते। इन दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींचनी भी संभव नहीं है। बहुत समय से तंग करने वाली इस समस्या का समाधान तो अनुभव के बल पर ही किया जा सकेगा। आवश्यक यह है कि सरकार के प्रतिनिधियों और उद्यम का प्रतिनिधित्त्व करने वालों के बीच स्वस्थ और लाभकारी मनोवृत्तियों का विकास किया जाए।

टास्क सरकार का अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण क्यों जरूरी है?

लाभकारिता और कार्यकुशलता

इतना ही महत्त्वपूर्ण है सार्वजनिक उद्यमों में किए गए निवेश की लाभकारिता एवं इससे जुड़ा उद्यमों की कार्यकुशलता का प्रश्न। इस पर अलग से विचार करना जरूरी है।

अर्थ–आम बोलचाल में लाभकारिता का अर्थ है लागत के ऊपर अधिशेष पैदा करना अथवा लाभ कमाना। उद्यम चलाने का यह व्यापारिक सिद्धान्त है और प्रतियोगिता की स्थिति में निजी क्षेत्र इसी सिद्धान्त के आधार पर अपना कार्य चलाता है। इस स्थिति के संदर्भ में इसका अर्थ है लागत को न्यूनतम करना और बाज़ार कीमत पर माल को बेचना। यह तो ठीक है कि कुछ मामलों में (जैसे कि गरीब बच्चों के लिए सार्वजनिक उद्यम द्वारा रियायती दरों पर दूध उपलब्ध कराना) बाज़ार -कीमत की अपेक्षा बिक्री-कीमत कम रखी जा सकती है, फिर भी लाभकारिता या कार्यकुशलता की बात अपनी जगह बनी रहती है। लाभ न कमा सकने की दशा में भी लागत को न्यूनतम करने के रूप में कार्यकुशलता बनाए रखना जरूरी ठहरता है। यह सच्ची लाभकारिता का सूचक है।

आवश्यकता–इन अनेक कारणों से सार्वजनिक उद्यमों की लाभकारिता और कार्यकुशलता में वृद्धि लाना जरूरी है। एक तो यह सामान्यत: सभी स्वीकार करते हैं कि आरम्भ में अपेक्षित पूंजी सरकार द्वारा लगा दी जाने के बाद इन उद्यमों को इतना लाभ अर्जित कर लेना चाहिए कि वे उसी के बल पर अपना विस्तार कर सकें। भारत मे अभी हाल तक सार्वजनिक उद्यमों की स्थिति इस दृष्टि से सराहनीय नहीं रही है। एक अध्ययन के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में कुल निवेश में आन्तरिक संसाधनों का अंश 28 प्रतिशत था, जबकि निजी निगम क्षेत्र में यह अंश 60 प्रतिशत था। इधर स्थिति में अवश्य सुधार हुआ है। उदाहरणतया जहां 1964-65 में कुल निवेश में आंतरिक संसाधनों (मूल्य ह्रास

नोट

एवं प्रतिधारित लाभों का जोड़) का भाग 28 प्रतिशत के लगभग था, वहां 1972-73 में यह 47 के निकट पहुंच चुका था। फिर भी निजी क्षेत्र की तुलना में यह बहुत कम है।

दूसरी बात यह है कि इन उद्यमों को सरकार से प्राय: रियायती दरों पर वित्त मिलता है। इसी तरह विविध सुविधाएँ जैसे जमीन, इमारती सामान आदि सुलभ करने के मामले में भी राजकीय उद्यमों को निजी क्षेत्र की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है। अत: इन उद्यमों में कम लाभ होने, लाभ न होने या हानि होने को केवल अपवादतुल्य परिस्थितियों में ही क्षम्य माना जा सकता है। इससे वास्तव में उनके कुशल कार्य संचालन के बारे में संदेह पैदा होता है।

तीसरे, भारतीय दशाओं के संदर्भ में सामान्यत: लागतें इतनी ऊंची नहीं होनी चाहिए जितनी कि आजकल हैं। वास्तव में विकसित देशों की तुलना में हमारी लागत कम होनी चाहिए। कारण, श्रम की बहुलता के फलस्वरूप हमारे देश में मजदूरी और वेतन का स्तर अपेक्षाकृत नीचा है। अनेक भौतिक लागतों के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। अत: पूंजीगत और परिचालन, दोनों प्रकार की लागतें अपेक्षाकृत कम बैठनी चाहिए।

चौथे, देश में सार्वजनिक उद्यमों को न केवल अपने विकास-विस्तार के लिए, बल्कि योजनाओं के लिए साधन जुटाने के उद्देश्य से भी लाभ कमाने के लिए प्रयास करना चाहिए। काफी लम्बे समय से ऐसा नहीं हो पाया है जिसके कारण सार्वजनिक उद्यमों की कड़ी आलोचना की जाती रही है। इस कमी को दूरे करने के लिए इन उद्यमों के कार्य-संचालन को कुशल बनाना जरूरी है।

पांचवें, यह संभव है कि सार्वजनिक उद्यम लाभ पैदा न कर सकें या लाभ की घोषणा न कर सकें, क्योंकि उनके उत्पादों की कीमतें कम रखी जाती हैं ताकि विशेष सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि निर्धारित उद्देश्य को पूरा करने के लिए ये उद्यम उत्पादन-लागत में कमी लाने में सक्षम न बनें। विशिष्ट बातें उद्यम की कार्यकुशलता की जाच करने के लिए सही अर्थ में प्रासंगिक नहीं है। इनकी विशेष संगति केवल यह निश्चित करने में है कि वस्तु की कीमत निर्धारित करते समय आर्थिक सहायता या सहायिकी का अंश कितना रखा जाए। दूसरे शब्दों में, कार्यकुशलता सिद्ध करने के लिए उद्यम को लाभकारिता दिखलानी ही चाहिए।

उद्यमों में हानियां–अभी हाल तक बहुत से सार्वजनिक उद्यमों में कोई विशेष लाभ नहीं कमाया गया है। सच तो यह है कि अनेक उद्यमों में हानि ही होती रही है। पिछले कुछ बरसों में यह स्थिति सुधरी है। लाभ कमाने वाले उद्यमों की संख्या बढ़ी है और लाभ की राशि भी। फिर भी कुल मिलाकर स्थिति सन्तोषजनक नहीं ठहरती। घाटे में चल रहे उद्यमों की संख्या बहुत अधिक है और साथ ही घाटे की रकम भी। उदाहरण के लिए केन्द्रीय सरकार के उद्यमों की संख्या 1993-94 में 240 थी जिनमें से कोई 107 उद्यम घाटे में चल रहे थे। उस वर्ष कुल घाटे की रकम 5287 करोड़ रुपये थी। भारी एवं बढ़ते हुए घाटे के कारण सरकारी बजट पर बोझ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है जिसका भार अन्तत: समाज को उठाना पड़ता है।

इस सम्बन्ध में संतुलित निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि लाभकारिता या कार्यकुशलता के दृष्टिकोण से इन उद्यमों के असन्तोषजनक कार्य-संचालन के विविध कारणों पर विचार कर लिया जाए। इनमें से मुख्य कारण ये हैं:

(1) **बहुत अधिक आरम्भिक व्यय**–सार्वजनिक क्षेत्र में नयी और बड़ी परियोजनाओं की स्थापना पर आरम्भिक व्यय बहुत अधिक रहा है। इन इकाइयों के निर्माण के आरम्भिक समय में बहुत अधिक प्राविधिक योग्यता वाले लोग उपलब्ध नहीं थे। इसलिए इन परियोजनाओं के आयोजन और कार्यान्वयन पर लागत अधिक आयी। इस प्रकार पहले शुरू की गई परियोजनाओं में बहुत पूंजी लगी हुई है। समय बीतने के साथ-साथ इस स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

(2) **पूंजी-प्रधान उद्योग**–सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक उद्योग बहुत अधिक पूंजी-प्रधान हैं। इस्पात, इंजीनियरी, रसायन, उर्वरक और पेट्रोलियम उद्योगों में बहुत अधिक पूंजी लगी हुई है। इन उद्योगों को पूरा होने में लम्बा समय लगता है और इस कारण प्रतिफल बहुत देर में प्राप्त हो पाता है।

(3) **अतिरिक्त क्षमताएं**–कुछ उद्योगों में यह व्यवस्था की गई आगे चल कर अतिरिक्त क्षमता उपलब्ध हो सके। इस कारण उनकी प्रारम्भिक लागतें आधिक रहीं। इस व्यवस्था से लाभ तभी उठाया जा सकेगा, जबकि इन क्षमताओं का पूरी तरह उपयोग सम्भव बन जाए। तब तक तो इनमें हुए निवेश से लागत में ही वृद्धि होती रहेगी और लाभ कम ही रहेगा।

नोट

(4) **भारी सामाजिक लागत**–इन उद्यमों के नगर-क्षेत्र के निर्माण, रख-रखाव और प्रशासन पर बहुत अधिक सामाजिक लागत आई है। ये लागतें इन उद्यमों की कुल लागतों का अभिन्न अंग हैं। इनके अलावा शिक्षा, श्रमिक कल्याण आदि पर हुआ व्यय भी कुल लागतों में शामिल होता है। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के एक अध्ययन दल के मतानुसार निवेश का 10 प्रतिशत भाग इन नगर-क्षेत्रों पर ही व्यय हुआ है।

(5) **कम कीमतों वाले उत्पादन**–सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादित कुछ वस्तुओं के दाम प्राय: जानबूझकर कम रखे गए हैं। जैसे इस्पात, उर्वरक तथा सीमेंट आदि की सरकार द्वारा निर्धारित कीमतें प्राय: उनकी लागत पर आधारित कीमतों से कम रही हैं। इसी तरह विभिन्न उद्योगों के लिए आवश्यक आधारमूलक कच्चे माल की कीमतें कम रखी गयी हैं, ताकि इनका उत्पादन बढ़े और मुद्रास्फीति में कमी रहे। अनेक राष्ट्रीयकृत बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएं खोलने और उन्हें चालू रखने के सिलसिले में प्राय: भारी हानि उठानी पड़ी है।

(6) **श्रमविषयक कठिनाइयां**–बहुत से उद्यमों में श्रमविषयक कठिनाइयों से काम रुक गया। इस कारण वहाँ उत्पादन कम रहा, बिक्री से कम रकम मिली और लाभ भी कम रहा या फिर हानि उठानी पड़ी।

(7) **ऊंचा व्यय अनुपात**–व्यय का अनुपात (अर्थात् शुद्ध बिक्री/लागत) भी बहुत अधिक रहा है। इसका परिणाम यह है कि उद्यमों के अधिशेष कम रहे हैं या फिर उनमें हानियां रही हैं। कुछ उद्यमों में तो व्यय का अनुपात 100 प्रतिशत तक या उससे भी अधिक रहा है।

(8) **अन्य कारण**–इनके अलावा ऐसी कुछ और बातें भी है जिनके कारण सार्वजनिक उद्यमों का कार्य-निष्पादन सन्तोषजनक नहीं रहा है। इनमें से पहली बात है कुल निवेश में ऋण का बहुत अधिक अनुपात। इससे उद्यम पर निश्चित ब्याज चुकाए जाने के कारण स्थायी रूप से एक बड़ा बोझ लद जाता है। परियोजना का निर्माण-कार्य चाहे पूरा हो या नहीं और चाहे उत्पादन शुरू हो या नहीं, ऋण पर ब्याज की रकमें जुड़ती जाती हैं। चूंकि परियोजना के पूरी होने में प्राय: बहुत देरी होती है, इसलिए ब्याज की रकम बहुत बड़ी हो लेती है। इसके विपरीत, कारोबार का आम तरीका यह है कि निवेश का अधिक अनुपात इक्विटी पूंजी के रूप में रखा जाता है।

नोट्स लाभांश की घोषणा या भुगतान करने की स्थिति तभी पैदा होती है जबकि लाभ कमाया जाता है।

दूसरे, इन उद्यमों के प्रबन्ध के विषय में, खासतौर से माल-नियन्त्रण के मामले में अकुशलता या कमियां मौजूद हैं। साथ ही साधारणतया कर्मचारियों की कार्यक्षमता का स्तर नीचा रहा है। आयातित कच्चे माल की भराई में समय लगने और उसकी प्राप्यता अनिश्चित होने के कारण आवश्यकता से अधिक माल रखना पड़ता है और इस तरह लागत बढ़ जाती है। साथ ही ऊँचे स्तर के प्रबन्धकों के साथ भी यह शिकायत रही है कि वे बहुत अच्छा काम नहीं कर सके। इसका आंशिक कारण यह रहा है कि सही आदमियों को इस काम पर नहीं लगाया गया। दफ्तरशाही के कारण भी कार्य-कुशलता को क्षति पहुंची है। कार्य की लेखा-परीक्षा में बहुत देर होती रही है। कार्य-कुशलता की भी कोई जांच नहीं की गई है। एक अन्य कारण निजी क्षेत्र की रुग्ण इकाइयों का सार्वजनिक क्षेत्र में शामिल किया जाना है। ऐसी इकाइयों की संख्या तेजी से बढ़ती रही है। सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए इनको सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत लाना आवश्यक तो ठहराया जा सकता है, लेकिन लाभकारिता पर प्रतिकूल प्रभाव तो पड़ेगा ही।

सुधार के लिए उपाय

सार्वजनिक उद्यमों की लाभकारिता और कार्य-कुशलता के इस विवेचन से स्पष्ट है कि कम लाभकारिता का पूरा दोष इन उद्यमों पर ही नहीं थोपा जा सकता। समय मिलने पर इनमें से अनेक बुराइयां दूर हो सकती हैं। फिर भी कई प्रकार के उपाय अपनाकर इनकी लाभकारिता व कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है। एक तो इनके प्रबन्धन में सुधार लाकर उसे वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक रूप देना जरूरी है कर्मचारियों का प्रशिक्षण इस कार्य में सहायक हो सकता है। दूसरे, लागत कम करने के उद्देश्य से आवश्यक उपाय अपनाने होंगे। उदाहरण के लिए, कुल निवेश में ऋण का अनुपात

नोट

घटाने से स्थायी ब्याज लागत का बोझ कम किया जा सकता है। इसी प्रकार वित्त-व्यवस्था तथा कार्यकुशलता की जांच-परख से सम्बन्धित नीतियों में आवश्यक संशोधन करने से इन उद्यमों के कार्य में सुधार लाया जा सकता है। माल-नियंत्रण के अधिक कुशल तरीके से लागत में कमी हो सकेगी। वर्तमान क्षमता के और अधिक उपयोग से कम-से-कम समय में उत्पादन बढ़ेगा और लाभदेयता में भी वृद्धि होगी। परियोजनाएं ठीक ढंग से बनाकर, उनका समुचित नियंत्रण करके और उन्हें जल्दी ही पूरा करके पूंजीगत लागतें भी घटायी जा सकती हैं। यह भी आवश्यक है कि निजी क्षेत्र की रुग्ण इकाइयों को सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत लाए जाने पर रोक लगाई जाए। यह औद्योगिक रुग्णता का स्थायी या सही हल नहीं है। यहां यह ध्यान रहे कि अनेक सार्वजनिक उद्यम स्वयं रुग्णता के शिकार हैं। बेहतर होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार को सीमित किया जाए। समाजवाद के नारे को लेकर नहीं, बल्कि प्रमुखत: आर्थिक आधार पर सार्वजनिक उद्यम को खोलना देश के हित में होगा। आवश्यकता इस बात की है कि सार्वजनिक उद्यम की उत्पादिता का स्तर ऊपर उठे।

तीसरे, औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार बहुत ही जरूरी है। स्वस्थ औद्योगिक सम्बन्धों के बिना ये उद्यम अपनी भूमिका भली-भांति निभा ही नहीं सकेंगे। इसके लिए पांचवीं योजना में तीन बातें अनिवार्य ठहरायी गयीं–(1) उच्चतर कार्य-संचालन के लाभों के बंटवारे की उचित पद्धति का प्रबन्ध, उदाहरण एक सीमा तक श्रमिकों को शेयरधारी बनाने की व्यवस्था; (2) कर्मचारियों के प्रतिनिधियों और प्रबन्धकों के बीच प्रभावकारी सौदाकारी सम्बन्धों के बारे में संस्थागत ढांचे की व्यवस्था; तथा (3) सभी स्तरों के कर्मचारियों को शिक्षा प्रदान करना, ताकि औद्योगिक लोकतन्त्र की भावना पैदा हो सके।

इस प्रकार सार्वजनिक उद्यमों की कार्य-कुशलता और लाभकारिता बढ़ाने के लिए प्रबन्धन, परियोजना, कच्चा माल, वित्त, औद्योगिक सम्बन्ध आदि विभिन्न मोर्चे पर एक साथ उपाय अपनाने होंगे।

कीमत नीति

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की एक अन्य समस्या का सम्बन्ध उनके उत्पादनों की कीमतों के निर्धारण के साथ है। यह बात महत्त्वूपर्ण हो गयी है, क्योंकि ये उद्यम पर्याप्त लाभ न कमा सकने के कारण अधिशेष पैदा नहीं कर पा रहे है, जबकि ऐसे संसाधनों की आवश्यकता वर्तमान समय में बहुत बढ़ गई है।

महत्त्व–प्राय: सभी सार्वजनिक उद्यमों के उत्पादों की कीमतें निर्देशित कीमतें होती हैं; अर्थात् उनका निर्धारण प्रशासन या प्रबन्धक वर्ग द्वारा किया जाता है, मांग तथा आपूर्ति की मंडीगत शक्तियों द्वारा नहीं। अत: इस कीमत-निर्धारण को किन्हीं सिद्धान्तों या उद्देश्यों के आधार पर उचित ठहराना आवश्यक होता है। यदि ये कीमतें विवेकपूर्ण न रखी जाएं, तो उद्यमों की कार्य-कुशलता सुनिश्चित किए बिना हानियां या अधिशेष पैदा होंगे। मिसाल के तौर पर, अगर लागतों पर ध्यान दिए बिना कीमतें ऊंची रख दी जाएं तो इससे उद्यम की अक्षमता छिपी रहने में सहायता मिलेगी या उसे क्षमताशील बनने की प्रेरणा न मिल सकेगी। इसी तरह अनुचित रूप से कम कीमत कुशल उद्यम के लिए सजा सरीखी भी हो सकती है, क्योंकि उस उद्यम में हानि इसलिए नहीं होगी कि वहां कार्यकुशलता की कमी है, बल्कि हानि इसलिए होगी कि उसके उत्पाद की कीमत बहुत कम रखी गई है।

कार्यकुशलता के अलावा, वस्तुओं की कीमत-निर्धारण का सम्बन्ध, लाभ कमाने के प्रयोजन के साथ है, ताकि पर्याप्त संसाधन निवेश के लिए सुलभ हो सकें। सरकारी उद्यमों में हानि होने से इसका बोझ सरकार के बजटीय संसाधनों पर पड़ता है। कराधान द्वारा यदि और धन एकत्र करने की संभावना होती, तो हानियों को पूरा करने का यह तरीका शायद उचित भी मान लिया जाता। लेकिन इसके लिए सम्भावना बहुत कम है। अत: अतिरिक्त सार्वजनिक निवेश इस बात पर निर्भर करेगा कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में आंतरिक संसाधन पैदा करने की कितनी अधिक क्षमता है। अभी तक तो इस दिशा में सार्वजनिक क्षेत्र की उपलब्धि सन्तोषप्रद नहीं रही है। योजनाओं के दौरान प्राप्त संसाधन आशा से बहुत कम रहे है। मिसाल के तौर पर, अनुमान यह था कि तीसरी और चौथी योजनाओं के संसाधनों में, रेलवे सहित, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का योगदान क्रमश: 550 करोड़ और 2231 करोड़ रुपये रहेगा। लेकिन वास्तव में ये रकमें केवल 435 करोड़ रुपये और 1135 करोड़ रुपये ही रहीं। सार्वजनिक उद्यमों की अधिशेष-सृजन क्षमता बढ़ाने की आवश्यकता कीमत-निध

नोट

र्रिण की समुचित नीति के प्रश्न को और भी महत्वपूर्ण बना देती है। यहां यह भी ध्यान रहे कि सार्वजनिक उद्यमों द्वारा उत्पादित अनेक वस्तुएं कई और उद्योगों में उत्पादन-साधन के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं। अत: इनकी कीमतें उनके लागत-स्तर को प्रभावित करती हैं। इस दृष्टि से भी कीमतों का समुचित निर्धारण आवश्यक है।

'लोक-उपयोगिता-प्रधान विचारधारा बनाम 'प्रतिफल-दर'-प्रधान विचारधारा–कीमत-नीति के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरोधी विचारधाराएं सामने आती हैं। इनमें से एक को लोक या जन-उपयोगिता-प्रधान विचारधारा कहा जाता है। इसके समर्थक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को पारम्परिक अर्थ में लोक-उपयोगिता के तुल्य मानते हैं, जिसमें 'न लाभ-न हानि' की स्थिति होती है। बहुत समय से यह विचारधारा कीमत-निर्धारण नीति पर जोरदार प्रभाव डालती रही है। इस विचारधारा को इस तर्क ने और बल प्रदान किया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकतर उद्यम आधारभूत उद्योगों की परिधि में आते हैं। अत: अगर इनके उत्पादनों की कीमतें बहुत ऊंची रखी गयीं, तो इससे अर्थव्यवस्था के अनेक अंगों मे लागतें बढ़ जाएंगी। निजी क्षेत्र भी सरकार पर दबाव डालता रहा है कि आधारमूलक उद्योगों की वस्तुओं की कीमतें नीची निर्धारित की जाएं, ताकि उसे सस्ता कच्चा माल सुलभ हो सके। अत: कीमतें जितनी ऊंची हो सकती थीं, उससे कम निर्धारित की जाती रहीं।

दूसरी विचारधारा को 'प्रतिफल दर-प्रधान विचारधारा' कहा जाता है। इसमें निवेशित पूंजी से समुचित प्रतिफल प्राप्त करने पर बल दिया जाता है। इसके अनुसार प्रतिफल केवल इतना ही नहीं होना चाहिए कि उससे मूल्यह्रास और ब्याज-प्रभार की ही भरपाई हो सके, बल्कि वह इतना हो कि अर्थव्यवस्था में पुन: निवेश के लिए भी कुछ बचा रह सके। इस विचारधारा के प्रयोग मे समरूपता तो दिखाई नहीं देती है, लेकिन कुछ उद्यमों में इसे अंगीकार कर लिया गया है। जैसे, पैट्रोलियम उत्पादों के सम्बन्ध में तेल-मूल्य समिति (1974-76) ने प्रत्येक तेल शोधशाला के लिए कीमत की संगणना करते समय कुल निवेशित पूंजी पर 15 प्रतिशत के बराबर सकल प्रतिफल को आधार बनाया। इसी प्रकार उर्वरकों के बारे में मराठे समिति ने कर चुकाने के बाद 12 प्रतिशत का प्रावधान किया। विभिन्न योजनाओं में राजकीय बिजली बोर्डों के लिए 9-10 प्रतिशत प्रतिफल की व्यवस्था रही है। फिर भी कीमत-निर्धारण की सरकारी नीतियों का यह आधार नहीं बन सका।

सहायिकी और हानियां–उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं में से जन-उपयोगिताप्रधान विचारधारा इतनी शक्तिशाली रही कि उसने सार्वजनिक क्षेत्र के उत्पादनों की कीमतों में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं होने दी। इस तरह के मूल्य-निर्धारण से वही परिणाम सामने आये जो अपेक्षित थे। उपभोक्ताओं, विशेषकर कमजोर वर्गों और प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को आर्थिक सहायता या सहायिकी (subsidy) प्रदान की गई है। यहां एक तर्कसंगत कार्य यह हो सकता था कि जो उपभोक्ता कमजोर नहीं थे अथवा जो गैर-प्राथमिकता वाले क्षेत्र थे, उनसे अधिक दाम वसूल किए जाते। लेकिन ऐसा किया नहीं गया। इसके विपरीत, यह बोझ बजट और दीर्घावधिक वित्तीय संस्थाओं और बैंकों पर पड़ा। इस प्रक्रिया में सार्वजनिक उद्यमों में हुए निवेश पर प्रतिफल की दर कम और यहां तक कि ऋणात्मक हो गयी। इन हानियों के परिणामस्वरूप ये उद्यम अपने विकास-विस्तार के लिए अपनी और से कोई व्यवस्था करने में असमर्थ हो गये। एक बात और भी है। सार्वजनिक उद्यमों में लगातार हानियां होने या उनकी उपलब्धि लगातार कम रहने से प्रबन्धकों और मजदूरों, दोनों के ही मनोबल पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। सार्वजनिक उद्यमों के उत्पादों की कीमतें कम रखने का एक बुरा असर यह भी हुआ है कि ये वस्तुएं 'काले बाजार' अर्थव्यवस्था की और बढ़ निकलती हैं जहां इनसे भारी निजी लाभ कमाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता को कुछ लाभ नहीं मिल पाता और इधर और सार्वजनिक उद्यमों को भी हानि ही होती है।

कीमत-वृद्धि का औचित्य–कीमत-नीति के लिए पथ-प्रदर्शन के रूप में तीन मुख्य बातें उभर कर सामने आती हैं। एक तो यह कि इस शर्त के अधीन रहते हुए कि कुछ वस्तुओं के बारे में कुछ विशिष्ट उपभोक्ताओं या प्रयोगों को विशेष छूट या सुविधा दी जा सकती है, कुल मिलाकर कीमतों में वृद्धि की जानी चाहिए। समग्र रूप से यह मूल्य-वृद्धि अनेक कारणों से उचित है। एक तो यह कि सार्वजनिक निवेश के लिए तत्काल संसाधन व अधिशेष बढ़ाना बहुत जरूरी है। इन उद्यमों में पहले ही बड़ी-बड़ी रकमें लगी हैं। अत: इनमें और अधिक निवेश करने के लिए या इनके विस्तार के लिए तथा नये उद्यमों की स्थापना के लिए भी यह आवश्यक है कि इन निवेशों के लिए पर्याप्त संसाधन जुटाये

नोट

जाएं। दूसरे, ये परियोजनाएं बहुत अधिक पूंजी-प्रधान तो हैं ही, इनकी लागतें भी बहुत ऊंची होती है जिन्हें एक अवधि के भीतर वसूल किया जाना होता है। तीसरी बात यह है कि इन उद्योगों की निविष्टियों में, या फिर अर्थव्यवस्था की किसी अन्य सम्बन्धित क्षेत्र में मूल्य-वृद्धि हो सकती है। इस स्थिति में भी इन उद्योगों के उत्पादनों की कीमतों में वृद्धि आवश्यक ठहर सकती है।

लागत कम करने के उपाय–सार्वजनिक उद्यमों के उत्पादों की मूल्य-वृद्धि को उचित ठहराते हुए भी इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि इन उद्यमों में लागत घटाने और कार्यकुशलता सुधारने के प्रयत्न भी बहुत आवश्यक हैं। वास्तव में इसके बिना तो मूल्य-वृद्धि को उचित माना ही नहीं जा सकता। अगर ये प्रयत्न किये बिना कीमतें बढ़ायी जाती हैं, तो इसका अर्थ होगा अक्षमता को सहारा देना। लागतें कम करने के लिए अनेक कदम उठाए जा सकते हैं। इनमें से सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि इन उद्यमों की क्षमता का भरपूर उपयोग किया जाए। इन उद्योगों में अनेक बुराइयां रही हैं–जैसे माल की अकुशल व्यवस्था, क्रय-विक्रय के लिए उचित व्यवस्था का अभाव, आदि। बेहतर प्रबन्ध और संगठनात्मक संयोजनों द्वारा ये बुराइयां दूर की जा सकती हैं। हानियों का एक कारण यह भी रहा है कि परियोजनाएं ठीक तरह से नहीं बनायी गयीं, जिनके कारण निर्माण-काल के दौरान उनके आकार और स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन आवश्यक होते गए। अतः श्रेष्ठतर ढंग से परियोजनाएं बनाकर वर्तमान परियोजनाओं का विस्तार करते समय या नयी परियोजनाएं स्थापित करते समय इस बुराई से बचा जा सकता है।

कीमत-निर्धारण का आधार–परियोजनाओं की कुशलता के साथ तैयारी, निर्माण और संचालन की आवश्यक होते गए। अतः श्रेष्ठतर ढंग से परियोजनाएं बनाकर वर्तमान परियोजनाओं का विस्तार करते समय या नयी परियोजनाएं स्थापित करते समय इस बुराई से बचा जा सकता है।

कीमत-निर्धारण का आधार–परियोजनाओ की कुशलता के साथ तैयारी, निर्माण और संचालन की समुचित व्यवस्था के साथ-साथ कीमत-निर्धारण को लागत से जोड़ना आवश्यक है। इसका यह आशय नहीं है कि प्रत्येक स्थिति में बिक्री-मूल्य लागत के बराबर हो। उद्यमों के अन्य उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए ग्राहक से लिया गया मूल्य लागत पर निर्धारित मूल्य से भिन्न हो सकता है। जहां लाभेतर कारण प्रधान न हों (या उत्पाद का उद्देश्य किन्हीं सामाजिक हितों की रक्षा न हो) वहां कीमत लागत से ऊंची हो सकती है, उतनी ऊंची जितनी कि मांग के सन्दर्भ में सम्भव हो या जितनी उपभोक्ता या प्रयोक्ता बरदाश्त कर सकें। इस सम्बन्ध में मूल लक्ष्य तो यही है कि जहां तक हो अधिक-से-अधिक कीमत ली जाए, ताकि उद्यम मूल्यह्रास, ब्याज आदि की अपनी देनदारियां चुकाने के बाद पर्याप्त अधिशेष पैदा कर सकें। कुछ मामलों में 'न लाभ न हानि' को आधार बनाया जा सकता है। वैसे उपर्युक्त सिद्धान्त का पालन पूरी तरह किया जाना चाहिए, ताकि उद्यम अपने सभी दायित्त्वों का पूरी तरह निर्वाह कर सके। उद्यम कुछ गिने-चुने मामलों में कीमतें लागत से कम भी रख सकते हैं और इस तरह उन वस्तुओं के सम्बन्ध में सहायिकी या आर्थिक सहायता दे सकते हैं। लेकिन ऐसे मामलों में यह सुनिश्चित होना ही चाहिए कि लाभ किन्हें दिया जाना है और यह कि इस तरह उन उद्यमों को होने वाली हानि लाभान्वित होने वालों के लाभ से अधिक नहीं हो। इस तरह स्पष्ट है कि बिक्री-मूल्य के आधार उद्देश्यों के अनुरूप भिन्न हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में सबसे प्रधान लक्ष्य यही रहना चाहिए कि सार्वजनिक क्षेत्र में हुए निवेशों से कुल मिलाकर शुद्ध प्रतिफल प्राप्त हो। यह बात देश के वर्तमान चरण में तो और भी महत्त्वपूर्ण है, जहां अधिक-से-अधिक सार्वजनिक निवेश द्रुत गति से विकास के लिए आवश्यक बन गया है।

सरकार की नीति

सार्वजनिक क्षेत्र की कमियों को दूर करने के लिए सरकार ने इधर कई उपाय किये हैं। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं।

निजीकरण–निजी क्षेत्र से जुड़ी प्रेरणाओं को काफी बड़ी सीमा तक समावेश करने का उपाय किया गया है। इसके लिए एक तो सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित 17 उद्योगों में से 9 निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए गए हैं। इनमें लोहा व इस्पात, वायु-परिवहन, नौवहन निर्माण, बिजली आदि जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योग शामिल हैं। दूसरे, कुछ उद्योगों के सम्बन्ध में पूंजी के एक भाग के विनिवेश (disinvestment) के द्वारा सरकार ने निजी क्षेत्र को सह-स्वामी या भागीदार बनाना निश्चय किया

नोट

है। तीसरे, कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों को जिनके सम्बन्ध में निजी क्षेत्र के पास सुविज्ञता और संसाधन आदि हैं, उन्हें निजी क्षेत्र के लिए छोड़ने का निर्णय सरकार ने लिया है। सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में कम-अधिक सीमा तक निजी क्षेत्र का सहयोग लेने की नीति को अनेक विकसित और विकासशील देशों ने अपनाया है। इस नीति के पीछे इस प्रकार के अनेक उद्देश्य रहे हैं जैसे कि अर्थव्यवस्था के लिए पूँजी जुटाना, सहायिकी की लागत के बोझ को कम करना, सार्वजनिक उद्यम की अक्षमता को दूर करना आदि। फिर भी निजीकरण एक सीमा तक ही वांछनीय है। ध्यान रहे कि निजी-क्षेत्र की कमजोरियाँ और बुराइयाँ कम गम्भीर नहीं हैं जिसका आगे चलकर उल्लेख किया जायेगा।

बाजार-उन्मुखता–निजीकरण के अलावा, सरकार ने यह सुनिश्चित करने के लिए भी उपाय किए हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम अपने कार्य को बाजार-सिद्धान्तों के अनुसार चलाएं। दूसरे शब्दों में, उनका कार्य-संचालन बाजार-कीमतों और प्रतियोगिता के आधार पर हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, एक तो सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को एकाधिकार आयोग के अन्तर्गत ला दिया गया है। अभी तक ये एकाधिकारी एवं प्रतिरोधात्मक व्यापाारिक व्यवहार अधिनियम के दायरे के बाहर थे। दूसरे, निजी क्षेत्र की भांति, अब सरकार सार्वजनिक उद्यमों के मामले भी औद्योगिक तथा वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड को सौंपा करेगी।

कार्य-संचालन में सुधार–सार्वजनिक उद्यमों की कार्यप्रणाली में सुधार लाने के लिए भी सरकार प्रयास कर रही है। कुछ चुने हुए क्षेत्रों में प्रतियोगिता का समावेश करने के अलावा; सरकार ने साधनों की खरीद, माल की बिक्री, कीमत-निर्धारण आदि मामलों में इन उद्यमों को स्वायत्तता प्रदान की है। साथ ही इन पर इस बात के लिए जोर डाला जा रहा है। कि पूंजी-संसाधनों की प्राप्ति के लिए ये अपने ऊपर अधिक निर्भर करें। निस्सन्देह सार्वजनिक उद्यमों की कार्य-प्रणाली में सुधार लाना बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. भारत में संगठन के ..... रूप हैं
2. लाभकारिता का अर्थ है लागत के ऊपर ..... पैदा ककरना।
3. सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक उद्योग बहुत अधिक ..... हैं।
4. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की समस्या का संबंध उनके उत्पादनों की ..... के निर्धारण के साथ है।
5. सार्वजनिक उद्यमों की कार्यप्रणाली में सुधार लाने के लिए भी ..... प्रयास कर रही है।

18.2 सारांश (Summary)

- सार्वजनिक क्षेत्र देश के उद्देश्यों के कार्यान्वयन में काफी बड़ी सीमा तक सहायक रहा है। जहाँ तक औद्योगिक नीति के निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप ऐसे उद्यमों की स्थापना की बात है, जिनका आधारभूत या सामरिक महत्त्व है।
- कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक क्षेत्र सरकार के औद्योगिक नीति-विषयक संकल्प में शामिल उद्देश्यों की पूर्ति में अधिकांशत: सफल ठहरता है। यह अर्थव्यवस्था के द्रुत विकास में सहायक रहा है।
- वैसे तो सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करते समय सरकार ने मुख्यत: आर्थिक कारणों को ही आधार बनाया है, लेकिन सामाजिक हितों के संरक्षण का महत्त्व भी कुछ कम नहीं रहा है। कर्मचारियों और उपभोक्ताओं के हित-संरक्षण के लिए सरकार द्वारा अनेक रुग्ण कारखानों को अपने अधिकार में ले लिए जाने की बात हम पहले कह चुके हैं।
- निस्सन्देह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास-विस्तार में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। लेकिन यह भी सही है कि इस क्षेत्र के सामने अनेक कठिनाइयां और समस्याएं हैं जिनके कारण इसके विकास एवं सुचारु रूप से संचालन में भारी रुकावटें आ रही हैं।

नोट

- सार्वजनिक क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों की अपेक्षित स्वायत्तता और सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा उन पर नियंत्रण की आवश्यकता के बीच स्वरूथ एवं समुचित समायोजन किस तरह किया जाए।
- अनेक कारणों से सार्वजनिक उद्यमों की लाभकारिता और कार्यकुशलता में वृद्धि लाना जरूरी है। एक तो यह सामान्यत: सभी स्वीकार करते हैं कि आरम्भ में अपेक्षित पूंजी सरकार द्वारा लगा दी जाने के बाद इन उद्यमों को इतना लाभ अर्जित कर लेना चाहिए कि वे उसी के बल पर अपना विस्तार कर सकें।
- देश में सार्वजनिक उद्यमों को न केवल अपने विकास-विस्तार के लिए, बल्कि योजनाओं के लिए साधन जुटाने के उद्देश्य से भी लाभ कमाने के लिए प्रयास करना चाहिए। काफी लम्बे समय से ऐसा नहीं हो पाया है जिसके कारण सार्वजनिक उद्यमों की कड़ी आलोचना की जाती रही है।
- सार्वजनिक उद्यमों का कार्य-निष्पादन सन्तोषजनक नहीं रहा है। इनमें से पहली बात है कुल निवेश में ऋण का बहुत अधिक अनुपात। इससे उद्यम पर निश्चित ब्याज चुकाए जाने के कारण स्थायी रूप से एक बड़ा बोझ लद जाता है।
- सार्वजनिक उद्यमों की लाभकारिता और कार्य-कुशलता के इस विवेचन से स्पष्ट है कि कम लाभकारिता का पूरा दोष इन उद्यमों पर ही नहीं थोपा जा सकता। समय मिलने पर इनमें से अनेक बुराइयां दूर हो सकती हैं। फिर भी कई प्रकार के उपाय अपनाकर इनकी लाभकारिता व कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है।
- सार्वजनिक उद्यमों की कार्य-कुशलता और लाभकारिता बढ़ाने के लिए प्रबन्धन, परियोजना, कच्चा माल, वित्त, औद्योगिक सम्बन्ध आदि विभिन्न मोर्चे पर एक साथ उपाय अपनाने होंगे।

18.3 शब्दकोश (Keywords)

- **औद्योगेतर**–उद्योग से हटकर, उद्योग के अतिरिक्त;
- **आनुषंगिक**–आपसे आप घटित होने वाला, सहवर्ती।

18.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की समस्या तथा मुद्दे पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
2. सार्वजनिक क्षेत्र के संबंध में सरकार की वर्तमान नीति का उल्लेख कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. तीन
2. अधिशेष
3. पूंजी उद्योग
4. कीमतों
5. सरकार

18.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–19: भारतीय अर्थव्यवस्था में आधार संरचना (Infrastructure in the Indian Economy)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

19.1 आधारसंरचना और आर्थिक विकास (Infrastructure and Economic Development)

19.2 भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली (Transport System in India's Economic Development)

19.3 भारत में संचार प्रणाली (Communication System in India)

19.4 सारांश (Summary)

19.5 शब्दकोश (Keywords)

19.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

19.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आधार संरचना और आर्थिक विकास को समझने में।
- भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली की व्याख्या करने में।
- भारत में संचार प्रणाली को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

योजना आयोग ने जनवरी 2006 में ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007–2012) का दिशानिर्देश पत्र प्रतिपादित किया। दिशानिर्देश पत्र का शीर्षक 'तीव्र और अधिक समावेशी विकास की ओर' रखा गया है।

किसी देश की समृद्धि प्रत्यक्षत: कृषि तथा उद्योग के विकास पर निर्भर करती है। किन्तु कृषि–उत्पादन के लिए संचालन–शक्ति (Power), उधार एवं परिवहन सुविधाओं आदि की आवश्यकता होती है। औद्योगिक उत्पादन के लिए केवल मशीनरी एवं संयंत्र ही नहीं चाहिए बल्कि कुशल श्रमशक्ति, प्रबन्ध, ऊर्जा, बैंकिंग एवं बीमा सुविधाओं की भी जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त विपणन सुविधाओं, परिवहन सेवाओं की भी आवश्यकता होती है जिनमें रेलवे, सड़कें, जहाज़रानी, संचार सुविधाएं आदि शामिल की जाती है। इन सभी सुविधाओं एवं सेवाओं को सामूहिक रूप में आधारसंरचना (Infrastructure) की संज्ञा दी जाती है और किसी देश में कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए इनका विस्तार एक अनिवार्य शर्त है।

नोट

19.1 आधारसंरचना और आर्थिक विकास (Infrastructure and Economic Development)

पिछले 200 वर्षों के दौरान, इंग्लैण्ड एवं अन्य देशों में औद्योगिक एवं कृषि क्रान्तियों के साथ परिवहन एवं संचार में क्रान्ति हुई। ऊर्जा (Energy) के स्रोत के रूप में पहले कोयले का प्रयोग और बाद में तेल और पानी के प्रयोग का भारी विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त, उत्पादन एवं व्यापार के लिए वित्त जुटाने की दृष्टि से बैंकिंग, बीमा और अन्य वित्तीय संस्थानों का विस्तार किया गया।

आधारसंरचना सुविधाओं को प्राय: आर्थिक एवं सामाजिक उपरिव्यय (Economic and Social Overheads) भी कहते हैं। इनमें सम्मिलित हैं–

(*i*) ऊर्जा, कोयला, बिजली, तेल और अन्य अपारम्परिक स्रोत;

(*ii*) परिवहन, रेलवे, सड़कें, जहाजरानी और नागरिक परिवहन;

(*iii*) संचार, डाक एवं तार, टेलीफोन, टेली संचार (Telecommunications) आदि;

(*iv*) बैंकिंग, वित्त एवं बीमा;

(*v*) विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी; और

(*vi*) सामाजिक उपरिव्यय : स्वास्थ्य, सफाई एवं शिक्षण।

स्वतन्त्रता के पश्चात् आधार संरचना का विकास

भारतीय आयोजक, आधारसंरचना और सामान्य आर्थिक विकास के बीच सम्बन्ध के बारे में पूरी तरह जागरूक थे और इसी कारण पहली योजना के आरम्भ से ही इन सुविधाओं के विकास पर बल दिया गया। सामान्यत: योजनाओं में कुल योजना परिव्यय का 50 प्रतिशत से भी कुछ अधिक आधारसंरचना विकास पर खर्च किया गया।

आधारसंरचना पर भारी विनियोग के परिणामस्वरूप, आधारसंरचना सुविधाओं का भारी विकास हुआ। उदाहरणार्थ, 1950-51 और 2005-06 के बीच कोयले का उत्पादन 320 लाख टन से बढ़कर 4,130 लाख टन हो गया। इसी अवधि के दौरान, पावर–जनन क्षमता 5 अरब किलोवाट घण्टे से बढ़कर 623 अरब किलोवाट घण्टे हो गयी और पेट्रोलियम का उत्पादन 4 लाख टन से बढ़कर 320 लाख टन हो गया। इसी प्रकार, अन्य आधारसंरचना सुविधाओं में भारी विस्तार हुआ। हमें आधारसंरचना विकास के तीन मूल लक्षणों को दृष्टि में रखना होगा।

ऊर्जा (Energy)

किसी देश के आर्थिक विकास पर सीमाबन्धन लगाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण एकमात्र कारण ऊर्जा की उपलब्धि है। आर्थिक विकास के स्तर, प्रति व्यक्ति आय के आकार और ऊर्जा के प्रति व्यक्ति उपभोग में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भारत चाहे जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा देश है, परन्तु इसकी प्रति व्यक्ति आय निम्न है और इसमें प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपभोग भी बहुत नीचा है परन्तु भारत में धीरे–धीरे ऊर्जा उपभोग में वृद्धि हो रही है, चाहे अभी भी यह विकसित देशों की तुलना में कहीं कम है।

ऊर्जा के स्रोत

मोटे तौर पर ऊर्जा के दो स्रोत हैं: वाणिज्यिक ऊर्जा (Commercial Energy) और गैर–वाणिज्यिक ऊर्जा। वाणिज्यिक ऊर्जा अर्थात् ऊर्जा के व्यापारिक स्रोत हैं: कोयला, पेट्रोलियम और बिजली। ये स्रोत इसलिए वाणिज्यिक माने जाते हैं क्योंकि इनके प्रयोगकर्ताओं को इनके लिए कीमत देनी पड़ती है। भारत में कुल ऊर्जा उपभोग में वाणिज्यिक ऊर्जा का भाग 50 प्रतिशत से अधिक है। गैर–वाणिज्यिक स्रोतों में जलाने की लकड़ी, बची–खुची वनस्पति और सुखाया हुआ गोबर शामिल हैं। इन स्रोतों को गैर–वाणिज्यिक कहा जाता है क्योंकि ये नि:शुल्क प्राप्त होते हैं और इनके लिए कोई कीमत अदा नहीं करनी पड़ती। वास्तव में, शहरी क्षेत्रों में जलाने की लकड़ी और सुखाये गए गोबर के लिए

नोट

भी कीमत अदा करनी पड़ती है। जबकि वाणिज्यिक स्त्रोत सामान्यत: क्षयशील (Exhaustible) होते हैं, इनमें जल-विद्युत शक्ति एक अपवाद है, गैर-वाणिज्यिक स्त्रोत नवीकरणीय (Renewable) होते हैं।

भारत में वाणिज्य ऊर्जा के स्त्रोत

वाणिज्यिक ऊर्जा के तीन मुख्य स्त्रोत हैं: (क) कोयला, (ख) तेल एवं गैस और बिजली। जहां तक बिजली का सम्बन्ध हैं, इसमें जल-विद्युत शक्ति और तापीय शक्ति (Thermal power)।

कोयला और लिग्नाइट (Lignite)—भारत में कोयले के कुल अनुमानित भण्डार 14,879 करोड़ टन आंके गए हैं, परन्तु इनमें खनन-योग्य भण्डार लगभग, 6,000 करोड़ टन हैं। तमिलनाडु के नेवेली के भण्डार लगभग 330 करोड़ टन है जिनमें से 190 करोड़ टन प्रमाणित वर्ग में हैं। देश में कोयले का कुल वार्षिक उत्पादन 2005-06 में 43.7 करोड़ टन था। वर्तमान प्रक्षेपण के आधार पर भावी मांग को दृष्टि में रखकर यह अनुमान लगाया गया है ये भण्डार लगभग 130 वर्षों के लिए काफी हैं।

तेल और गैस—अद्यतन उपलब्ध अनुमान के आधार पर कोयले के शुद्ध भण्डार 55 करोड़ टन और गैस के कुल भण्डार 500 अरब घन मीटर आंके गए हैं। सन् 2005-06 में रूक्ष तेल का उत्पादन 320 लाख टन था। उपभोग की वर्तमान दर पर तेल के भण्डार केवल 20 से 25 वर्षों के लिए उपलब्ध होंगे।

विद्युत शक्ति—जल-विद्युत स्त्रोतों से कुल वार्षिक ऊर्जा का सरकारी अनुमान लगभग 90,000 मेगावाट है। इसमें से 18,000 मेगावाट का विकास किया जा चुका है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल संभाव्य क्षमता के केवल 20 प्रतिशत का विकास हुआ है और 80 प्रतिशत शेष है, इसके अतिरिक्त जल-विद्युत संयंत्रों को तापीय एवं-न्यैष्टिक प्लान्टों के ऊपर बहुत से लाभ प्राप्त हैं।

सार्वजनिक उपयोगिता पावर प्लान्ट (Public Utility Power Plants) अर्थात् सार्वजनिक क्षेत्र की पावर इकाइयों द्वारा सन् 2005-06 में 623 अरब किलोवाट घण्टे बिजली पैदा की गयी जिसमें जल-विद्युत पावर का भाग 84 अरब किलोवाट घण्टे और तापीय पावर (Thermal Power) का भाग 503 अरब किलोवाट घण्टे था। आज कुल पावर-जनन (Power generation) में जल-विद्युत का योगदान 14 प्रतिशत, तापीय पावर का 83 प्रतिशत और न्यैष्टिक पावर 3 प्रतिशत है। सार्वजनिक पावर इकाइयों के अतिरिक्त, गैर-सरकारी क्षेत्र की पावर इकाइयाँ भी है जिन्हें बद्ध-पावर-प्लान्ट (Captive power plant) कहते हैं, या जिन्हें गैर-उपयोगिताएँ (Non-utilities) भी कहा जाता है, इनके द्वारा 2005-06 में 74 अरब किलोवाट घण्टे बिजली का योगदान दिया गया।

देश के यूरेनियम (Uranium) के भण्डार लगभग 70,000 टन आंके गए हैं जो 120 अरब टन कोयले के बराबर हैं। भारत के थोरियम (Thorium) भण्डार 3,60,000 टन आंके गए हैं और ये जब प्रजनक रिएक्टरों (Breeder Reactor) में इस्तेमाल किए जाएंगे, तो 600 अरब टन कोयले के बराबर होंगे। यह कोयले के कुल भण्डार का लगभग 5 गुना है। अत: न्यैष्टिक ऊर्जा (Nuclear Energy) की दीर्घकालीन क्षमता थोरियम पर निर्भर करेगी जो कि देश के लिए लम्बे समय तक एकमात्र महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है। किन्तु न्यैष्टिक ऊर्जा द्वारा विद्युत-जनन के प्रति काफी लोकप्रिय विरोध हो रहा है और इसका मुख्य कारण रूस और यू.एस.ए. में अणु पावर प्लान्टों की विफलता है। इस सम्बन्ध में कल्पाकम न्यैष्टिक ऊर्जा प्लान्ट का हाल ही में आए सुनामी से बचाव को ध्यान में रखना होगा।

क्या आप जानते हैं तापीय पावर तेल और गैस से प्राप्त की जाती है और इसके लिए न्यैष्टिक ऊर्जा (Nuclear Energy) का भी प्रयोग किया जाता है।

भारत में ऊर्जा के गैर-वाणिज्यिक स्त्रोत

(*i*) ईंधन-लकड़ी—ईंधन के रूप में लकड़ी का प्रयोग हमारे ग्रामों और कस्बों में विस्तृत रूप में किया जाता है। ईंधन-लकड़ी समिति (Fuelwood Committee) 1982 के अनुसार देश में ईंधन के लिए 5 करोड़ टन लकड़ी प्रति वर्ष प्राप्त होती है जोकि गरीब लोगों की खाना पकाने की आवश्यकताओं के केवल आधे भाग

नोट

की पूर्ति करती है। यदि वर्तमान मांग और पूर्ति परिस्थितियां बनी रहती हैं, तो देश में लकड़ी रूपी ईंधन का अकाल पड़ जाएगा। वैज्ञानिकों का मत है कि निकट भविष्य में लकड़ी की उपलब्धि खाद्यान्नों की उपलब्धि की अपेक्षा अधिक सीमाबन्धन बन सकती है।

(*ii*) **वनस्पति अपशिष्ट पदार्थ** (Vegetable Waste)–कृषि से प्राप्त अपशिष्ट पदार्थ जैसे घास-फूस का प्रयोग पशुओं के चारे औरछतों के निर्माण और खाद के उत्पादन और खाना पकाने के लिए ईंधन के रूप में किया जाता है। वनस्पति अपशिष्ट पदार्थों के बारे में कोई विश्वसनीय अनुमान उपलब्ध नहीं है, परन्तु ईंधन के रूप में कृषि अपशिष्ट पदार्थों का उपभोग 1975-76 में 410 लाख टन आंका गया। अब यह लगभग 650 लाख टन होगा।

(*iii*) **पशु गोबर** (Animal Dung)–पशुओं का सुखाया गया गोबर ग्राम क्षेत्रों में (और नगरों में भी) ईंधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। पशु गोबर के लिए 32.4 करोड़ टन के अनुमानित उत्पादन में से लगभग 7.3 करोड़ टन ईंधन के रूप में जलाकर प्रति वर्ष इस्तेमाल किया जाता है। यदि पशु गोबर को उर्वरक बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाए, तो इससे देश के खाद्य-उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हो सकती है।

भारत में ऊर्जा के गैर-पारम्परिक स्त्रोत (Non-conventional sources)

ऊर्जा के गैर-पारम्परिक स्त्रोतों में तीन मुख्य स्त्रोत हैं: सौर ऊर्जा (Solar Energy), पवन ऊर्जा (Wind Energy) और ज्वार-ऊर्जा (Tidal Energy)। भारत जैसे देश में सौर ऊर्जा असीमित रूप में उपलब्ध है। इसी प्रकार, पवन ऊर्जा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, विशेषकर तटीय क्षेत्रों और पहाड़ी इलाकों में, परन्तु सौर ऊर्जा और पवन ऊर्जा दोनों का प्रयोग अधिक नहीं हो रहा क्योकि इनके सम्बन्ध में लागत-प्रभावी टेक्नोलॉजी (Cost-effective Technology) का अभाव है। किन्तु ऊर्जा के पारम्परिक स्त्रोतों में भारी कमी अनुभव होने के साथ-साथ, बहुत से देश ऊर्जा के अपारम्परिक स्त्रोतों की खोज की संभावनाएं तलाश रहे हैं। इस प्रकार आने वाले वर्षों में इनका महत्त्व बढ़ सकता है।

भारत में ऊर्जा संकट

सत्तर और अस्सी के दशकों में ऊर्जा संकट मूलत: तेल संकट था। यह केवल राष्ट्रीय मुद्दा नहीं था बल्कि वैश्विक समस्या थी। भारत के संदर्भ में ऊर्जा संकट के कुछ विशेष लक्षण हैं।

(क) भारत की ऊर्जा समस्या केवल तेल की मांग एवं पूर्ति की समस्या ही नहीं। वास्तव में, प्रत्येक वाणिज्यिक ईंधन में मांग एवं पूर्ति असंतुलन बढ़ता जा रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि आर्थिक विकास की गति बढ़ने से वाणिज्यिक ऊर्जा की मांग लगातार बढ़ती जा रही है।

इसके विरुद्ध सभी वाणिज्यिक ईंधनों की पूर्ति में भी वृद्धि हो रही है परन्तु यह पर्याप्त नहीं। तेल और प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission–ONGC) और आयल इंडिया लिमिटेड लगातार रूक्ष तेल की खोज में तीव्र रूप में कार्य कर रहे हैं परन्तु पेट्रोलियम एवं तेल उत्पादों का उपभोग देशीय उत्पादन और परिष्करण क्षमता (Refining Capacity) से कहीं अधिक मात्रा में बढ़ रहा है। इस कारण देश को मजबूर होकर आयात पर निर्भर होना पड़ रहा है। इस सम्बन्ध में सबसे गंभीर कठिनाई यह है कि खनिज तेलों के ज्ञात भण्डार विश्व के कुल तेल भण्डारों का केवल 0.3 प्रतिशत हैं। ज़ाहिर है कि तेल भारत के लिए वाणिज्यिक ईंधन का मुख्य स्त्रोत नहीं बन सकता।

(ख) इसके साथ-साथ, कोयला उद्योग जिससे यह आशा की जाती थी कि वह भारत में ऊर्जा के बढ़ते हुए संकट का सामना करने के लिए कोयले के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि करेगी, पिछले कुछ वर्षों से बहुत बुरी अवस्था में है। इसके अतिरिक्त, कोयले के भण्डार गुणवत्ता (Quality) और मात्रा की दृष्टि से भी अपर्याप्त है।

(ग) बिजली की मांग एवं पूर्ति में अन्तर कम होने की अपेक्षा बढ़ रहा है। औद्योगिक और कृषि विकास के संदर्भ में पावर की मांग तेजी से बढ़ रही है। परन्तु पूर्ति की दृष्टि से इस पर बहुत से सीमाबन्धन हैं। इनके परिणामस्वरूप देश में पावर के जनन एवं वितरण में भारी अभाव और अड़चनें उत्पन्न हो गयी हैं। भारत में ऊर्जा संकट का एक और पहलू यह है कि पावर की पूर्ति अनियमित एवं अपर्याप्त है।

नोट

अत: भारत के आर्थिक विकास के संदर्भ में, ऊर्जा संकट ने तेल के अभाव, कोयले के अभाव और पावर के अभाव का रूप धारण कर लिया है। इन तीन प्रकार के अभावों का प्रभाव न केवल भुगतान-शेष और कीमतों में वृद्धि के रूप में व्यक्त होता है, बल्कि यह तीन अन्य प्रकार से भी व्यक्त होता है।

(*i*) तेल की कमी से परिवहन क्षेत्र पर दुष्प्रभाव पड़ता है जिसमें भारत के कुल तेल उपभोग के 56 प्रतिशत की खपत होती है।

(*ii*) कोयले के अभाव से बिजली-जनन पर दुष्प्रभाव पड़ता है जिससे सामान्य आर्थिक विकास में रुकावट पैदा होती है।

(*iii*) पावर का अभाव औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन पर दुष्प्रभाव डालता है।

ग्रामीण भारत में ऊर्जा संकट–देश के ग्रामों में रहने वाले करोड़ों गरीब व्यक्तियों पर ईंधन के संकट का प्रभाव पड़ता है क्योंकि उन्हें ईंधन के लिए लकड़ी एकत्र करने में प्रतिवर्ष 100 मानव-दिन श्रम लगाना पड़ता है। गरीब वर्गों द्वारा बिना पकाए गए कच्चे चावल खाने की बहुत सी दु:खद रिपोर्टें प्राप्त हुई हैं। गरीब वर्गों के लिए, ग्रामों में ईंधन का अभाव गम्भीर ऊर्जा संकट के विद्यमान होने का संकेत है।

भारत में ऊर्जा समस्या के समाधान के उपाय

(*i*) **तेल के उत्पादन को बढ़ावा देना–**जबकि 1973 में रूक्ष तेल की कीमत 2.09 डालर प्रति बैरल से बढ़ा कर 1980 में 27.30 डालर प्रति बैरल की गयी, तब यह फौरी ज़रूरत थी कि तेल के उपभोग में वृद्धि पर रोक लगायी जाए, ताकि पेट्रोल एवं इससे सम्बन्धित पी.ओ.एल पदार्थों के आयात को उचित सीमाओं के बीच रखा जा सके और तेल के देशीय उत्पादन और परिष्करण क्षमता को बढ़ाया जाए। ओ.एन.जी.सी और ओ.आई.एल द्वारा देशभर में इसकी खोज के प्रयासों को त्वरित किया गया। तेल का उत्पादन 1973-74 में 70 लाख टन था जो बढ़कर 1995-96 में 350 लाख टन हो गया, इसके बाद इसमें गिरावट आयी और पिछले चार वर्षों में यह 320 लाख टन के इर्दगिर्द स्थिर हो गया है।

(*ii*) **पेट्रोलियम एवं स्नेहकों** (Lubricants) **के उपभोग पर नियंत्रण–**सरकार द्वारा पेट्रोलियम एवं स्नेहकों के उपभोग को नियंत्रित करने के उपाय पूरी तरह सफल नहीं हुए। 1973 में, पेट्रोलियम उत्पादों का उपभोग लगभग 240 लाख टन था और यह कुछ समय तक पेट्रोलियम की कीमतों में तीव्र वृद्धि और सरकार द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप इसी स्तर पर स्थिर रहा परन्तु बाद में पेट्रोलियम के उपभोग में वृद्धि हुई और यह 1979-80 तक 300 लाख टन हो गया और फिर और बढ़कर 1995-96 में 750 लाख टन और 2005-06 में और बढ़कर 1,200 लाख टन हो गया। इसके परिणामस्वरूप, सरकार को मजबूर होकर पेट्रोलियम उत्पादों के आयात में वृद्धि करनी पड़ी और सन् 2005-06 में यह बढ़कर अपने रिकार्ड-स्तर पर 1,94,640 करोड़ रुपये हो गया। इसके परिणामस्वरूप तेल के आयात के विरुद्ध विदेशी मुद्रा का उत्प्रवाह (Outflow) हुआ और एक समय ऐसा आ गया जब देश में विदेशी मुद्रा का संकट पैदा हो गया। अत: स्वाभाविक है कि तेल-उत्पादों के बढ़ते हुए उपभोग को प्रबन्धकीय सीमाओं में, रखा जाए। इसके लिए तेल का प्रतिस्थापन कोयले से और रेलवे उत्कर्षण (Railway traction) का बिजलीकरण और डीज़ल पम्पसैटों का प्रतिस्थापन बिजली के पम्पसैटों से करना होगा।

(*iii*) **तेल का कोयले से प्रतिस्थापन–**ईंधन नीति समिति (Fuel Policy Committee) ने कई उद्योगों में भट्टी के तेल (Furnace oil) का कोयले से प्रतिस्थापन करने का सुझाव दिया। इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया कि जो उद्योग (जिनमें पाउवर-हाऊस भी शामिल हैं) अपने प्लान्टों में थोड़े फेर-बदल के पश्चात तुरन्त कोयले का प्रयोग कर सकते हैं, के लिए प्रतिवर्ष 100 लाख टन कोयले की आवश्यकता होगी और इससे 40 लाख टन भट्टी के तेल की बचत होगी। परन्तु यदि कोयल की मांग में 7 प्रतिशत की दर से वृद्धि होती है, तो इसके परिणामस्वरूप, वर्तमान कोयले के भण्डार 2035-40 तक समाप्त हो जाएँगे। अत: कोयला ऊर्जा संकट के समाधान का वास्तविक उत्तर नहीं है।

नोट

(*iv*) **विद्युत शक्ति का विस्तार**–चूंकि बिजली का प्रयोग विभिन्न कार्यों के लिए बढ़ रहा है और इसका लम्बी दूरी तक परिवहन संभव है, इस कारण तेल-संकट के समाधान के लिए बिजली के स्रोत का महत्त्व बढ़ रहा है। चूंकि जल-विद्युत ऊर्जा का एक नवीकरणीय स्रोत (Renewable source) है, इसलिए पावर के विस्तार को अधिकतम करना होगा और यही एक आदर्श समाधान है। देश की कुल जनन-क्षमता में जल-विद्युत का भाग जो 1984-85 में 34 प्रतिशत था कम होकर 2005-06 में 14 प्रतिशत हो गया।

जल-विद्युत के बहुत से लाभ होने के बावजूद भारत सरकार तापीय पावर (Thermal power) के विस्तार को बढ़ाती जा रही है जो कि देश के पावर का प्रधान स्रोत (80 प्रतिशत) है। तापीय शक्ति अधिक महंगी है क्योंकि यह कोयले और तेल का प्रयोग करती है जो गैर-नवीकरणीय आदान (Non-renewable inputs) हैं। आठवीं योजना (1992-97) के दौरान, बिजली की स्थापित क्षमता में 16,400 मेगावाट की वृद्धि हुई थी जबकि इसका लक्ष्य 30,540 मेगावाट था अर्थात् लक्ष्य से 46 प्रतिशत कम। दसवीं योजना (2002-07) के दौरान, मई 2007 के अन्त तक अतिरिक्त बिजली उत्पादन का लक्ष्य 41,110 मेगावाट रखा गया, परन्तु प्रत्याशित उत्पादन केवल 23,250 मेगावाट था अर्थात् 17,860 मेगावाट की कमी लगभग 40 प्रतिशत। वास्तव में, सभी पंचवर्षीय योजनाओं में बिजली के उत्पादन में कमी बदस्तूर बनी रही है। इसका मुख्य कारण अपर्याप्त धनराशि की उपलब्धि, कार्य विधि में विलम्ब से भूमि प्राप्त करने सम्बन्धी बाधाएं और ठेकेदारी व्यवस्था की असफलता थी। इसके अतिरिक्त, संचारण हानि (Transmission losses) 20 से 22 प्रतिशत थी जबकि विश्व औसत 9 प्रतिशत थी।

भारत सरकार के पावर मंत्रालय ने, पावर उत्पादन बढ़ाने के लिए कई उपाय किए हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं–

(*i*) एन.टी.पी.सी. और कुछ राज्य बिजली बोर्ड 660 से 800 मेगावाट के उच्च तकनालाजी के पावर के प्लान्टों को आरम्भ कर रहे हैं।

(*ii*) सरकार जल एवं वायु-ऊर्जा के प्रयोग को प्रोत्साहित कर रही है जो ईंधन के रूप में कोयला पर निर्भर नहीं होंगे और जिन के कारण प्रदूषण भी नहीं होगा। सरकार ने ऐसे 39 जल-पावर प्रोजैक्टों की पहचान कर ली है जिनकी क्षमता 1,07,000 मेगावाट होगी।

(*iii*) पावर मंत्रालय ने 9 कोयला-आधारित पावर प्रोजैक्ट जिनकी क्षमता 4,000 मेगावाट होगी स्थापित करने का कार्य आरंभ कर दिया है।

अन्य उपायों में शामिल हैं–

(क) 11वीं योजना के दौरान 60,000 मेगावाट की वृद्धि की व्यवस्था की गयी है ताकि हम 8-9 प्रतिशत की विकास-दर प्रतिवर्ष प्राप्त करने के लिए सुविधाजनक स्थिति कायम कर सकें।

(ख) कोयले और प्राकृतिक गैस ईंधनों की उपलब्धि के लिए नये प्लान्ट लगाने और दीर्घकालीन वित्त का प्रबन्ध करने के लिए कार्यक्रम तय किया गया है।

प्रगति करने के बावजूद, पावर की कमी और इसकी पहुंच का अभाव आर्थिक विकास पर एक मुख्य सीमाबन्धन हैं।

नोट्स जून 2001 से बन्द डभोल पावर प्रोजैक्ट को दोबारा चालू करने के लिए राष्ट्रीय थर्मल पावर निगम (NTPC) और गैस अथारिटी ऑफ इंडिया (GAIL), भारतीय वित्तीय संस्थानों और महाराष्ट्र सरकार के बीच एक संयुक्त उपक्रम कायम किया गया है। इस प्रोजैक्ट को मई 2006 से फिर चालू कर दिया गया है।

(*iv*) **ऊर्जा का बचाव या रक्षण** (Conservation of Energy)–भारत में वाणिज्यिक ऊर्जा (Commercial Energy) अर्थात् कोयला, पेट्रोलियम एवं बिजली की मांग गैर-वाणिज्यिक ऊर्जा की तुलना में अधिक तेज़ी

नोट

से बढ़ रही है। आज परिस्थिति यह है कि कोयले की मांग प्रतिवर्ष लगभग 4 से 5 प्रतिशत बढ़ रही है, पेट्रोलियम उत्पादों की 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष और बिजली की मांग 9 से 10 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। इसको देखते हुए भारत सरकार ने पेट्रोलियम उत्पादों के बचाव के लिए कई उपाय किए हैं। इनमें शामिल हैं–

(क) ऐसे उपायों का प्रयोग करना जिनसे ईंधन–कुशलता (Fuel efficiency) बढ़े और इसके लिए परिवहन क्षेत्र में प्रशिक्षण प्रोग्राम चलाए गए हैं।

(ख) औद्योगिक क्षेत्र में पुरानी और अकुशल मशीनरी का नयी एवं ईंधन–कुशल मशीनरी से प्रतिस्थापन।

(ग) ईंधन कुशल सिंचाई पम्पसैटों का प्रमाणीकरण (Standardisation) और कृषि क्षेत्र में वर्तमान पम्प सैटों में सुधार करके उन्हें ईंधन–कुशल बनाना।

(घ) परिवार क्षेत्र में मिट्टी के तेल और एल.पी.जी. स्टोवों को अधिक ईंधन कुशल बनाना।

(*v*) **नवीकरणीय ऊर्जा स्त्रोतों को बढ़ावा देना–**ऊर्जा के पारम्परिक स्त्रोतों से ही भारत के ऊर्जा–संकट का समाधान संभव नहीं। इस कारण अपारम्परिक और नवीकरणीय (Renewable) स्त्रोतों को बढ़ावा देना आवश्यक है। सौभाग्यवश भारत में अपारम्परिक स्त्रोत अर्थात् जैव–ऊर्जा (Biogas), सौर–ऊर्जा (Solar-power), जल विद्युत शक्ति, पवन ऊर्जा आदि की भारी क्षमता विद्यमान है। इसके लिए सरकार ने बहुत से उपाय किए हैं।

जैव–ऊर्जा जनन प्रोग्राम के आधीन सरकार ने 27 लाख जैव–ऊर्जा पलान्ट स्थापित किए हैं और इनसे लगभग 60 लाख टन ईंधन लकड़ी के समान जनन–क्षमता कायम की गयी है और 6 लाख टन खाद भी तैयार की जाएगी।

उन्नत चूल्हा राष्ट्रीय प्रोग्राम के अधीन 200 लाख धूआं–रहित चूल्हे कायम किए गए जबकि देश में 1,200 लाख चूल्हों की क्षमता उपलब्ध है।

भारत में चीनी के कारखानों में उपलब्ध राव (Bagasse) का प्रयोग बिजली पैदा करने के लिए किया गया है। देश में 420 चीनी के कारखानों से 3,500 मेगावाट पावर उत्पन्न की जा सकती है। सरकार इसके प्रयोग के लिए प्रोत्साहन दे रही है।

एक स्त्रोत जिस का विकास करना होगा और सौर–ऊर्जा (Solar Energy) है। भारत जैसे उष्ण–कटिबन्धीय (Tropical country) में सौर–ऊर्जा, सौर–भट्टियों और सौर–पावर–प्रणालियों के प्रयोग को उच्च प्राथमिकता देनी होगी, इससे विशेषकर ग्रामों की ऊर्जा–आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। इसमें काफी प्रगति हो चुकी है। उदाहरणार्थ, 2 लाख सौर–कुकर बेचे जा चुके हैं और ग्रामों में 10,000 गलियों में रोशनी व्यवस्था इसी से की जा रही है।

पवन–ऊर्जा (Wind Energy) प्रदर्शन एवं विकास कार्यक्रम में भी तेज़ी से प्रगति की जा रही है। 1,000 मेगावाट के पावर–जनन की क्षमता कायम की जा चुकी है जिसमें से 70 प्रतिशत की स्थापना निजी क्षेत्र द्वारा की गयी है। यू. एस.ए. के बाद भारत पवन–ऊर्जा का सबसे अधिक प्रयोग करने वाला दूसरा देश है।

ऊर्जा निर्माण के लिए छोटी जल–विद्युत प्रणालियों (Micro-hydel systems) को बढ़ावा देने के प्रयास किए गए हैं। आठवीं योजना के अन्त तक छोटे जल विद्युत प्लान्टों द्वारा 250 मेगावाट क्षमता कायम की गयी। भारत सरकार ने छोटे जल–विद्युत प्लान्टों की स्थापना के लिए बहुत से उपाय किए हैं। ये प्रोजैक्ट जल–प्रपातों, नहरों, छोटी नदियों पर कायम करने के लिए 75 प्रतिशत लागत तक सहायता सरकार द्वारा दी जायगी। राज्य बिजली बोर्ड इस जल–विद्युत के क्रय का प्रबन्ध करेंगे।

ज्वार–पावर प्लान्टों की मुख्य समस्या यह है कि ये तभी मितव्ययी हो सकते हैं यदि स्थापित क्षमता बहुत अधिक हो। इसके अतिरिक्त इनमें भारी निवेश करना पड़ता है। फ्रांस ने ज्वार–पावर (Tidal power) के प्रयोग का सफल प्रदर्शन किया है। गुजरात की भावनगर बन्दरगाह के पास कैम्बे की खाड़ी और पश्चिम बंगाल में सुन्दरबन्स में

नोट

ज्वार-पावर स्टेशन कायम करने की संभावना की जांच सरकार कर रही है।

भारतीय नवीकरणीय ऊर्जा विकास एजेन्सी (Indian Renewable Energy Development Agency) ने विश्व बैंक और वैश्विक पर्यावरण कोष (Global Environment Fund) के साथ इस क्षेत्र में सक्रिय भाग अदा किया है। इस एजेन्सी की स्थापना 1987 में एक सार्वजनिक उद्यम के रूप में की गयी। इसका उद्देश्य भारत में नयी एवं नवीकरणीय ऊर्जा तकनालाजियों का विकास और उनके लिए वित्त-प्रबन्ध करना है। मार्च 1996 तक इस एजेन्सी ने 730 नवीकरणीय ऊर्जा प्रोजैक्टों के लिए 1,100 करोड़ रुपये का वित्त जुटाया।

भारत सरकार ने प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और सहयोगों (Collaborations) को प्रोत्साहित करने के लिए बहुत से उपाय किए हैं। विशेषकर अनिवासी भारतीय, पवन-फार्म (Wind farms) और सौर-प्लान्टों (Solar plants) सम्बन्धी बहुत से प्रोजैक्ट आंध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, मध्य प्रदेश एवं केरल में स्थापित कर रहे हैं जिनकी कुल क्षमता 450 मेगावाट है।

पावर (Power)

विद्युत-शक्ति जोकि ऊर्जा का एक रूप है, आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है। इसकी आवश्यकता वाणिज्यिक एवं गैर-वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए पड़ती है। पावर के वाणिज्यिक प्रयोगों के लिए इसकी जरूरत उद्योगों, कृषि, परिवहन आदि में होती है। गैर-वाणिज्यिक प्रयोगों (Non-commercial uses) के लिए इसकी आवश्यकता पारिवारिक रोशनी, खाना पकाने, पारिवारिक घरेलू उपकरणों जैसे रेफ्रिजरेटरों, वातानुकूलकों आदि के लिए होती है। भारत में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के साथ और दैनिक जीवन में यांत्रिक साधनों के बढ़ते हुए प्रयोग के फलस्वरूप, बिजली के पारिवारिक प्रयोग में बहुत वृद्धि के साथ और दैनिक जीवन में यांत्रिक साधनों के बढ़ते हुए प्रयोग के फलस्वरूप, बिजली के पारिवारिक प्रयोग में बहुत वृद्धि हुई है।

बिजली के प्रयोग का एक प्रधान लक्षण यह है कि कृषि में इसका प्रयोग बढ़ता जा रहा है। ग्राम-विद्युतीकरण (Rural Electrification) प्रोग्रामों के कारण पावर की मांग सिंचाई और पम्पसैटों को शक्ति प्रदान करने के लिए प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और यह 4 प्रतिशत से बढ़कर 23 प्रतिशत हो गयी है। नये उद्योगों अर्थात् लौह एवं इस्पात, मशीनी औज़ारों, इंजीनियरिंग, उर्वरकों आदि की स्थापना और उपभोग वस्तु उद्योगों के विस्तार के परिणामस्वरूप भारत में बिजली की मांग लगातार बढ़ती जा रही है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि बिजली के उपभोग में उद्योगों का भाग 1970-71 में 68 प्रतिशत से कम होकर 2005-06 में 36 प्रतिशत हो गया। इसका कारण यह नहीं कि औद्योगीकरण की गति मन्द हो गयी है, न ही यह कि बहुत सी औद्योगिक इकाइयों के ऊर्जा के अन्य स्रोतों पर निर्भर करना शुरू कर दिया है, बल्कि बहुत से कारखानों ने अपने बद्ध-पावर प्लान्ट (Captive power plant) स्थापित कर लिए हैं और ऐसा बड़े पैमाने पर हो रहा है क्योंकि वे सार्वजनिक उपयोगिताओं (Power utilities) की प्राय: अपर्याप्त एवं अविश्वसनीय पावर पूर्ति पर निर्भर रहना नहीं चाहते। यह अनुमान लगाया गया है कि गैर-उपयोगिताओं (Non-utilities) अर्थात् निजी क्षेत्र के पावर प्लांटों से 2005-06 में लगभग 74 अरब किलोवाट घण्टे पावर उद्योगों के लिए प्राप्त की जाती है।

जल-विद्युत (Hydro-power) एक नवीकरणीय प्राकृतिक स्रोत है। 1950-51 में इसकी स्थापित क्षमता 560 मेगावाट थी जो बढ़कर 2005-06 में 32,300 मेगावाट हो गयी, परन्तु सापेक्ष रूप में, इसका अनुपात 26 प्रतिशत हो गया है। जल-विद्युत के कई लाभ है–

(क) यह पावर का सबसे मितव्ययी स्रोत है;

(ख) जल-विद्युत के जनन में पर्यावरण के प्रदूषण या व्यर्थ पदार्थों के निपटारे की कोई समस्या नहीं होती; और

(ग) तेल, कोयला या प्राकृतिक गैस जिनका प्रयोग बिजली के जनन के लिए किया जाता है, उनकी पूर्ति में कमी रहती है और इस कारण इनके अधिक लागत के रूप में गुह्यार्थ हैं और विदेशी मुद्रा पर भी दबाव पड़ता है; जल-विद्युत उनका आसानी से प्रतिस्थापन कर सकती है।

नोट

किन्तु यह तर्क दिया गया है कि जल-विद्युत परियोजनाओं की परिपाक अवधि (Gestation period) तापीय परियोजनाओं की तुलना में लम्बी होती है। इस तर्क की समीक्षा पावर इकानामी समिति (Power Economy Committee) द्वारा की गयी और पूरी छानबीन के पश्चात् उसने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि जल-विद्युत परियोजना को कार्यान्वित करने से पहले इनकी पूरी तरह समीक्षा और डिज़ाइन तैयार कर लिये जाएं, तो इसके निर्माण की अवधि तापीय परियोजना के लगभग बराबर ही बैठती है। इसी कारण 1962 में पावर आयोग (Power Commission) और भारतीय ऊर्जा सर्वेक्षण समिति (1965) ने सिफारिश की कि जल-विद्युत परियोजनाओं पर अधिक निर्भर रहना चाहिए। पहली और दूसरी परियोजना के दौरान जल-विद्युत परियोजनाओं के बारे में पुरज़ोर जोश था, परन्तु बाद में इन पर बल देने में ढील अनुभव हो गयी। यह बुद्धिमतापूर्ण कदम नहीं था और इस प्रवृत्ति को बदलने की ज़रूरत नहीं थी। नीति की भावी दिशा में परिवर्तन पर बल देते हुए पॉवर इकॉनामी समिति (1971) ने यह उल्लेख किया; "देश की वर्तमान परिस्थितियों में, जल-विद्युत परियोजनाएं बिजली उत्पादन का सबसे मितव्ययी स्रोत हैं। . .... देश में ऊर्जा के जनन एवं संभरण (Supply) पर नियंत्रण एवं लागत को कम करने की दृष्टि से, अभी तक स्थापित जनन सुविधाओं के पूर्ण प्रयोग और इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि पावर-संभरण के लिए किए गए सीमित पूंजी-आवंटन (Capital allocation) से अधिकतम लाभ उठा कर ही देश में पावर की कमी कम की जा सकती है। अत: पांचवीं एवं छठी योजना के दौरान अतिरिक्त जनन क्षमता का अधिकतर भाग जल-विद्युत स्रोतों से ही पूरित किया जाएगा।"

इन स्पष्ट लाभों के बावजूद और इस बात के बावजूद कि अभी तक जल-विद्युत की कुल क्षमता के केवल पांचवें भाग का ही प्रयोग किया जा सका है, सरकार भारत में बिजली की कमी को दूर करने के लिए तापीय स्रोतों पर अधिक आश्रित है। (तालिका 7)

1998-99 में, भारत सरकार ने जल-विद्युत शक्ति के विकास के बारे में अपनी नीति की घोषणा की ताकि देश में उपलब्ध जल-विद्युत क्षमता का तेज़ी से दोहन किया जा सके। सन् 2004-05 तक केन्द्रीय क्षेत्र में 8,800 मेगावाट जल-विद्युत क्षमता बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया।

तापीय पावर (Thermal Power) जिसका जनन कोयले और तेल से किया जाता है, विद्युत-शक्ति का भारत में प्रमुख स्रोत है। कुल रूप में, तापीय पावर की स्थापित क्षमता (Installed capacity) जो 1950-51 में, 1,150 मेगावाट थी बढ़कर 2005-06 में 88,600 मेगावाट हो गयी परन्तु सापेक्ष रूप में तापीय पावर के भाग में 67 प्रतिशत से 71 प्रतिशत तक की ही वृद्धि हुई। इसका अधिकतर भाग कोयले से प्राप्त किया गया और बहुत थोड़ा भाग तेल से। कोयला और तेल दोनों गैर-नवीकरणीय और क्षयशील संसाधन हैं। तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में वृद्धि और परिणामत: तेल की देशीय कीमत में वृद्धि के कारण तेल से पावर-जनन की लागत में वृद्धि हुई। इस बात को देखते हुए ईंधन नीति समिति (Fuel Policy Committee) ने तेल की अपेक्षा कोयला-आधारित तकनालाजी के प्रतिस्थापन की सिफारिश की। चाहे पावर-जनन के लिए, तेल के प्रयोग को निरुत्साहित किया जा रहा है, परन्तु इसके कोयले से प्रतिस्थापन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि देश कोयले के उत्पादन को किस हद तक बढ़ा सकता है।

न्यैष्टिक पावर का विकास हाल ही के वर्षों में हुआ है और यह कुल बिजली की स्थापित क्षमता का केवल 2 प्रतिशत जुटाता है। रूस और अन्य देशों में न्यैष्टिक पावर की विफलता को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि न्यैष्टिक ऊर्जा द्वारा देश के पावर-जनन में महत्त्वपूर्ण योगदान की कोई संभावना नहीं है।

टास्क न्यैष्टिक पॉवर से आप क्या समझते हैं?

राज्य बिजली बोर्ड : पावर क्षेत्र में समस्या उत्पन्न करने वाले संस्थान

पावर क्षेत्र के घटिया निष्पादन की समस्या की मुख्य जिम्मेदारी राज्य बिजली बोर्डों पर है जो पावर का जनन एवं

नोट

वितरण करते हैं, पावर–टैरिफ़ (Power tariff) तय करते हैं और प्रयोक्ताओं से राजस्व एकत्र करते हैं। प्रत्येक राज्य बिजली बोर्ड एक राज्य–एकाधिकार (State monopoly) के रूप में कार्य करता है और पावर के जनन, संचारण एवं वितरण के तीनों कार्य करता है। पिछले 5 दशकों से इनकी मुख्य समस्या पावर–जनन में क्षमता–उपयोग का अनुकूलतम से कम रहना और संचारण एवं वितरण (Transmission and Distribution) में भारी घाटा रहा है। तापीय पावर प्लान्टों ने निम्न क्षमता–उपयोग (Capacity utilisation) के परिणामस्वरूप काफी नुकसान उठाया है जिसके कारण परिचालन एवं रखरखाव के दोष, जनन–उपकरण में कमियां और पावर प्लान्टों द्वारा कोयले की घटिया क्वालिटी आदि रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप देश में भंयकर पावर अभाव की स्थिति कायम हो गयी है।

संचारण एवं वितरण में घाटे के मुख्य कारण हैं: एक बड़े क्षेत्र पर वितरित भार का बिखराव, विशेषकर ग्राम क्षेत्र में, संचारण प्रणाली में अल्प–निवेश, पावर की बड़े पैमाने पर चोरी। संचारण एवं वितरण घाटे 20 से 22 प्रतिशत हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ये औसतन 9 प्रतिशत हैं।

राज्य बिजली बोर्डों की सबसे गंभीर कमज़ोरी आर्थिक टैरिफ़ (Economic tariff) निश्चित न कर पाना और इन्हें लागू न कर पाना रही है। 1981–82 के पश्चात् इनमें मामूली परिवर्तन किया गया और ये अब दीर्घकालीन सीमान्त लागत (Longrun marginal cost) का केवल 50 प्रतिशत ही हैं। सशक्त कृषिलाबी के सभी राज्यों में विद्यमान होने के परिणामस्वरूप, राज्य बिजली बोर्ड पावर–टैरिफ को बढ़ा नहीं पाए। कुछ राज्यों में पावर टैरिफ कृषि क्षेत्र में शून्य या लगभग शून्य है। कृषि क्षेत्र एवं परिवार क्षेत्र दोनों भारी साहाय्यिता पावर टैरिफ़ (Subsidized power tariff) पर चल रहे हैं। 1991–92 में इन्हें 7,450 करोड़ रुपये का अर्थसाहाय्य (Subsidy) प्राप्त हुआ जो बढ़कर 2002–03 में 30,560 करोड़ रुपये हो गया। इसका मुख्य कारण यह है उपभोक्ताओं को बिजली 18 पैसे प्रति इकाई दर से उपलब्ध करायी जाती है जबकि इसके विरुद्ध इसकी लागत 1.53 रुपये प्रति इकाई है। कुछ हद तक इस घाटे को कम करने के लिए निम्न उपाय किए जाते हैं–

(क) औद्योगिक, वाणिज्यिक एवं अन्य क्षेत्रों को ऊंची दर पर बिजली बेच कर राजस्व अतिरेक (Revenue Surplus) प्राप्त किया जाता है। इस अतिरेक को कृषि एवं परिवार क्षेत्र में सस्ती दरों के कारण हुए घाटे को घटाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। परन्तु इस तरह अतिरेक प्राप्त करने की भी सीमाएं हैं यदि हमें देश मे औद्योगीकरण की गति को निरुत्साहित नहीं करना है।

(ख) राज्यीय सरकारें कुछ हद तक इस अर्थसाहाय्य का सहभाजन करने के लिए अनुदान (subvention) के रूप में ग्राम विद्युतीकरण के लिए सहायता देती हैं।

फिर भी, राज्य बिजली बोर्डों को भारी अपूरित घाटा सहन करना पड़ता है जो हर साल बढ़ता जा रहा है। उदाहरणार्थ, अपूरित घाटा 1991–92 में 3,230 करोड़ रुपये था जो बढ़ते–बढ़ते 2004–05 में 19,320 करोड़ रुपये हो गया।

तालिका राज्यीय पावर क्षेत्र का वित्तीय निष्पादन

करोड़ रुपये

	1991-92	2004-05
(क) कुल अन्तर्निहित अर्थसाहाय्य		
(*i*) बिजली के विक्रय के लिए		
1. कृषि	5,940	25,240
2. परिवार क्षेत्र	1,310	10,430
3. अन्त: राज्यीय विक्रय	200	520
उप–योग	7,450	36,190
(*ii*) राज्य सरकारों से प्राप्त अनुदान	2,050	10,480
(*iii*) शुद्ध अर्थसाहाय्य	5,400	25,710
(*iv*) अन्य क्षेत्रों को विक्रय से प्राप्त अतिरेक	2,170	6,360

नोट

(v) अपूरित अर्थसाहाय्य	3,230	19,320
(ख) वाणिज्यिक घाटे	**4,120**	**23,560**
(ग) अतिरिक्त राजस्व गतिमान करना		
(i) कृषि/सिंचाई के लिए 50 पैसे प्रति इकाई की वसूली	2,180	1,040
(ii) 3 प्रतिशत प्रत्याय-दर	4,960	26,510

मोटे तौर पर यह अपूरित अर्थसाहाय्य राज्य बिजली बोर्डों के वार्षिक घाटे की व्याख्या करते हैं। इस सीमा तक राज्य बिजली बोर्डों के घाटे इनकी वित्तीय स्थिति के लिए असहनीय हैं। इस सम्बन्ध में, यह अनुमान लगाया गया है कि

(क) यदि 1991 में हुए पावर मंत्रीय सम्मेलन में स्वीकृत 50 पैसे प्रति इकाई के पावर-टैरिफ़ को देश भर में लागू किया जाए, तो इससे 540 करोड़ रुपये के अतिरिक्त राजस्व की प्राप्ति होगी।

(ख) विकल्प के रूप में, यदि राज्य बिजली बोर्ड निश्चित 3 प्रतिशत प्रत्याय दर (Rate of Return) अर्जित करें, तो इससे 26,510 करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त हो सकेगा।

व्यवहार में, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया गया जिससे राज्य बिजली बोर्डों को अतिरिक्त राजस्व प्राप्त हो सके। इसका नतीजा यह हुआ कि सभी राज्य बिजली बोर्डों में भारी घाटे एकत्र हो गए और वे दीवालिया हो गए। मौलिक रूप में, सभी राज्य बिजली बोर्डों की कल्पना स्वायत्त संस्थाओं (Autonomous organisations) के रूप में की गयी थी जिन्हें व्यावसायिक विशेषज्ञों द्वारा चलाया जाए परन्तु वास्तव में वे राज्य सरकार के विभाग ही बन कर रह गए हैं जो राजनैतिक हस्तक्षेप और नियंत्रण के शिकार बन गए हैं। स्वतन्त्रता के समय, बहुत से राज्य बिजली बोर्डों के प्रमुख पावर प्लान्ट विशेषज्ञ एवं इंजीनियर थे परन्तु पिछले कुछ वर्षों में अधिकतर बिजली बोर्डों के प्रमुख भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) के अधिकारी बना दिए गए जिन्हें पावर उद्योग का कोई अनुभव नहीं है और जो राजनैतिक नेतृत्व के आदेशों का पालन करते हैं। परिणाम यह है कि बहुत से ठेके घटिया पार्टियों को दिए जाते हैं, पावर के जनन एवं वितरण में चोरी की मात्रा बढ़ गयी है, बिल पहुंचाने और वसूली में ढील के कारण घाटे बदस्तूर बढ़ते चले जा रहे हैं। बहुत से आयोगों एवं समितियों ने इनकी समस्याओं को अध्ययन कर सुझाव दिए हैं परन्तु अभी सुधार की दिशा में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

उड़ीसा की सरकार ने सबसे पहले राज्य पावर क्षेत्र में सुधार करने के लिए राज्य बिजली बोर्ड का पुनर्गठन किया ताकि इस क्षेत्र को कुशल और सक्षम बनाया जा सके। उड़ीसा बिजली सुधार कानून (1995) के अनुसार, उड़ीसा के बिजली बोर्ड को तीन पृथक निगमों से विस्थापित कर दिया–उड़ीसा ग्रिड निगम, उड़ीसा जल विद्युत शक्ति निगम और उड़ीसा पावर जनन निगम। उड़ीसा में यह प्रयास किया गया है कि बिजली के वितरण को निजी कम्पनियों (Private companies) को सौंप दिया जाए और निजीकरण प्रतिस्पृद्धी बोली के आधार पर किया जाए। आंध्र प्रदेश सरकार ने भी 1999 में बिजली सुधार कानून पास कर दिया। कुछ और राज्य भी पावर क्षेत्र में सुधार करना चाहते हैं परन्तु मज़दूर संघों द्वारा पुनर्गठन और निजीकरण (Privatisation) का विरोध किया जा रहा है।

पावर क्षेत्र में सुधार

भारत में, सभी विकासशील देशों की भांति पावर जनन एवं वितरण एक राजकीय एकाधिकार (State monopoly) ही रहे हैं। अस्सी के दशक में बहुत से विकासशील देशों ने बिजली के जनन एवं वितरण को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया। इसका मुख्य कारण वित्तीय साधनों का अभाव था। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों को जब राशि देने के लिए अनुरोध किया गया, तो उन्होंने भी विकासशील देशों की सरकारों को मजबूर किया कि वे पावर क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा लाने के लिए निजी उत्पादकों को पावर जनन के लिए आमंत्रित करें। इस पृष्ठभूमि में, भारत ने भी अन्य विकासशील देशों की भांति पावर क्षेत्र में निजी निवेश–भारतीय और विदेशी दोनों को लाने का मन बना लिया और 1992 में नयी पावर नीति की घोषणा की गयी और पावर क्षेत्र में स्वतन्त्र पावर उत्पादकों (Independent Power Producers) की धारणा शामिल की गयी। सरकार ने बिजली पूर्ति कानून 1910

नोट

और 1948 में उचित संशोधन कर निजी पावर उत्पादकों के लिए प्रोत्साहनों का एक पैकेज तैयार कर लिया।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि नयी पावर नीति का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र को समाप्त करना नहीं था बल्कि इसे सीमान्त रूप में सहारा देना था। उदाहरणार्थ, पावर पर कार्यदल (Working Group) ने आठवीं योजना के दौरान निजी क्षेत्र द्वारा 3,000 मेगावाट क्षमता और नौवीं योजना के दौरान 10,500 मेघावाट क्षमता जनन का लक्ष्य रखा।

नयी पावर नीति की घोषणा के पश्चात् देश में एक अत्यन्त तीक्ष्ण बहस छिड़ गयी और नीति के विभिन्न पहलुओं पर सरकार से स्पष्ट नीति तय करने की मांग की गयी। उदाहरणार्थ, हिस्सा पूंजी पर प्रत्यायदर (Rate of Return), सरकार द्वारा निजी क्षेत्र को कौन-कौन सी गारंटी दी जाए और प्रोजैक्ट चयन की प्रक्रिया क्या हो, आदि। इस कारण इस नीति को लागू करने में देरी हुई। भारत के उच्च अधिकारियों की अयोग्यता और बहुत से गैर-सरकारी संगठनों के विरोध के कारण इस नीति पर कार्यान्वयन में विलम्ब हुआ।

भारत में पावर क्षेत्र के निजीकरण (Privatisation) की नीति अभी तक विफल ही समझी जा सकती है। इसका यह कारण नहीं कि यह नीति बुरी एवं अव्यवहार्य है, बल्कि इसका मुख्य कारण मज़दूर संघों और राजनैतिक दलों का बड़ा विरोध है और इस कारण सरकारी अधिकारी और सत्तासीन राजनीतिज्ञ इसको कार्यान्वित करने में ढुलमुल रूख अपनाए हुए है। दिल्ली में केवल पावर के वितरण का निजीकरण किया गया है और इससे बिजली की चोरी कम हुई है। परन्तु निजी कम्पनियां पावर की दर बढ़ाने में अधिक दिलचस्पी रखती है जिसका समय-समय पर विरोध होता रहता है। चाहे बिजली की निरन्तर पूर्ति में सुधार हुआ है परन्तु अभी निजी क्षेत्र के प्रयोग से स्थिति पूर्णतया सफल नहीं कही जा सकती।

बिजली के जनन को एक समय एनरान (Enron) के हवाले किया गया परन्तु इस प्रयोग के परिणाम बहुत ही निराशाजनक हुए और इस कारण यह विश्वास फिर बल पकड़ गया कि विदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों को ठेके देने की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों का प्रयोग होना चाहिए।

प्लान्ट-लोड फैक्टर (Plant Load Factor)

प्लान्ट लोड फैक्टर तापीय पावर प्लान्टों की संचालन-कुशलता (Operational efficiency) का प्रमुख कारणत्व है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में प्लान्ट लोड भार कारणत्व (Plant load factor) है। इसका अर्थ पावर प्लान्टों की जननक्षमता के प्रयोग से है। इसके मुख्य कारण हैं–प्रबन्ध और कार्य-प्रचालन में कमियां, इसके रखरखाव का अभाव और उचित किस्म के कोयले की अनुपलब्धता। हाल ही के वर्षों में प्लान्ट लोड फैक्टर में उन्नति हुई है और यह 1998-99 में 64.6 प्रतिशत से बढ़कर 2003-04 में 72.7 प्रतिशत हो गया है। निजी क्षेत्र में प्लान्ट लोड फैक्टर 80.4 प्रतिशत है। अत: सार्वजनिक क्षेत्र को अपनी कुशलता और बढ़ानी होगी क्योंकि इस क्षेत्र द्वारा 85 प्रतिशत पावर जनन किया जाता है।

बिजली कानून (Electricity Act-2003)

भारत सरकार ने 2003 में एक नया बिजली कानून पास कर दिया जिसका मुख्य उद्देश्य पावर क्षेत्र के विभिन्न अंगों अर्थात् बिजली के जनन, व्यापार एवं वितरण में प्रतिस्पर्द्धा कायम करना था। कानून के अनुसार निजी क्षेत्र पर लगे हुए सभी प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। इस कानून के अनुसार राज्य बिजली बोर्डों का पुनर्गठन करने का निर्णय किया गया जिसमें केन्द्र सरकार को राज्यीय सरकार की रज़ामन्दी लेनी होगी। दिल्ली सरकार ने जुलाई 2002 में बिजली के वितरण का निजीकरण कर दिया और पावर संचारण एवं वितरण के घाटों (Transmission and Distribution Losses) को जो 50.7 प्रतिशत के स्तर पर पहुंच चुके थे घटा कर अगले पांच वर्षों में 33 प्रतिशत तक लाने का लक्ष्य रखा।

संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार के न्यूनतम साझा कार्यक्रम में इस नीति की समीक्षा करने का उल्लेख किया गया है क्योकि कई राज्यों ने इस सम्बन्ध में अपनी चिन्ताएं व्यक्त की हैं। परिणामस्वरूप, राज्य बिजली बोर्डों के पुनर्गठन की कानून द्वारा निश्चित तिथि आगे बढ़ा दी गयी है।

नोट

इस कानून के अतिरिक्त, भारत सरकार ने बिजली विनियमन कानून (Electricity Regulation Act) - (1998) पारित किया जिसके आधीन सरकार ने केन्द्रीय बिजली विनियामक आयोग (State Electricity Regulatory Commission) स्थापित किया है। 19 राज्यों ने भी अपने स्तर पर बिजली विनियामक आयोग स्थापित किए हैं।

ग्रामीण बिजलीकरण की प्रगति

देश में लघु स्तर उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करने और एक अधिक संतुलित एवं विविध अर्थव्यवस्था की प्रोन्नति के लिए ग्राम बिजलीकरण (Rural Electrification) को अनिवार्य समझा गया और केन्द्रीय एवं राज्यीय दोनों स्तरों पर इसे बढ़ावा दिया गया। तालिका 11 में ग्राम बिजलीकरण की प्रगति दी गयी है।

1950 और 2003–04 के दौरान, बिजलीकृत ग्रामों की संख्या 3,000 से बढ़कर 5,19,000 हो गयी। उर्जित पम्पसैटों (Energized Pumpsets) की संख्या भी 21,000 से बढ़कर 140 लाख हो गयी।

तालिका ग्राम बिजलीकरण की प्रगति

	बिजलीकृत किए गए गांव (हजारों में)	उर्जित पम्पसैट (लाखों में)
1950–51	3	0.2
1960–61	22	1.9
1979–80	250	39.0
1984–85	370	57.0
2003–04	490	140.0

आरम्भिक अवस्था में, ग्राम विद्युतीकरण पर बल था परन्तु 1965 और 1966 के सूखे के पश्चात कृषि को स्थिरता बनाने के लिए भूमिगत जल (Ground Water) के उपयोग को बढ़ावा दिया गया। इस उद्देश्य के लिए पम्पसैटों को उर्जित करना महत्त्वपूर्ण समझा गया और इसलिए नीति का झुकाव ग्रामों के बिजलीकरण की अपेक्षा पम्पसैटों के उर्जायन (Energisation of pumpsets) की ओर हो गया। ग्राम विद्युतीकरण निगम (Rural Electrification Corporation) की स्थापना से ग्राम क्षेत्रों में बिजलीकरण की प्रक्रिया त्वरित हो गयी है।

2003–04 में, भारत सरकार ने "बिजलीकृत गांव" की परिभाषा का संशोधन किया और इसमें गांव के कम–से–कम 10 प्रतिशत गांवों के बिजलीकरण से जोड़ दिया और भी शर्त लगा दी कि इसके साथ स्कूलों, पंचायत घरों, स्वास्थ्य केन्द्रों को भी बिजली उपलब्ध करायी जाए।

ग्राम विद्युतीकरण के लाभों के बारे में जो भी दावे किए जाएं, इनसे कमज़ोर वर्गों को कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ। हाल ही की योजनाओं में, जनजातीय एवं हरिजन बस्तियों के बिजलीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। मार्च 31, 2004 तक लगभग 83 हजार जनजातीय ग्रामों (Tribal villages) और 3 लाख हरिजन बस्तियों का बिजलीकरण किया गया।

स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option) –

1. किसी देश के आर्थिक विकास पर सीमाबंधन लगाने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है–
   (क) ऊर्जा (ख) शक्ति (ग) जनसंख्या (घ) उपर्युक्त सभी।
2. भारत में वाणिज्यिक ऊर्जा के स्रोत हैं–
   (क) कोयला (ख) तेल (ग) गैस (घ) उपर्युक्त सभी।
3. सत्तर और अस्सी के दशकों में ऊर्जा संकट मूलत: क्या था–
   (क) तेल (ख) गैस (ग) कोयला (घ) उपर्युक्त सभी।

नोट

4. भारतीय नवीकरणीय ऊर्जा विकास एजेंसी की स्थापना कब हुई थी–
   (क) 1985 में (ख) 1986 में (ग) 1987 में (घ) इनमें से कोई नहीं
5. आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है–
   (क) ऊर्जा (ख) विद्युत शक्ति (ग) तेल (घ) उपर्युक्त सभी।
6. नवीकरणीय प्राकृतिक स्त्रोत है–
   (क) ऊर्जा (ख) विद्युत शक्ति (ग) जल विद्युत (घ) उपर्युक्त सभी।
7. नयी पॉवर नीति की घोषणा कब की गई थी–
   (क) 1992 में (ख) 1994 में (ग) 1996 में (घ) 1998 में।
8. भारत सरकार ने किस सन् में नया बिजली कानून पास कर दिया था–
   (क) सन् 2000 में (ख) सन् 2001 में (ग) सन् 2002 में (घ) सन् 2003 में।

19.2 भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली (Transport System in India's Economic Development)

यदि कृषि और उद्योग को अर्थव्यवस्था की काया समझा जाता है, तो परिवहन और संचार उसकी नसें हैं जो व्यक्तियों एवं वस्तुओं की गतिविधि में सहायता करती हैं। परिवहन प्रणाली वस्तुओं एवं सेवाओं के बाज़ार का विस्तार करती है और इसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने का उत्पादन श्रम-विभाजन (Division of Labour) द्वारा संभव हो सकता है। यह कच्चे माल, ईंधन, मशीनरी आदि को उत्पादन के स्थानों तक पहुंचाने के लिए अनिवार्य है। किसी भी क्रिया में जितना विस्तरित और अविरत उत्पादन होगा, उतनी ही अधिक परिवहन सुविधाओं की आवश्यकता होगी। परिवहन विकास से दूरदराज़ के इलाके और संसाधन उत्पादन के लिए खुल जाते हैं। किसी क्षेत्र में कृषि, वन और खनिज संसाधन अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं, परन्तु उनका विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक वे सुदूर और पहुंच के बाहर रहेंगे। पिछड़े क्षेत्रों को अधिक विकसित क्षेत्रों के साथ जोड़कर परिवहन प्रणाली संसाधनों का बेहतर और पूर्ण प्रयोग करने में सहायता देती है। अन्तिम, परिवहन सुविधाओं के विस्तार से प्रत्यक्षत: औद्योगीकरण को सहायता मिलती है। इंजनों और मोटर गाड़ियों, जहाज़ों आदि की मांग से ऐसे उद्योग स्थापित हो जाते हैं जो इन वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। अत: भारत जैसे विकासमान देश में परिवहन का विस्तार मूलत: महत्त्वपूर्ण है।

परिवहन और पंचवर्षीय योजनाएँ

भारतीय आयोजकों ने परिवहन के विकास को उच्च प्राथमिकता दी क्योंकि उनके विचार में "एक कुशल और सुविकसित परिवहन एवं संचार प्रणाली ऐसे आर्थिक विकास की कामयाबी के लिए अनिवार्य है जो द्रुत औद्योगीकरण पर बल देता है।" इसी कारण पहली तीन योजनाओं में, परिवहन क्षेत्र को आवण्टन काफी अधिक था अर्थात् 25 से 28 प्रतिशत के बीच। इसके पश्चात् उत्तोरोत्तर योजनाओं में परिवहन क्षेत्र पर आवंटन (Allocation) धीरे-धीरे घटता गया। आठवीं योजना में, उदाहरणार्थ, यह कुल परिव्यय का केवल 13 प्रतिशत था। परन्तु पिछली तीन योजनाओं में परिवहन क्षेत्र पर कम आवंटन का यह अभिप्राय नहीं कि परिवहन क्षेत्र का पूर्ण विकास हो चुका है।

इसका एक कारण संसाधनों की कमी है और दूसरी ओर ऊर्जा तथा अन्य औद्योगिक क्षेत्रों का बढ़ता हुआ महत्त्व है।

भारतीय रेलवे का विकास– भारत में रेलवे का आरम्भ 1853 में हुआ जबकि पहली रेलगाड़ी द्वारा मुम्बई से थाना तक 22 मील की यात्रा की गई। अगले वर्ष कलकत्ता में एक रेलवे लाइन खोली गई। भारत में रेलवे-विकास का विशिष्ट लक्षण यह है कि बहुत से इलाकों में औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ रेलों का विकास हुआ। मुम्बई में सूती वस्त्र उद्योग, कलकत्ता में पटसन उद्योग, असम तथा बंगाल में चाय के बाग और असम में तेल उद्योग का विकास रेलों के विस्तार का ही परिणाम है। 1853 में आरम्भ होने के पश्चात् रेलों ने तेजी से विकास किया

नोट

और सन् 1900 तक लगभग 40 कि.मी. अतिरिक्त रेल-मार्ग तैयार किया गया। अगले पचास वर्षों में रेलों का विकास धीमा पड़ गया और केवल 16,000 कि.मी. अतिरिक्त रेल-मार्ग तैयार किया गया। इस प्रकार भारत में 1950 तक कुल मिलाकर 54,400 किलोमीटर से कुछ अधिक रेलमार्ग तैयार हो चुका था।

आरम्भ में, रेलवे का स्वामित्व एवं प्रबन्ध निजी कम्पनियों के आधीन था, जिनके मालिक अँग्रेज व्यापारी थे। सरकार ने इन्हें मुफ्त भूमि, पूँजी पर निम्नतम प्रत्याय (Minimum return) के आश्वासन आदि के रूप में कुछ रियायतें दीं। रेलों पर निजी कम्पनियों के स्वामित्व एवं प्रबन्ध की कुछ आलोचना और शिकायतें की गईं। 1925 में भारत सरकार ने पहली रेलवे कम्पनी अपने स्वामित्वाधीन की। धीरे-धीरे अन्य कम्पनियाँ भी सरकार के आधीन लाई गईं। 1944 तक सभी निजी कम्पनियों को हटाकर रेलों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध सरकार के आधीन हो गया। 1950 में महाराजाओं के आधीन रियासतों की रेलों को भी भारत सरकार के स्वामित्वाधीन लाया गया। आज रेलें एक एकीकृत राजकीय उद्यम (State enterprise) हैं। रेलें देश का सबसे बड़ा राष्ट्रीयकृत उद्यम है और इनमें सभी निजी संयुक्त पूँजी कम्पनियों की तुलना में अधिक विनियोग किया गया है। आज भारतीय रेलवे में 16 लाख से अधिक व्यक्ति काम करते हैं। भारतीय रेलवे के पास 7,900 डीजल और बिजली चालित इंजन, 42,000 सवारी-डिब्बे और लगभग 2,22,000 वैग्न है। रेलें 1.1 करोड़ सवारियों और 11.2 लाख टन माल का लम्बी दूरी के लिए परिवहन करती हैं। भारत में अब कुल रेल-मार्ग की लम्बाई 63,500 किलोमीटर हो गइ है। इस प्रकार रेलें देश का सबसे बड़ राष्ट्रीयकृत उद्यम हैं। यह एशिया का सबसे बड़ा और विश्व में दूसरा सबसे बड़ा उद्यम है।

(*i*) रेलवे विकास की पंचवर्षीय योजनाएँ

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध रखने वाले अभिकरणों में रेलवे सबसे बड़ा परिवहन अभिकरण (Transport agency) है। इस कारण भारत सरकार ने इसके विकास पर सबसे अधिक बल दिया है। रेलों ने पुन:स्थापन की बहुत-सी योजनाएँ लागू कीं और बाद में परिवहन क्षमता (Transport capacity) और परिचालन कुशलता (Operational efficiency) को बढ़ाने के लिए निर्माण का महाभियान चलाया। सरकारी क्षेत्र में किए गए कुल व्यय का 21 प्रतिशत पहली तीन योजनाओं में रेलवे विकास पर खर्च किया गया। पहली सात योजनाओं में कुल व्यय के रूप में रेलों पर 24.000 करोड़ रुपए व्यय किए गए। एक कुशल रेल परिवहन व्यवस्था कायम करने के अतिरिक्त, प्रत्येक योजना में रेलवे विकास का विशेष उद्देश्य था।

(*i*) **प्रथम योजना**–जीर्ण परिसम्पत् (Overaged assets) का प्रतिस्थापन;

(*ii*) **दूसरी योजना**–नए इस्पात कारखानों और कोयले के बढ़ते हुए उत्पादन के कारण जनित माल परिवहन के ढोने के लिए रेलों को विशेष रूप में तैयार करना;

(*iii*) **तीसरी योजना**–अतिरिक्त क्षमता का निर्माण करना ताकि यह परिवहन की माँग से अधिक हो सके जिसके द्वारा परिवहन सम्बन्धी रुकावटें दूर की जा सकें;

(*iv*) **चौथी से सातवीं योजना**–रेल व्यवस्था का आधुनिकीकरण ताकि इसकी क्रियाओं की कुशलता बढ़ाई जा सके।

माल भाड़े के टर्मिनलों के विकास को उच्च प्राथमिकता देना ताकि माल के डिब्बों की गति स्वतन्त्र एवं सुविधाजनक रूप में हो सके। इसके साथ-साथ वाष्प इंजनों को डीज़ल और बिजली के इंजनों में परिवर्तित करना।

आठवीं और नौवीं योजना–मुख्य बल सामर्थ्यजनन (Capacity generation) पर था। इसके अतिरिक्त पुनर्वास एवं आधुनिकीकरण, ऊर्जा-संरक्षण (Energy Conservation), सुरक्षा, वित्तीय सक्षमता और ग्राहक तुष्टि के लिए विश्वसनीय एवं बेहतर सेवाएं उपलब्ध कराने की ओर ध्यान दिया गया।

(*ii*) दसवीं पंचवर्षीय योजना और रेलवे विकास

दसवीं योजना का मुख्य बल रेलवे-प्रणाली की क्षमता को मजबूत बनाना है ताकि वह लम्बी दूरी वाले भारी माल एवं सवारी यातायात की प्रधान वाहक बन सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रेलवे को बहुविध-विकास और

नोट

अधिक यातायात वाले मार्गों के बिजलीकरण, परिचालन में विश्वसनीयता को उन्नत करने की ओर ध्यान देना होगा। इसके अतिरिक्त, डिब्बों में माल यातायात के परिवहन और समग्र रेल-प्रणाली के प्रयोग को अनुकूलतम बनाना होगा। चूँकि अर्थव्यवस्था के कुल यातायात में रेलवे के भाग में गत वर्षों में कमी होती जा रही है, दसवीं योजना में रेलवे की सामर्थ्य को उन्नत करने और रेलवे प्रणाली की उत्पादिता (Productivity) को बढ़ाने पर विशेष बल दिया जाएगा।

तालिका रेलों की प्रगति

	1950–51	1960–61	1970–71	2005–06
1. रेलमार्ग की लम्बाई				
(किलोमीटर)	53,600	56,200	59,790	63,370
जिसमें बिजलीकृत	388	748	3,706	17,900
2. सवारियों की संख्या (लाख)	12,840	15,940	24,310	58,300
3. माल-परिवहन (लाख टन)	930	1,562	1,965	6,660
4. रेल इंजनों की संख्या	8,200	10,624	11,158	8,025
जिसमें से डीज़ल चालित	17	181	1,169	4,900
बिजली चालित	72	131	602	3,080
5. माल डिब्बों की संख्या (हजार)	206	308	384	207

दसवीं योजना के पहले तीन वर्षों के दौरान, भारतीय रेलवे की हालत बहुत ख़राब थी। परन्तु दसवीं योजना के अन्तिम दो वर्षों में रेलवे ने उत्पादिता बढ़ाने में आश्चर्यजनक वृद्धि प्राप्त की, इसके साथ-साथ क्षमता में भारी विस्तार किया गया। रेलवे राजस्व प्राप्तियों में वृद्धि और व्यय में नियंत्रण द्वारा रेलवे ने भारी अतिरेक प्राप्त किए।

(*iii*) ग्यारहवीं योजना (2007.12) के आधीन रेलवे

दसवीं योजना के अन्तिम दो वर्षों में रेलवे की महत्त्वपूर्ण प्रगति के बावजूद, ग्यारहवीं योजना ने क्षमता-प्रयोग में अड़चनों के बने रहने, डिब्बों में माल लगातार अम्बार बढ़ते चले जाने, बन्दरगाहों पर अत्यधिक भीड़-भाड़ आदि पर बल दिया। ग्यारहवीं योजना में महत्त्वपूर्ण मार्गों जैसे दिल्ली-मुम्बई और दिल्ली-हावड़ा की क्षमता-विस्तार करने पर विशेष बल दिया गया है।

रेलवे सार्वजनिक-निजी-साझीदारी (Public-Private-Partnership) की ओर परिवर्तित होने की मुख्य पहल कर रही हैं ताकि रेलवे आधारसंरचना (Railway Infrastructure) का निर्माण और कार्यसंचालन बढ़ाया जाए। इससे रेलवे के क्षमता-विस्तार में कहीं अधिक वृद्धि होगी, इसकी अपेक्षा रेलवे केवल सार्वजनिक वित्त पर निर्भर रहें।

11वीं योजना में यह प्रत्याशा की गयी है कि रेलवे विश्व-स्तरीय सेवाएं उपलब्ध कराए–विभिन्न अन्तिम स्टेशनों (Terminals) पर स्वारियों को उच्च गुणवत्ता सेवाएं, आधुनिक सवारी एवं माल डिब्बों का निर्माण और समग्र रूप में सफाई। जहां तक माल-भाड़े का सम्बन्ध है, रेलवे माल-डिब्बों के डिज़ाइन में परिवर्तन, कम्पनियों को माल-डिब्बों के निर्माण और रख-रखाव करने की जिम्मेदारी आदि देना चाहते है। इस प्रकार बहुत सी क्रियाएं बाहरी स्त्रोतों से प्राप्त करने पर बल दिया जाएगा।

(*iv*) रेलों का आधुनिकीकरण

तालिका 13 में दिए गए आँकड़े रेलवे-आधुनिकीकरण की प्रगति को व्यक्त करते हैं। वाष्प इंजनों को धीरे-धीरे डीज़ल तथा बिजली चालित इंजनों द्वारा प्रतिस्थापित किया जा रहा है। वाष्प इंजनों की संख्या 1950-51 में 8,120 थी जो 1965-66 तक बढ़कर 10,600 हो गई। तत्पश्चात् 2004-05 में इनकी संख्या धीरे-धीरे कम होकर केवल 45

नोट

रह गई। इसके विरुद्ध बिजली चालित इंजनों की संख्या 1950–51 में 72 की अपेक्षा 2005–06 में बढ़कर 3,080 हो गई। साथ ही बिजलीकृत रेलमार्ग की लम्बाई 390 कि.मी. से बढ़कर 2005–06 के दौरान 17,900 कि.मी. हो गई। डीज़ल इंजनों की संख्या 1950–51 में 71 से बढ़कर 2005–06 में 4,900 हो गई। डीजल और बिजली चालित इंजन कुल माल परिवहन के 99 प्रतिशत से भी अधिक यातायात करते हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं में सड़क-विकास

प्रथम योजना के आरम्भ के समय 1951 में भारत में पक्की सड़कों की कुल लम्बाई 1,60,000 किलोमीटर और कच्ची सड़कों की कुल लम्बाई 2,40,000 किलोमीटर थी।

तालिका सड़क निर्माण की प्रगति (हजार कि.मी.)

प्रकार	1950–51	1960–61	1970–71	2001–02
पक्की सड़कें	157	231	421	1,420
कच्ची सड़कें	243	448	543	2,480
कुल	**400**	**679**	**964**	**3,900**

1950–51 के पश्चात् सड़कों की लम्बाई 4 लाक्ष कि.मी. से बढ़कर 2001–02 में 39.0 लाख कि.मी. हो गई।

भारतीय सड़कें तीन वर्गों में बाँटी जाती हैं–राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग (National Highways), राज्यीय प्रमुख मार्ग (State Highways) और ग्रामीण सड़कें। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों की लम्बाई 65,600 किलोमीटर है, कुल सड़क मार्ग की लम्बाई का 2 प्रतिशत परन्तु इन पर कुल यातायात के 40 प्रतिशत का वहन होता है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्रणाली प्राथमिक सड़क ग्रिड (Grid) है और यह केन्द्र सरकार का दायित्व है। राज्यीय प्रमुख मार्ग और मुख्य जिला सड़कें द्वितीयक सड़क प्रणाली का भाग हैं। राज्यीय प्रमुख मार्गों और मुख्य या जिला-सड़कों की लम्बाई लगभग 6,00,000 किलो मीटर है। इनके निर्माण और रखरखाव का दायित्व राज्यीय सरकारों (State Governmetns) पर होता है। इसके अतिरिक्त बहुत से ग्राम विकास कार्यक्रमों के आधीन ग्राम भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम और कमान क्षेत्र विकास कार्यक्रम। इन सबका उद्देश्य सड़क निर्माण द्वारा ग्रामों को जोड़ना है।

सड़क विकास कार्यक्रम का बल निम्नलिखित क्षेत्रों पर होगा–

(*i*) महत्त्वपूर्ण प्रमुख मार्गों के नेटवर्क की कमियाँ दूर करके इसे उन्नत एवं मजबूत बनाना और अधिक घनत्व वाले मार्गों में बहुत सी लेन बनाना;

(*ii*) दूरदराज के इलाकों जैसे उत्तर-पूर्व में सड़क परिवहन को उन्नत करना; और

(*iii*) शेष ग्रामों को सभी मौसमों में सम्पर्क के लिए सड़क परिवहन का विकास करना और ऊर्जा-संरक्षण (Energy conservation) और पर्यावरण सुरक्षा के लिए सड़क-निर्माण करना।

सड़क प्रणाली को उन्नत करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। देश में कुल सड़क मार्ग का केवल 50 प्रतिशत अच्छी सतह वाला है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों में भी 30 प्रतिशत लम्बाई में एक ही लेन (Lane) है। देश के 36 प्रतिशत गाँव सड़कों से जुड़े हुए नहीं हैं और 65 प्रतिशत ग्रामों में सभी मौसमों वाली सड़कें नहीं हैं। अत: कुल सड़क प्रणाली क्षमता-सीमाबन्धनों में जकड़ी हुई है, इस पर वाहनों की भीड़ बढ़ रही है और ईंधन का अपव्यय होता है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों की कुल 58,110 किलोमीटर लम्बाई में से लगभग 25,000 किलोमीटर अधिक यातायात के कारण भारी दबाव में है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों में सभी कमियों को दूर करने की लागत। 1,64,345 करोड़ रुपये (चालू कीमतों पर) आंकी गयी है। यह परिव्यय एक लेन वाली सड़कों को दो लेन वाली, दो लेन वाले मार्गों को उन्नत करने, एक्सप्रैस मार्गों के निर्माण, बाईपास और पुल बनाने और पुलों की मरम्मत के लिए करना होगा।

नोट

राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास प्रोजैक्ट (National Highway Development Project)

स्वतन्त्र भारत में सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी प्रोजैक्ट है जिसमें 5,846 किलोमीटर सुनहरी चतुर्भुज (Golden Quadrilateral) और 7,300 किलोमीटर लम्बे उत्तर–दक्षिण, पूर्व–पश्चिम पथ (Corridors) शामिल हैं। सुनहरी चतुर्भुज दिल्ली, मुम्बई एवं कोलकाता को और उत्तर–दक्षिण मार्ग कश्मीर से कन्याकुमारी और पूर्व–पश्चिम पथ सिलचर से पोरबन्दर को जोड़ते हैं। यह प्रोजैक्ट भारतीय राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है और इसकी लागत 54,000 करोड़ रुपये है। चाहे इसके लिए निजी सहयोग आमंत्रित किया गया परन्तु यह आरम्भिक प्रत्याशा के अनुकूल प्राप्त नहीं हुआ। सुनहरी चतुर्भुज के 2003 के अन्त तक और उत्तर–दक्षिण एवं पूर्व–पश्चिम पथ के 2007 तक पूरा होने की उम्मीद है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास प्रोजैक्ट से देश के आर्थिक विकास में भारी प्रोन्नति की प्रत्याशा है और इस प्रकार देश के दूरदराज़ के इलाके मुख्य धारा के साथ समन्वित हो जाएंगे।

प्रमुख मार्गों (Highway) के विकास के लिए किए गए प्रधान उपाय

स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् सड़क परिवहन सवारियों एवं माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का प्रधान साधन बन गया है। सवारियों का लगभग 80 प्रतिशत और माल यातायात का लगभग 60 प्रतिशत सड़क परिवहन पर आधारित है और यह अनुपात वर्ष 2000 तक क्रमशः 87 प्रतिशत और 65 प्रतिशत हो जाएगा। इस कारण आवश्यक है कि देश के समग्र आर्थिक विकास और यातायात के विस्तार के साथ–साथ राष्ट्रीय एवं राज्यीय प्रमुख मार्गों के सामर्थ्य एवं गुणवत्ता को उन्नत किया जाए। चूँकि राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों (National Highways) के 15 प्रतिशत और राज्यीय प्रमुख मार्गों के 75 प्रतिशत में अभी भी एक–लेन (Single lane) है, इस कारण यातायात को तेज रफ्तार से चलाना संभव नहीं। इसके अतिरिक्त, पटरियों की अपर्याप्तता, रेलवे–क्रासिंग के विद्यमान होने, सड़कों के मार्गों पर कम एवं असंतोषजनक सुविधाएँ होने और सुरक्षा उपायों की अपर्याप्तता कुछ अन्य समस्याएँ हैं। अतः इन समस्याओं के समाधान के लिए एक सरकारी अनुमान के अनुसार–

राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों के 20 प्रतिशत को दो–लेन वाले मार्गों में परिवर्तित करना अनिवार्य है।

दो–लेन वाली 50 प्रतिशत सड़कों को और मजबूत बनाना होगा।

30 प्रतिशत दो–लेन वाली सड़कों को चार–लेन वाली सड़कों में तब्दील करना आवश्यक है। कुछ चुने हुए मार्गों को एक्सप्रैस मार्गों (Express ways) में परिवर्तित करने की जरूरत है।

गत वर्षों में सड़क निर्माण का वित्त–प्रबन्ध सामान्यतया बजटीय स्रोतों (Budgetary Sources) द्वारा किया गया और इस कार्य के लिए या तो केन्द्र या राज्य सरकारों के विभागों का प्रयोग किया गया। इस प्रोग्राम के आकार को दृष्टि में रखते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सार्वजनिक क्षेत्र की क्षमता से परे है। चूँकि सड़क निर्माण एवं विकास की फौरी आवश्यकताओं के लिए बजटीय–आवंटन (Budgetary allocation) पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं, इस कारण भारत सरकार ने राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग अधिनियम (National Highway Act) को 1995 में संशोधित कर दिया ताकि निजी क्षेत्र निर्माण, संचालन एवं परिवर्तन (Build, Operate and Transfer–BOT) के आधार पर सहयोग दे सके। सरकार ने निजी क्षेत्र को आकर्षित करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए हैं–

(1) राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों के निर्माण के लिए भूमि–अधिग्रहण के लिए एक पृथक अध्यादेश जारी किया गया। इसके आधीन केन्द्र सरकार भूमि अधिग्रहण कर सकती है और इसके लिए क्षतिपूर्ति तय कर सकती है।

(2) सरकार ने वर्तमान राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों के प्रोजैक्टों को पर्यावरण एवं वन–हटाने से छूट दे दी है।

(3) सरकार ने सड़क–निर्माण एवं विकास सम्बन्धी बहुत से नियमों को सरल बना दिया है। उदाहरणार्थ, 100 करोड़ रुपये के प्रोजैक्टों को सड़क निर्माण मंत्रालय द्वारा स्वीकृति दी जा सकती है।

(4) सरकार ने 4–लेन वाली सड़कों के क्षेत्र में प्रयोक्ता–शुल्क (User fee) लगाने का निर्णय किया है और यह शुल्क ऐसी सड़कों पर भी लगेगा जो बजट–राशि से बनायी गयी हैं। इससे प्राप्त राजस्व का प्रयोग भावी सड़क विकास के लिए किया जाएगा।

नोट

(5) सरकार ने कुछ ऐसे प्रोजैक्ट अपने हाथ में लेने का निर्णय किया है जो अधिक आर्थिक क्षमता रखते हों परन्तु जो वाणिज्यिक दृष्टि से सक्षम न हों। कोई वाणिज्यिक उद्यम उनमें आरम्भिक पूँजी लगा सकता है और इसे समय-उपरान्त एक संधि के अनुसार वार्षिक राशि के रूप में अदा कर सकता है।

(6) निजी क्षेत्र के विनियोग को प्रोत्साहित (National Highway Authority) को यह इजाजत दी है कि वह किसी निजी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी की हिस्सा-पूँजी में भाग ले सकता है।

(7) भारत सरकार ने सड़क-क्षेत्र में विदेशी विनियोग सम्बन्धी प्रावधानों को और उदार बना दिया है। उदाहरणार्थ, सड़कों एवं पुलों के निर्माण के लिए 74 प्रतिशत तक हिस्सा-पूँजी के सहयोग की स्वत: स्वीकृति (Automatic approval) देने का निर्णय किया गया है। इसके अतिरिक्त, भू-परिवहन सेवाओं (Land transport services) में अधिसंख्य विदेशी हिस्सा-पूँजी (Equity) की 51 प्रतिशत तक स्वीकृति दी गयी है, ताकि ऊँचे पुलों, पथकर सड़कों (Toll Roads) और गाड़ियों को सहायता दी जा सके।

(8) सरकार ने राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों को उन्नत करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों से विदेशी सहायता प्राप्त की है। इनमें विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक और ओवरसीज बैंक (जापान) शामिल हैं। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार एक स्वायत्त संस्था है जिसे संसद के अधिनियम के आधीन स्थापित किया गया और इसे एशियाई विकास बैंक (Asian Development Bank) का 800 करोड़ रुपये का प्रोजैक्ट सौंपा गया जिससे 5 राज्यों अर्थात् हरियाणा, राजस्थान, बिहार, पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश को लाभ प्राप्त होगा।

1995 के राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग अधिनियम के पास होने के पश्चात् निजी क्षेत्र में तीन राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्रोजैक्ट आरम्भ कर दिये गये हैं। दो प्रोजैक्ट थाने-भविण्डी (महाराष्ट्र) और उदयपुर (राजस्थान) में स्थित हैं और सड़क पर पुल बनाने का तीसरा प्रोजैक्ट चालटन (गुजरात) में है।

सड़क विकास का महत्त्वाकांक्षी प्रोग्राम

राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास कार्यक्रम के दूसरे चरण में निम्नलिखित लक्ष्य रखे गए है–

(*i*) उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम पथ के 7,300 कि.मी. सड़क मार्ग का निर्माण करना ताकि सपुर से सलेम से कोची और सिलचर को पूर्व से पोरबन्दर के पश्चिम से जोड़ा जा सके।

(*ii*) बन्दरगाहों को जोड़ने और प्रोजैक्टों से 1,157 कि.मी. सड़क-मार्ग कायम करना; और

(*iii*) राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग विकास कार्यक्रम के तीसरे चरण में 4,015 कि.मी. सड़क का निर्माण करना जिसमें से 4,000 कि.मी. चार लेन वाले मार्ग को 2005 तक 22,000 करोड़ रुपये की लागत से पूरा किया जाने का लक्ष्य है।

2005-06 के अन्त तक राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्रोग्राम के आधीन 6,300 कि.मी. सड़क का निर्माण करना जिसका अधिकतर भाग सुनहरी चतुर्भुज - अर्थात् 5,100 कि.मी. पूरा हो गया है और 6,200 कि.मी. और निर्माण-आधीन है। सरकार यह उम्मीद रखती है कि दिसम्बर 2008 तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम के पथ पूरे कर लिए जाएंगे। तीसरा चरण दिसम्बर 2009 तक पूरा हो गया।

भारत सरकार के महत्त्वाकांक्षा लक्ष्य में निम्नलिखित शामिल हैं–

(क) उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र में विशेष त्वरित सड़क विकास प्रोग्राम द्वारा उत्तर-पूर्व में सड़कों द्वारा सदूर इलाकों को जोड़ना। इसके अतिरिक्त 2/4 लेन द्वारा उत्तर-पूर्व के आठ राज्यों में राजनीतिक महत्त्व के राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों को उन्नत करना।

(ख) राष्ट्रीय प्रमुख मार्गों का उन्नयन (Upgrading) धीरे-धीरे, 2 लेन, 4 लेन और 6 लेन में करना। इसके लिए रिंग रोड़, उपमार्गों (Bypasses), सेवा सड़कों का निर्माण करना।

यह प्रोग्राम भारतीय राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है। इसके वित्त के प्रबन्ध के लिए पेट्रोल और डीज़ल पर 2 रुपये प्रति लिटर का उपकर (Cess) लगाया गया है। इसके अतिरिक्त प्राधिकार विश्व बैंक,

नोट

एशियाई विकास बैंक और अन्य वित्तीय संस्थानों के माध्यम से वित्त प्राप्त करता है। राष्ट्रीय प्रमुख मार्ग प्राधिकार इस प्रोग्राम को निजी–सार्वजनिक सहयोग (Public-private partnership) के आधार पर लागू करना चाहता है।

भारत में सड़क परिवहन (Road Transport in India)

जबकि 1950–51 में मोटर गाड़ियों (बसों, ट्रकों एवं छोटी गाड़ियों) की संख्या 3 लाख थी, यह 1999–2000 तक तेजी से बढ़कर 480 लाख हो गई। इसी अवधि के दौरान, बसों की संख्या 34,000 से बढ़कर 5.59 लाख हो गयी और ट्रकों की संख्या 82,000 से बढ़कर 27 लाख से भी अधिक हो गयी। मोटर गाड़ियों की संख्या में प्रति वर्ष 11.2 प्रतिशत की वृद्धि होने के कारण सड़कों पर दबाव बढ़ रहा है।

रेल-सड़क समन्वय (Rail-Raod Co-ordination)

रेलें और सड़कें परिवहन के अन्य साधनों की अपेक्षा एक–दूसरे की पूरक हैं और इस प्रकार एक दूसरे की सहायक हैं। सड़क परिवहन द्वारा किसी स्थानीय मण्डी एवं निकटतम रेलवे–स्टेशन से सम्पर्क स्थापित करते हैं। इसके विरुद्ध रेलों द्वारा उत्पादन के दूर–दूर केन्द्रों और उपभोक्ताओं से सम्पर्क स्थापित किया जाता है। किन्तु रेलें अच्छी और पर्याप्त सड़कों के बिना काफी उत्पादन एकत्र नहीं करा सकतीं। साथ ही यह भी सत्य है कि अच्छी अच्छी सड़कें भी फसलों, लौह तथा इस्पात, सीमेंट, कोयले और अन्य भारी वस्तुओं को उत्पादकों से अन्तिम उपभोक्ताओं तक नहीं पहुँचा सकतीं। इस प्रकार रेलें और सड़कें पूरक हैं। किन्तु वे सभी स्थानों पर प्रतिस्पर्द्धा (Competitive) बन गई हैं। पिछले 40 वर्षों से यह प्रयास किया गया कि स्पर्द्धा को कम करके रेलों एवं सड़कों से समन्वय कायम किया जाए।

भारत में जल-परिवहन (Water Transport in India)

जल परिवहन दो प्रकार का है–अंतर्देशीय जल परिवहन और समुद्रतटीय जल–परिवहन।

अन्तर्देशीय जल परिवहन (Inland Water Transport)

देश की परिवहन व्यवस्था में नदी तथा नहरों के परिवहन ने काफी योगदान किया है परन्तु पिछली शताब्दी के मध्य के पश्चात्, रेल–परिवहन पर अधिक बल देने और नदियों के पानी का प्रयोग सिंचाई के लिए करने के परिणामस्वरूप जल–परिवहन की क्षति हुई है। आज भी असम, पश्चिमी बंगाल और बिहार में अन्तर्देशीय जल–परिवहन का विशेष महत्त्व है। असम और कोलकाता के बीच कुल 25 लाख टन यातायात (Traffic) में से लगभग आधा भाग जल–परिवहन द्वारा और शेष भाग रेल और सड़क–परिवहन द्वारा ले जाया जाता है। अन्देंशीय जल परिवहन का केरल में बहुत महत्त्व है। यह परिवहन उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में भी कुछ महत्त्व रखता है।

भारत में विभिन्न प्रकार की नदियों, नहरों आदि के आधार पर कुल जल–परिवहन 12,500 किलोमीटर पर हो सकता है जिसका केवल 5,200 किलोमीटर मुख्य नदियों और 485 किलोमीटर मार्ग ऐसा है जो कि यन्त्रीकृत वाहनों के लिए उचित माना जा सकता है। पर जहाँ कहीं जल–मार्ग उपलब्ध भी है, वहाँ भी विभिन्न सीमाबन्धनों के कारण इनकी सामर्थ्य का पूर्ण प्रयोग नहीं किया जा रहा है।

पहला, कम गहरे और छोटी चौड़ाई के जल मार्गों पर खुश्क मौसम, किनारों के टूट–फूट जाने और नौगम्य सहायक उपायों के अभाव के परिणामस्वरूप नौपरिवहन की मुक्त गतिविधि पर प्रभाव पड़ता है।

दूसरे, नौगम्य जलयानों के आधुनिकीकरण का कोई प्रयास नहीं किया गया और इस प्रकार यह बहुत पुराना एवं अकुशल हो गया है।

अन्तिम, जल–पावर (Hydel Power) बाढ़ नियंत्रण नौपरिवहन और सिंचाई परियोजनाओं में अपर्याप्त समन्वय ही रहा है।

छठी योजना तक अन्तर्देशीय जल परिवहन की उपेक्षा की गयी। केवल छठी योजना में अन्तर्देशीय जल परिवहन को उच्च प्राथमिकता दी गयी। छठी योजना ने प्रस्ताव किया–

नोट

(*i*) अन्तर्देशीय जल परिवहन पर पुन: बल दिया जाए और इसे विकसित किया जाए। योजना का समग्र दृष्टिकोण यह था कि विकास के लिए राष्ट्रीय एवं अन्त:राज्यीय महत्त्व की सुपरिभाषित योजनाओं पर कार्य किया जाए।

(*ii*) कुछ जलमार्गों को राष्ट्रीय जल मार्ग घोषित किया जाए, जहाजों एवं नौकाओं का प्रतिस्थापन किया जाए और नावांगनों (Dockyards) आदि का आधुनिकीकरण किया जाए।

(*iii*) अन्तर्देशीय जल परिवहन को साहाय्य (Subsidy) देने की योजना चालू की जाए और उद्यमकर्ताओं को यंत्रीकृत नौयान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। इसके अतिरिक्त वर्तमान नौयानों जिनमें ग्रामीण कश्तियां भी शामिल हैं, का आधुनिकीकरण किया जाए।

दसवीं योजना में जल परिवहन सम्बन्धी रणनीति एवं प्रहार-क्षेत्र

(*i*) ऐसे क्षेत्रों में अन्तर्देशीय जल परिवहन का विकास करना जिनमें इसे प्राकृतिक लाभ प्राप्त हैं।

(*ii*) आधुनिकीकरण एवं तकनालाजी के उन्नयन द्वारा जल-परिसम्पतों की उत्पादिता को बढ़ाना।

(*iii*) अन्तर्देशीय जल परिवहन के लिए प्रशिक्षित एवं कुशल मानव शक्ति का निर्माण करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नौवीं योजना में निम्नलिखित उपाय किए गए–

(क) दो राष्ट्रीय जलमार्गों-गंगा और ब्रह्मपुत्र का विकास किया जा रहा है। इनका मुख्य उद्देश्य इन जलमार्गों की पर्याप्त गहरायी एवं चौड़ाई को कायम रखना है। इसके अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा में नौगम्य सहायक यंत्र उपलब्ध कराने होंगे और समन्वित टर्मिनल स्थापित करने होंगे ताकि कुछ चुने हुए जलमार्गों पर पूरे वर्ष के दौरान और 24 घंटे नौपरिवहन हो सके।

(ख) अन्तर्देशीय नौयानों का आधुनिकीकरण किया जाएगा और बहुत पुराने नौयानों का प्रतिस्थापन किया जाएगा। भिन्न-भिन्न जलमार्गों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विशिष्ट नौयान (Vessels) विकसित करने होंगे ताकि विभिन्न प्रकार के माल की ढुलाई की जा सके।

(ग) निजी उद्यमकर्ताओं को बेहतर डिजाइन के नौयान और उन्नत नौगम्य जलयानों के लिए साहाय्य जारी रखे जाएंगे। टर्मिनलों की स्थापना में निजी सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाएगा।

भारतीय जहाजरानी (Indian Shipping)

भारतीय जहाजरानी अभी अपनी शैशव अवस्था में है। कारण यह है कि जहाजरानी का जो कुछ भी विकास हुआ है वह केवल स्वतन्त्रता के बाद के काल में हुआ है। स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय जहाजरानी कम्पनियाँ सफल न हो सकीं क्योंकि इनके विरुद्ध विदेशी जहाजरानी कम्पनियाँ घोर प्रतिस्पर्द्धा करती थीं और भारत के विदेशी शासक इनका संरक्षण नहीं करते थे। भारत के स्वतन्त्रता के समय केवल 42 जहाज थे जिनकी कुल सामर्थ्य 1 लाख टन (कुल पंजीकृत भार) थी। भारतीय जहाज अपने समुद्र-पार व्यापार (Overseas trade) का केवल 2 प्रतिशत ले जाते थे।

जहाजरानी के विकास में सरकारी सहयोग

भारत सरकार ने जहाजरानी के विस्तार को उच्च प्राथमिकता दी क्योंकि इससे विदेशी मुद्रा की बचत होती है। सरकार ने दो जहाजरानी कम्पनियाँ स्थापित कीं–पूर्वी जहाजरानी निगम (Eastern Shipping Corporation) जो आस्ट्रेलिया और सुदूर-पूर्व में कार्य करती है और पश्चिमी जहाजरानी कम्पनी (Western Shipping Corporation) जो इंडो-पर्शियन गल्फ, इंडियन रेडसी और भारत-पोलैण्ड के मार्गों पर कार्य करता है। 1961 में इन दोनों निगमों का विलयन किया गया और भारतीय जहाजरानी निगम (Shipping Corporation of India) की स्थापना की गयी। मार्च 1994 के अन्त पर इस निगम के पास 160 जहाज थे जिनकी कुल भार-क्षमता 40 लाख टन थी। यह निगम विश्व के सबसे बड़े निगमों में गिनी जाती है। यह अब विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण समुद्री-व्यापार के मार्गों पर कार्य करती है।

भारत के पास चार प्रमुख जहाज-निर्माण स्थन हैं–वे विशाखापट्टनम, कोलकाता, मुम्बई और कोची में स्थित हैं।

नोट

जहाजरानी उद्योग के विकास के एकीकृत अंग के रूप में बन्दरगाहों, छोटे पत्तनी एवं प्रकाश स्तम्भों (Light houses) का विकास भी किया जा रहा है।

जहाजरानी क्षेत्र में सुधार

भारतीय जहाजरानी के विकास को प्रोन्नत करने के लिए, भारत सरकार ने 1990–91 में एक नयी जहाजरानी नीति की घोषणा की जो कि भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण के अनुकूल है। इसमें निम्नलिखित मुख्य उपाय शामिल हैं–

(1) निजी कम्पनियों को कुछ वर्गों को छोड़ अन्य सभी प्रकार के जहाजों को प्राप्त करने में स्वत: स्वीकृति (Automatic approval) दी गयी। निजी क्षेत्र को जिन वर्गों में वर्जित किया गया, वे हैं–रूक्ष तेल टैंकर, भार-क्षमता के प्रतिस्थापन के लिए प्राप्ति और भारतीय शिपयार्ड से जहाजों की प्राप्ति।

(2) जहाजों के विक्रय पर स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं।

(3) जहाजरानी कम्पनियों को इस इजाजत दी गयी कि वे भारतीय जहाजों से प्राप्त विक्रय-राशि विदेशों में ही रख लें जिससे नये जहाजों को प्राप्त किया जा सके।

(4) जहाजरानी कम्पनियों को भाड़े और पट्टान्तरण (Charter and demise method) के अनुसार जहाज प्राप्त करने की इजाजत दी गयी।

(5) भारतीय जहाजों को विदेशी कम्पनियों को अन्तर्राष्ट्रीय क्रास-व्यापार (Cross trade) के लिए इस्तेमाल करने के लिए कुछ समय के लिए किराए पर देने की इजाजत दी गयी।

(6) व्यापारी जहाजरानी कानून (Merchant Shipping Act), 1958 में संशोधन किया गया है ताकि भारतीय कम्पनियां अपने जहाजों को गिरवी रख कर विदेशी मुद्रा ऋण प्राप्त कर सकें।

भारतीय जहाजरानी की समस्याएँ–भारतीय जहाजरानी की पहली समस्या भार-सामर्थ्य (Tonnage capacity) का अपर्याप्त होना है। दूसरे, विदेशी मुद्रा (Foreign exchange) की कमी के कारण जहाजरानी के विकास में गम्भीर कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि जहाजरानी के विकास में विदेशी मुद्रा की भारी आवश्यकता पड़ती है। तीसरे, भारतीय जहाजरानी उद्योग की परिचालन लागत (Operating cost) काफी अधिक है। चौथे, भारतीय जहाजरानी कम्पनियों को अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। भारत सरकार जहाजरानी कम्पनियों की कठिनाइयों के बारे में सजग है और इन्हें दूर करने के प्रयास कर रही है। चाहे काफी प्रगति हुई है परन्तु यह स्थिति संतोषजनक नहीं।

बन्दरगाहों का विकास और निजी सहयोग

भारत में 12 प्रमुख बन्दरगाहें हैं जिनका प्रबन्ध भारतीय पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust of India) द्वारा केन्द्र सरकार के आधीन लाया गया और 185 छोटी बन्दरगाहें राज्य सरकारों के आधीन कर दी गयीं। प्रमुख बन्दरगाहों द्वारा कुल यातायात के 75 प्रतिशत का प्रबन्ध किया जाता है जो कि मार्च 2005 के अन्त तक 50 करोड़ टन बढ़ जाएगा जबकि इन बन्दरगाहों की कुल सामर्थ्य (Capacity) 20.4 करोड़ टन का यातायात संभालने की है। अत: प्रमुख बन्दरगाहों की वर्तमान सामर्थ्य को जबरदस्ती खींचा जा रहा है और इस कारण माल की ढुलाई में विलम्ब और जहाज की वापसी का समय भी बढ़ जाता है। अत: वर्तमान बन्दरगाहों की आधारसंरचना (Infrastructure) बढ़ते हुए यातायात के भार का संभालने के लिए नाकाफी है। इस कारण बन्दरगाहों की सामर्थ्य बढ़ाने के लिए भारी विनियोग की जरूरत है।

चूँकि भारत सरकार बन्दरगाहों की सामर्थ्य की माँग और पूर्ति में अन्तर को पाटने के लिए उचित मात्रा में विनियोग जुटा नहीं पा रही है, इसलिए इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र के विनियोग को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। भारत सरकार ने नयी मुम्बई में जवाहरलाल नेहरू पोर्ट की सामर्थ्य का विकास करने के लिए आस्ट्रेलिया के नेतृत्व आधीन कन्सौरटियम (Consortium) के प्रोजैक्ट को चालू करने की स्वीकृति दे दी है। अन्य बन्दरगाहें भी निजी क्षेत्र के

नोट

सहयोग द्वारा सामर्थ्य विस्तार के लिए प्रोजैक्ट तैयार कर रही हैं।

वर्तमान प्रवृत्तियों के आधार पर 11वीं योजना के अन्त पर (2012), 80 करोड़ टन का माल ढोना होगा। इसके लिए क्षमता में महत्त्वपूर्ण विस्तार की आवश्यकता है और यह बड़ी छोटी बन्दरगाहों पर करना होगा। योजना ने गहरी समुद्रीय बन्दरगाह का विकास करने का प्रस्ताव किया है। क्षमता-विस्तार का अधिकतर भाग सार्वजनिक-निजी साझीदारी द्वारा किया जाएगा।

बन्दरगाहों को दूर-दराज के पहाड़ी इलाकों से जोड़ने के लिए पर्याप्त रेल-सड़क जुड़ाव का विशेष महत्त्व है। 11वीं योजना इसे उच्च प्राथमिकता के आधार पर प्रोन्नत करना चाहती है। इसके अतिरिक्त, सरकार बन्दरगाह-न्यासों और मुख्य प्रयोक्ताओं के साथ साझी प्रयोक्ता सुविधाएँ विकसित करेगी।

नागरिक विमान परिवहन (Civil Aviation)

नागरिक विमान परिवहन की वास्तविक प्रगति 1920 में चालू हुई जब सरकार ने कुछ हवाई अड्डे बनाए। नागरिक विमान-परिवहन विभाग 1927 में स्थापित किया गया और बहुत से उड्डयन क्लब (Flying Club) कायम किए गए किन्तु प्रगति बहुत धीमी थी। दूसरे विश्व युद्ध के काल में और इसके बाद काफी प्रगति हुई। बहुत-से हवाई जहाज खरीदे गए, नई सेवाएँ चालू की गई और उनकी उड़ानें बढ़ाई गईं। 1948 में सरकार ने अपनी विमान परिवहन नीति (Aviation Policy) की घोषणा की जिसके अनुसार आन्तरिक और बाहरी सेवाओं को कुछ निजी वाणिज्यिक कम्पनियों (Private Commercial Concerns) की सहायता देने का विश्वास दिलाना था। 1946 में, सरकार ने वायु-परिवहन लाइसेंस बोर्ड स्थापित किया। इस कारण 11 वायु परिवहन कम्पनियाँ कायम हो गईं जिससे कम्पनियों को भारी नुकसान हुए।

1950 में वायु परिवहन जाँच समिति (राजाध्यक्ष समिति) नियुक्त की गई। इस समिति ने यह सिफारिश की कि सभी कम्पनियों का समन्वय कर चार कम्पनियाँ बना देनी चाहिएँ ताकि संघाती प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सके और प्रदेशानुसार कार्य बाँटा जा सके। चूँकि निजी कम्पनियाँ स्वेच्छापूर्वक विलयन के लिए तैयार नहीं थीं, भारत सरकार को नागरिक विमान परिवहन का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा। इसके तीन मुख्य कारण थे-(1) राष्ट्रीयकरण से परिचालन कुशलता (Operational efficiency) बढ़ जाएगी। (2) इससे नागरिक विमान परिवहन की अच्छी व्यवस्था हो सकेगी और इस प्रकार सरकार को प्रशिक्षित तकनीशियन, पायलट आदि मिल सकेंगे; और (3) इससे नेताओं का दोहरापन कम हो सकेगा और इस प्रकार कम हो जाने से हानि घटाई जा सकेगी।

1953 में सरकार ने वायु-परिवहन निगम अधिनियम (Air Transport Corporation Act) पास किया। जिसके आधीन इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन आन्तरिक वायु सेवा के लिए एयर इण्डिया इण्टरनेशनल विदेशी वायु सेवा के लिए स्थापित की गई। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सभी दिशाओं में प्रगति हो रही है। नए हवाई अड्डे बनाए गए। इन सब प्रयासों के परिणामस्वरूप 2002-03 में, अन्तर्देशीय (Domestic) नागरिक विमान-परिवहन के आधीन 1,640 लाख किलोमीटर उड़ान की गई, इसमें 139 लाख यात्रियों ने सफर किया और 1,462 लाख टन-किलोमीटर माल का परिवहन किया गया। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय (International) विमान परिवहन द्वारा 2002-03 में 842 लाख किलोमीटर उड़ान की गयी और इसमें 42 लाख यात्रियों ने सफर किया और 4,030 लाख टन-किलोमीटर माल का परिवहन किया गया।

जब से भारत सरकार ने इण्डियन एयरलाइन्स और एयर इण्डिया की स्थापना की, सरकार का उद्देश्य आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय वायुसेना पर एकाधिकार-नियन्त्रण (Monopoly control) कायम रखना था। इण्डियन एयरलाइन्स में औद्योगिक सम्बन्ध बहुत खराब रहे। अनेक हड़तालों ने इण्डियन एयरलाइन्स की संचालन-कुशलता (Operational efficiency) और वित्तीय निष्पादन पर दुष्प्रभाव डाला। वायुदूत जिसे स्थापित करने का उद्देश्य पोषक लाइन्स (Feeder lines) चलाना था, भी घाटे में चल रही है। 1990 के पश्चात् सरकार ने निजी क्षेत्र द्वारा एयर टैक्सी (Air Taxi) चलाने की योजना चालू की। इस योजना के आधीन भारतीय, अनिवासी भारतीयों या सार्वजनिक उद्यमों द्वारा भी परमिट के लिए आवेदन दिए जा सकते हैं। एयर-टैक्सियों को सभी अधिकृत हवाई अड्डों पर टैक्सियाँ चलाने

नोट

की इजाजत है और वे अपने किराये एवं भाड़े स्वयं तय कर सकते हैं।

प्राय: नागरिक विमान परिवहन के सम्बन्ध में नीतियों में परिवर्तन हुए हैं और इण्डियन एयरलाइन्स के एकाधिकार को चुनौती दी जा रही है ताकि वायुसेना को प्रतियोगी और परिणामत: अधिक कुशल बनाया जा सके। भारत सरकार ने देशीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विनियोक्ताओं के नये अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों के विकास और उन्हें देशीय हवाई अड्डों पर आधार संरचना सहायता के विस्तार के लिए आमंत्रित किया है।

नागरिक विमान परिवहन के क्षेत्र में भी नीति-परिवर्तन किया गया और इण्डियन एयर लाइन्स के एकाधिकार को समाप्त कर नयी निजी एयर लाइन्स को इजाजत दी गयी। इस प्रकार भारत में विमान सेवाएं प्रतिस्पर्द्धी बन गयीं और परिणामत: अधिक कुशल भी हो गयीं। पिछले कुछ वर्षों से भारत सरकार एयर इण्डिया के निजीकरण का प्रयास कर रही है। 1992-93 तक, एयर इण्डिया लाभ कमाने वाला उद्यम था। इसके पश्चात् इसकी स्थिति बिगड़ती गयी और इसमें भारी घाटा होने लगा।

भारत सरकार ने इंडियन एयर लाइंस और एयर इंडिया के निजीकरण की नीति छोड़ दी है। इसकी अपेक्षा, वह इन का बड़े पैमाने पर विस्तार करेगी और इनकी कुशलता को प्रोन्नत करेगी। भारत सरकार ने ऐसी निजी कम्पनियों को जिन्होंने देशीय परिचालन में 5 वर्ष पूरे कर लिए हैं, विश्व में किसी गंतव्य स्थान के लिए उड़ान भरने की इजाजत दे सकती है। इसमें खाड़ी के देश और पश्चिम एशिया के देश शामिल नहीं।

भारत सरकार ने दिल्ली और मुम्बई के हवाई अड्डों के आधुनिकीकरण, उन्नयन एवं परिचालन के लिए दो संयुक्त जोखिम कम्पनियों (Joint Venture Companies) का चयन किया है। यह अनुमान लगाया गया है कि दिल्ली और मुम्बई के हवाई अड्डों के लिए क्रमश: 7,960 करोड़ रुपये और 6,130 करोड़ रुपये की पूंजी की आवश्यकता होगी। सरकार ने यह निर्णय भी सिद्धान्त रूप में किया है कि चैन्नई एयरपोर्ट का भी आधुनिकीकरण किया जाए। यहां इस बात का उल्लेख करना भी उचित होगा कि सरकार ने बंगलूर एवं हैदराबाद के दो हवाई अड्डों की अंतर्राष्ट्रीय स्तर के बनाने के लिए निर्माण-कार्य आरम्भ कर दिया है। ये दो एयरपोर्ट 2008 तक संकार्य हो जाएंगे। सिद्धान्त रूप में गोवा, अहमदाबाद और त्रिवेन्द्रम (Trivandrum) के एयरपोर्ट भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का कायम करने का निर्णय लिया गया है।

निजी एयरलायनों (Private Airlines) के प्रवेश और विशेषकर निम्न लागत कैरियर (:Low cost carriers) के आने के पश्चात, देशीय ट्रैफिक (Domestic Traffic) में 25 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई है। प्राइवेट एयरलाइन अब 70 प्रतिशत देशीय टैरिफ के लिए जिम्मेदार हैं। हवाई जहाजों में सफर करने वाली सवारियों के रूप में भी परिवर्तन हुआ है। भारत को सूचना तकनालाजी के क्षेत्र और विनिर्माण केन्द्र के रूप में नया अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा मिलने के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय एयर ट्रैफिक में वृद्धि हुई है। चीन के बाद, विश्व में देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय एयर ट्रैफिक की वृद्धि में वस्तुत: भारत का स्थान है।

19.3 भारत में संचार प्रणाली (Communication System in India)

संचार प्रणाली में डाक एवं तार, टेली-संचार व्यवस्था, प्रसारण, दूरवीक्षण और सूचना उपलब्ध कराकर और आवश्यक प्रेरणा देकर भी, संचार प्रणाली क्रेताओं एवं विक्रेताओं को प्रभावी रूप में जोड़ती है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था को त्वरित करती है।

भारत में डाक प्रणाली (Postal System)

1950-51 के पश्चात् डाक प्रणाली का देश भर में लगातार विस्तार किया गया और हाल ही के वर्षों में, विशेष बल ग्रामीण, पहाड़ी और दूरदराज के जनजातीय क्षेत्रों पर दिया गया। देश में 31 मार्च, 2003 पर 1.56 डाकघर हैं और इस प्रकार भारत की डाक व्यवस्था विश्व में सबसे बड़ी है। भारत सरकार के डाक व्यवस्था विश्व में सबसे बड़ी है। भारत सरकार के डाक सेवा विभाग का दीर्घकालीन लक्ष्य प्रत्येक गांव से 3 किलोमीटर के अन्दर एक डाकघर उपलब्ध कराना है। आज यह अनुमान लगाया गया है कि 1,10,000 ग्राम पंचायत गांव ऐसे

नोट

हैं जिनमें डाकघर नहीं है। डाक विभाग ठेके के आधार पर इन गांवों में पंचायतों के आधार पर संरचना का प्रयोग करके डाक सेवाएं उपलब्ध कराता है। इसे पंचायत संचार सेवा योजना भी कहते हैं। हाल ही में चालू की गयी इस योजना के दो लाभ हैं–(क) जरूरतमंद क्षेत्रों को कम सरकारी खर्च करके डाक सेवा उपलब्ध कराना और (ख) इन क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों को बढ़ावा देना।

डाक विभाग ने अपने आधुनिकीकरण के प्रोग्राम द्वारा ग्राहकों को नयी मूल्य वृद्धि सेवाएं (Value added services) मुहय्या कराने पर बल देना आरम्भ किया है। इनमें शामिल हैं–

(क) डाक क्रियाओं जैसे डाक विधायण (Mail processing), बचत बैंकों एवं सामग्री प्रबन्ध का कम्प्यूटरीकरण;

(ख) मैट्रो चैनल सेवा द्वारा छः मैट्रो को परस्पर जोड़ना;

(ग) राजधानी चैनल आरम्भ कर दिल्ली को सभी राज्यीय राजधानियों (State capitals) से जोड़ना; और

(घ) एक व्यापारिक चैनल द्वारा पिनकोड वाली व्यापारिक डाक को अलग से भेजना।

हाल ही के वर्षों में डाक क्रिया की बहुत-सी दिशाओं में स्वस्थ वृद्धि हुई है जैसे द्रुत गति डाकघर (Speed Post Office), डाक बीमा योजना जोकि अब 20 लाख बीमा पालिसियों द्वारा लगभग 5,000 करोड़ रुपये का बीमा करती है और डाक योजना और डाक बचत बैंकों द्वारा ग्राम क्षेत्रों तक सेवा फैलाना, आदि।

निजीकरण और उदारीकरण की सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप, भारत सरकार ने डाक सेवा पर अपना एकाधिकार कम करने के लिए गैर-सरकारी कोरियर सेवा (Courier Service) को औपचारिक स्थान दे दिया है।

पोस्टल विभाग के बारे में चिन्ता का विषय यह है कि यह लगातार घाटे में चल रहा है। 2002-03 के दौरान इसका घाटा 1,364 करोड़ रुपये था। 2004-05 में यह 1,457 करोड़ रुपये हो गया।

भारतीय तार विभाग (Indian Telegraph)

भारतीय तार विभाग विश्व की सबसे पुरानी सरकारी सार्वजनिक उपयोगिता (Public utility) है। भारत में तारघरों की संख्या जो 1951 में 8,200 थी बढ़ अब 30,000 हो गयी है। फोनोग्राम सेवा (Phonogram Service) जिसके द्वारा टेलीफोन से तार भेजे और प्राप्त किए जा सकते हैं, टेलैक्स सेवा (Telex Service) जिससे छपे हुए सन्देश भेजे या प्राप्त किया जा सकते हैं, टेलीफोन सेवा के भारी विस्तार और प्रत्यक्ष ट्रंक डायलिंग (Direct Trunk Dialing) ये सब सुविधाएँ अब सामान्य जनता को उपलब्ध हैं।

दूरसंचार (Telecommunication)

वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा के लिए दूरसंचार अब एक महत्वपूर्ण आदान (Input) है और इससे ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में सफलता प्राप्त कर सकता है। इसके द्वारा देश के कोने-कोने में संचार के लाभ पहुंचाए जा सकते हैं और यह प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने में भी लाभदायक हो सकती है।

टेली संचार नीति (1999)

टेली संचार आधारसंरचना (Telecom Infrastructure) को उपलब्ध कराने और उसके प्रबन्ध के बारे में काफी अस्पष्टता थी। टेलीसंचार सेवा विभाग (Department of Telecom Services) और टेली संचार क्रियाओं का विभाग दो सेवाएं उपलब्ध कराने वाले विभाग थे। महानगर टेलीफोन निगम लिमिटेड (MTNL) और भारत संचार निगम लि. दो सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियां थीं जो दिल्ली और मुम्बई में बुनियादी टेलीफोन सेवाएं उपलब्ध कराती थी (एम. एन.टी.एल.) और देश के शेष भागों में भारत संचार निगम लि. सेवाएं उपलब्ध कराती थी। 1999 की नयी टेली संचार नीति (Telecom Policy) के आधीन भारत संचार निगम लि. अक्टूबर 2000 में स्थापित किया गया ताकि यह सभी प्रकार की सेवाएं उपलब्ध कराए।

नयी टेली संचार नीति के अधीन

1. टेली संचार विभाग अपना सारा ध्यान नीति निर्माण, लाइसेंस देने और टेलीकाम क्षेत्र के सामने अन्य मुद्दों पर केंद्रित करेगा।

नोट

2. एम.टी.एन.एल. और बी.एस.एन.एल. को दिल्ली एवं मुम्बई और देश के अन्य भागों में बुनियादी टेलीफोन सेवाएं (Basic Telephone Services) उपलब्ध कराने की इजाजत होगी ओर वे सेल्युलर मोबाइल टेलीफोन सेवाएं भी चलाएंगे।
3. दो सार्वजनिक सेवाएं उपलब्ध कराने वाली कम्पनियों अर्थात् MTNL और BSNL की सहायता के लिए और बुनियादी टेलीफोन सेवा में प्रतिस्पर्द्धा सुनिश्चित करने के लिए, निजी कम्पनियों को भी बुनियादी सेवाएं प्रदान करने के लाइसेंस जारी किए जाएंगे। अभी तक सात निजी कम्पनियों ने सरकार के साथ लाइसेंस संधियां की हैं। ये सेवाएं अब आंध्र प्रदेश, पंजाब, तमिलनाडु और दिल्ली में उपलब्ध करायी जा रही है। 2001-03 के दो वर्षों के दौरान, 25 और नयी बुनियादी लाइसेंस संधियाँ निजी चालकों के साथ की गयी है।
4. अन्तर्राष्ट्रीय लम्बे फासले की सेवा को निजी चालकों के लिए अप्रतिबन्धात्मक रूप में खोल दिया गया है और विदेश संचार निगम लि. का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया है। अब इस निगम का निजीकरण कर दिया है। नीति सम्बन्धी इन उपायों से लम्बे फासले के टैरिफ (राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों) में प्रतिस्पर्द्धी दबावों के परिणामस्वरूप महत्त्वपूर्ण कमी हुई है।
5. भारत सरकार ने भारतीय टेली संचार विनियामक प्राधिकार (Telecom Regulatory Authority of India–IRAI) की स्थापना की है जो टेली संचार टैरिफ निर्धारित एवं विनियमित करेगी। इस प्राधिकार के पास सिफारिश करने और विनिमय करने के दोनों कार्य हैं। इसने टेली संचार टैरिफ के मुक्तिकरण की क्रिया आरम्भ की हैं इसके मासिक किराया बढ़ा दिया है परन्तु एस.टी.डी. और आई.एस.डी. टैरिफ घटा दिए हैं।
6. भारतीय टेली संचार विनियामक प्राधिकार के निर्णय से सम्बन्धित विवादों को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने विवाद समाधान एवं अपीलीय न्यायाधिकरण (Dispute Settlement and Appellate Tribunal) स्थापित किया है।

टेली संचार क्षेत्र में हाल ही में हुई प्रगति

टेली संचार क्षेत्र में हाल ही के वर्षों में जो परिवर्तन हुआ है, वह इस प्रकार है–

1. बहुत से गांवों में अब वायरलैस में स्थानीय लूप (Wireless in local loop–WLL) पहुंच चुका है।
2. राष्ट्रीय इंटरनेट रीढ़ (National Internet Backbone) अब आरम्भ हो गया है।
3. चूँकि लम्बी दूरी के टेली संचार (राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों) को प्रतिस्पर्द्धा के लिए खोल दिया गया है, इस कारण लम्बी दूरी के टैरिफ अब कम हो गए हैं। इससे बुनियादी सेवाएं उपलब्ध कराने वाले (MTNL और BSNL) टेलीकाम चालकों के लाभ-लागत अन्तर (Margin) कम हो गए हैं। टेलीकाम विनियामक प्राधिकार (TRAI) ने अन्त:कनेक्शन के प्रयोग की दरें अभिसूचित कर दी हैं।
4. भारत के गांवों में टेलीकाम सेवाएं अपर्याप्त हैं। ग्रामों एवं दूरदराज के इलाकों में टेलीकाम सेवाएं बढ़ाने के लिए, टेलीकाम विभाग ने सर्वव्यापक सेवा दायित्व (Universal Service Obligation–USO) को लागू करने के लिए मार्गदर्शी सिद्धान्त जारी कर दिए हैं। सभी टेलीकाम चालकों को अपने कुल राजस्व पर 5 प्रतिशत सर्वव्यापक उपकर (Universal levy) देना होगा जिससे प्राप्त राजस्व सर्वव्यापक सेवा निधि में डाला जाएगा और इसका प्रयोग एक प्रशासक द्वारा किया जाएगा। सर्वव्यापक सेवा निधि में प्राप्त राशि का प्रयोग ग्रामों में सार्वजनिक या सामुदायिक टेलीफोन लगाने के लिए किया जाएगा।
5. नयी टेलीकाम नीति (1999) के अनुसार, प्रत्येक गांव में दिसम्बर 2002 तक एक सार्वजनिक टेलीफोन उपलब्ध कराना था। यह दायित्व भारत संचार निगम एवं लाइसेंस-प्राप्त निजी चालकों को दिया गया था। जहां भारत संचार निगम ने 5,03,610 ग्रामों में दिसम्बर 2002 तक ग्राम सार्वजनिक टेलीफोन उपलब्ध करा दिए हैं, निजी चालकों ने 97,800 टेलीफोन लगाने थे परन्तु उन्होंने केवल 7,120 ग्राम सार्वजनिक फोन लगाए हैं।

नोट

1995 के पश्चात् दूर-संचार क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र का दूरसंचार नेटवर्क एशिया में सबसे बड़ा है और इसके लिए भारत संचार निगम लि. और महानगर निगम लि. की 500 लाख लाइन स्थापित करने की क्षमता है।

भारत में 2001-02 में कुल 450 लाख टेलीफोन, थे जिनमें 85.5 प्रतिशत अचल लाइन (Fixed line) थे और 14. 5 प्रतिशत मोबाईल टेलीफोन थे परन्तु 2005-06 के दौरान टेलीफोनों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई और ये 1. 258 लाख तक पहुंच गए। जहां तक अचल लाइन फोनों का सम्बन्ध है, इनकी संख्या 2001-02 में 384 लाख से बढ़कर 2005-06 में 477 लाख हो गयी अर्थात् इसमें 24.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई परन्तु मोबाइल टेलीफोनों की संख्या 2001-02 में 65 लाख से बढ़कर 2005-06 में 781 लाख हो गयी अर्थात् 1,094 प्रतिशत की वृद्धि। जाहिर है कि अधिक सुविधाजनक होने के कारण लोग मोबाइल टेलीफोनों को तरजीह देते हैं। अचल लाइन टेलीफोनों में सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभुत्व है। 2005-06 में टेलीफोनों में सार्वजनिक टेलीफोनों का भाग 407 लाख है अर्थात् कुल का 85.3 प्रतिशत परन्तु मोबाइल टेलीफोनों में सार्वजनिक क्षेत्र पीछे रह गया है और निजी क्षेत्र का विस्तार बहुत तेजी से हो रहा है और 2005-06 में कुल 781 लाख मोबाइल टेलीफोनों में निजी क्षेत्र का भाग 616 लाख अर्थात् 77.6 प्रतिशत था और सार्वजनिक क्षेत्र का 165 लाख टेलीफोन अर्थात् 22.4 प्रतिशत। हाल ही में मोबाइल टेलीफोनों की टैरिफ दरों में तेजी से गिरावट के कारण भी इस क्षेत्र का तीव्र-विस्तार हुआ है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. भारत में रेलवे का आरम्भ ..... में हुआ।
2. दसवीं योजना का मुख्य उद्देश्य ..... की क्षमता को मजबूत बनाना है।
3. रेलें तथा सड़कें परिवहन के अन्य साधनों की अपेक्षा एक-दूसरे की ..... हैं।
4. ..... में भारत सरकार ने जहाजरानी नीति समिति नियुक्त की।
5. 1958 ई. में भारत सरकार ने ..... निगम अधिनियम पास किया।
6. औद्योगिक क्षेत्र के लिए ..... अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

19.4 सारांश (Summary)

पिछले 200 वर्षों के दौरान, इंग्लैण्ड एवं अन्य देशों में औद्योगिक एवं कृषि क्रान्तियों के साथ परिवहन एवं संचार में क्रान्ति हुई। ऊर्जा (Energy) के स्रोत के रूप में पहले कोयले का प्रयोग और बाद में तेल और पानी के प्रयोग का भारी विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त, उत्पादन एवं व्यापार के लिए वित्त जुटाने की दृष्टि से बैंकिंग, बीमा और अन्य वित्तीय संस्थानों का विस्तार किया गया।

भारतीय आयोजक, आधारसंरचना और सामान्य आर्थिक विकास के बीच सम्बन्ध के बारे में पूरी तरह जागरूक थे और इसी कारण पहली योजना के आरम्भ से ही इन सुविधाओं के विकास पर बल दिया गया। सामान्यत: योजनाओं में कुल योजना परिव्यय का 50 प्रतिशत से भी कुछ अधिक आधारसंरचना विकास पर खर्च किया गया।

मोटे तौर पर ऊर्जा के दो स्रोत हैं: वाणिज्यिक ऊर्जा (Commercial Energy) और गैर-वाणिज्यिक ऊर्जा। वाणिज्यिक ऊर्जा अर्थात् ऊर्जा के व्यापारिक स्रोत हैं: कोयला, पेट्रोलियम और बिजली। ये स्रोत इसलिए वाणिज्यिक माने जाते हैं क्योंकि इनके प्रयोगकर्ताओं को इनके लिए कीमत देनी पड़ती है। भारत में कुल ऊर्जा उपभोग में वाणिज्यिक ऊर्जा का भाग 50 प्रतिशत से अधिक है। गैर-वाणिज्यिक स्रोतों में जलाने की लकड़ी, बची-खुची वनस्पति और सुखाया हुआ गोबर शामिल हैं। इन स्रोतों को गैर-वाणिज्यिक कहा जाता है क्योंकि ये नि:शुल्क प्राप्त होते हैं और इनके लिए कोई कीमत अदा नहीं करनी पड़ती।

विद्युत-शक्ति जोकि ऊर्जा का एक रूप है, आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है। इसकी आवश्यकता वाणिज्यिक

नोट

एवं गैर–वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए पड़ती है। पावर के वाणिज्यिक प्रयोगों के लिए इसकी जरूरत उद्योगों, कृषि, परिवहन आदि में होती है। गैर–वाणिज्यिक प्रयोगों (Non-commercial uses) के लिए इसकी आवश्यकता पारिवारिक रोशनी, खाना पकाने, पारिवारिक घरेलू उपकरणों जैसे रेफ्रिजरेटरों, वातानुकूलकों आदि के लिए होती है।

पिछले 50 वर्षों में महत्त्वपूर्ण पावर विकास हुआ है। सभी स्रोतों–उपयोगिताओं एवं गैर–उपयोगिताओं– द्वारा कुल स्थापित क्षमता जो 1950–51 में 2,300 मेगावाट थी बढ़कर 2005–06 में 1,43,800 मेगावाट हो गयी।

पावर क्षेत्र के घटिया निष्पादन की समस्या की मुख्य जिम्मेदारी राज्य बिजली बोर्डों पर है जो पावर का जनन एवं वितरण करते हैं, पावर–टैरिफ़ (Power tariff) तय करते हैं और प्रयोक्ताओं से राजस्व एकत्र करते हैं। प्रत्येक राज्य बिजली बोर्ड एक राज्य–एकाधिकार (State monopoly) के रूप में कार्य करता है और पावर के जनन, संचारण एवं वितरण के तीनों कार्य करता है।

भारत में, सभी विकासशील देशों की भांति पावर जनन एवं वितरण एक राजकीय एकाधिकार (State monopoly) ही रहे हैं। अस्सी के दशक में बहुत से विकासशील देशों ने बिजली के जनन एवं वितरण को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया।

भारत सरकार ने 2003 में एक नया बिजली कानून पास कर दिया जिसका मुख्य उद्देश्य पावर क्षेत्र के विभिन्न अंगों अर्थात् बिजली के जनन, व्यापार एवं वितरण में प्रतिस्पर्द्धा कायम करना था। कानून के अनुसार निजी क्षेत्र पर लगे हुए सभी प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए।

भारत में रेलवे का आरम्भ 1853 में हुआ जबकि पहली रेलगाड़ी द्वारा मुम्बई से थाना तक 22 मील की यात्रा की गई। अगले वर्ष कलकत्ता में एक रेलवे लाइन खोली गई। भारत में रेलवे–विकास का विशिष्ट लक्षण यह है कि बहुत से इलाकों में औद्योगिक प्रगति के साथ–साथ रेलों का विकास हुआ।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध रखने वाले अभिकरणों में रेलवे सबसे बड़ा परिवहन अभिकरण (Transport agency) है। इस कारण भारत सरकार ने इसके विकास पर सबसे अधिक बल दिया है। रेलों ने पुनःस्थापन की बहुत–सी योजनाएँ लागू कीं और बाद में परिवहन क्षमता (Transport capacity) और परिचालन कुशलता (Operational efficiency) को बढ़ाने के लिए निर्माण का महाभियान चलाया।

रेलों की तुलना में सड़क यातायात से कई निश्चित लाभ उपलब्ध होते हैं। प्रथम, रेल निर्माण के लिए भारी मात्रा में पूँजी चाहिए। इसके अतिरिक्त, चूँकि रेल के निर्माण एवं विस्तार के लिए भारत को विदेशों पर निर्भर करना पड़ता है, अतः इस कार्य के लिए विदेशी मुद्रा (Foreign Exchange) की भी आवश्यकता होती है।

स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् सड़क परिवहन सवारियों एवं माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का प्रधान साधन बन गया है। सवारियों का लगभग 80 प्रतिशत और माल यातायात का लगभग 60 प्रतिशत सड़क परिवहन पर आधारित है और यह अनुपात वर्ष 2000 तक क्रमशः 87 प्रतिशत और 65 प्रतिशत हो जाएगा।

रेलें और सड़कें परिवहन के अन्य साधनों की अपेक्षा एक–दूसरे की पूरक हैं और इस प्रकार एक दूसरे की सहायक हैं। सड़क परिवहन द्वारा किसी स्थानीय मण्डी एवं निकटतम रेलवे–स्टेशन से सम्पर्क स्थापित करते हैं।

भारतीय जहाजरानी अभी अपनी शैशव अवस्था में है। कारण यह है कि जहाजरानी का जो कुछ भी विकास हुआ है वह केवल स्वतन्त्रता के बाद के काल में हुआ है। स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय जहाजरानी कम्पनियाँ सफल न हो सकीं क्योंकि इनके विरुद्ध विदेशी जहाजरानी कम्पनियाँ घोर प्रतिस्पर्द्धा करती थीं और भारत के विदेशी शासक इनका संरक्षण नहीं करते थे।

भारत में 12 प्रमुख बन्दरगाहें हैं जिनका प्रबन्ध भारतीय पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust of India) द्वारा केन्द्र सरकार के आधीन लाया गया और 185 छोटी बन्दरगाहें राज्य सरकारों के आधीन कर दी गयीं।

नागरिक विमान परिवहन की वास्तविक प्रगति 1920 में चालू हुई जब सरकार ने कुछ हवाई अड्डे बनाए। नागरिक विमान–परिवहन विभाग 1927 में स्थापित किया गया और बहुत से उड्डयन क्लब (Flying Club) कायम किए गए किन्तु प्रगति बहुत धीमी थी।

नोट

जब से भारत सरकार ने इण्डियन एयरलाइन्स और एयर इण्डिया की स्थापना की, सरकार का उद्देश्य आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय वायुसेना पर एकाधिकार-नियन्त्रण (Monopoly control) कायम रखना था। इण्डियन एयरलाइन्स में औद्योगिक सम्बन्ध बहुत खराब रहे।

संचार प्रणाली में डाक एवं तार, टेली-संचार व्यवस्था, प्रसारण, दूरवीक्षण और सूचना उपलब्ध कराकर और आवश्यक प्रेरणा देकर भी, संचार प्रणाली क्रेताओं एवं विक्रेताओं को प्रभावी रूप में जोड़ती है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था को त्वरित करती है।

1995 के पश्चात् दूर-संचार क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र का दूरसंचार नेटवर्क एशिया में सबसे बड़ा है और इसके लिए भारत संचार निगम लि. और महानगर निगम लि. की 500 लाख लाइन स्थापित करने की क्षमता है।

सकल देशीय उत्पादन (GDP) की वृद्धिदर को बढ़ावा देने के लिए आधारसंरचना का विस्तार अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए यह जरूरी है कि आधारसंरचना में निवेश बढ़ाया जाए। यह सर्वविदित है कि निजी क्षेत्र केवल ऐसे क्षेत्रों में निवेश करता है जिनमें इसे ऊंची प्रत्यायदर (Rate of Return) प्राप्त होने की प्रत्याशा होती है।

19.5 शब्दकोश (Keywords)

- **प्रत्याश–** आश, उम्मीद।
- **परिपाक–** पकाया जाना, समाप्त होने की अवधि।

19.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आधार संरचना और आर्थिक विकास के संबंधों की व्याख्या कीजिए।
2. ऊर्जा पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
3. क्या विद्युत शक्ति आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है?
4. भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली का क्या योगदान है?
5. भारतीय रेल विका की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
6. भारत में संचार प्रणाली किस प्रकार अर्थव्यवस्था को त्वरित रती है।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

   (*i*) रेलवे वित्त

   (*ii*) रेल-सड़क समन्वय

   (*iii*) भारतीय जहाजरानी

   (*iv*) नागरिक विमान परिवहन

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1.	1. (क)	2. (घ)	3. (क)	4. (ग)
	5. (ख)	6. (ग)	7. (क)	8. घ)
2.	1. 1953	2. रेलवे प्रणाली	3. पूरक	4. 1947
	5. वायु परिवहन	6. पॉवर क्षेत्र		

नोट

19.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–20: भारतीय वित्तीय प्रणाली : मुद्रा बाजार एवं मौद्रिक नीति (Indian Financial System : Money Market and Monetary Policy)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

20.1 भारतीय वित्तीय प्रणाली (Indian Financial System)

20.2 मुद्रा बाजार (Money Market)

20.3 मौद्रिक नीति (Monetary Policy)

20.4 सारांश (Summary)

20.5 शब्दकोश (Keywords)

20.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

20.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारतीय वित्तीय प्रणाली को समझने में।
- मुद्रा बाजार तथा मौद्रिक नीति को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय वित्तीय प्रणाली बचत-विनियोग प्रक्रिया को प्रोन्नत कर भारत के आर्थिक विकास में पूँजी-निर्माण के रूप में योगदान देती है। इस कारण कई बार वित्तीय प्रणाली को वित्तीय बाजार (Financial market) कहा जाता है। वित्तीय प्रणाली का उद्देश्य प्रभावी रूप में बचत को गतिमान करना है और फिर इसका आवंटन कुशल रूप में अन्तिम प्रयोक्ताओं अथवा विनियोक्ताओं (Investors) को करना है।

20.1 भारतीय वित्तीय प्रणाली (Indian Financial System)

मोटे तौर पर, वित्त या मौद्रिक संसाधनों (Monetary Resources) की आवश्यकता व्यक्तियों, व्यापारिक घरानों और सरकार को पड़ती है। व्यक्तियों और परिवारों को अपने दैनिक जीवन की जरूरतों के लिए या पूंजी वस्तुएं खरीदने (जिन्हें आम भाषा में निवेश कहा जाता है) के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है। एक व्यापारिक इकाई–फ़ैक्टरी या वर्कशाप को वेतन देने, नयी मशीनरी खरीदने या पुरानी मशीनरी के प्रतिस्थापन आदि के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है। किसानों को 12 से 15 महीनों की छोटी-सी अवधि के लिए वित्त जुटाने की आवश्यकता होती है ताकि वे कृषि

नोट

कार्य के लिए बीज, खाद, पशुओं के लिए चारा आदि खरीद सकें। ऐसे अल्पकालीन ऋणों को किसान प्राय: फसल कटने के बाद अदा कर देते हैं। किसानों को मध्यम और दीर्घकाल-अर्थात् 5 या 10 वर्षों के लिए, वित्त की आवश्यकता पड़ती है ताकि वे पशु, कृषि-मशीनरी और औज़ार खरीद सकें, उन्हें कुएं खोदने या भूमि पर स्थायी उन्नति करने के लिए भी वित्त की ज़रूरत पड़ती है। अन्तिम, सरकार को वस्तुओं और सेवाओं के लिए, राजस्व-व्यय (Revenue Expenditure) के लिए और विकास प्रोग्रामों अर्थात् पूँजी व्यय (Capital expenditure) के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है।

भारतीय वित्तीय प्रणाली का अभिप्राय राशियों को उधार पर लेना और उन्हें उधार पर देना है, अथवा सभी व्यक्तियों, संस्थानों, कम्पनियों और सरकारों द्वारा धन-राशियों की माँग और पूर्ति की जाती है। आम तौर पर वित्तीय प्रणाली को इस प्रकार वर्गीकृत किया जाता है–

(*i*) **औद्योगिक वित्त** (Industrial Finance)–उद्योग एवं व्यापार के लिए आवश्यक धन-राशि;

(*ii*) **कृषि-वित्त**–कृषि तथा सम्बन्धित क्रियाओं को चलाने के लिए आवश्यक वित्त और इसकी पूर्ति;

(*iii*) **विकास-वित्त** (Development Finance)–विकास के लिए आवश्यक वित्त; वास्तव में; इसमें औद्योगिक वित्त एवं कृषि वित्त दोनों ही शामिल किए जाते हैं; और

(*iv*) **राजकीय वित्त** (Government Finance)–का सम्बन्ध सरकारी व्यय की पूर्ति के लिए वित्त की माँग एवं पूर्ति से है।

मोटे तौर पर भारतीय वित्तीय प्रणाली के निम्नलिखित मुख्य अंग हैं–

(क) बैंक-प्रणाली, बीमा कम्पनियाँ, पारस्परिक निधियाँ (Mutual fund), विनियोग निधियाँ और अन्य संस्थान हैं जो जनता में बचत को प्रोन्नत करते हैं, उनकी बचत एकत्र करते हैं और उसे वास्तविक विनियोक्ताओं को हस्तांतरित करते हैं।

(ख) देश के विनियोक्ताओं में वैयक्तिक विनियोक्ता, औद्योगिक एवं व्यापारिक कम्पनियाँ और सरकार शामिल हैं–वे वित्तीय प्रणाली में उधार लेने वालों के रूप में प्रवेश करते हैं।

इन संस्थानों के अतिरिक्त, भारतीय वित्तीय प्रणाली में कुछ अनिवार्य संस्थान भी शामिल हो जाते हैं, वे वस्तुत: सुविधाजनकों (Facilitators) का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, नये हिस्सा-पूँजी बाजार (New Issue Market) द्वारा स्टॉक एवं शेयर के नये निर्गमों (New Issues) द्वारा अतिरिक्त बचत प्रवाहित की जाती है। इस प्रकार, भारत के स्टाक एक्सचेंज (Stock exchanges) कम्पनियों के हिस्सों एवं ऋण पत्रों (Debentures) के क्रय-विक्रय द्वारा बचतकर्त्ताओं को अपनी बचत को एक प्रकार के विनियोग से दूसरे प्रकार के विनियोग में परिवर्तित करने में सहायता देते हैं।

नोट्स भारतीय वित्तीय प्रणाली में बहुत से संस्थान एवं प्रक्रियाएँ शामिल की जाती हैं जो समाज द्वारा जनित बचत पर प्रभाव डालती हैं, ये संस्थान बचत गतिमान करते हैं और उन सभी को जो विनियोग के लिए इन बचतों की माँग करते हैं, उनमें वितरित करते हैं।

भारतीय वित्तीय प्रणाली के कार्य : पूँजी निर्माण को बढ़ावा देना

आर्थिक विकास के लिए पूँजी निर्माण की ऊँची दर ज़रूरी है। पूँजी निर्माण की क्रिया निम्नलिखित अवस्थाओं पर निर्भर करती है–

(क) बचत में वृद्धि–जिसका अभिप्राय संसाधनों के उपयोग को उपभोक्ता उद्देश्यों से हटाकर अन्य उद्देश्यों के लिए मुक्त करना है।

नोट

(ख) बचत को गतिमान करना—देशीय बचत बैंक एवं वित्तीय संस्थानों द्वारा एकत्र की जाती हैं और वास्तविक विनियोक्ताओं को उपलब्ध करायी जाती है।

(ग) विनियोग-विशेष (Investment proper)—का अर्थ पूँजी वस्तुओं का उत्पादन है।

तीसरी अवस्था अर्थात् वास्तविक पूँजी निर्माण की प्रक्रिया तब तक चालू नहीं हो सकती जब तक कि पहली दो प्रक्रियाएँ पूरी न हो जाएँ। बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थानों का पूँजी निर्माण की प्रक्रिया में महत्त्व इस बात में है कि भारत में जो व्यक्ति या संस्थान बचत करते हैं, वे सामान्यतया विनियोग नहीं करते। वित्तीय संस्थान और बैंक अर्न्तवार्तियों (Intermediaries) का कार्य करते हैं जो बचतकर्त्ताओं और विनियोक्ताओं को एक-दूसरे से जोड़ते हैं।

भारतीय वित्तीय प्रणाली की संरचना

भारतीय वित्तीय प्रणाली के दो अंग हैं—भारतीय मुद्रा बाजार (Indian Money Market) और भारतीय पूँजी बाजार (Indian Capital Market)। भारतीय मुद्रा बाजार वह बाजार हैं जिसमें अल्पकालीन राशियों (Short-term funds) के रूप में उधार लिया जाता और उधार दिया जाता है। इसके विरुद्ध, भारतीय पूँजी बाजार मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन राशियों के लिए होता है।

आमतौर पर भारतीय मुद्रा बाजार को संगठित क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र में वर्गीकृत किया जाता है। मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र (Organised sector) में वाणिज्य बैंक, जिनमें निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक और विदेशी बैंक भी हैं, शामिल किए जाते हैं। असंगठित क्षेत्र (Unorganised sector) में देशी बैंकर जिनमें गैर-बैंकिंग वित्तीय कम्पनियाँ (Non-banking financial companies-NBFCs) भी हैं, शामिल की जाती है।

20.2 मुद्रा बाजार (Money Market)

सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार प्रभावी मौद्रिक नीति का आधार होता है। मुद्रा बाजार (Money market) की परिभाषा अल्पकाल के लिए उधार लेने और उधार देने वाले बाजार के रूप में की जा सकती है। इससे उधार लेने वालों को अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मुद्रा बाजार वह स्थान है जहाँ वित्तीय तथा अन्य संस्थानों और व्यक्तियों के पास उपलब्ध विनियोज्य निधियाँ (Investible funds) उधार प्राप्त करने वालों द्वारा अल्पकाल के लिए उधार ली जाती हैं। उधार लेने वालों में संस्थान, व्यक्ति या स्वयं सरकार भी हो सकती है। मुद्रा बाजार में रिज़र्व बैंक को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है और वह बाजार में करेन्सी तथा उधार के प्रवाह को नियन्त्रित करता है।

सामान्यतया भारतीय मुद्रा बाजार को दो भागों में बाँट लिया जाता है: असंगठित और संगठित क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों में विद्यमान ब्याज की दरों में काफी अन्तर रहता है। असंगठित मुद्रा क्षेत्र (Unorganised monetary sector) में देशी बैंक समाविष्ट किए जाते हैं जे अपना बैंक-व्यापार पारम्परिक ढंग से करते हैं। संगठित मुद्र क्षेत्र (Organised monetary sector) में रिज़र्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और इसके अनुषंगी बैंक, 20 राष्ट्रीयकृत बैंक और गैर-सरकारी क्षेत्र के अन्य बैंक-भारतीय और विदेशी दोनों शामिल किए जाते हैं। भारतीय मुद्रा-बाजार के संगठन में बड़ी ढील पाई जाती है और 1935 में रिज़र्व बैंक के आरम्भ से पूर्व इसमें बहुत-सी कमियाँ विद्यमान थीं। कुछ कमियाँ तो अब तक भी पायी जाती हैं। अब हम उनमें से कुछ का विवेचन करेंगे।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष

1. **एकीकरण का अभाव** (Lack of Integration)—भारतीय मुद्रा-बाजार का एक महत्त्वपूर्ण दोष मुद्रा-बाजार का बहुत से खण्डों या क्षेत्रों में विभक्त होना था। ये खण्ड या क्षेत्र एक-दूसरे से बहुत ही ढीले रूप में सम्बन्धित थे। एक समय था जब प्रत्येक खण्ड अर्थात् इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (जो अब स्टेट बैंक कहलाता है), विनिमय बैंक, भारतीयों के स्वामित्वाधीन संयुक्त स्कन्ध बैंक, सहकारी बैंक और देशी बैंक-सभी बैंक व्यापार के किसी एक अंग का कार्य ही करते थे और इस प्रकार अपने व्यापार-क्षेत्र में एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। इसके अतिरिक्त मुद्रा-बाजार के विभिन्न खण्डों के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण न थे। उदाहरणार्थ,

नोट

संयुक्त स्कन्ध-बैंक (Joint stock banks) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया तथा विदेशी बैंकों से ईर्ष्या करते थे क्योंकि भारत में ब्रिटिश शासन इनका संरक्षण अपना दायित्व समझता था। 1949 के बैंकिंग विनिमयन अधि नियम के पास होने के पश्चात् रिज़र्व बैंक द्वारा सभी बैंकों को लाइसेंस देने, शाखाएँ खोलने, हिस्सा पूँजी प्राप्त करने, दिए गए ऋण तथा अग्रिम के प्रकार आदि के बारे में एक-सा बर्ताव दिया जाने लगा।

रिज़र्व बैंक ने अब मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र को अपने प्रभावाधीन कर लिया है क्योंकि यह अब संगठित क्षेत्र की क्रियाओं पर नियन्त्रण करने की स्थिति में है। इसी प्रकार अधिक काम-काज के मौसम में वाणिज्य एवं सरकारी बैंक बट्टा तथा उधार सुविधाओं के लिए अधिकाधिक सीमा तक रिज़र्व बैंक पर निर्भर हो गए हैं। इसके अतिरिक्त, रिज़र्व बैंक इनकी उधार नीतियों (Lending policies) का मार्गदर्शन करता है और नियमित रूप में वाणिज्य बैंकों के हिसाब-किताब का परीक्षण भी करता है।

2. **असंगठित मुद्रा बाजार का विद्यमान होना**–इस सम्बन्ध में मुख्य दोष संगठित मुद्रा बाजार का देशी बैंकरों से पृथक होना है। असंगठित बाजार में, अल्पकालीन और दीर्घकालीन वित्त में कोई स्पष्ट भेद नहीं होता, और न ही वित्त के विभिन्न उद्देश्यों में ही कोई भेद होता है। रिज़र्व बैंक ने देशी बैंकरों को अपने प्रत्यक्ष प्रभावाधीन लाने के लिए कई प्रयास किए परन्तु ये सफल न हुए, क्योंकि जो शर्तें रिज़र्व बैंक द्वारा देशी बैंकरों पर लगाई गयीं, उन्हें देशी बैंकरों ने स्वीकार न किया। जिस हद तक देशी बैंकर संगठित मुद्रा बाजार के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर रहेंगे, उस हद तक रिज़र्व बैंक का समग्र मुद्रा बाजार पर नियन्त्रण सीमित होगा। किंतु देशी बैंकर संगठित बैंक-व्यवस्था के आधीन इसलिए आ रहे थे क्योंकि इन्हें उपरोक्त से बट्टा सुविधाएँ (Rediscounting facilities) प्राप्त हो रही थीं।

3. **ब्याज की मौद्रिक दर में भिन्नता**–मुद्रा बाजार का एक और महत्त्वपूर्ण दोष बहुत-सी ब्याज की मौद्रिक दरों का विद्यमान होना है। भारतीय मुद्रा बाजार के बहुत से खण्डों एवं क्षेत्रों में विभक्त होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। इनमें सरकार की उधार प्राप्त करने की दर, वाणिज्य बैंकों की जमा एवं उधार दरें, सहकारी बैंकों की दरें, प्रत्यक्ष वित्तीय संस्थानों की दरें, आदि हैं। इतनी अधिक ब्याज दरों के एक साथ विद्यमान होने का मूल कारण मुद्रा-बाजार के विभिन्न क्षेत्रों में पूँजी की गतिहीनता (Immobility of capital) है। यह दोष अब दूर किया जा चुका है। हाल ही के वर्षों में विभिन्न मौद्रिक दरें केन्द्रीय बैंक दर में परिवर्तन के साथ शीघ्र ही सामंजस्य कायम कर लेती है।

4. **विभिन्न केन्द्रों में ब्याज-दर की असमानता**–एक और लक्षण दो मुख्य केन्द्रों अर्थात् मुम्बई और कोलकाता में मौद्रिक दरों में काफी असमानता का विद्यमान होना हैं। इसके कारण प्रतिभूतियों की कीमतों में उच्चावचन और व्यापार की गतिविधि पर कई प्रतिक्रियाएँ होती हैं। चाहे रिज़र्व बैंक को स्थापित हुए लगभग 70 वर्ष हो गए हैं, फिर भी मौद्रिक दरों में अन्तर आज भी विद्यमान है। किन्तु रिज़र्व बैंक ने देश के विभिन्न भागों में राशियों के प्रेषण (Remittance of funds) को सस्ता एवं विधिवत् बना दिया है और इस प्रकार देशभर में मौद्रिक दरों को समान करने में सहायता दी है।

5. **मुद्रा की मौसमी तंगी**–भारतीय मुद्रा बाजार का एक और प्रकट लक्षण मुद्रा की मौसमी तंगी (Seasonal stringency) है और वर्ष के एक भाग में अर्थात् नवम्बर से जून के बीच व्यक्त मौसम में जब फसलों को ग्रामों एवं जिलों से नगरों तथा बन्दरगाहों तक ले जाना पड़ता है–मुद्रा की ऊँची दरें विद्यमान होना है। वर्ष के एक भाग और दूसरे भाग के बीच भी मौद्रिक दरों में काफी भिन्नता पाई जाती है। 1935 से पूर्व याचना-मुद्रा दर (Call-money rate) कभी-कभी व्यस्त मौसम में 7 से 8 प्रतिशत होती, परन्तु कम काम-काज के मौसम (Slack season) में गिरकर 1 प्रतिशत और कई बार 0.5 प्रतिशत भी हो जाती है। आरम्भ से ही रिज़र्व बैंक ने यह चेष्टा की है कि मुद्रा-बाजार में अल्पकालीन दरों में मौसमी उच्चावचन को कम करने में सहायता दे। रिज़र्व बैंक अधिक काम-काज के मौसम में मुद्रा बाजार में मुद्रा डाल देता है और इसे कम काम-काज के मौसम में वापस ले लेता है। अत: इसके फलस्वरूप भारतीय मुद्रा-बाजार

नोट

में न अधिक बाहुल्य हो सकता है और न न्यूनता। साथ ही याचना मुद्रा दरों में भिन्नता समाप्त कर दी गई है।

6. **विनिमय-पत्र बाजार** (Bill Market) **का विकसित न होना**—मुद्रा बाजार का एक और मुख्य दोष विनिमय-पत्र बाजार का विकसित न होना है। किसी भी देश में कुशल मुद्रा बाजार की स्थापना के लिए आवश्यक है कि एक सुसंगठित विनिमय-पत्र बाजार कायम किया जाए ताकि उधार पद्धति निर्वाध्न रूप से कार्य कर सके। देश के विभिन्न उधार संस्थानों को अन्ततः और प्रभावी रूप में केन्द्रीय बैंक के साथ सम्बन्धित करने की दृष्टि से भी पत्र बाजार का विकास आवश्यक है। कुछ एक ऐतिहासिक कारणों के फलस्वरूप भारत में विनिमय-पत्र बाजार का विकास नहीं हो सका। इन कारणों में तरलता प्रयोजनों (Liquidity purposes) के लिए नकदी की अधिक मात्रा की आवश्यकता, विनिमय-पत्रों का बट्टा करवाने की अपेक्षा उधार प्राप्त करने में प्राथमिकता, नकद-साख प्रणाली, आदि शामिल किए जाते हैं। परन्तु विनियम-पत्रों के बाजार का विकास न होने का मुख्य कारण विदेशियों के स्वामित्वाधीन विनिमय बैंकों का विदेशी व्यापार में विनिमय करना और लन्दन मुद्रा बाजार में विनिमय पत्रों का बट्टा करना या उन्हें परिपक्व होने तक अपने पास रखना है। 1952 में रिज़र्व बैंक ने विनिमय-पत्र बाजार योजना बनाई, जो वास्तव में विनिमय-पत्रों का बाजार नहीं था परन्तु वाणिज्य बैंकों के लिए रिज़र्व बैंक से उधार लेने का एक उपाय था।

7. **सुसंगठित बैंक प्रणाली की अनुपस्थिति**—भारतीय मुद्रा बाजार का एक और दोष सुसंगठित बैंक प्रणाली का विकास न होना है। बैंकों का शाखा विस्तार भी मन्द गति से हुआ है। देश में बड़े बैंकों की संख्या बहुत थोड़ी है और वास्तविक दृष्टि से बहुत बड़े बैंक तो कुछ एक ही हैं। ये बैंक अधिकतर बड़े नगरों तथा मण्डियों में स्थित हैं। पूँजी की गतिशीलता में अत्यधिक मन्दता और विभिन्न ब्याज दरों का विद्यमान होना देश में शाखा विस्तार की मन्द गति के लिए उत्तरदायी हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् और विशेषकर बैंक विनियमन अधिनियम, 1949 के पारित होने के बाद, बैंक प्रणाली पर रिज़र्व बैंक बहुत गहरा प्रभाव और नियन्त्रण रखने लगा है। विलयन और समामेलनों द्वारा बैंकों की संख्या बहुत कम कर दी गई हैं।

क्या आप जानते हैं 1970 में, रिज़र्व बैंक ने एक उचित विनिमय पत्र बाजार बनाया जिसे नया विनिमय-पत्र बाजार कहा जाता है। इसमें अल्पकालीन व्यापार विनिमय-पत्र खरीदे एवं बेचे जाते हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार-एक अल्पविकसित मुद्रा बाजार

मुद्रा बाजार के ऊपर दिए गए लक्षणों से यह विदित होता है कि भारतीय मुद्रा बाजार बहुत ही अविकसित है और इसकी तुलना लन्दन मुद्रा बाजार जैसे उन्नत मुद्रा बाजारों से नहीं की जा सकती। यह एक ऐसा मुद्रा बाजार है जिसे बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थान (Financial institution) अल्पकाल के लिए उधार देते या इससे उधार प्राप्त करते हैं।

प्रथम, भारतीय मुद्रा बाजार के पास इसके कार्यकलाप की सफलता के लिए एक संगठित बैंक व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। दूसरे, इसके पास अल्पकालीन परिसम्पतों (अर्थात् विनिमय पत्रों, राजकोषीय पत्रों (Treasury bills) या अल्पकालीन सरकारी बाण्डों) का पर्याप्त एवं निरन्तर संभरण प्राप्त नहीं है। तीसरे, भारत में अल्पकालीन परिसम्पतों (Short-term assets) के कोई व्यापारी नहीं है जो सरकार एवं बैंकिंग प्रणाली के बीच मध्यवर्तियों (Intermediaries) का कार्य कर सकें। इस सम्बन्ध में हमें लन्दन मुद्रा बाजार में बट्टा घरों (Discount houses) और विनिमय पत्रों के दलालों के महत्त्वपूर्ण भाग को दृष्टि में रखना होगा। चौथे, भारतीय मुद्रा बाजार में कुछ बहुत ही आवश्यक उप-बाजार (Sub-market) जैसे याचना-मुद्रा बाजार, विदेशी विनियम-पत्र स्वीकृति बाजार (Acceptance markets) या वाणिज्यिक विनिमय पत्र बाजार विद्यमान नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अब एक संगठित याचना मुद्रा बाजार (Call money market) काफी विकसित हो गया है परन्तु अन्य तो विद्यमान ही नहीं हैं। पाँचवें, मुद्रा बाजार के

नोट

विभिन्न अंगों में तालमेल नहीं है। मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों में आपसी सम्बन्ध बड़े ढीले और असमन्वित हैं। अन्तिम, भारतीय मुद्रा बाजार लन्दन मुद्रा बाजार की भांति विदेशी मुद्रा को आकर्षित नहीं कर पाता।

भारतीय रिज़र्व बैंक ने इन दोषों को दूर करने के लिए कुछ उपाय किए हैं। मुद्रा बाजार के विभिन्न वर्गों में जो अन्तर विद्यमान थे, वे रिज़र्व बैंक द्वारा काफी कम कर दिए गए हैं। विदेशी बैंकों और भारतीय संयुक्त स्कंध बैंकों के बीच भेद की नीति अपनायी नहीं जाती। भारतीय मुद्रा बाजार अब अधिक व्यवस्थित होता जा रहा है। विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न समयों पर ब्याज की दरों में जो अन्तर विद्यमान होते थे; वे भी रिज़र्व बैंक द्वारा काफी कम कर दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त, खुले बाजार की क्रियाओं और बिल बाजार योजना द्वारा मुद्रा की तंगी को भी काफी हद तक कम करने में रिज़र्व बैंक सफल हुआ है।

इस सम्बन्ध में, भारतीय मुद्रा बाजार को नियन्त्रित करने में रिज़र्व बैंक की कुछ कठिनाइयों का उल्लेख करना उचित होगा।

प्रथम, विनिमय-पत्र बाजार (Bill market) की अनुपस्थिति में रिज़र्व बैंक के लिए यह संभव नहीं कि मुद्रा बाजार में अतिरिक्त निधि (Surplus funds) प्राप्त करने के लिए अपने विनिमय पत्रों का विक्रय कर सके।

दूसरे, याचना मुद्रा बाजार (Call money market) के अपर्याप्त विकास के कारण रिज़र्व बैंक का कार्य और कठिन हो जाता है क्योंकि अधिकांश बैंक अपने नकद प्रारक्षण (Cash reserve) और जमा में निश्चित अनुपात नहीं रखते और इस प्रकार वाणिज्य बैंकों की नीति को प्रभावित करने के लिए रिज़र्व बैंक को खुले बाजार की क्रियाओं (Open market operations) का प्रयोग करना पड़ता है।

तीसरे, देशी बैंकरों को मुद्रा बाजार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और उनका भी एकीकरण किया जा रहा है। रिज़र्व बैंक की क्रियाओं का अधिकतर प्रभाव तो मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र पर पड़ता है और यह प्रभाव असंगठित क्षेत्र (जो मुख्यत: देशी बैंकरों से बना हुआ है) पर नहीं पड़ता। असंगठित क्षेत्र का विद्यमान होना, रिज़र्व बैंक की एक समस्या है।

20.3 मौद्रिक नीति (Monetary Policy)

रिजर्व बैंक जो कि भारत का केन्द्रीय बैंक है, देश की मुद्रा व सम्पूर्ण साख कलेवर को नियन्त्रित करता है। रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य प्रारम्भ से ही **नियन्त्रित मौद्रिक विस्तार** (Controlled Monetary Expansion) की नीति को अपनाना रहा है। **नियन्त्रित मौद्रिक विस्तार** की नीति का अर्थ है–एक तरफ आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्त का प्रबन्ध रकना और दूसरी ओर, देश में मूल्य-स्थिरता (Price Stability) को बनाये रखना।

रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते है–

(1) **वित्तीय संस्थाओं का विस्तार एवं निर्माण** (Financial Institution) – रिजर्व बैंक ने वित्तीय संस्थाओं के विस्तार एवं निर्माण में एक सराहनीय भूमिका अदा की है। कृषि एवं औद्योगिक वित्त हेतु अनेक संस्थाओं, जैसे–औद्योगिक वित्त निगम (IFCI), राज्य वित्त निगम (SFCs), औद्योगिक विकास बैंक ऑफ इण्डिया (IDBI), औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (ICICI), राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD), निर्यात-आयात बैंक (EXIM) इत्यादि की स्थापना की जा चुकी है। बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार की दृष्टि से शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी संख्या में बैंकों की शाखाओं का विस्तार किया गया है।

(2) **साख सुविधाओं का विस्तार** (Expansion of Credit Facilities) – साख सुविधाओं के विस्तार की दृष्टि से रिजर्व बैंक द्वारा कई उपायों को काम में लाया गया है, जैसे–(*i*) सन् 1957 में खुले बाजार की क्रियाओं में संशोधन किया गया है और बिल बाजार को उदार बनाया गया। (*ii*) सन् 1963 में निर्यात-विनिमय प्रपन्न साख योजना चालू की गयी जिसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों को रिजर्व बैंक से अग्रिम साख (Advance Credit) प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की गयी। (*iii*) प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों, जैसे–छोटे किसान, लघु उद्योग,

नोट

छोटे व्यापारियों आदि के लिए सस्ता ऋण उपलब्ध कराया है। (*iv*) सन् 1972 से विभेदक ब्याज-दर योजना (Differential Rate of Interest Scheme) चालू की गयी है जिसके अन्तर्गत आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से कमजोर वर्गों को रियायती ब्याज-दर पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है।

(3) **उपयुक्त ब्याज-दर नीति** (A Suitable Interest Rate Policy)—रिजर्व बैंक ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारी दबावों के दौरान **'महँगी मुद्रा नीति'** और मन्दी काल में **'सस्ती मुद्रा नीति'** का अनुसरण किया है। इस दृष्टि से बैंक-दर (Bank Rate), अग्रिम-दर (Advancing Rate) तथा जमा-दरों (Deposit Rates) में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन किया गया है।

(4) **मुद्रा की माँग-पूर्ति में सन्तुलन** (Demand and Supply Equilibrium)—रिजर्व बैंक का सदैव यह प्रयास रहा है कि मुद्रा की माँग एवं पूर्ति (सम्भरण) में सन्तुलन बना रहे, ताकि इसकी कमी से आर्थिक विकास में बाधा न आये और इसकी अधिकता, स्फीतिकारी दबावों को उत्पन्न न होने दे किन्तु वास्तविकता यह है कि पहली योजना को छोड़कर रिजर्व बैंक मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने में असफल रहा है।

(5) **साख नियन्त्रण** (Credit Control)—केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को देश में मौद्रिक नियमन का अधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक को यह अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, 1934 तथा बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत दिया गया।

रिजर्व बैंक द्वारा अपनाये गये साख नियन्त्रण के तरीकों का अध्ययन दो भागों में किया जायेगा–

(I) परिमाणात्मक साख नियन्त्रण (Quantitative Credit Control) एवं

(II) चयनात्मक या गुणात्मक साख नियन्त्रण (Qualitative or Selective Credit Control)।

(I) परिमाणात्मक साख नियन्त्रण (Quantitative Credit Control)—रिजर्व बैंक निम्नलिखित उपकरणों द्वारा साख की कुल मात्रा पर नियन्त्रण रखता है–

(1) **बैंक-दर** (Bank Rate)—बैंक-दर वह ब्याज की दर है जिस पर रिजर्व बैंक अन्य सदस्य बैंकों को मान्य प्रतिभूतियों की जमानत पर अल्पकालीन ऋण देता है या जिस पर सदस्य बैंकों के बिलों को पुनः भुनाता है। बैंक-दर साख नियन्त्रण का सबसे महत्वपूर्ण मौद्रिक साधन है।

रिजर्व बैंक के स्थापना काल से ही भारत में बैंक-दर 3 प्रतिशत निश्चित की गयी और 14 नवम्बर, 1951 तक उसी स्तर पर रखी गयी।

पहली बार नवम्बर 1951 को बैंक-दर 3.5 प्रतिशत की गयी। फिर मई 1957 में इसे बढ़ाकर 4 प्रतिशत, जनवरी 1963 में 4.5 प्रतिशत, सितम्बर 1964 में 5 प्रतिशत, जनवरी 1971 में 6 प्रतिशत तथा मई 1973 में 7 प्रतिशत कर दी गयी। कीमतों में असीमित वृद्धि होने पर रिजर्व बैंक ने जुलाई 1974 में महँगी मुद्रा की नीति को अपनाया तथा बैंक-दर को बढ़ाकर 9 प्रतिशत, जुलाई 1981 में 10 प्रतिशत, जुलाई 1991 में 11 प्रतिशत तथा अक्टूबर 1991 में 12 प्रतिशत कर दिया। मार्च 1999 में बैंक-दर को कम करके 8% और 1 अप्रैल, 2000 को बैंक-दर को घटाकर 7% वार्षिक कर दिया गया है। वर्तमान में बैंक दर 6.5% है।

संक्षेप में, 1951 से लेकर अब तक बैंक-दर में वृद्धि का प्रमुख उद्देश्य मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित एवं नियमित करना रहा है परन्तु इसमें रिजर्व बैंक को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ** (Open Market Operations)—देश में साख नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियाओं को भी कर सकता है। खुले बाजार की क्रियाओं से अभिप्राय साख की मात्रा को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों, प्रथम श्रेणी के बिलों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों के क्रय-विक्रय से होता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त साख की मात्रा को नियमित करने हेतु रिजर्व बैंक के द्वारा व्यापक पैमाने पर इस नीति का सहारा लिया गया। वर्तमान में भी रिजर्व बैंक समय-समय पर मुद्रा-बाजार की परिस्थितियों के अनुसार प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है।

नोट

भारत में खुले बाजा की क्रियाओं को साख नियन्त्रण के प्रमुख शस्र के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया बल्कि इसका उपयोग निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए किया गया है–

(अ) रिजर्व बैंक ने सरकार को उधार की क्रियाओं में सहयोग देने के लिए तथा श्रेष्ठ प्रतिभूतियों के बाजार की हालत को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं को अपनाया है।

(ब) खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग बैंकों को मौसमी वित्त प्रदान करने के लिए भी किया जाता है।

(3) **परिवर्तनशील नकद आरक्षण या कोष अनुपात** (Variable Cash Reserve Ratio, CRR)–रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 की धारा 42(1) के अनुसार प्रत्येक वाणिज्य बैंक को अपनी माँग जमाओं (Demand Deposits) का 5 प्रतिशत और सावधि जमाओं (Time Deposits) का 2 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास नकद कोषों के रूप में रखना होता है परन्तु 1962 में इसमें दो संशोधन किये गये। **पहला**, माँग और सावधि जमा, दोनों को मिला दिया गया। **दूसरा**, रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह CRR को न्यूनतम 3 प्रतिशत और अधिकतम 15 प्रतिशत के बीच निर्धारित कर सकता है।

रिजर्व बैंक ने इस अधिकार का कई बार प्रयोग किया है। जून, 1973 में CRR को 3 से बढ़ाकर 5 प्रतिशत, सितम्बर 1973 में 7 प्रतिशत, अगस्त 1983 में 8.5 प्रतिशत, अक्टूबर 1987 में 10 प्रतिशत और अप्रैल, 1991 में बढ़ाकर 15 प्रतिशत कर दिया गया। 1992-93 से देश में लगातार प्रतिसार या मन्दी (Recession) की स्थिति बनी हुई है। इस बात को अनुभव करते हुए मई 1977 में CRR को घटाकर 10 प्रतिशत और 28 अक्टूबर, 1991 को 9 प्रतिशत कर दिया गया। अप्रैल, 2000 को CRR को घटाकर 8% कर दिया गया है। 29 दिसम्बर, 2001 से इसे पुन: कम करके 5.50 प्रतिशत कर दिया गया है।

(4) **वैधानिक तरलता अनुपात** (Statutory Liquidity Ratio, SLR)–बैंकिंग नियमन एक्ट की **धारा** 24 के अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों के लिए यह अनिवार्य है कि वे अपनी कुल जमाओं का कम से कम 25 प्रतिशत नकदी, स्वर्ण या सरकारी प्रतिभूतियों आदि के रूप में अपने पास तरल रूप में रखें। इसी को वैधानिक तरलता अनुपात कहते हैं।

रिजर्व बैंक ने इस अधिकार का कई बार प्रयोग करते हुए SLR को 25 प्रतिशत से बढ़ाते हुए 1991 में 38.5 प्रतिशत तक कर दिया परन्तु नरसिम्हा समिति (1991) की सिफारिश के बाद SLR को कई चरणों में घटाते हुए अन्तत: अक्टूबर, 1997 में 25 प्रतिशत तक स्थिर कर दिया गया है।

SLR के दो उद्देश्य हैं–(*i*) अनुसूचित बैंकों की ऋण देने अर्थात् साख-विस्तार करने की क्षमता पर अंकुश लगाना और (*ii*) बैंक-राशियों का ऋण व आग्रिमों के बजाय सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश करना। यहाँ उल्लेखनीय है कि CRR तथा SLR दोनों का उद्देश्य एक ही है अर्थात् बैंकों की साख-विस्तार की क्षमता को प्रभावित करना और इस दृष्टि से यह दोनों, **स्फीति-विरोधी** (Anti-inflationary) उपाय हैं।

(5) **नैतिक आग्रह** (Moral Suassion)–बैंक नैतिक आग्रह की नीति भी अपना रहा है। इसके अनुसार यह समझा-बुझाकर अनुरोध और सुझाव द्वारा व्यापारिक बैंकों को समय के अनुसार उसके द्वारा घोषित मौद्रिक नीति का का अनुसरण करने के लिए कहता है।

(6) **प्रत्यक्ष कार्यवाही** (Direct Action)–बैंकिंग कम्पनी एक्ट, 1949 भारतीय रिजर्व बैंक को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह सामान्य तौर से बैंकों का या किसी एक विशेष बैंक को किसी विशेष लेन-देन या लेन-देनों की श्रेणियों में प्रवेश करने से चेतावनी दे या रोके। रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के खातों आदि के निरीक्षण की शक्ति भी प्राप्त है।

(II) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)–साख नियन्त्रण के सामान्य उपायों का प्रयोग करके केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा (Quantum of Credit) का नियमन करता है, जबकि चयनात्मक उपायों द्वारा साख की दिशा और मात्रा दोनों का नियमन करता है। चयनात्मक साख नियन्त्रण के मुख्यत: दो उद्देश्य हैं–**प्रथम,** आवश्यक

नोट

वस्तुएँ, जैसे–खाद्यान्न, तेल, तिलहन, दालें, कपास, जूट, चीनी इत्यादि के सट्टे, संग्रह व मुनाफाखोरी के लिए साख सुविधाओं पर रोक लगाना; **दूसरा,** इन वस्तुओं की कीमतों को अनुचित रूप से बढ़ने से रोकना। रिजर्व बैंक द्वारा चयनात्मक साख नियन्त्रण सम्बन्धी उपायों का एक लम्बा इतिहास है और उसके द्वारा समय-समय पर सभी आवश्यक कदम उठाये जाते रहे हैं। रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई चयनात्मक साख की प्रमुख तकनीकें निम्नलिखित हैं–

(*i*) **कुछ विशिष्ट प्रतिभूतियों या धरोहर के आधार पर ऋणों के लिए न्यूनतम मूल्यान्तर** (Margin) **निधारित करना**–पिछले 25 वर्षों में रिजर्व बैंक ने अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं की जमाखोरी द्वारा इनके मूल्यों में वृद्धि करने की व्यापारियों की समाज विरोधी प्रवृत्ति को रोकने के लिए मूल्यान्तर निर्धारण की रीति का नियमित रूप से प्रयोग किया है। इस समय चयनात्मक साख नियन्त्रण के अन्तर्गत आने वाली वस्तुएँ हैं–खाद्यान्न, तिलहन, तेल, वनस्पति घी, कपास, खांडसारी, गुड़, चीनी, सूती कपड़ा और सूती धागा। इन वस्तुओं की धरोहर पर ऋण के लिए ब्याज की दर अपेक्षाकृत ऊँची रहती है।

(*ii*) **उच्चतम सीमा का निर्धारण**–रिजर्व बैंक फसलों की प्रत्याशा, आपूर्ति, स्थिति तथा कीमतों की प्रवृत्तियों के आधार पर अग्रिमों की अलग-अलग उच्चतम सीमा का निर्धारण करता है। वाणिज्य बैंकों को नये उधारकर्ताओं को ऋण देने तथा विद्यमान उधारकर्ताओं की साख सीमाओं का विस्तार करने के लिए रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पड़ती है।

(*iii*) **विभेदक ब्याज की दरें**–विशेष प्रकार के अग्रिमों के लिए विभेदक ब्याज की दरें प्राप्त की जाती हैं। रिजर्व बैंक चयनात्मक साख से सम्बन्धित वस्तुओं के लिए ऊँची ब्याज-दर निर्धारित करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)–उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति को साख के 'नियन्त्रणात्मक विस्तार की नीति' कहा जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य एक ओर कीमतों को नियन्त्रण में रखना और दूसरी ओर, आवश्यक सुख-सुविधाओं का विकास करना है। इस प्रकार उसने 'स्थायित्व के साथ विकास' (Growth with Stability) से लक्ष्य को प्राप्त करने का यत्न किया है।

टास्क खुले बाजार की क्रियायें किसे कहते हैं?

मौद्रिक नीति की असफलताएँ (Failures of Monetary Policy)

(*i*) **बैंकों के पास नकद कोषों की अधिकता** (Excess Cash Reserves with Banks)–वस्तुत: जब बैंकों के निक्षेपों में वृद्धि हो रही हो, अधिक बैंक-दर, अधिक शुद्ध तरलता अनुपात बैंकों की साख के विस्तार करने की क्षमता पर विशेष प्रभाव नहीं डालती है।

(*ii*) **गैर-बैंकिंग संस्थाओं पर नियन्त्रण न होना** (No Control Non-banking Institutions)–यह उल्लेखनीय तथ्य है कि रिजर्व बैंक का गैर-बैंकिंग संस्थाओं और देशी बैंकरों पर आज भी कोई नियन्त्रण नहीं है, जबकि ये देश के व्यापार एवं उद्योग में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। फलत: मौद्रिक नीति अपंग बनकर रह गयी है।

(*iii*) **वित्तीय अनुशासनहीनता** (Financial Indiscipline)–राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा वित्तीय अनुशासन का पालन नहीं किया गया। आशा के विपरीत इन बैंकों ने बड़ी मात्रा में अनावश्यक साख का विस्तार किया है जिससे जमाखोरी और कीमत-प्रसार को बढ़ावा मिला है। 1992 का हर्षद मेहता घोटाला इसका जीता-जागता उदाहरण है।

(*iv*) **सीमित कार्य-क्षेत्र** (Limited Working-field)–रिजर्व बैंक के साथ नियन्त्रण के उपकरण व कार्य क्षेत्र केवल अनुसूचित बैंकों तक ही सीमित हैं। अत: जिस सीमा तक स्फीतिजनक परिस्थितियों का कारण

नोट

हीनार्थ प्रबन्धन और वस्तुओं की कमी है जैसा कि वर्तमान में भारत में है तो रिजर्व बैंक के उपाय किसी भी प्रकार से प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकते।

(*v*) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट** (International Monetary Crisis)–रिजर्व बैंक के प्रभाव को दबाने में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट का भी हाथ है। विश्वव्यापी मुद्रा-स्फीति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है। देश के आयात एवं निर्यात सबल राष्ट्रों की मुद्राओं की दर मुक्त होने व अरब तेल संकट ने भारत पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है।

(*vi*) **देश में पूँजी बाजार का होना** (Existence of Capital Markets)–देश में पूँजी बाजार का भी मौद्रिक नीति को विफल करने में हाथ है। बहुत-से सौदे भी जो पूँजी बाजार में उत्पन्न होते हैं, मूल्य-स्तर के ऊपर पूरा दबाव डालते हैं। उदाहरणार्थ, जीवन बीमा निगम द्वारा जो बीमा-धारकों को कर्ज दिया जाता है, वह मूल्य-स्तर को प्रभावित करता है।

(*vii*) **काले धन का व्यापक चलन** (Wide Circulation of Black Money)–मौद्रिक नीति को अपंग बनाने वाला एक प्रमुख घटक देश में 'समानान्तर अर्थव्यवस्था' का पाया जाना अर्थात् काले धन का व्यापक प्रचलन है। गैर-सरकारी अनुमानों के अनुसार काले धन की मात्रा सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के 30 से 40 प्रतिशत के बराबर है।

(*viii*) **मौद्रिक लक्ष्य-निश्चयन का अभाव** (Lack of Monetary Targeting)–मुद्रा-पूर्ति, उत्पादन एवं कीमतों के बीच एक गहरा सम्बन्ध होता है किन्तु खेद की बात यह है कि रिजर्व बैंक और सरकार दोनों ने इस समीकरण की सदैव उपेक्षा और उल्लंघन किया है। उदाहरण के तौर पर, पिछले दो दशकों के दौरान रिजर्व बैंक और मुद्रा-पूर्ति (M_3) में जितनी वृद्धि हुई है, वह उत्पादन-वृद्धि के आधार पर न होकर सरकारी-उधार की माँग पर अधिक आश्रित रही है।

(*ix*) **मुद्रा बाजार का धीमा विकास** (Slow Growth of Money Market)–मौद्रिक नीति या मौद्रिक नियन्त्रणों की सफलता केवल एक सुसंगठित एवं कुशल मुद्रा बाजार पर निर्भर करती है। चूँकि भारत का मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार आज भी असंगठित एवं अकार्य-कुशल हैं जिसके कारण मौद्रिक नीति अप्रभावी बनकर रह गयी है।

(*x*) **ई-मुद्रा का उपयोग** (Use of E-Money)–'ई-मुद्रा' का व्यापक प्रयोग केन्द्रीय बैंक की मुद्रा अर्थात् जनता के हाथ में मुद्रा नोटों का काफी सीमा तक स्थान ले सकता है। चूँकि किसी भी केन्द्रीय बैंक के बैलेन्स शीट (Balance-sheet) में करेन्सी नोट प्रमुख भाग होता है। अत: 'ई-मुद्रा' के प्रसार का अर्थ यह होगा कि बैलेन्स शीट का आकार सिकुड़ जायेगा जिससे प्रभावी खुला बाजार परिचालन करने की केन्द्रीय बैंक की क्षमता कम हो जायेगी। इस स्थिति में 'ई-मुद्रा' के व्यापक प्रयोग से बैंकिंग प्रणाली में जो विशाल अतिरिक्त आरक्षित निधि जमा हो जायेगी, उसे प्रभावहीन (स्टरलाइज) नहीं किया जा सकेगा और वह मौद्रिक नीति के लिए एक चुनौती बन सकती है।

भारत में मौद्रिक अधिकारियों को मौद्रिक नीति का इस प्रकार अपनाने की आवश्यकता है कि ये नियन्त्रण न तो बहुत कम हों और न अधिक और न ही उनको लागू करने में देरी होनी चाहिए। अत: भविष्य में विभिन्न उपायों में समायोजन करके एक प्रभावशाली मौद्रिक नीति का निर्माण करना चाहिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. आमतौर पर वित्तीय प्रणली को वर्गीकृत किया जाता है-

(क) औद्योगिक वित्त में (ख) कृषि-वित्त में

(ग) विकास वित्त में (घ) उपयुक्त सभी।

नोट

2. भारतीय वित्तीय प्रणाली के अंग हैं–
   (क) बैंक प्रणाली (ख) बीमा कंपनियाँ
   (ग) पारस्परिक निधियाँ (घ) उपयुक्त सभी।
3. रिजर्व बैंक ने विनिमय पत्र बाजार योजना बनाई–
   (क) 1952 में (ख) 1954 में
   (ग) 1956 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. भारतीय वित्तीय प्रणाली के अंग है–
   (क) भारतीय मुद्रा बाजार (ख) भारतीय पूँजी बाजार
   (ग)(क) और (ग) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. देश की मुद्रा व सम्पूर्ण साख कलेवर को नियंत्रित करता है–
   (क) रिजर्व बैंक (ख) औद्योगिक वित्त निगम
   (ग) राज्य वित्त निगम (घ) इनमें से कोई नहीं
6. खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है–
   (क) बैंकों को मौसमी वित्त प्रदान करने के लिए
   (ख) पूँजी निर्माण को बढ़ावा देने के लिए
   (ग) (क) और (ग) दोनों
   (घ) इनमें से कोई नहीं

20.4 सारांश (Summary)

- मोटे तौर पर, वित्त या मौद्रिक संसाधनों (Monetary Resources) की आवश्यकता व्यक्तियों, व्यापारिक घरानों और सरकार को पड़ती है। व्यक्तियों और परिवारों को अपने दैनिक जीवन की जरूरतों के लिए या पूंजी वस्तुएं खरीदने (जिन्हें आम भाषा में निवेश कहा जाता है) के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है।
- भारतीय वित्तीय प्रणाली का अभिप्राय राशियों को उधार पर लेना और उन्हें उधार पर देना है, अथवा सभी व्यक्तियों, संस्थानों, कम्पनियों और सरकारों द्वारा धन-राशियों की माँग और पूर्ति की जाती है।
- भारतीय वित्तीय प्रणाली के दो अंग हैं–भारतीय मुद्रा बाजार (Indian Money Market) और भारतीय पूँजी बाजार (Indian Capital Market)। भारतीय मुद्रा बाजार वह बाजार हैं जिसमें अल्पकालीन राशियों (Short-term funds) के रूप में उधार लिया जाता और उधार दिया जाता है। इसके विरुद्ध, भारतीय पूँजी बाजार मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन राशियों के लिए होता है।
- सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार प्रभावी मौद्रिक नीति का आधार होता है। मुद्रा बाजार (Money market) की परिभाषा अल्पकाल के लिए उधार लेने और उधार देने वाले बाजार के रूप में की जा सकती है। इससे उधार लेने वालों को अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।
- मुद्रा बाजार के ऊपर दिए गए लक्षणों से यह विदित होता है कि भारतीय मुद्रा बाजार बहुत ही अविकसित है और इसकी तुलना लन्दन मुद्रा बाजार जैसे उन्नत मुद्रा बाजारों से नहीं की जा सकती। यह एक ऐसा मुद्रा बाजार है जिसे बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थान (Financial institution) अल्पकाल के लिए उधार देते या इससे उधार प्राप्त करते हैं।
- रिजर्व बैंक का सदैव यह प्रयास रहा है कि मुद्रा की माँग एवं पूर्ति (सम्भरण) में सन्तुलन बना रहे, ताकि इसकी कमी से आर्थिक विकास में बाधा न आये और इसकी अधिकता, स्फीतिकारी दबावों को उत्पन्न न

नोट

होने दे किन्तु वास्तविकता यह है कि पहली योजना को छोड़कर रिजर्व बैंक मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने में असफल रहा है।

- भारत में मौद्रिक अधिकारियों को मौद्रिक नीति का इस प्रकार अपनाने की आवश्यकता है कि ये नियन्त्रण न तो बहुत कम हों और न अधिक और न ही उनको लागू करने में देरी होनी चाहिए। अत: भविष्य में विभिन्न उपायों में समायोजन करके एक प्रभावशाली मौद्रिक नीति का निर्माण करना चाहिए।

20.5 शब्दकोश (Keywords)

- **निधियाँ**–फंड
- **अग्रिम**–एडवांस

20.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय वित्तीय प्रणाली पर प्रकाश डालिए।
2. मुद्रा बाजार किसे कहते हैं? भारतीय मुद्रा बाजार के दोष बताइए।
3. क्या भारतीय मुद्रा बाजार एक अल्पविकसित मुद्रा बाजार है? समझाइए।
4. भारतीय मौद्रिक नीति का विवेचन कीजिए।
5. रिजर्व बैंक साख नियंत्रण में क्यों असफल रहा है?

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (घ) 2. (घ) 3. (क) 4. (ग)
   5. (क) 6. (क)

20.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Radins)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–21: भारत में पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि (Capital Market in India and Working of SEBI)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

21.1 भारत में पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्य विधि (Capital Market in India and Working of SEBI)

21.2 सारांश (Summary)

21.3 शब्दकोश (Keywords)

21.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

21.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि का विवेचन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

बचत आधिक्य वाले क्षेत्र से ऋण चाहने वाले क्षेत्रों को सफलतापूर्वक फंड हस्तांतरण की प्रणाली को वित्तीय प्रणाली कहते हैं। इसने भारतीय मुद्रा बाजार को दो भागों में बाँटा है–मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार। मुद्रा बाजार में अल्पकालीन स्वभाव की मौद्रिक सम्पत्तियों या प्रतिभूतियों जो सामान्यतया एक वर्ष से कम अवधि की होती हैं, को शामिल किया जाता है जबकि पूँजी बाजार मध्यम तथा दीर्घकालीन फंड का बाजार है जहाँ एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए लेन-देन की जाती है। इस इकाई के अन्तर्गत हम केवल पूँजी बाजार का अध्ययन करेंगे।

21.1 पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि (Capital Market in India and Working of SEBI)

पूँजी बाजार, मध्यम तथा दीर्घकालीन फंड का बाजार है जहाँ एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए लेन-देन की जाती है।

भारत में पूंजी बाजार को दो भागों में बांटा जाता है–

(क) सरकारी प्रतिभूति (Gilt Edge) बाजार।

(ख) औद्योगिक प्रतिभूति बाजार।

सरकारी प्रतिभूति बाजार में केन्द्र, राज्य, स्थानीय सरकारों, स्वायत्त सार्वजनिक संस्थाओं जैसे राज्य विद्युत बोर्ड, सार्वजनिक निगम तथा अन्य सार्वजनिक वित्तीय संस्था जैसे आई.डी.बी.आई., नाबार्ड, आई.एफ.सी.आई. आदि द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ बेची एवं खरीदी जाती है। ये प्रतिभूतियाँ अत्यन्त ही सुरक्षित होती हैं।

नोट

औद्योगिक प्रतिभूति बाजार में उद्योगों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ बेची एवं खरीदी जाती हैं। ये प्रतिभूतियाँ मुख्यत: समता अंशों तथा ऋण-पत्रों के रूप में होती है। औद्योगिक प्रतिभूति बाजार को भी दो भाग कर सकते हैं–

1. नयी निर्गमित प्रतिभूतियों का बाजार,
2. पुराना पंजी बाजार, जहाँ कम्पनियों की पहले से निर्गमित प्रतिभूतियाँ बेची एवं खरीदी जाती हैं। पहले प्रकार के बाजार को प्राथमिक बाजार तथा दूसरे प्रकार को स्टॉक बाजार या स्टॉक एक्सचेंज कहते हैं।

प्राथमिक बाजार

इक्विटी अंशों तथा ऋण-पत्रों के नये निर्गमन के द्वारा वित्त के दीर्घकालीन स्त्रोत प्राप्त किये जाते हैं प्राथमिक बाजार कहलाता है। प्राथमिक बाजार में निम्न प्रकार की पूंजी जारी की जाती है–

- **अधिकृत पूंजी** (Authorised Capital)–कम्पनी समामेलित होने के समय मेमोरेण्डम ऑफ एसोसिएशन में कंपनी के आकार के अनुसार जिस अधिकतम पूंजी के बाजार से उद्ग्रहण की मांग की जाती है उसे अधि कृत पूंजी कहते हैं। कम्पनी बिना इसमें परिवर्तन किए उल्लेखित राशि से अधिक पूंजी बाजार से नहीं उगाह सकती है।
- **निर्गमित पूंजी** (Issue Capital)–कम्पनी द्वारा अपनी अधिकृत पूंजी को, जो अंश जनता द्वारा प्रार्थित होने के लिए जारी किए जाते हैं उसे निर्गमित पूंजी कहते हैं।
- **प्रार्थित पूंजी/अभिदत्त पूंजी** (Subscribed Capital)–निर्गमित पूंजी का वह अंश जिसे जनता द्वारा आवेदन की जाती है उसे प्रार्थित पूंजी कहते हैं। प्रार्थित पूंजी निर्गमित पूंजी से कम या बराबर हो सकती है।
- **प्रदत्त पूंजी** (Paid up Capital)–अंश-पत्रों के मूल्य में से जितने मूल्य या भुगतान तत्काल जनता द्वारा कम्पनी को किया जाता है या जिस पूंजी से व्यापार शुरू किया जाए, उसे प्रदत्त पूंजी (Paid capital) कहते हैं।
- **म्यूचुअल फण्ड**–ऐसे वित्तीय संस्था जो बचतकर्त्ताओं की छोटी-छोटी बचतों को एकत्रित कर विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में विनियोजित कर कम जोखिम पर लाभांश व पूंजी के अधिमूल्यन का लाभ प्रदान करती है। म्यूचुअल फण्ड कहा जाता है।

सेंसेक्स

BSE ने 1986 में 30 ब्लूचिप कंपनियों के शेयरों पर आधारित सूचकांक आरम्भ किया, जिसमें उन बड़ी और प्रतिष्ठित कंपनियों को शामिल किया गया, जिनके शेयरों में उतार-चढ़ाव न्यूनतम, पूर्व में मुनाफा दे रही हों और भविष्य में देते रहने की प्रत्याशा हो। इसका आधार वर्ष 1978-79 और आधार सूचकांक 100 रखा गया था।

प्रतिभूति (Security)

कोई भी कानूनी दस्तावेज जो विनिमेय हो तथा निवेशकों की निवेश राशि को सुरक्षा प्रदान करती हो, प्रतिभूति कहलाती है। इसका उपयोग मुख्यत: धन/वित्त जुटाने के लिए किया जाता है। प्रतिभूति जारी कर्ता संस्था की प्रकृति के आधार पर यह दो प्रकार की होती है–

1. सरकारी प्रतिभूति–सरकार द्वारा जारी प्रतिभूति।
2. वाणिज्यिक प्रतिभूति–वाणिज्यिक संस्थाओं द्वारा जारी प्रतिभूति।

सरकारी प्रतिभूतियाँ, परिपक्वता अवधि के आधार पर दो प्रकार की होती हैं–

1. अल्पकालिक परिपक्वता–1 वर्ष से कम की परिपक्वता वाली सरकारी प्रतिभूतियाँ सरकारी खजाना (ट्रेजरी) बिल्स कहलाती हैं।
2. दीर्घ कालिक परिपक्वता अवधिवाली सरकारी (Gilt-Edged Securities) प्रतिभूति कहलाती हैं।

नोट

वाणिज्यिक प्रतिभूतियों को दो भागों में बांटा जाता है–

1. अंश प्रतिभूतियाँ
2. ऋण प्रतिभूतियाँ

अंश प्रतिभूति के क्रेता को जारीकर्ता संस्था स्वामित्वमंडल में अंश/हिस्सा प्राप्त होता है। जबकि ऋण प्रतिभूति के निवेशक को जारी कर्ता से एक निश्चित लाभ के प्रतिशत का आश्वासन मिलता है।

जारीकर्ता संस्था – ऋणी

निवेशक – ऋणदाता

अंश प्रतिभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं–

1. अधिमान अंश

अधिमान अंशधारी को कम्पनी के वार्षिक लाभ में प्राथमिक अधिकार तथा कंपनी के घाटे में जाने पर पूंजी वापसी में वरीयता प्राप्त होती है, परंतु बोर्ड आफ डाइरेक्टर का चुनाव न तो लड़ सकता है और न ही इसमें मतदान कर सकता है।

2. इक्विटी अंश

सामान्यत: इसे शेयर कहते हैं। इक्विटी शेयर धारक को कम्पनी के वार्षिक लाभ में अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होता है इन्हें कम्पनी में जोखिम करना पड़ता है। शेयर धारक बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर बन सकते हैं और इसके चुनाव में मतदान भी कर सकते हैं। यही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं।

बोनस शेयर

अंशधारियों को लाभांश नकद न देकर उसी मूल्य का अंश दे दिया जाए तो इसे बोनस शेयर कहते हैं।

राईट इश्यू शेयर (Right Issue Share)

कार्यरत कम्पनियाँ क्षमता विस्तार हेतु अपने पुराने शेयर धारकों को अतिरिक्त शेयर बेचने की पेशकश करती है तो इसे राईट इश्यू शेयर कहते हैं।

इन्हें राईट इश्यू शेयर इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इन्हें खरीदने का सबसे पहला 'राईट' या अधिकार कम्पनी के पुराने शेयर होल्डरों को दिया जाता है। जिसे शेयर होल्डर के पास जितने शेयर होते हैं, उसी के हिसाब से उसे राईट इश्यू शेयर बेचे जाते हैं।

प्रेफरेन्स (Preference) और इक्विटी (Equity) शेयर

कई बार मुनाफा न होने पर कम्पनी प्रेफरेन्स शेयरहोल्डरों को लाभांश नहीं दे पाती। ऐसे हालात से बचने के लिए कम्पनियाँ क्युमुलेटिव प्रेफरेन्स शेयर जारी करती हैं। इन शेयरों पर बकाया लाभांश खत्म होने की बजाय इकट्ठा होता रहता है, और जब कम्पनी के पास पैसे होते हैं, तो पिछला सारा बकाया लाभांश चुका दिया जाता है। जब तक इक्विटी शेयर पर कोई लाभांश नहीं दिया जाता है। अत: प्रेफरेन्स शेयर होल्डरों को कम्पनी के घाटे या मुनाफे की परवाह किये बिना अपने तय लाभांश का हमेशा लाभ मिलता रहता है।

जब तक कम्पनी चलती रहती है तब तक शेयर होल्डरों को उनका शेयर कैपिटल वापिस नहीं किया जाता। यह नियम केवल ए श्रेणी के शेयरों पर लागू नहीं होता–"रिडीमेबल प्रेफरेन्स शेयर"। इन शेयरों का मूलधन एक तय अवधि पूरी होने पर शेयर होल्डर को चुका दिया जाता है।

दूसरी ओर इक्विटी शेयरों पर तय लाभांश की गारंटी नहीं होती। इक्विटी शेयरहोल्डरों को कम्पनी का मालिक माना जाता है। अत: सभी लेनदारों और प्रेफरेन्स शेयरहोल्डरों की बकाया राशि चुकाने पर कम्पनी के पास जो मुनाफा और एकत्रित राशि बचती है, केवल उसी पर ही इक्विटी शेयर होल्डरों का अधिकार बनता है।

आमतौर पर इक्विटी शेयर होल्डर कम्पनी के कुल शेयर होल्डरों का एक बड़ा हिस्सा होते हैं। वे कम्पनी के सभी

नोट

मामलों में सम्पूर्ण मत का अधिकार रखते हैं। कम्पनी को अच्छा मुनाफा होने पर उसका सबसे बड़ा भाग इन्हीं शेयर होल्डरों को जाता है। कम्पनी को नुकसान होने पर उसका भारत भी इन्हीं पर पड़ता है–और उन्हें कम या शून्य लाभांश मिलता है।

इक्विटी शेयरों का असली लाभ यह है कि कम्पनी की तरक्की और बढ़त का सबसे ज्यादा फायदा इन्हीं को मिलता है। प्रेफरेन्स शेयरों पर जहाँ लाभांश पहले से तय होता है, वहीं इक्विटी शेयरों पर मुनाफे के साथ लाभांश भी बढ़ता जाता है। साथ ही कम्पनी की बढ़त होने पर इक्विटी शेयर की कीमत शेयर बाजार में बढ़ जाती है लेकिन प्रेफरेन्स शेयर पर ऐसा नहीं होता। इक्विटी शेयर होल्डर को समय-समय पर कम्पनी से 'राईट' और 'बोनस' शेयर भी मिलते हैं। अत: इक्विटी शेयरों पर ज्यादा खतरा, और उसी के हिसाब से ज्यादा फायदा या नुकसान बना रहता है। इसलिए शेयरों में निवेश करने का असली लाभ इक्विटी शेयरों में मिलता है।

स्टॉक एक्सचेंज

स्टॉक एक्सचेंज शेयरों और प्रतिभूतियों (Securities) की खरीद-फरोख्त के लिए बना एक बाजार है। किसी भी अन्य बाजार की तरह स्टॉक बाजार में भी प्रतिभूति खरीदने और बेचने के इच्छुक लोग आते हैं। प्रतिभूतियों में इक्विटी और प्रेफरेन्स शेयर, डिबेन्चर (Debenture) और सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थानों के बॉण्ड (Bond) शामिल होते हैं। भारत में दो प्रमुख स्टॉक एक्सचेंज है–बॉम्बे स्टॉक एक्सचेंज व नेशनल स्टॉक एक्सचेंज।

कोई व्यक्ति सीधे स्टॉक बाजार में जाकर शेयर खरीद या बेच नहीं सकते। इसलिए स्टॉक ब्रोकर या शेयर ब्रोकर की आवश्यकता पड़ती है, और इनके पास स्टॉक एक्सचेंज की सदस्यता का लाइसेंस होता है। इसके लिए उन्हें दलाली (Brokerage/Commission) मिलती है, जो किए गए कारोबार के मूल्य का लगभग ढाई प्रतिशत होता है।

भारतीय स्टॉक एक्सचेंजों पर केवल सूचीकृत, यानी लिस्टेड (Listed) प्रतिभूतियों का ही कारोबार होता है। एक्सचेंज में अपनी प्रतिभूतियों का कारोबार कराने के लिए कम्पनियाँ उन्हें सूचीकृत कराती हैं। पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों के लिए ऐसा करना कानूनन अनिवार्य नहीं है। सूचीकृत शेयरों को खरीदना और बेचना तो आसान होता ही है, साथ ही उनका कारोबार स्टॉक एक्सचेंज के नियमों से बंधे होने के कारण उनमें निवेशकों का ज्यादा भरोसा रहता है।

तेजड़िये और मन्दड़िये (Bull and Bear)

अधिकतर सट्टेबाज या तो तेजड़िये (बुल) होते हैं या मंदड़िये (बिअर)। तेजड़िये बाजार के प्रति आशावादी होते हैं, और निकट भविष्य में शेयरों के दाम बढ़ने की उम्मीद रखते हैं। इसलिए ये लोग चलते भाव पर अपने पसंद के शेयर खरीद लेते हैं, ताकि दाम चढ़ने पर इन्हें मुनाफे पर बेच सकें। तेजड़ियों के अधिक कारोबार करने से बाजार में तेजी आ जाती है और अधिकतर शेयरों के दाम चढ़ने लगते हैं। ऐसे बाजार को तेजड़ियों का बाजार (Bull of Market) कहा जाता है। इससे ठीक विपरीत मंदड़िये, जो बाजार के प्रति निराशावादी होते हैं और प्रत्याशा करते हैं कि शेयरों के भाव निकट भविष्य में गिरेंगे। ये लोग चालू भाव पर शेयर बेच देते हैं, ताकि भाव गिरने पर उन्हें दोबारा खरीद सकें। मंदड़िये अक्सर वे शेयर बेचते हैं जो उनके पास नहीं होते, और बाद में उन्हें ग्राहक को देने की मंशा से खरीद लेते हैं। शेयर बाजार की भाषा में इसे 'शार्ट-सेलिंग' कहते हैं। मंदड़ियों के अधिक प्रभाव से बाजार में मंदी आ जाती है, और इसे मंदड़ियों का बाजार (Bear Market) कहा जाता है।

शेयरों में 'बाय-बैक' (Buy-Back) (1999 से लागू)

शेयरों में 'बाय-बैक' उस स्थिति को कहते हैं जब कम्पनी अपनी पूंजी से अपने ही शेयर वापस खरीदती है। इससे कम्पनी का इक्विटी कैपिटल कम हो जाता है, क्योंकि बाजार से वापस खरीदे गये शेयर खारिज हो जाते हैं। 1956 के कम्पनी एक्ट के नियमों के अनुसार इन शेयरों को दोबारा जारी नहीं किया जा सकता। अत: कम्पनी का इक्विटी कैपिटल कम होने के साथ बाजार में उपलब्ध कम्पनी के शेयर भी कम हो जाते हैं। इससे प्रति आमदनी (ई.पी.एस.) बढ़ जाती है, क्योंकि उतना ही शुद्ध लाभ अब पहले से कम इक्विटी पर कैपिटल विभाजित हो जाती है। कई बार मैनेजमेन्ट अपनी कम्पनी में सार्वजनिक स्वामित्व कम करने हेतु भी शेयर वापस खरीदती है। यह स्टॉक

नोट

एक्सचेंज से शेयर को डीलिस्ट करने, यानि एक्सचेंज की सूची से शेयर को हटाने की दिशा में एक कदम है।

स्टॉक स्प्लिट (Stock Split)

स्टॉक स्प्लिट में केवल कम्पनी के मौजूदा शेयरों को कम मूल्य (फेस वेल्यू) के शेयरों में विभाजित कर दिया जाता है। इससे कम्पनी के इक्विटी कैपिटल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जैसे एक कम्पनी में स्टॉक स्प्लिट होने पर कम्पनी ने 10 रु. प्रति शेयर वेल्यू के शेयर को 2 रु. प्रति शेयर के पांच शेयरों में विभाजित कर दिए। अगर शेयर का दाम पहले 5,000 रु. था तो पांच नए शेयरों के हिसाब से प्रति शेयर दाम अब 1,000 रु. होना चाहिए। इससे कम्पनी के इक्विटी कैपिटल या कुल सम्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। स्टॉक स्प्लिट से निवेशक को लाभ होता है, क्योंकि शेयर पहले की अपेक्षा सस्ता हो जाता है। इससे शेयर में खरीदारों की रूचि बढ़ती है और बाजार में उसके भाव चढ़ने लगते हैं।

शेयरों का 'डीमैटीरियलाईजेशन' (Dematerialisation)

'डीमैटीरियलाईजेशन' की प्रणाली से शेयरों को कागजी दस्तावेज (शेयर सर्टिफिकेट) से 'डीमैटिरियलाईज्ड' यानि कम्प्यूटरीकृत रूप में बदल दिया जाता है। यह परिवर्तन न्यासधारी या डिपॉजिटरी द्वारा किया जाता है, और निवेशकों के शेयर डीमैट रूप में डिपॉजिटरी के पास रहते हैं।

डिपॉजिटरी का काम-काज समझने के लिए उसे एक बैंक के रूप में देखा जा सकता है। जिस प्रकार बैंक में जमा पैसा आपकी पास बुक में दिखाया जाता है, उसी तरह डिपॉजिटरी भी एक प्रतिभति बैंक के समान है जहाँ ग्राहक अपने शेयर व बॉण्ड कम्प्यूटरीकृत रूप में जमा कराते हैं। बैंक की तरह ही डिपॉजिटरी अपने ग्राहकों को उनके खातों का हिसाब-किताब 'अकाउन्ट होल्डिंग स्टेटमेंट व अकाउन्ट ट्रान्सैक्शन स्टेटमेंट के जरिये देता है। ग्राहकों के डिपॉजिटरी की सेवाएं जिस एजेन्ट के माध्यम से मिलती हैं, उन्हें डिपॉजिटरी पार्टिसिपेन्ट (डी.पी.) कहते हैं। डी.पी. का काम बैंक, वित्तीय संसाधन या ब्रोकर करते हैं, और उनके पास अपने डीमैट शेयर जमा कराना या निकालना बैंक खाते के संचालन जैसा ही होता है।

किसी डी.पी. के पास डीमैट अकाउन्ट खोलने के बाद बस अपने शेयर सर्टिफिकेट रद्द करके डी.पी. को सौंप दिया जाता है और एक डीमैट रिक्वेस्ट फार्म (Demat Request Form) भर कर देना पड़ता है जिसमें शेयरों की फोलियो संख्या, सर्टिफिकेट नम्बर व अन्य विवरण दर्ज किया जाता है। इसके बाद इन शेयरों को डीमैट रूप में बदलने के लिए डी. पी. यह रिक्वेस्ट फार्म उस कम्पनी या उसके रजिस्ट्रार व हस्तांतरण एजेन्ट को भेज देता है। शेयरों के डीमैट रूप में परिवर्तित हो जाने पर ये डी.पी. के पास शेयर खाते में जमा हो जाते हैं।

नोट्स भारत में दो डिपॉजिटरी हैं–सी.एस.डी.एल. (सेन्ट्रल सिक्यूरिटीज डिपाजिटरी लिमिटेड), जो.बी.एस.ई. का डीपॉजिटरी है, और एन.एस.डी.एल. (नेशनल सिक्यूरिटीज डिपॉजिटरी लिमिटेड), जो एन.एस.ई. का डिपॉजिटरी है।

'रीमैटीरियलाईजेशन' (Rematerialisation)

रीमैटरियलाईजेशन शेयरों की डीमैट करने से ठीक विपरीत प्रणाली है। इससे शेयरों को डीमैट रूप से वापस कागजी शेयर सर्टिफिकेट में बदल दिया जाता है। डीमैट धारक को ऐसा करने की पूरी स्वतंत्रता है। इसके लिए केवल डी.पी. को अपने शेयरों के रीमैटीरियलाईजेशन के लिए आवेदन देना पड़ता है। डी.पी. यह आवेदन डिपॉजिटरी तक पहुंचाता है जो यह सूचना आगे कम्पनी या उसके रजिस्ट्रार व हस्तांतरण एजेन्ट को देगा। इसके बाद कम्पनी नई फोलियो संख्या व डिस्कनेक्टिव संख्या वाले शेयर सर्टिफिकेट ग्राहक को भेज देती है।

नोट

कम्प्यूटरीकृत कारोबार

बोल्ट (Bolt) एवं डोल्ट (Dolt)

मुम्बई शेयर बाजार में 10 मई, 1995 से 'बोल्ट' प्रणाली को आरम्भ किया गया। शेयरों के क्रय-विक्रय के लिए 120 वर्षों से प्रचलित 'खुली बोली प्रणाली (Open Cry out System)' का स्थान अब स्क्रीन बेस्ड 'बोल्ट' (BSE on line trading) प्रणाली ने ले लिया है। इसके अंतर्गत अब शेयर दलाल अपने चैम्बर्स में बैठे-बैठे ही कम्प्यूटरों की स्क्रीन पर मूल्यों के उतार-चढ़ाव को देखकर सौदे सम्पन्न कर सकते हैं।

स्टॉक एक्सचेंज में खड़े होकर बोली लगाने (Open Cry out System) की जगह अब बोल्ट (Bolt) व नीट (NEAT) प्रणालियों से शेयरों का कारोबार होता है। बोल्ट बी.एस.ई. की कम्प्यूटरीकृत कारोबार प्रणाली है और नीट एन.एस.ई. की। दिल्ली शेयर बाजार में भी कम्प्यूटरीकृत ऑन लाईन ट्रेडिंग प्रणाली (Delhi on line Trading System-Dolt)' को 29 जनवरी, 1996 से अपनाया गया। इन प्रणालियों की सहायता से अब शेयरों का कारोबार एक भारतव्यापी, स्वचालित, कम्प्यूटरीकृत नेटवर्क के माध्यम से तत्काल हो जाता है। ब्रोकर अब स्टॉक एक्सचेंज में जाने की जगह अपने कार्यालय में लगे कम्प्यूटर से अपने ग्राहकों के लिए शेयर खरीदते या बेचते हैं।

फ्यूचर्स

भारत में नकद बाजार को सट्टा (फ्यूचर्स) बाजार से अलग रखा गया है। नकद बाजार में जिस दिन सौदा किया जाता है, उसी दिन धन अदा कर शेयरों की डिलीवरी लेनी पड़ती है। इसी तरह अगर शेयर बेचा जाता है, तो उसी दिन शेयरों की डिलीवरी देकर पैसा प्राप्त करते हैं। परन्तु फ्यूचर्स बाजार में केवल सौदे में हुए लाभ या नुकसान का नकद भुगतान किया जाता है।

फ्यूचर्स बाजार में केवल कुछ चुनिंदा शेयरों का ही कारोबार किया जाता है। इन शेयरों का चयन एक्सचेंज द्वारा उनकी उपलब्ध मात्रा, मार्केट कैपिटलाईजेशन व खरीदे या बेचे गए शेयरों की संख्या के आधार पर किया जाता है। इन चुने हुए शेयरों की एक तय संख्या को मिलाकर एक 'कॉन्ट्रैक्ट' बनता है। फ्यूचर्स बाजार में खरीदे गए शेयरों के पैसे नहीं देने पड़ते। केवल 'मार्जिन मनी' अदा करना पड़ता है, जो खरीदे गए शेयरों के कुल मूल्य का 10-20 प्रतिशत हो सकता है। विभिन्न कॉन्ट्रैक्टों का मार्जिन मनी समय-समय पर एक्सचेंज द्वारा तय किया जाता है। फ्यूचर्स कारोबार शेयर व्यापारियों के लिए बहुत आकर्षक माना जाता है, क्योंकि आज के परिवेश में एक हजार अथवा एक लाख रुपये का मार्जिन मनी चुका कर व्यापारी उससे कई गुणा मूल्य के शेयर खरीद सकते हैं। पर यह दो धारी तलवार है, जिसमें अधिक लाभ के चक्कर में भारी नुकसान भी सहन करना पड़ सकता है।

ऑप्शन्स

ऑप्शन्स भी एक प्रकार का फ्यूचर्स कारोबार है। जब किसी कॉन्ट्रैक्ट पर ऑप्शन्स खरीद जाता है तो कान्ट्रैक्ट की अवधि समाप्त होने से पहले उसे किसी भी ऐसे दाम पर खरीदने या बेचने के अधिकार के लिए एक प्रीमियम चुकाना पड़ता है। जिस दाम से लाभ हो या नुकसान कम-से-कम हो। अगर कॉन्ट्रैक्ट को समाप्त करने के इस ऑप्शन, यानि विकल्प का प्रयोग नहीं किया जाता तो ज्यादा-से-ज्यादा उस प्रीमियम का नुकसान होगा जो ऑप्शन खरीदने के लिए चुकाया था। अतः फ्यूचर्स की अपेक्षा ऑप्शन्स अधिक सुरक्षित है, क्योंकि फ्यूचर्स में नुकसान की कोई सीमा नहीं होती।

क्या आप जानते हैं भारत में 'फ्यूचर्स' कारोबार पारम्परिक बदला प्रणाली के समाप्त हो जाने के बाद वर्ष 2001 में शुरू हुआ। 'फ्यूचर्स' व 'ऑप्शन्स' अनुभवी व्यापारियों व सट्टेबाजों का काम है।

नोट

करेंसी फॉरवर्ड

फॉरवर्ड कांट्रैक्ट के अन्तर्गत भविष्य की एक तय तारीख को विदेशी मुद्रा बाजार में मुद्रा की कीमत तय कर लेते हैं, जिस पर उसे बेचा या खरीदा जा सकता है। इसको 'आउटराइट फॉरवर्ड करेंसी ट्रांजक्शन', 'करेंसी ट्रांजक्शन', 'फारवर्ड आउटराइट', या 'एफएक्स फॉरवर्ड' के नाम से भी जानते हैं। करेंसी फॉरवर्ड कांट्रैक्ट में जो कांट्रैक्ट होल्डर होता है, जो किसी खास तय हो चुकी कीमत पर, तय मात्रा और तय तारीख को ही उसे बेच या खरीद सकता है। इसकी खासियत यह है कि आप करेंसी फॉरवर्ड को करेंसी फ्यूचर के दूसरे अनुबंधों की तरह हस्तनांतरित नहीं कर सकते हैं।

करेंसी फ्यूचर

करेंसी फ्यूचर एक ऐसा हस्तानांतरणीय वादा अनुबंध है, जिसमें भविष्य के किसी भी तय की गई तारीख पर किसी तय कीमत पर करेंसी की खरीद-फरोख्त हो सकती है। भविष्य में करेंसी की खरीददारी या बिक्री किस कीमत पर होती है। करेंसी फ्यूचर कांट्रैक्ट के अन्तर्गत निवेशकों को विदेशी मुद्रा विनिमय के जोखिम से बचने के लिए हेजिंग करने की अनुमति दी जाती है। करेंसी फ्यूचर कांट्रैक्ट में हर रोज मार्केट में उतार-चढ़ाव को ध्यान में रखा जाता है। निवेशक को अगर लगता है कि आगे उसे नुकसान उठाना पड़ेगा तब यह अनुबंध की डिलीवरी की तारीख से पहले भी मुद्रा को बेच या खरीद सकते हैं। यदि डिलीवरी की तारीख से पहले कांट्रैक्ट से बाहर निकलना चाहे तो उस तारीख में बाजार में जो मुद्रा की कीमत होती है, उसके हिसाब से उसका निपटान किया जाएगा न कि कांट्रैक्ट से बाहर निकल जाते हैं। इसलिए ज्यादातर समय कांट्रैक्ट कभी भी डिलीवरी की तारीख तक नहीं पहुंचती हैं।

शेयर का 'इंट्रिंसिक वैल्यू'

निवेशक शेयर खरीदने से पहले कम्पनी की बिक्री मुनाफा, लाभांश और अन्य आर्थिक मुद्दों को अध्ययन करते हैं। इन तथ्यों के आधार पर वे यह अनुमान लगाते हैं कि उस शेयर का वास्तविक मूल्य क्या होना चाहिए और इसी मूल्य को शेयर का मूलभूत मूल्य या 'इंट्रिंसिक वैल्यू' (Intrinsic Value) मानते हैं।

शेयर बाजार सूचकांक

शेयर बाजार सूचकांक का मुख्य उद्देश्य बाजार में शेयरों के भाव की समग्र स्थिति व झुकाव को आंकना। सूचकांक मूलत: उन चुनिंदा शेयरों का औसत होता है जो लगभग पूरे शेयर बाजार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

म्यूचुअल फंड भी सूचकांक के ही माध्यम से अपने पोर्टफोलियो का मूल्यांकन करते हैं। कुछ म्युचुअल फंडों ने तो इन्डेक्स फंड भी शुरू किए हैं जिनमें सूचकांक में शामिल कम्पनियों में निवेश किया जाता है। इससे निवेशकों को सूचकांक के ही समान लाभ मिलता है। ये इन्डेक्स फंड तब शुरू किए गए जब अमरीका में पाया गया कि अधिकतर म्यूचुअल फंड सूचकांक से कम लाभ दे रहे थे। हर शेयर को बाजार में उसके पूंजीकरण (कुल शेयरों की संख्या × शेयर का मूल्य) से आंका जाता है। इसलिए शेयरों के मूल्य में किसी भी बदलाव से सेन्सेक्स बहुत जल्दी प्रभावित होता है।

शेयर खरीदने व बेचने का तरीका

बीएसई व एनएसई पर केवल डीमैट प्रतिभूतियों का ही कारोबार होता है।

प्लाउबैक

प्लाउबैक बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योंकि कम्पनी के विकास और विस्तार के लिए इसी धन का प्रयोग होता है। सभी विकासशील कम्पनियाँ अच्छा-खासा प्लॉउबैक जमा करके रखती हैं।

शेयर की 'बुक वैल्यु'

सम्पत्ति के मूल्य में से देनदारी या कर्जों को घटा दें तो जा बचा, उस पर शेयरहोल्डरों का अधिकार होता है और उसे 'शेयरहोल्डर फंड कहते हैं। इस रकम को कम्पनी द्वारा जारी किए गए इक्विटी शेयरों की संख्या से भाग करने पर

नोट

जो अंक आएगा वही कम्पनी के शेयरों की **बुक वैल्यु** होती है।

प्रति शेयर बुक वैल्यु–शेयरहोल्डर फंड/इक्विटी शेयरों की कुल संख्या।

शेयर होल्डर फंड जानने के लिए आप कम्पनी के रिजर्व और इक्विटी कैपिटल को जोड़ भी सकते हैं। बुक वैल्यु एक ऐतिहासिक ब्यौरा है। इसका हिसाब उस मूल दाम से लगाया जाता है जिस दाम पर कम्पनी की सम्पत्ति को पहले खरीदा गया था। इससे कम्पनी की सम्पत्ति का वर्तमान मूल्य नहीं पता चलता। अत: मुनाफा कमाती कम्पनी के शेयर का बाजार में मूल्य आंकने के लिए 'बुक वैल्यु' ज्यादा भरोसेमंद नहीं होती। बाजार में शेयर का भाव बुक वैल्यु से आमतौर पर कहीं ज्यादा होता है।

प्रतिशेयर आमदनी (EPS)

प्रति शेयर आमदनी की अंग्रेजी में 'अर्निंग पर शेयर' या 'ई.पी.एस.' (EPS) भी कहा जाता है। प्रति शेयर आमदनी = कर चुकाने के बाद बचा मुनाफा/इक्विटी शेयरों की कुल संख्या।

इन अनुमान से कम्पनी की कुल आमदनी का प्रति शेयर हिस्सा आंका जाता है। जैसे किसी कम्पनी के 100 शेयर हैं, जिन्हें 10 रुपये प्रति शेयर मूल्य पर जारी किया गया था। मान लीजिए कि इस कम्पनी में प्रति शेयर आमदनी 6 रुपये है, और कम्पनी ने 20 प्रतिशत, यानि 2 रुपये प्रति शेयर लाभांश घोषित किया है। इसका अर्थ है कि कम्पनी में प्रति शेयर आमदनी 6 रुपये है, और कम्पनी ने 20 प्रतिशत, यानि 2 रुपये प्रति शेयर लाभांश घोषित किया है। इसका अर्थ है कि कम्पनी हर शेयर पर सालाना 6 रुपये कमाती है। जिसमें से सिर्फ 2 रुपये आपको लाभांश मिलता है। बचे हुए 4 रुपये प्रति शेयर कम्पनी के प्लॉउबैक में चले जाते हैं। अगर यह शेयर 10 रुपये में ही खरीदा गया था, तो इस पर खरीददार को 60 प्रतिशत आमदनी हो रही है। जिसका 20 प्रतिशत लाभांश के रूप में मिला, और बाकी 40 प्रतिशत प्लॉउबैक में डाल दिया जाता है। प्लॉउबैक के बढ़ने से शेयर का मूल्य भी बढ़ेगा। आदर्श स्थिति में शेयर 40 प्रतिशत चढ़कर 10 रुपये का हो जायेगा।

अपने निवेश पर मिलने वाली आमदनी को लाभांश के आधार पर मापने की जगह प्रति शेयर आमदनी के आधार पर जांचा जाए। यही निवेश के लाभपूर्ण होने की सही पहचान है। यदि इसी कम्पनी के 10 रुपये में जारी किए गए इन शेयरों को 20 रुपये के भाव से खरीदा। तब 6 रुपये की प्रति शेयर आमदनी का अर्थ होगा कि निवेश पर 30% आमदनी हुई, जिसमें 10 प्रतिशत (2 रुपये प्रति शेयर) लाभांश है और 20% (4 रुपये प्रति शेयर) प्लॉउबैक। जब आदर्श स्थिति वह होगी जहां शेयर का भाव 20 प्रतिशत बढ़कर, 20 रुपये से 24 रुपये हो जाएगा। अत: चाहे किसी भी दाम पर शेयर खरीदे हों, प्रति शेयर आमदनी के आधार पर निवेश का स्टीक मूल्यांकन कर सकते हैं।

शेयरों के दाम और आमदनी का अनुपात (P/E Ratio)

शेयर के दाम और प्रति शेयर आमदनी के अनुपात की जानकारी भी निवेशक के लिए बहुत आवश्यक है। इस अंग्रेजी में 'प्राईस-अर्निंग रेशियो, या 'पी/ई" भी कहा जाता है।

पी/ई अनुपात = शेयर का दाम/प्रति शेयर आमदनी।

इस अनुपात से यह आंका जा सकता है कि शेयर पर होने वाली आमदनी उसके चलते भाव का कितना समर्थन करती है। अगर इस अनुपात का अंक 5 है, तो इसका अर्थ है कि शेयर का दाम आमदनी से 5 गुना ज्यादा है। अत: अगर शेयर का भाव इसी स्तर पर स्थिर रहे, तो लाभांश और प्लॉउबैक के जरिये होने वाली निवेश की वृद्धि को मिलाकर, इन शेयरों को खरीदने में लगाई गई रकम वसूलने में 5 साल लग जाएंगे। अनुपात जितना कम होगा, पैसा वसूलने में उतना कम समय लगेगा।

पी/ई अनुपात से यह भी आंका जा सकता है कि बाजार में कम्पनी की आमदनी और भविष्य के संकेतों के बारे में क्या आंकलन है। जिन कम्पनियों में निवेशकों और बाजार का विश्वास होता है उनका पी/ई ज्यादा होता है। कुछ ब्लू-चिप कम्पनियों का अनुपात तो 20-60 तक रहता है। परन्तु भारत में अधिकतर कम्पनियों का पी/ई अनुपात 5-20 के बीच में रहता है।

नोट

पब्लिक इश्यू मे निवेश

जब कम्पनी पैसा जुटाने के लिए नए शेयर या ऋण-पत्र जारी करती है, तो इसे कम्पनी का 'पब्लिक इश्यू' कहा जाता है। ऐसे नए शेयरों या ऋण-पत्रों को न्यू इश्यू कहते हैं। नई और पुरानी, दोनों तरह की कम्पनियाँ बाजार में नए इश्यू निकाल सकती हैं।

बोनस शेयर और राईट इश्यू शेयर भी नए इश्यू होते हैं। परन्तु ये शेयर सिर्फ कम्पनी के पुराने शेयर होल्डरों को दिये जाते हैं। अत: ये पब्लिक इश्यू नहीं कहलाते।

पब्लिक इश्यू के लाभ

अधिकतर पब्लिक इश्यू 'ओवर-सब्स्क्राइब्ड' होते हैं। यानि, जितने शेयर जारी किये जाने का प्रस्ताव हो, उससे ज्यादा शेयरों की मांग दर्ज की जाती है। ऐसे में कम्पनी को 'ड्रॉ ऑफ लॉट्स' का सहारा लेना पड़ता है। आवेदकों की पर्ची निकाल कर यह तय किया जाता है कि किस आवेदक को कितने शेयर बेचे जाएंगे।

टास्क भारत सरकार ने सेबी की स्थापना किस उद्देश्य से की?

विश्व प्रसिद्ध शेयर सूचकांक

स्टॉक एक्सचेंज	शेयर सूचकांक
मुम्बई (भारत)	डालेक्स, सेंसेक्स, S & P CNX निफ्टी-फिफ्टी, जूनियर निफ्टी, एमसीएक्स, बीएसई-200
न्यूयार्क (अमेरिका)	डाउजोन्स, नेस्डेक, एपीपी-500
सिंगापुर एक्सचेंज	सिमेक्स, स्ट्रेट्स टाइम्स
टोकियो (जापान)	निक्की
फ्रेंकफर्ट (जर्मनी)	मिड्डेक्स
हांगकांग	हांगसेंग
लन्दन (ब्रिटेन)	एफटीएसई-100
दक्षिण कोरिया	कोस्पी (KOSPI) Korea Composite Stock Price Index
ब्राजील	बोवेसपा BM & F Bovespa
पाकिस्तान	**Karachi Stock Exchange 100 Index**
स्पेन	मैड्रिड जनरल **Madrid Stock Exchange General Index**
स्टॉकहोम (स्वीडन)	स्टॉकहोम स्टॉक एक्सचेंज
सिक्स स्विस (स्विटजरलैंड)	स्विस मार्केट
थाईलैण्ड	सेट इनडेक्स
युरोनेक्सट पेरिस (फ्रांस)	सी.ए.सी.-40
बोल्सा डी मैड्रिड (स्पेन)	आईबीईएक्स 35
शिकागो बोर्ड ऑप्शन इंडेक्स	CBOE S & P 500 Buy Write Index

नॉसडाक (Nasdaq)

- पूरा नाम — National Association Securities Dealers Automated Quotation

नोट

- स्थापना — 4 फरवरी, 1971
- मुख्यालय — न्यूयार्क, अमेरिका
- मुख्य सूचकांक — Nasdaq-100, S & P-500, DJIA
- परिचय — नासडाक अमेरिका का सबसे बड़ा इलेक्ट्रानिक शेयर बाजार बन गया है। उसमें लगभग 3300 कम्पनियां नामित हैं।

न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज (NYSE)

- मुख्य कार्यकारी अधिकारी — डंकन एल–निलडेरौर
- कार्य प्रारंभ — 8 मार्च, 1817
- मुख्यालय — न्यूयार्क, अमेरिका
- मुख्य सूचकांक — NYSE-100, S & P-500
- परिचय — 1792 में न्यूयार्क शहर के 24 शेयरदलाल और व्यापारी ने ब्रिटेन वुड समझौते पर हस्ताक्षर किए। न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज विश्व की उच्च तकनीकी आधारित इक्विटी बाजार है।

बाम्बे स्टॉक एक्सचेंज (BSE)

- चेयरमैन — मधु कन्नन
- स्थापना — 09 जुलाई, 1875
- मुख्यालय — फिरोज जीजाबाई टावर, दलाल स्ट्रीट, मुम्बई
- आधार मूल्य — 1978–100
- परिचय — BSE एशिया का सबसे पुराना स्टॉक एक्सचेंज है। उसकी स्थापना के पूर्व नाम–The Native Share and Stock Brodmas Association था। विश्व का सबसे बड़ा सूचीबद्ध कंपनी है। एशिया का दूसरा सबसे बड़ा पुराना स्टॉक एक्सचेंज 1878 में स्थापित टोकियों स्टॉक एक्सचेंज (TSE) है।

राष्ट्रीय स्टॉक एक्सचेंज (NSE)

- चेयरमैन — विजय केलकर
- मैनेजिंग डायरेक्ट — रवि नारायन
- स्थापना — 1993
- मुख्यालय — बर्ली, मुम्बई
- आधार वर्ष — 1983–84
- परिचय — एम.जे. फेरवानी समिति की अनुदेश पर NSE की स्थापना 1992 में एक कर देने वाली कम्पनी के रूप में हुई थी जिसे 26 अप्रैल 1993 को स्टॉक एक्सचेंज की मान्यता मिली। यह भारत का प्रथम देशव्यापी कम्प्यूटर स्क्रीन आधारित स्टॉक् बाजार है।

पब्लिक इश्यू के लिए अर्जी देना

कम्पनी को अपनी 'सब्सक्रिप्शन लिस्ट' कम से कम तीन दिन और अधिक से अधिक दस दिन तक खुली रखनी पड़ती है। चूंकि अधिकतर पब्लिक इश्यू में जारी किए गए शेयरों से कहीं अधिक आवेदन आते हैं, यह लिस्ट अक्सर तीन दिन पूरे होते ही बंद कर दी जाती है। आवेदन पत्र के पीछे उन बैंक शाखाओं का ब्यौरा दिया जाता है, जहां आवेदन पत्र और पैसे (एप्लेकेशन मनी) जमा करा सकते हैं। आवेदन पत्र या तो स्वयं जाकर या डाक से भिजवा कर जमा

नोट

किया जा सकता है–पर कागजात बैंक के पास सब्सक्रिप्शन लिस्ट बंद होने से पहले पहुँच जाने चाहिये। पब्लिक इश्यू के शेयरों की पूरी रकम या तो एक बार में, या दा या उससे अधिक किश्तों में ली जाती है।

यदि ग्राहक को शेयर मिल जाते हैं तो कम्पनी उसे अलॉट किए गए शेयर उसके डीमैट खाते में पहुंचा देती हैं। आजकल 10 करोड़ रु. या उससे अधिक मूल्य के आई.पी.ओ. में शेयर केवल डीमैट रूप में ही जारी किए जाते हैं। 100 करोड़ रु. या उससे अधिक मूल्य के आई.पी.ओ. के लिए 'बुक बिल्डिंग प्रणाली' का ही उपयोग किया जाता है।

इस प्रणाली में क्यू.आई.बी. (क्वालिफाईड इन्स्टीट्यूशनल बार, यानि संस्थागत निवेशक), गैर-संस्थागत निवेशक (बड़े निवेशक) व 2 लाख रु. से कम मूल्य के शेयरों के लिए आवेदन करने वाले निवेशकों के लिए अलग-अलग आरक्षण रखा जाता है। 'बुक बिल्डिंग प्रणाली' में शेयर की मांग का जायजा लेकर उसका दाम अधिक-से-अधिक रखा जाता है। पब्लिक इश्यू खुलने से पहले लीड मैनेजर शेयर जारी करने के लिए एक प्राईस बैंड की घोषणा करता है। इसमें वह अधिकतम व न्यूनतम मूल्य घोषित किया जाता है। जिस पर कम्पनी अपने शेयर जारी करना चाहती है, जिससे क्यू.आई.बी. व अन्य निवेशकों को सारे शेयर इस तय दाम या उससे अधिक पर बेचे जाएं। इस तरह कम्पनी अपने शेयरों का अधिक-से-अधिक दाम पा सकती है।

विभिन्न सूचकांकों के अंतर्गत कंपनियों के नाम

India's Important Index

1.	BSESENSEX	2. BSE-100	3. BSE-200	4. BSE-500
5.	DOLLEX-30	6. S&P CNX NIFTY	7. CNX NIFTY JUNIOR	
8.	S&P CNX 500	9. S & P CNX Defty	10. BSE Midcap	11. CNX Midcap
12.	NIFTY MIDCAP 50		13. BSE Smallcap	14. BSE PSU

BSE Sectoral Indices

1.	OIL & GAS	2. CG	3. METAl	4. CD
5.	POWER	6. IT	7. AUTO	8. HC
9.	TECK	10. BANKEX	11. FMCG	12. REALTY
13.	PSU			

NSE Sectoral Indices

1.	CNXIT	2. S & P CNX DEFTY	3. S & P CNX NIFTY
4.	CNX 100	5. S & P CNX 500	6. CNX NIFTY JUNIOR
7.	NIFTY MIDCAP 50	8. CNX MIDCAP	9. BANK NIFTY

भारतीय प्रतिभूति विनिमय बोड (SEBI-Security and Exchange Board of India)

शेयर बाजर पर नियंत्रण रखने के लिए पूंजी निर्गमण (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 जिसके अधीन कम्पनियों के द्वारा पूंजी निर्गमण को नियमित किया जाता था तथा प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) **अधिनियम,** 1956 जिसके अधीन शेयर बाजारों को मान्यता प्रदान की जाती है, साथ ही इनके संचालन को नियमित किया जाता है। भारत सरकार ने सेबी की स्थापना 12 अप्रैल 1988 को किया। इसका प्रमुख उद्देश्य स्टॉक निवेशकों को संरक्षण प्रदान करना तथा कानूनों का संग्रह करना। 1992 में उसे वैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। 5 जनवरी 1995 को सरकार द्वारा पारित एक अध्यादेश के द्वारा पूंजी के निर्गमन, प्रतिभूतियों के हस्तांतरण तथा अन्त: संबंधित मामले में सेबी को 'नियंत्रक शक्ति' प्रदान कर दिया गया है। सेबी एक स्वायत्त संस्था है, अत: सरकार से इन मामलों में सेबी को अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है।

सेबी के नए चेयरमैन

सेबी के नौ सदस्यीय बोर्ड में चेयरमैन, तीन पूर्णकालिक सदस्य और दो स्वतंत्र निवेशकों के अलावा तीन नामित सदस्य होते हैं। ये तीन सदस्य रिजर्व बैंक, वित्त मंत्रालय और कंपनी मामलों के मंत्रालय से आते हैं। सेबी के तत्कालीन चेयरमैन सी.बी. भावे की सेवानिवृत्ति के बाद फरवरी में इस पद के लिए **यू.के. सिन्हा** की नियुक्ति की गई थी।

सेबी के कुछ फैसले निवेशकों के हित में हैं। अब ट्रेडिंग अकाउंट खुलवाना और आसान हो जाएगा। इसके लिए निवेशक

नोट

को सिर्फ एक हस्ताक्षर करने की जरूरत पड़ेगी। साथ ही केवाईसी (अपने ग्राहक को जानिये) नियमों को भी आसान बनाया गया है। अब सिर्फ एक केवाईसी की जरूरत पड़ेगी। इसके लिए एक केवाईसी रजिस्ट्रेशन अथॉरिटी बनाई जाएगी। साथ ही इंटरमीडियरी के बीच निवेशकों से जुड़े डाटा के लेन-देन को भी आसान बनाया जाएगा। हर बार लेनदेन के लिए ग्राहक को किसी नई एजेंसी के पास नहीं जाना होगा। इसके लिए आधार को मानक बनाया जाएगा। इस तरह सेबी ने म्युचुअल फंड इंडस्ट्री को भी राहत देने की कोशिश की है। पिछले कुछ समय से एंट्री फीस खत्म कर देने से म्युचुअल फंड वितरक काफी निराश थे। अब वितरकों को हर सब्सक्रिप्शन पर 100 रुपये लेने का अधिकार होगा। पहली बार निवेश करने वाले म्युचुअल फंड निवेशक से 50 रुपये लिये जाएंगे। म्युचुअल फंड इंडस्ट्री की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। एंट्री लोड बंद कर दिए जाने के बाद वितरक म्युचुअल फंड बेचने में ज्यादा रुचि नहीं ले रहे थे। इससे इंडस्ट्री दबाव में थी। एक और सुधार आईपीओ आवेदन के मोर्चे पर किया गया है। आवेदन फार्म का आकार एक चौथाई कम कर दिया गया है। इससे निवेशकों को इसे भरने में सहूलियत होगी। अब अस्बा और गैर कस्बा के लिए एक ही फॉर्म होगा। फॉर्म के साथ आईपीओ के प्रमुख प्रबंधक का पिछला रिकॉर्ड और दूसरी वित्तीय जानकारियां भी मुहैया कराई जाएंगी। कुल मिलाकर यह छोटे निवेशकों को ज्यादा से ज्यादा बाजार की ओर आकर्षित करने की कवायद है। दरअसल देश में अब भी पूंजी बाजार में छोटे निवेशकों की हिस्सेदारी काफी कम है। अगर यह हिस्सेदारी बढ़ती है तो अर्थव्यवस्था को एक बड़ा पूंजी आधार हासिल होगा और इससे कई सेक्टरों की जरूरत पूरी हो सकती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. भारत में ..... को दो भागों में बाँटा जाता है।
2. ..... का वह अंश जिसे जनता द्वारा आवेदन की जाती है, उसे पूंजी कहते हैं।
3. ..... ने 1986 में 30 ब्लूचिप कंपनियों के शेयरों पर सूचकांक आरम्भ किया।
4. ..... का प्रयोग मुख्यत: धन/वित्त जुटाने के लिए किया जाता है।
5. ..... शेयर होल्डरों को कम्पनी का मालिक माना जाता है।
6. भारतीय स्टॉक एक्सचेंजों पर केवल सूचीकृत ..... का ही कारोबार होता है।
7. ..... के अधिक कारोबार करने से शेयर बाजार में तेजी आ जाती है।
8. शेयरों में ..... उस स्थिति को कहते हैं जब कम्पनी अपनी पूंजी से अपने ही शेयर वापस खरीदती है।
9. मुम्बई शेयर बाजार में ..... से 'बोल्ट' प्रणाली को आरम्भ किया गया।
10. भारत में ..... कारोबार पारम्परिक बदल प्रणाली के समाप्त हो जाने के बाद वर्ष 2001 में शुरू हुआ।
11. ..... सूचकांक का मुख्य उद्देश्य बाजार में शेयरों के भाव की समग्र स्थिति व झुकाव को आंकना।
12. जब कम्पनी पैसा जुटाने के लिए नए शेयर या ऋण-पत्र जारी करती है, तो इसे कम्पनी का ..... कहा जाता है।

21.2 सारांश (Summary)

- पूँजी बाजार मध्यम तथा दीर्घकालीन फंड का बाजार है जहाँ एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए लेन-देन की जाती है।

  भारत में पूंजी बाजार को दो भागों में बांटा जाता है–

  (क) सरकारी प्रतिभूति (Gilt Edge) बाजार।

  (ख) औद्योगिक प्रतिभूति बाजार।
- सरकारी प्रतिभूति बाजार में केन्द्र, राज्य, स्थानीय सरकारों, स्वायत्त सार्वजनिक संस्थाओं जैसे राज्य विद्युत बोर्ड, सार्वजनिक निगम तथा अन्य सार्वजनिक वित्तीय संस्था जैसे आई.डी.बी.आई., नाबार्ड, आई.एफ.सी.आई. आदि

नोट

द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ बेची एवं खरीदी जाती है। ये प्रतिभूतियाँ अत्यन्त ही सुरक्षित होती हैं।

- कई बार मुनाफा न होने पर कम्पनी प्रेफरेन्स शेयरहोल्डरों को लाभांश नहीं दे पाती। ऐसे हालात से बचने के लिए कम्पनियाँ क्युमुलेटिव प्रेफरेन्स शेयर जारी करती हैं। इन शेयरों पर बकाया लाभांश खत्म होने की बजाय इकट्ठा होता रहता है, और जब कम्पनी के पास पैसे होते हैं, तो पिछला सारा बकाया लाभांश चुका दिया जाता है। जब तक इक्विटी शेयर पर कोई लाभांश नहीं दिया जाता है। अत: प्रेफरेन्स शेयर होल्डरों को कम्पनी के घाटे या मुनाफे की परवाह किये बिना अपने तय लाभांश का हमेशा लाभ मिलता रहता है।
- स्टॉक एक्सचेंज शेयरों और प्रतिभूतियों (Securities) की खरीद-फरोख्त के लिए बना एक बाजार है। किसी भी अन्य बाजार की तरह स्टॉक बाजार में भी प्रतिभूति खरीदने और बेचने के इच्छुक लोग आते हैं। प्रतिभूतियों में इक्विटी और प्रेफरेन्स शेयर, डिबेन्चर (Debenture) और सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थानों के बॉण्ड (Bond) शामिल होते हैं।
- 'डीमैटीरियलाईजेशन' की प्रणाली से शेयरों को कागजी दस्तावेज (शेयर सर्टिफिकेट) से 'डीमैटिरियलाईज्ड' यानि कम्प्यूटरीकृत रूप में बदल दिया जाता है। यह परिवर्तन न्यासधारी या डिपॉजिटरी द्वारा किया जाता है, और निवेशकों के शेयर डीमैट रूप में डिपॉजिटरी के पास रहते हैं।
- शेयर बाजार सूचकांक का मुख्य उद्देश्य बाजार में शेयरों के भाव की समग्र स्थिति व झुकाव को आंकना। सूचकांक मूलत: उन चुनिंदा शेयरों का औसत होता है जो लगभग पूरे शेयर बाजार का प्रतिनिधित्व करते हैं।
- भारत में नकद बाजार को सट्टा (फ्यूचर्स) बाजार से अलग रखा गया है। नकद बाजार में जिस दिन सौदा किया जाता है, उसी दिन धन अदा कर शेयरों की डिलीवरी लेनी पड़ती है। इसी तरह अगर शेयर बेचा जाता है, तो उसी दिन शेयरों की डिलीवरी देकर पैसा प्राप्त करते हैं। परन्तु फ्यूचर्स बाजार में केवल सौदे में हुए लाभ या नुकसान का नकद भुगतान किया जाता है।
- शेयर बाजर पर नियंत्रण रखने के लिए पूंजी निर्गमण (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 जिसके अधीन कम्पनियों के द्वारा पूंजी निर्गमण को नियमित किया जाता था तथा प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) **अधिनियम,** 1956 जिसके अधीन शेयर बाजारों को मान्यता प्रदान की जाती है, साथ ही इनके संचालन को नियमित किया जाता है। भारत सरकार ने सेबी की स्थापना 12 अप्रैल 1988 को किया। इसका प्रमुख उद्देश्य स्टॉक निवेशकों को संरक्षण प्रदान करना तथा कानूनों का संग्रह करना।
- सेबी के नौ सदस्यीय बोर्ड में चेयरमैन, तीन पूर्णकालिक सदस्य और दो स्वतंत्र निवेशकों के अलावा तीन नामित सदस्य होते हैं। ये तीन सदस्य रिजर्व बैंक, वित्त मंत्रालय और कंपनी मामलों के मंत्रालय से आते हैं। सेबी के तत्कालीन चेयरमैन सी.बी. भावे की सेवानिवृत्ति के बाद फरवरी में इस पद के लिए **यू.के. सिन्हा** की नियुक्ति की गई थी।

21.3 शब्दकोश (Keywords)

- **फंड**–सुरक्षित धनराशि कोश।
- **बोल्ट**–छलांग, फलांग।

21.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में पाये जाने वाले पूँजी बाजार का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. भारतीय प्रतिभूति विनिमय बोर्ड (सेबी) की कार्यविधियों की व्याख्या कीजिए।
3. पूँजी बाजार एवं सेबी में क्या संबंध है?
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

नोट

(*i*) प्रेफरेन्स और इक्विटी शेयर

(*ii*) स्टॉक एक्सचेंज एवं स्टॉक लिस्ट

(*iii*) शेयरों का डीमैटीरियलाईजेशन एवं रीमैटीरियलाईजेशन

(*iv*) शेयर बाजार सूचकांक

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. पूँजी बाजार	2. निर्गमित पूंजी	3. BSE	4. प्रतिभूति
5. इक्विटी	6. प्रतिभूतियों	7. तेजड़ियों	8. बाय-बैक
9. 10 मई, 1995	10. फ्यूचर्स	11. शेयर बाजार	12. पब्लिक इश्यू

21.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–22: क्षेत्रीय प्रदर्शन III: विदेशी व्यापार एवं भुगतान संतुलन (Sectoral Performance III – Foreign Trade and Balance of Payment)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
22.1 भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना (Composition of India's Foreign Trade)
22.2 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of India's Foreign Trade)
22.3 भुगतान शेष का अर्थ (Meaning of Balance of Payment)
22.4 सारांश (Summary)
22.5 शब्दकोश (Keywords)
22.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
22.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना को समझने में।
- भारत के विदेशी व्यापार की दिशा को जानने में।
- भुगतान शेष क्या होता है इसकी व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1947 के पश्चात भारत के व्यापार की रचना में हुए परिवर्तनों को देखने के लिए हमें भारत के आयतों तथा निर्यातों के बदलते प्रतिरूप को देखना है तथा स्वतंत्रता के पूर्व भारत का भुगतान शेष सदैव उसके पक्ष में ही रहता था लेकिन 1948 में पहली बार भारत का भुगतान शेष 100 करोड़ प्रतिकूल था। इसका मुख्य कारण भारी-भारी पूँजीगत माल का आयत था। 1949 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन करने के पश्चात् स्थिति में सुधार हुआ। भारत के निर्यात बढ़े व आयात कम हुए। इसका कारण कोरिया युद्ध के कारण भारतीय माल की विदेशों में माँग बढ़ने के कारण निर्यात में वृद्धि हुए जिसके कारण 1950-51 में भारत का भुगतान शेष 38.9 करोड़ रुपये उसके पक्ष में था।

22.1 भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना (Composition of India's Foreign Trade)

भारत सरकार ने भारतीय विदेशी व्यापार के वस्तु-वर्गीकरण को 1987-88 से संशोधित कर दिया है, 1987-88 के बाद के आंकड़े इससे पहले के काल से तुलनीय नहीं हैं। हमने 1970-71 और 1980-81 के आंकड़ां को पुनवर्गीकृत करके कुछ हद तक तुलनीय बनाने का प्रयास किया है।

नोट

आयात का ढाँचा (Pattern of Imports)

आयात को अम्बारी आयात (Bulk imports) और गैर-अम्बारी आयात (Non-bulk imports) में वर्गीकृत किया जाता है। अम्बारी आयात के तीन अंग हैं–(*i*) पेट्रोलियम रूक्ष एवं उत्पाद, (*ii*) अम्बारी उपभोग वस्तुएँ जिनमें अनाज और दालें, खाद्य-तेल और चीनी शामिल किए जाते हैं और (*iii*) अन्य अम्बारी मदों में उर्वरक, अलौह धातुएँ, कागज एवं गत्ता, रबड़, गुद्दा एवं रद्दी कागज, खनिज अयस्क लौह तथा इस्पात शामिल की जाती हैं।

गैर-अम्बारी आयात को भी तीन भागों में विभक्त किया जाता है–(*i*) पूंजी वस्तुएँ जिनमें धातुएँ, मशीनी औजार, इलैक्ट्रिक एवं गैर-इलेक्ट्रिक मशीनरी, परिवहन उपकरण और प्रोजैक्ट वस्तु शामिल की जाती है; (*ii*) मुख्यत: निर्यात-सम्बन्धित-मदों में हीरे तथा कीमती पत्थर, कार्बनिक एवं अकार्बनिक रसायन वस्त्र–सूत एवं फैब्रिक्स, काजू शामिल किए जाते हैं; (*iii*) अन्य में प्लास्टिक का सामान, व्यावसायिक एवं वैज्ञानिक उपकरण, कोयला एवं कोक, रसायन, गैर-धातुक खनिज उत्पाद आदि।

तालिका से पता चलता है कि आयात में लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति विद्यमान रही है जिसके लिए आन्तरिक एवं बाहरी दोनों प्रकार के कारणतत्व उत्तरदायी रहे हैं। 1970-80 के दशक के दौरान, पेट्रोलियम निर्यात देशों के संगठन (Organisation of Petroleum Exportion Countries – OPEC) द्वारा पहली बार 1973-74 में और फिर दोबारा 1979-80 में कीमतों में तीव्र वृद्धि की गई। परिणामत: पेट्रोलियम पदार्थों के आयात में 1970-80 के दशक में तेज वृद्धि हुई परन्तु इसका प्रभाव 1980-90 के दशक में भी महसूस किया गया। 1979-80 में अर्थव्यवस्था में भारी सूखा पड़ा।

1980-90 के दशक के दौरान बहुत से कारणतत्वों ने आयात को बढ़ाने में संचयी प्रभाव डाला। इनमें उल्लेखनीय हैं–गत दशक के दौरान तेल की कीमतों में वृद्धि के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा का भारी उत्प्रवाह, 1987 के सूखे के कारण देश में खाद्यान्न का गम्भीर रूप में अभाव, अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई वृद्धि दर के कारण माँग का दबाव और सरकार द्वारा अपनाई गई उदारीकरण (Liberalisation) की नीति। इन सब कारणतत्वों के परिणामस्वरूप एक ऐसी प्रक्रिया गतिमान हो गई जिसने अर्थव्यवस्था की आयात पर निर्भरता बढ़ा दी। 1970-71 में जबकि कुल आयात 1,634 करोड़ रुपए थे, ये बढ़कर 1980-81 में 12,549 करोड़ रुपए हो गए। अत: इस दशक के दौरान आयात में 19.2 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। 1980-90 के दशक दौरान और विशेषकर 1984-85 के पश्चात् जब प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने उदारीकरण की नीति का अनुसरण किया, आयात एकदम तेजी से बढ़कर 1990-91 में 43,190 करोड़ रुपए के स्तर पर पहुँच गए। 1980-81 और 1990-91 के दौरान आयात की वृद्धि दर 13.1 प्रतिशत के उच्च स्तर पर बनी रही। 2000-01 और 2005-2006 के दौरान आयात की वार्षिक औसत वृद्धि दर 22.3 प्रतिशत थी।

तालिका भारतीय आयात का ढाँचा

	करोड़ रुपए				वार्षिक चक्रवद्धि दर		
					1980-81 से	1990-91 से	2000-01 से
1980-81	1980-91	1990-91	2000-01	2005-06	1990-91	2000-01	2005-06
I. अम्बारी आयात	**8,739**	**19,464**	**95,095**	**2,68,594**	**8.6**	**17.2**	**23.0**
	(69.6)	(45.1)	(41.2)	(42.6)			
1. पैट्रोलियम-रूक्ष एवं उत्पाद	5,267	10,816	(71497)	1,94,640	7.4	20.8	22.0
	(42.0)	(25.0)	(31.0)	(30.7)			
2. **अम्बारी उपभोग वस्तुएँ**	**901**	**999**	**6,593**	**11,870**	**10.7**	**20.5**	**12.5**
	(7.2)	(2.2)	(2.8)	(1.9)			
क. अनाज और दालें	100	673	586	2,501	29.3	– 1.4	33.7
ख. खाद्य-तेल	704	326	5,977	8,716	–	33.8	7.9

नोट

3. अन्य अम्बरी मदें	**2,571**	**7,650**	**17,005**	**62,084**	**11.5**	**8.3**	**29.6**
	(20.5)	(17.7)	(7.4)	(9.8)			
क. उर्वरक	818	1,766	3,435	9,159	8.0	6.9	21.7
ख. अलौह धातुएँ	477	1,102	2,439	8,157	8.7	8.3	18.8
ग. कागज एवं गत्ता	187	456	2,131	4,168	9.3	16.6	14.4
घ. खनिज अयस्क	116	1,528	3,537	16,693	29.4	7.9	36.4
ङ. लौह एवं इस्पात	852	2,113	3,554	19,622	9.5	5.3	40.7
II. गैर-अम्बारी आयात	**3,472**	**23,729**	**1,35,778**	**3,61,933**	**21.2**	**19.1**	**21.7**
	(27.7)	(54.9)	(58.8)	(57.4)			
4. पूँजी वस्तुएँ	**1,910**	**10,471**	**40.847**	**1,40,245**	**18.5**	**14.6**	**28.0**
	(15.2)	(24.2)	(17.7)	(22.2)			
क. मशीनरी	1,089	3,768	12,375	43,806	13.2	11.4	28.8
ख. इलैक्ट्रिक एवं	260	1,702	18,226	64,878	20.7	26.7	28.9
इलैक्ट्रॉनिक्स वस्तुएँ	260	1,702	18,226	64,878	20.7	26.7	28.9
ग. परिवहन उपकरण	472	1,670	3,199	13,940	13.5	6.7	34.2
घ. प्रोजैक्ट वस्तुएँ	–	2,556	3,414	3,613	–	2.9	1.4
5. निर्यात सम्बन्धी वस्तुएँ	1,158	6,603	36,815	82,053	19.0	18.7	17.4
	(9.2)	(15.3)	(15.9)	(13.0)			
क. हीरे तथा कीमती पत्थर	417	3,738	21,964	40,469	24.5	19.4	13.0
ख. कार्बनिक तथा अकार्बनिक रसायन	673	2,289	11,165	30,501	13.0	17.2	22.2
ग. वस्त्र-सूत एवं निर्मित वस्तुएँ	59	443	2,726	8,994	21.5	19.9	27.0
घ. काजू	9	134	431	2,090	–	12.4	30.1
ङ. अन्य	**404**	**6,655**	**58,116**	**1,39,635**	–	24.2	23.7
	(3.2)	(15.4)	(25.2)	(22.1)			
कुल (I + II)	**12,549**	**43,193**	**2,30,873**	**3,30,527**			
	(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)	**13.1**	**18.2**	**22.3**

आमतौर पर आयात में वृद्धि के लिए पी.ओ.एल. की मदों को दोषी ठहराया जाता है। जबकि यह बात सत्तर के दशक के लिए सत्य है, अस्सी के दशक का अनुभव यह बताता है कि पी.ओ.एल. की मदों की वृद्धि-दर 1980-81 और 1990-91 के दशक के दौरान केवल 7.4 प्रतिशत थी, जबकि समग्र आयात की वृद्धि-दर 13.1 प्रतिशत थी। अत: आयात में वृद्धि की व्याख्या उदारीकरण की नीति के कारण ही की जा सकती है जिसे काँग्रेस सरकार ने तकनालाजीय उन्नयन (Technological upgradation) के नाम से बढ़ावा दिया। किन्तु तालिका 5 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि 1996-97 से 2005-06 के दौरान, पी.ओ.एल. के आयात में औसत वार्षिक वृद्धि 20.3 प्रतिशत थी, जबकि गैर-पी.ओ.एल. मदों की आयात में औसत 14.2 प्रतिशत वर्ष की वृद्धि हुई।

अम्बारी आयात (Bulk Imports) जिनमें कच्चे माल, अन्तर्वर्ती वस्तुएँ और खाद्यान्न शामिल हैं अर्थव्यवस्था की वृद्धि एवं स्थिरता से सम्बन्धित हैं और सत्तर के दशक में इनकी औसत वार्षिक वृद्धि-दर 23.2 प्रतिशत रही। परिणामत: कुल आयात में उनका भाग जो 1970-71 में 50.5 प्रतिशत था बढ़कर 1980-81 मं 69.6 प्रतिशत हो गया। किन्तु इनकी वृद्धि-दर अस्सी के दशक में महत्त्वपूर्ण रूप में कम हो गई और यह बाद में भी बनी रही।

गैर-पी.ओ.एल. मदों में उपभोग वस्तुओं जिनमें अनाज और अनाजों से तैयार वस्तुएँ, खाद्य-तेल, दालें और चीनी शामिल हैं, की वार्षिक वृद्धि जो 1980-81 और 1990-91 के दौरान 10.7 प्रतिशत थी, एकदम बढ़कर 1990-91

नोट

और 2000-01 के दौरान 20.8 प्रतिशत हो गयी। इसका मुख्य कारण खाद्य-तेलों के आयात में तीव्र वृद्धि थी जो 1990-91 में 326 करोड़ रुपये से बढ़कर 2004-05 में 10,576 करोड़ रुपये हो गए। किन्तु लौह और इस्पात के आयात की वृद्धि-दर 1985-86 से 1990-91 के दौरान 14.4 प्रतिशत के अपेक्षाकृत उच्चस्तर पर रहीं परन्तु इसके बाद 1991-2003 के दौरान इसमें गिरावट आयी।

मोटे तौर पर अम्बारी मदों के आयात की वृद्धि दर सातवीं योजना के दौरान गिरकर 7.2 प्रतिशत हो गई जबकि यह छठी योजना के दौरान 10.2 प्रतिशत थी। अत: अम्बारी मदों का कुल आयात में भाग जो 1980-81 में 69.6 प्रतिशत था कम होकर 2005-06 में 41 प्रतिशत रह गया। गैर-अम्बारी मदों में पूँजी वस्तुओं का भाग जो 1980-81 में गिरकर 15.2 प्रतिशत हो गया था, बढ़ना आरम्भ हो गया और 2005-06 के दौरान 22.2 प्रतिशत तक पहुँच गया।

उपभोक्ता वस्तुएँ एवं खाद्यान्न–पहली योजना के काल के दौरान उपभोक्ता वस्तुओं एवं खाद्यान्नों का भाग कुल आयात में 40 प्रतिशत था। इससे जाहिर है कि भारत उस समय भारी अल्पविकास की स्थिति में था और अपनी बुनियादी जरूरत अर्थात् खाद्यान्न के लिए विदेशों पर निर्भर था। परन्तु इन वस्तुओं के आयात धीरे-धीरे समय के साथ-साथ कम होते चले गए हैं–दूसरी योजना और तीसरी योजना में 35 प्रतिशत, चौथी योजना में 27 प्रतिशत, पाँचवीं योजना में 24 प्रतिशत। ये आयात 1990-91 में कुल आयात का केवल 2.2 प्रतिशत थे, परन्तु इनका भाग बढ़कर 2003-04 में 4 प्रतिशत हो गया। इसका मुख्य कारण खाद्य-तेलों (Edible oils) के आयात में तीव्र वृद्धि था, चाहे खाद्यान्नों (अनाज और दालों) का कुल आयात में भाग 2003-04 में नाममात्र था।

1957 के पश्चात् खाद्यान्न आयात काफी अधिक थे और इनका भरण यू.एस.ए. से प्राप्त पी.एल. 480 द्वारा उपलब्ध सहायता द्वारा किया जाता था। चौथी योजना के आरम्भ तक, कुल आयात के प्रतिशत के रूप में खाद्यान्न-आयात में वृद्धि का कारण सूखे की परिस्थितियाँ और देशीय संभरण द्वारा देशी माँग को पूरा न कर पाना था। केवल चौथी योजना के दौरान खाद्यान्न-आयात कम होकर 10 प्रतिशत हो गए। 1970-80 के दशक में खाद्यान्नों के भारी मात्रा में भण्डार इकट्ठे होने के परिणामस्वरूप इनका आयात कुछ वर्षों में बिल्कुल समाप्त हो गया और 1980-90 के दशक में इनका बहुत ही थोड़ा आयात किया गया। 1951 के पश्चात् आयात में निम्नलिखित संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं–

(*i*) औद्योगीकरण में तीव्र प्रगति के परिणामस्वरूप पूँजी वस्तुओं और कच्चे माल के आयात में वृद्धि हुई।

(*ii*) निर्वात प्रोत्साहन (Export Promotion) के लिए आयात के उदारीकरण के आधार पर कच्चेमाल के आयात में वृद्धि हुई; और

(*iii*) देश के खाद्यान्नों एवं अन्य उपभोक्ता वस्तुओं में कृषि तथा औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर हो जाने के कारण खाद्यान्नों एवं उपभोक्ता वस्तुओं के आयात में गिरावट आयी।

तालिका मुख्य वस्तुओं के आयात की वार्षिक औसत

(करोड़ रुपए)

	1951-52 से 1960-61	1961-62 से 1965-66	1974-75 से 1979-80	1980-81 से 1984-85	1985-86 से 1989-89	1991-92 से 1999-2000	2000-01 से 2004-05
1. खाद्यान्न	141	241	548	374	516	624	2,170
2. मशीनरी (इंजनों समेत)	190	472	1,078	2,515	6,415	14,976	21,430
3. खनिज तेल	77	85	2,063	5,264	4,498	27,469	88,650
4. धातुएँ (लौह तथा अलौह)	93	172	647	1,448	2,450	7,003	9,825
5. रसायन और औषधियाँ	44	55	254	660	1,868	1,921	4,977
6. रासायनिक खाद	–	28	439	698	1,114	4,707	3,707
7. हीरे तथा कीमती पत्थर	–	–	244	730	2,405	9,993	26,690

नोट

मुख्य आयात की प्रवृत्ति (Trend of principal imports)

आयात के सम्बन्ध में कुछ चुनी हुई वस्तुओं के आयात की प्रवृत्ति तालिका 6 में दी गई है।

खाद्यान्न (Foodgrains)–भारत के विभाजन और इसकी बढ़ती हुई आबादी के कारण खाद्यान्नों के आयात की आवश्यकता अनुभव हुई। आयोजन के पहले दशक (1950-51 से 1960-61) के दौरान खाद्यान्नों का औसत वार्षिक आयात 141 करोड़ रुपए था। तीसरी योजना के दौरान यह और बढ़कर 241 करोड़ रुपए प्रति-वर्ष हो गया। 1965-66 और 1966-67 में सूखा पड़ने के कारण स्थिति और बिगड़ गई। परिणामत: 1966-67 से 1968-69 के दौरान कुल रूप में 1,201 करोड़ रुपए का खाद्यान्न विदेशों से मंगवाया गया। चौथी योजना में खाद्य-आयात के गिरने की प्रवृत्ति व्यक्त हुई। खाद्य आयात जो 1969-70 में 184 करोड़ रुपए थे, गिरकर 1972-73 में केवल 48 करोड़ रुपए रह गए। परन्तु ये चार अच्छी फसलों के वर्ष थे। यह प्रवृत्ति 1973-74 में फिर उलट गई और 1974-75 और 1979-80 के दौरान खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात 548 करोड़ रुपए हो गया। खाद्यान्नों की भरपूर फसल होने और भारी मात्रा में बफर-स्टॉक उपलब्ध होने के कारण खाद्यान्न आयात में कमी व्यक्त हुई। 1980-81 से 1984-85 की 5 वर्षों की अवधि में खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात केवल 874 करोड़ रुपए था। 1985-86 और 1989-90 के दौरान खाद्यान्न आयात औसतन 516 करोड़ रुपए प्रति वर्ष था किन्तु 1992-93 में यह फिर बढ़कर 1,240 करोड़ रुपए हो गया। 2005-06 के दौरान केवल 2,501 करोड़ रुपये के खाद्यान्न का आयात किया गया जो नाममात्र था।

मशीनरी–जिस देश में औद्योगीकरण का प्रोग्राम आरम्भ किया गया हो, वहाँ मशीनों के आयात की वृद्धि अनिवार्य हो जाती है। 1950-51 और 1960-61 के दौरान मशीनरी का औसत वार्षिक आयात 190 करोड़ रुपए हो गया। चौथी योजना में इस आयात की औसत 484 करोड़ रुपए हो गई। 1974-75 और 1979-80 के दौरान 4,078 करोड़ रुपए की मशीनरी का आयात किया गया। सातवीं योजना (1985-86 से 1989-90) के दौरान आधुनिकीकरण के प्रोग्रामों के लिए मशीनरी का औसत वार्षिक आयात 6,415 करोड़ रुपए तक पहुँच गया। यह 2005-06 में और बढ़कर 43,806 करोड़ रुपए हो गया। मशीनरी का बढ़ता हुआ आयात एक ओर हमारे औद्योगीकरण का संकेत करता है परन्तु दूसरी ओर हमारी देशी तकनालाजी का विकास करने में विफलता और आयात नीति में अन्धाधुंध उदारीकरण को दर्शाता है।

खनिज तेल (Mineral Oils)–खनिज तेलों के आयात में भी वृद्धि हो रही है। भारत में खनिज तेलों की कमी है। यह कमी पेट्रोलियम में विशेषकर अनुभव की जा रही है। खनिज तेलों का वार्षिक आयात 1969-70 और 1973-74 के दौरान औसत रूप में बढ़कर 226 करोड़ रुपए हो गया था। पैट्रोलियम निर्यात देशों के संघ (Organisation of Petroleum Exporting Countries) द्वारा रूक्ष तेल की कीमतों में तीव्र वृद्धि की घोषणा करने के कारण 1973-74 के दौरान पैट्रोलियम के आयात का मूल्य बढ़कर 569 करोड़ रुपए हो गया। इसके उपरान्त 1974-75 और 1979-80 के दौरान इसका औसत वार्षिक आयात 2,063 करोड़ रुपए था। 1980-81 और 1984-85 में पैट्रोलियम, तेल और स्नेहकों का आयात रिकार्ड स्तर पर पहुँच गया, अर्थात औसत वार्षिक आयात 5,264 करोड़ रुपए था। तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में कमी और देशीय उत्पादन में वृद्धि के कारण 1985-86 से 1989-90 के दौरान खनिज तेलों का औसत वार्षिक आयात कम होकर 4,498 करोड़ रुपए हुआ। खाड़ी युद्ध ने खनिज तेलों की कीमत में भारी वृद्धि की, परिणामत: खनिज तेल आयात बिल बढ़कर 2005-06 में 1,94,640 करोड़ रुपए के उच्च स्तर पर पहुँच गया। अर्थात कुल आयात का लगभग 31 प्रतिशत।

धातुएँ–भारत में लौह तथा इस्पात का आयात किया जाता है। कुछ हद तक अलौह धातुओं (Non-ferrous metals) का भी आयात होता है। 1969-70 और 1973-74 के दौरान धातुओं का औसत वार्षिक आयात 309 करोड़ रुपए

नोट

और 1974-75 और 1979-80 के दौरान इनका वार्षिक आयात 647 करोड़ रुपए हो गया। 1980-81 और 1984-85 के दौरान, लौह तथा अलौह धातुओं का औसत वार्षिक आयात बढ़कर 1,448 करोड़ रुपए हो गया। हमारे इस्पात प्लान्टों के क्षमता उपयोग में उन्नति द्वारा लौह तथा इस्पात के आयात को कम किया जा सकता है। यह वस्तुत: बहुत ही निराशाजनक बात है कि 1985-86 से 1989-90 के दौरान औसतन 2,450 करोड़ रुपये के धातुओं का वार्षिक आयात किया गया। जबकि 1990-91 से 1999-00 के दौरान इनका औसत वार्षिक आयात 7,003 करोड़ रुपए था। 2005-06 में 24,850 करोड़ रुपये के मूल्य की धातुओं का औसत आयात किया गया।

रसायन तथा औषधियाँ (Chemicals and Medicines)–भारत में रसायनों तथा औषधियों के आयात में भी वृद्धि हुई है। इन वस्तुओं का औसत वार्षिक आयात पहली तथा दूसरी योजना में 44 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष था जो 1969-70 और 1973-74 के दौरान बढ़ कर 113 करोड़ रुपये हो गया। यह 1974-75 और 1979-80 के दौरान और बढ़ कर 254 करोड़ रुपये हो गया। 1985-86 और 1989-90 के दौरान इनका औसत वार्षिक आयात बढ़कर 1,868 करोड़ रुपए हो गया। 2005-06 में यह और बढ़कर 6,205 करोड़ रुपए हो गया।

हीरे तथा कीमती पत्थर–1974-75 और 1979-80 की अवधि के दौरान हीरों तथा कीमती पत्थरों के आयात की वार्षिक औसत 244 करोड़ रुपए थी जो 1985-86 से 1989-90 की अवधि के दौरान बढ़कर 2,405 करोड़ रुपए हो गई। इस आयात का एक भाग तो भारत में समृद्ध वर्गों की माँग तुष्ट करने के लिए किया जाता है और एक भाग इसके हस्तशिल्प निर्यात उद्योग के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1985-86 और 1989-90 के दौरान हीरों एवं कीमती पत्थरों का औसत वार्षिक निर्यात 2,405 करोड़ रुपए था। 2005-06 के दौरान 40,469 करोड़ रुपए के आयात के विरुद्ध इनका निर्यात 68,830 करोड़ रुपए था।

उर्वरक–भारतीय कृषि में नई तकनीक के अपनाने के फलस्वरूप उर्वरकों के आयात को बढ़ाया गया। जबकि तीसरी यौजना के दौरान उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात केवल 28 करोड़ रुपए था, यह 1966-67 और 1968-69 के दौरान बढ़कर 121 करोड़ रुपए हो गया परन्तु देश में रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन में वृद्धि के कारण इनका औसत वार्षिक आयात 1969-70 और 1973-74 के दौरान कम होकर 96 करोड़ रुपए हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के कारण 1974-75 और 1979-80 के दौरान रासायनिक उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात एकदम 439 करोड़ रुपए हो गया। 1980-81 से 1984-85 के दौरान उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात 698 करोड़ रुपए था। हाल ही में सरकार ने उर्वरकों के आयात में कटौती करने की अपेक्षा इनके आयात में उदारीकरण किया है। परिणामत: 1985-86 और 1989-90 के दौरान उर्वरकों का औसत वार्षिक आयात 1,114 करोड़ रुपए हो गया। 2005-06 के दौरान में उर्वरकों का आयात 9,159 करोड़ रुपए था।

मुख्य वस्तुओं का निर्यात

चाय एवं कॉफी–चाय भारत के निर्यात की महत्त्वपूर्ण मद है। 1951-52 से 1960-61 के काल में हमारा चाय का औसत वार्षिक निर्यात 119 करोड़ था जो दूसरी योजना के दौरान और अधिक होकर 132 करोड़ रुपए हो गया। तीसरी योजना के दौरान चाय के निर्यात में थोड़ी गिरावट आई परन्तु चौथी योजना के दौरान चाय का औसत वार्षिक निर्यात बढ़कर 142 करोड़ रुपए हो गया। 1991-92 के दौरान चाय का औसत वार्षिक निर्यात 1,132 करोड़ रुपए था परन्तु यह 2005-06 में बढ़ कर 1,632 करोड़ रुपए हो गया। हमारी चाय के प्रमुख ग्राहक हैं–यू.के, यू.एस.ए., कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, मिश्र और जर्मनी। 2005-06 में कॉफी का निर्यात 1,557 करोड़ रुपए हो गया।

रूई का सूत और निर्मित वस्तुएँ (Cotton Yarn and Manufactures)–प्रथम एवं द्वितीय योजना काल में सूत तथा कपड़े का औसत वार्षिक निर्यात 81 करोड़ रुपए था किन्तु तीसरी योजना के दौरान यह गिरकर 55 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष हो गया। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादन की लागत अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण, भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सूत तथा कपड़ा बेचना कठिन हो जाता है। वास्तव में अधिक लागत के दो मुख्य कारण

नोट

हैं–अधिक श्रम लागत (Labour cost) और पुरानी मशीनरी का प्रयोग। अवमूल्यन के पश्चात् कपड़े के निर्यात में वृद्धि हुई तथा 1990–91 और 2004–05 के दौरान सूत तथा कपड़े का निर्यात 2,100 करोड़ रुपए से बढ़कर 17,102 करोड़ रुपए हो गया।

सिले-सिलाए कपड़े (Redymade garments)–हाल ही के वर्षों में सिले-सिलाए कपड़ों के निर्यात में उन्नति हुई है। 1970–71 में इनका निर्यात केवल 9 करोड़ रुपए था परन्तु 1980–81 में यह बढ़कर 378 करोड़ रुपए हो गया। इसमें लगातार तेज उन्नति हुई है और 2005–06 के दौरान सिल-सिलाए कपड़े का निर्यात में बढ़कर 37,209 करोड़ रुपए के रिकार्ड स्तर पर पहुँच गया।

चमड़ा तथा निर्मित वस्तुएँ–भारतीय निर्यात की एक पारस्परिक मद कच्ची खलें तथा चमड़ा है। परन्तु हाल ही के वर्षों में इस मद में कमाए हुए चमड़े का अनुपात बढ़ गया है। यह स्वस्थ प्रवृत्ति है। 1980–81 के दौरान भारत को इस मद से लगभग 337 करोड़ रुपए प्रति वर्ष प्राप्त हुए। 2005–06 के दौरान इस मद का निर्यात और बढ़कर 11,625 करोड़ रुपए हो गया।

लौह अयस्क (Iron ore)–भारत कच्चे लोहे का निर्यात करता है। 1960–61 के दौरान इसका निर्यात मूल्य लगभग 27 करोड़ रुपए था किन्तु इसमें लगातार वृद्धि होती चली आई है और 1980–81 के दौरान निर्यात 303 करोड़ रुपए था। 2005–06 में कच्चे लोहे का निर्यात 17,903 करोड़ रुपये था। यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है। भारत को अपने निर्यात में इस्पात के भाग को बढ़ाना चाहिए और कच्चे लोहे का प्रयोग अपने स्टील प्लान्टों में करना चाहिए।

काजू (Cashew Kernels)–हाल के वर्षों में काजू का हमारे निर्यात में महत्त्व बढ़ा है। 1970–71 के दौरान काजू का निर्यात 52 करोड़ रुपए था। 2005–06 में भारत द्वारा 2,570 करोड़ रुपए का काजू निर्यात किया गया।

हस्तशिल्प (Handicrafts)–समय के साथ-साथ भारतीय हस्तशिल्पों का निर्यात में महत्त्व बढ़ता जा रहा है। जबकि 1970–71 में यह 70 करोड़ रुपए के निम्न स्तर पर था, 2005–06 में यह बढ़कर 70,647 करोड़ रुपए हो गया। इन में हीरों तथा जवाहरात का निर्यात 68,830 करोड़ रुपए था।

इंजीनियरिंग वस्तुएं (Engineering Goods)–इस वर्ग में लौह एवं इस्पात, इलैक्ट्रानिक वस्तुएँ और साफ्टवेयर (Software) शामिल किए जाते हैं। 1980–81 तक भी इस वर्ग का निर्यात केवल 827 करोड़ रुपए मात्र ही था परन्तु 1990–91 में इनका निर्यात बढ़कर 3,872 करोड़ रुपए हो गया। 2005–06 में इनका निर्यात तीव्र गति से बढ़कर 95,396 करोड़ रुपए हो गया जो कि हमारे कुल निर्यात का 20.9 प्रतिशत है। यह एक प्रशंसनीय उपलब्धि है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose th correct option)–

1. आयात को वर्गीकृत किया जाता है-
   (क) अम्बारी आयात (ख) गैर अम्बारी आयात
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. अर्थव्यवस्था में भारी सूखा कब पड़ा-
   (क) 1979–80 में (ख) 1980–81 में
   (ग) 1982–82 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. भारत के नियार्तक की महत्त्वपूर्ण मद है-
   (क) कच्चा लोहा (ख) चाय
   (ग) कॉफी (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

4. आयोजन के पहले दशक के दौरान खाद्यानों का वार्षिक औसरत था–
   (क) 130 करोड़ रु. (ख) 140 करोड़ रु.
   (ग) 141 करोड़ रु. (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. भारत के निर्यात का ढाँचा किसका प्रारूप है–
   (क) विकसित अर्थव्यवस्था का (ख) अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

22.2 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of India's Foreign Trade)

भारत के विदेशी व्यापार की क्षेत्रीय दिशा (Regional direction) का अध्यन करने के लिए विश्व को मोटे तौर पर चार बड़े वर्गों में बाँट लेना उचित होगा अर्थात् अमेरिका, यूरोप, एशिया एवं ओशनिया (Oceania) और अफ्रीका। जहाँ तक अमेरिका महाद्वीप का सम्बन्ध है, भारत के उत्तरी अमेरिका के साथ जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा शामिल हैं, घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध हैं। हमारे विदेशी व्यापार में लैटिन अमेरिका के देशों और अन्य अमरीकी देशों का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा था और न ही यह विकसित हुआ।

भारत 1951–52 में अमेरिका को अपने कुल निर्यात का 28 प्रतिशत भेजता था जिसमें से 21 प्रतिशत उत्तरी अमेरिका को और 6.3 प्रतिशत लैटिन अमेरिका के देशों को। समय के साथ लैटिन अमेरिका के देशों का भाग कम हो गया और 1979–80 में यह हमारे निर्यात का 0.3 प्रतिशत रह गया। उत्तरी अमेरिका का भाग 1955–1956 और 1968–70 के दौरान 17 से 21 प्रतिशत के बीच था। 1971 में बंगला देश के युद्ध के पश्चात् भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के आपसी सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो गया और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ हमारा व्यापार कम हो गया। यह बहुत हद तक इस बात की व्याख्या करता है कि 1976–77 में संयुक्त राज्य अमेरिका को हमारा निर्यात गिरकर 10 प्रतिशत क्यों हो गया। हाल ही के वर्षों में इस स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ है और 2005–06 में यू. एस. ए. को हमारा निर्यात कुल निर्यात का 17.7 प्रतिशत हो गया। आयात पक्ष की ओर अमेरिका द्वारा 1951–52 में 36.3 प्रतिशत योगदान किया गया परन्तु इसका भाग 1960–61 में गिरकर 31.5 प्रतिशत हो गया, फिर 1965–66 में खाद्यान्नों के आयात में वृद्धि होने के कारण यह बढ़कर 40 प्रतिशत हो गया और 1970–71 में यह लगभग 35 प्रतिशत था। बंगलादेश युद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका के शत्रु से व्यवहार के कारण भारत ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर अपनी निर्भरता कम करने का फैसला किया और परिणामत: उत्तर अमेरिका से हमारे आयात गिरकर 1974–75 में कुल आयात का केवल 19.2 प्रतिशत रह गए। खाद्यान्नों के अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में आयात के फलस्वरूप, हमारे आयात में यू.एस.ए. का भाग 1975–76 में बढ़कर 24.6 प्रतिशत हो गया परन्तु यह 2005–06 में गिरकर 6.1 प्रतिशत हो गया।

ऐतिहासिक रूप में 1947 तक भारत संयुक्त राज्य का एक उपनिवेश होने के कारण यू. के. के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखता था। इसके यूरोप के अन्य देशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध थे। व्यापार की दृष्टि से यूरोपीय महाद्वीप को तीन बड़े क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है–पश्चिमी यूरोप को फिर मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जाता है–यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market – ECM) और यूरोपीय स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र (European Free Trade Area – EFTA)।

1950–51 में कुल भारतीय आयात का 30.5 प्रतिशत पश्चिमी यूरोप से प्राप्त होता था। 1955–56 में पश्चिमी यूरोप का भाग बढ़कर 48.9 प्रतिशत हो गया। इसके लिए दो कारणतत्व उत्तरदायी थे: पहला यू.के से आयात बढ़ने का कारण यह था कि इसे भारत को स्टर्लिंग ऋण (Sterling debt) का भुगतान करना था और दूसरे इसने ECM में शामिल होने का निर्णय कर लिया, हमारे कुल आयात में EFTA देशों का महत्त्व सिकुड़कर केवल 1.6 प्रतिशत

नोट

हो गया। ECM देशों का भाग जो 1955-56 में 18.2 प्रतिशत था गिरकर 1969-70 में 10.9 प्रतिशत हो गया परन्तु यह फिर उन्नत होकर 1979-80 में 24.2 प्रतिशत हो गया। किन्तु एक हद तक यह वृद्धि EFTA क्षेत्र से केवल परिवर्तन के रूप में ही है। यदि हम EFTA और ECM क्षेत्रों को साथ लें, तो 1955-56 के पश्चात् यूरोप के भाग में कमी हुई है और 1976-77 में यह गिरकर 21.3 प्रतिशत हो गया। किन्तु 1979-80 में यह उन्नत होकर लगभग 27 प्रतिशत हो गया। किन्तु यह 1987-88 में यह 33 प्रतिशत हो गया परन्तु यह 2005-06 में फिर कम होकर 15. 7 प्रतिशत हो गया।

हाल ही के वर्षों में पूर्वीय यूरोप के देशों अर्थात् यू.एस.एस.आर., पालैंड, रूमानिया, बुल्गारिया, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया के साथ हमारा व्यापार विकसित हुआ है। इन देशों से आयात की मुख्य मदें हैं–लौह एवं इस्पात, अलौह धातुएँ, रसायन, पूँजी साज-सामान, रेलवे स्टोर, कागज, दवाइयाँ एवं औषधियाँ और पैट्रोलियम उत्पाद। इनमें से बहुत सी वस्तुओं के आयात हमारे आन्तरक प्रोजैक्टों (Core Projects) और सामरिक महत्त्व के उद्योगों में सहायक हैं। इनके बदले भारत इन देशों को चाय, काजू, गर्म मसाले, तम्बाकू, तिलहन, चमड़ा, धात्विक अयस्क (Metallic ores), पटसन की निर्मित वस्तुओं आदि का निर्यात करता है अर्थात् भारतीय निर्यात की पारम्परिक मदें (Traditional items)। इन देशों से आयात की संरचना से स्पष्ट हो जाता है कि ये आयात आर्थिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। 1960-61 में भारत ने इस क्षेत्र से अपने कुल आयात का 4 प्रतिशत मंगवाया और इस क्षेत्र को निर्यात का लगभग 8 प्रतिशत भेजा। परन्तु 1962 में भारत-चीन युद्ध और 1965 में भारत-पाक युद्ध के पश्चात् पूर्वीय यूरोप के समाजवादी देशों के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अधिक उन्नत हो गए। 1970-71 में, इस वर्ग के देशों से हमारे कुल आयात का 13.5 प्रतिशत प्राप्त किया गया और इन्हें हमारे कुल निर्यात का 21 प्रतिशत भेजा गया। इस क्षेत्र से कुल व्यापार का 84 प्रतिशत यू.एस.एस.आर. से है। 2005-06 तक, पूर्वीय यूरोप से हमारे आयात गिरकर लगभग 2.6 प्रतिशत रह गए और इस क्षेत्र को निर्यात में भी गिरावट आई और वे 1979-80 तक 14 प्रतिशत हो गए और 2005-06 तक गिर कर केवल 1.9 प्रतिशत रह गए। सोवियत संघ के विघटन के परिणामस्वरूप, इन देशों के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्धों में परिवर्तन आ रहा है।

पेट्रोलियम निर्यातक देशों के संगठन (Organization of Petroleum Exporting Countries–OPEC) के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़े हैं। 1970-71 में इन देशों से हमारे आयात का लगभग 8 प्रतिशत प्राप्त होता था, परन्तु इसकी तुलना में 1987-88 में यह एक दम छलांग लगाकर 13.3 प्रतिशत हो गया। इसका मुख्य कारण तेल की कीमतों में तीव्र वृद्धि थी और अयात के परिमाणात्मक सूचकांक (Quantitative index) में तदनुरूप वृद्धि नहीं हुई। निर्यात के पक्ष में, इन देशों को हमारे निर्यात का 6.1 प्रतिशत 1987-88 में भेजा जाता था और यह 2005-06 में बढ़कर 14.8 प्रतिशत हो गया। तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में गिरावट के परिणामस्वरूप पैट्रोलियम निर्यातक देशों के साथ हमारे आयात 1987-88 में फिर गिरकर 13.3 प्रतिशत हो गए तथा 2005-06 में और गिर 7.7 प्रतिशत हो गए।

1970-71 के दौरान हमारे निर्यात में इन दो देशों का भाग 15 प्रतिशत था जोकि कम होकर 2005-06 में 3.2 प्रतिशत रह गया किन्तु हमारे आयात में भाग जो 1970-71 में केवल 7.2 प्रतिशत था, वह 2005-06 में 5.9 प्रतिशत हो गया।

क्या आप जानते हैं हमारे विदेशी व्यापार में एशिया एवं ओशनिया जिन्हें अब अन्य ओ.ई.सी.डी. देश कहा जाता है, में आस्ट्रेलिया और जापान महत्त्वपूर्ण है।

भारत एशियाई देशों के साथ अपने विदेशी व्यापार को बढ़ाने की भारी क्षमता रखता है क्योंकि इन देशों में भारत की निर्मित वस्तुएँ भली भाँति स्वीकार की जाती हैं। इसी प्रकार भारत इन सापेक्षत: अल्पविकसित देशों से अपने बढ़ते हुए उद्योगों के लिए कच्चे माल का आयात कर सकता है। इसका प्रमाण यह है कि इन देशों से 2005-06 के दौरान हमारे कुल आयात का 20.9 प्रतिशत प्राप्त किया गया जबकि 1970-71 में यह केवल 3.3 प्रतिशत था।

नोट

निर्यात के क्षेत्र भी में धीरे-धीरे और लगातार उन्नति हुई है और एशियाई देशों को हमारे निर्यात जो 1970-71 में 10.8 प्रतिशत थे तेज़ी से बढ़कर 2005-06 में 30.1 प्रतिशत हो गए हैं।

अफ्रीका के साथ हमारे निर्यात 1951-52 और 1970-71 के दौरान लगभग 6-7 प्रतिशत के बीच रहे हैं, परन्तु इसके पश्चात् ये गिरकर 2005-06 में 5.6 प्रतिशत हो गए। किन्तु आयात के क्षेत्र में, अफ्रीकी देशों का भाग घटता-बढ़ता रहा है और यह 1951-52 में 9 प्रतिजशत था किन्तु 2005-06 में 3.2 प्रतिशत रह गया।

कुल रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत का विदेशी व्यापार अब अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो गया है। 1951-52 और 1969-70 के दौरान पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका पर भारत की अत्यधिक निर्भरता अब कम हो गयी और धीरे-धीरे हमारा व्यापार पूर्वीय यूरोप के देशों और एशियाई देशों के साथ बढ़ाता गया। परन्तु अस्सी के दशक और 1990-91 से 2005-06 के दौरान जिसमें सोवियत संघ का विघटन हुआ, पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका का महत्त्व बढ़ गया है। ये दोनों क्षेत्र 2005--06 में हमारे निर्यात के 39 प्रतिशत और आयात के 22 प्रतिशत के लिए जिम्मेदार थे। पूर्वीय यूरोप के देशों का भाग सिकुड़ कर नगण्य हो गया और एशिया और अफ्रीका के देशों का भाग बढ़ रहा है।

कुछ महत्त्वपूर्ण देशों के संदर्भ में हमारे विदेशी व्यापार की दिशा का परीक्षण करना रुचिकर होगा। हमारे विदेशी व्यापार में सात देश महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे हैं–यू.एस.ए., यू.के., जर्मनी, जापान, यू.ए.ई. सऊदी अरब और इटली। 1951-52 से 2005-06 के दौरान इन सात देशों के साथ हमारे निर्यात 57 से 40 प्रतिशत की अभिसीमा (Range) में रहे। इसके विरुद्ध इसी काल के दौरान हमारे आयात में इनका भाग 43 से 22 प्रतिशत के बीच रहे। 1987-88 और 2005-06 के दौरान, भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

(*i*) **आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन** (Organisation for Economic Co-operation and Development–OECD) देशों के साथ हमारे निर्यात जो 1987-88 में 59 प्रतिशत थे गिर कर 2005-06 में 44 प्रतिशत हो गए। इसी प्रकार ओ.ई.सी.डी. देशों से हमारे आयात जो 1987-88 में 60 प्रतिशत थे और तेज़ी से गिर कर 2005-06 में 33 प्रतिशत हो गए। यह गिरावट व्यापक रूप में योरोपीय संघ (European Union), उत्तरी अमेरिका (यू.एस.ए. समेत) और अन्य ओ.ई.सी.डी. देशों जैसे आस्ट्रेलिया, जापान और स्विटज़रलैंड में व्यक्त हुई।

(*ii*) **विकासशील देशों के साथ हमारे विदेशी व्यापार** में बढ़ने की प्रवृत्ति पायी गयी। इनमें शामिल हैं–एशिया, लातीन अमेरिका और अफ्रीका। इन देशों को हमारे निर्यात 1987-88 में केवल 14.2 प्रतिशत थे, जो तेजी से बढ़कर 2005-06 मं 38.7 प्रतिशत हो गए। इनमें एशिया के भाग में विशेषकर उन्नति हुई और यह इस अवधि में 12 प्रतिशत से बढ़कर 30.1 प्रतिशत हो गया। इसमें, चीन और हांगकांग का भाग हमारे निर्यात में लगभग 11 प्रतिशत हो गया और सार्क देशों (SAARC Countries) का भाग 5.2 प्रतिशत हो गया।

जहां तक आयात का सम्बन्ध है विकासशील देशों से हमारे आयात जो 1987-88 में 17.3 प्रतिशत थे बढ़कर 2005-06 में 25.8 प्रतिशत हो गये। केवल एशिया द्वारा 2005-06 में आयात का 21 प्रतिशत उपलब्ध कराया गया। चीन और हांगकांग से 2005-06 में आयात 9 प्रतिशत था। किन्तु सार्क देशों का भाग केवल 1 प्रतिशत था। ध्यान देने योग्य बात यह है कि चीन 2005-06 में हमारे मुख्य व्यापारिक साझीदार के रूप में उभरा है और इसे तृतीय स्थान प्राप्त हो गया है–यू.एस.ए. और यू.ए.ई. के बाद, परन्तु यह यू. के. और बैल्जियम से आगे निकल गया है। यदि चीन और हांगकांग को एक साथ लिया जाए, तो इन्हें हमारे विदेशी व्यापार में द्वितीय स्थान प्राप्त हो गया है।

(*iii*) **पेट्रोलियम निर्यात देशों** (Organisation of Petroleum Exporting Countries–OPEC) से हमारा विदेशी व्यापार बढ़ा है। इनको निर्यात जो 1987-88 में 6.1 प्रतिशत थे बढ़कर 2005-06 में 15 प्रतिशत हो गए। परन्तु इसी अवधि के दौरान आयात में गिरावट की प्रवृत्ति पायी गयी 13.3 प्रतिशत से गिर कर 7. 7 प्रतिशत। पेट्रोलियम निर्यातक देशों में यू.ए.ई सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया और इसके बाद हैं सऊदी

नोट

अरब और इंडोनेशिया।

(*iv*) अफ्रीका के साथ हमारा विदेशी व्यापार शुरू हो गया है, चाहे निर्यात एवं आयात में अफ्रीका का भाग 2005-06 में क्रमशः 5.6 प्रतिशत और 3.2 प्रतिशत है। किन्तु अफ्रीका भी एक छोटे साझीदार के रूप में उभर रहा है और भविष्य में इसके और अधिक बढ़ने की क्षमता है।

(*v*) वैक्तिक देशों में यू.एस.ए. का प्रथम स्थान है और हमारे निर्यात में इसका भाग 2005-06 में 16.7 प्रतिशत है और आयात में 5.5 प्रतिशत। परन्तु यू.के. ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान खो दिया है और हमारे निर्यात एवं आयात में इसका भाग केवल 4.5 प्रतिशत है।

(*vi*) **पूर्वीय योरोप** देशों का विशेषकर रशिया का सत्तर के दशक में हमारे विदेशी व्यापार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान था परन्तु 2005-06 तक, हमारे विदेशी व्यापार में इसका भाग। से 2 प्रतिशत ही रह गया है। यह स्थिति विशेषकर यू.एस.एस. आर के विघटन और 1992-93 में स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रमण्डल (Commonwealth of Independent States) के गठन के पश्चात् व्यक्त हुई।

(*vii*) आस्ट्रेलिया, जापान एवं स्विटजरलैंण्ड ने हमारे विदेशी व्यापार में महत्त्वपूर्ण उन्नति प्राप्त की है और हमारे आयात में इनका भाग बढ़कर 11 प्रतिशत हो गया है, परन्तु 2005-06 में हमारे निर्यात में इनका भाग केवल 5 प्रतिशत था जबकि यह 1987-88 में 14 प्रतिशत था।

संक्षेप रूप में, यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि हमारे विदेशी व्यापार का विविधीकरण हुआ है और ओ.ई.सी.डी. देशों पर हमारी अत्यधिक निर्भरता में कमी व्यक्त हुई है। किन्तु विकासशील देशों, विशेषकर एशियाई देशों के साथ हमारे निर्यात एवं आयात में उल्लेखीय उन्नति हुई है यह हमारे विदेशी व्यापार की दिशा के बारे में अभिनन्दनीय संकेत हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)-

1. ऐतिहासिक रूप में 1947 तक भारत का एक उपनिवेश होने के कारण यू. के. के साथ घनिष्ठ व्यापारिक संबंध रखता था।
2. भारत ..... में अमेरिका को अपने कुल निर्यात का 28 प्रतिशत भेजता है।
3. हमारे विदेशी व्यापार में एशिया एवं ओशनिया जिन्हें अन्य ..... देश कहा जाता है में आस्ट्रेलिया और जापान महत्त्वपूर्ण है।
4. पेट्रोलियम निर्यातक देशों में ..... सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया तथा सऊदी अरब और इंडोनेशिया इसके बाद हैं।

22.3 भुगतान शेष का अर्थ (Meaning of Balance of Payment)

व्यापार-शेष में अदृश्य मदों से प्राप्त शुद्ध आय जोड़कर चालू खाते पर भुगतान-शेष (Balance of payments on current account) प्राप्त किया जाता है।

भुगतान-शेष की सुविधा की दृष्टि से वर्गीकरण (क) चालू खाते पर भुगतान-शेष, और (ख) पूँजी खाते पर भुगतान-शेष के रूप में किया जाता है। चालू खाते में वस्तुओं तथा सेवाओं का भुगतान, एकपक्षीय भुगतान (Unilateral transfer) और दान शामिल किए जाते हैं। इस प्रकार चालू खाते पर भुगतान-शेष में वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात, अदृश्य मदें और दान (Donations) सम्मिलित किए जाते हैं। पूँजी खाते पर भुगतान-शेष में देश की अन्तर्राष्ट्रीय वित्त स्थिति से सम्बन्धित चालू खाते की मदों का और अधिक स्पष्टीकरण मिलता है। चालू खाते की सभी मदें पूँजी खाते में व्यक्त होती हैं। परिणामतः पूँजी खाते में देश की विदेशी परिसम्पत् और दायित्वों (International assets and liabilities) का अध्ययन किया जाता है। देश के विदेशी मुद्रा प्रारक्षण (Foreign exchange reserve) में परिवर्तन, जो देश की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान स्थित की सबलता या

निबलता के सूचक होते हैं, पूँजी खाते (Capital account) में शामिल किए जाते हैं।

नोट

स्वतंत्र भारत में चालू खाते पर भुगतान-शेष

1951-52 से 1955-56 पहली योजना का काल–प्रथम योजना के दौरान, भुगतान-शेष की स्थिति पर कोरिया के युद्ध के प्रभावस्वरूप आरम्भ हुई तेजी, 1953 में अमरीका में घटित प्रतिसार (Recession), देश में अनुकूल वर्षा होने के कारण कृषि और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार इस काल में खाद्य के आयात में कमी हुई परन्तु भारत सरकार की उदार आयात नीति (Liberal import policy) के कारण आयात 963 करोड़ रुपए के ऊँचे स्तर पर पहुँच गया। अत: कोरिया के युद्ध के लाभ समाप्त हो गए। चाहे अदृश्य मदों के कारण 70 करोड़ रुपए की शुद्ध सकारात्मक आय प्राप्त हुई, फिर भी भुगतान-शेष 163 करोड़ रुपए तक प्रतिकूल रहा। कुल मिलाकर पहली योजना के दौरान स्थिति सन्तोषजनक रही और पाँच वर्षों की अवधि में भुगतान-शेष केवल 42 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष की औसत दर तक प्रतिकूल रहा।

1956-57 से 1960-61-दूसरी योजना का काल–दूसरी योजना का महत्त्वपूर्ण लक्षण यह था कि इसके दौरान व्यापार-शेष का घाटा 2,339 करोड़ रुपए था। अदृश्य मदों तथा मित्र देशों से प्राप्त अनुदानों से कुल 614 करोड़ रुपए शुद्ध अतिरेक के रूप में प्राप्त हुए। इस प्रकार पाँच वर्षों के दौरान भुगतान-शेष का कुल घाटा 1,725 करोड़ रुपए रह गया। इस परिस्थिति के मुख्य कारण थे–(1) मूल तथा भारी उद्योगों के विकास के लिए पूँजी-वस्तुओं का भारी आयात, (2) बढ़ती हुई जनसंख्या और विस्तृत होते हुए उद्योग की खाद्य-पदार्थों और कच्चे माल की बढ़ती हुई माँग को को कृषि उत्पादन में वृद्धि द्वारा पूरा करने में विफलता, (3) अर्थव्यवस्था द्वारा निर्यात को पर्याप्त मात्रा में न बढ़ा पाना और एक विकासमान अर्थव्यवस्था के लिए न्यूनतम परिपोषक आयात (Maintenance Imports) उपलब्ध कराने की आवश्यकता। परिणामत: विदेशी मुद्रा प्रारक्षण (Foreign exchange reserve) में तीव्र कमी हुई और देश के सामने आयात पर प्रतिबन्ध लगाने और निर्यात का विस्तार करने की अपेक्षा कोई चारा न रहा।

तीसरी योजना और वार्षिक योजनाओं का काल–तीसरी योजना के दौरान व्यापार-शेष घाटा 2,384 करोड़ रुपए था, परन्तु अदृश्य मदों के खाते में 432 करोड़ रुपय की शुद्ध आय प्राप्त हुई। इस प्रकार 1961-62 और 1965-66 के बीच चालू खाते पर भुगतान-शेष का घाटा 1,951 करोड़ रुपए रह गया।

वार्षिक योजनाओं (1966-67 से 1968-69) के काल के दौरान, विदेशों से प्राप्त किए गए उधार पर ब्याज के रूप में भारी राशि अदा करनी पड़ी। विनियोग आय (Investment Income) के रूप में 1,449 करोड़ रुपए का शुद्ध उत्प्रवाह हुआ। इस कारण अदृश्य मदों में अतिरेक का सफाया हो गया। परिणामत: भुगतान-शेष का घाटा व्यापार-शेष के घाटे की तुलना में और प्रतिकूल हो गया। 1969-70 और 1970-71 में अच्छी फसल होने के कारण खाद्यान्न-आयात बहुत कम हो गया और इस प्रकार व्यापार-शेष का घाटा और भी कम हो गया। परन्तु 1971-72 और 1972-73 के दौरान स्थिति फिर बिगड़ गयी।

1973-74 में अदृश्य मदों के खाते में असामान्य अनुकूलता का कारण संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार के साथ पी.एस. 480 और अन्य रुपया राशि के भुगतान से छूट का निर्णय था और इस प्रकार भारत को 1,664 करोड़ रुपए अदृश्य प्राप्ति के रूप में मिल गए। 1974-75 में इस मद में अनुकूलता का कारण परिवहन खाते और निजी खाते पर लिए गए ऋणों के रूप मे 280 करोड़ रुपए की भारी राशि की प्राप्ति थी। यदि इन असामान्य वर्षों को छोड़ दिया जाए तो चालू खाते में घाटे का मुख्य भाग व्यापार शेष में घाटे के कारण ही था।

नोट

तालिका चालू खाते पर भुगतान शेष

(करोड़ रुपए)

योजना	वर्ष	व्यापार शेष (1)	शुद्ध अदृश्य मदें (2)	भुगतान शेष (3)	2,1 का प्रतिशत
पहली योजना	(1951-52-1955-56)	-542	+500	-42	
दूसरी योजना	(1956-57-1960-61)	-2,339	+614	-1,725	
तीसरी योजना	(1961-62-1965-66)	-2,382	+432	-1950	
वार्षिक योजनाएँ	(1966-67 से 1968-69)	-2067	+52	-2015	
चौथी योजना	(1969-70 से 1973-74)	-1564	+1664	-100	
पांचवी योजना	(1974-75 से 1978-79)	-3,179	+6,261	-3082	
छठी योजना	(1980-81 से 1984-85)	-30,456	+19,072	-11,384	
सातवीं योजना	(1985-86 से 1989-90)	-54,204	+13,157	-41,047	
1990-91		-16,934	-433	-17,367	-2.6
1991-92		-6,494	+4,259	-2,335	65.6
आठवीं योजना					
1992-93		-17,239	+4475	-12,764	26.0
1993-94		-12,723	+9,089	-3,634	71.4
1994-95		-28,420	+17,835	-10,585	62.8
1995-96		-38,061	+18,415	-19,646	48.5
1996-97		-52,561	+36,279	-16,283	69.9
कुल (1992-97)		**-149,004**	**+86,090**	**-62,914**	**57.7**
नौवीं योजना					
1997-98		-57,805	+36,922	-20,883	63.9
1998-99		-55,478	+38,691	-16,787	69.7
1999-2000		-77,359	+57,028	-20,331	73.7
2000-2001		-56,737	+45,139	-11,598	79.5
2001-2002		-54,955	+71,381	+16,426	129.9
कुल (1997-2002)		**-302,334**	**+249,159**	**-53,175**	**82.4**
2002-03		-51,697	+82,357	+30,660	159.3
2003-04		-63,386	+127,369	+63,983	220.9
2004-05		-151,765	+139,951	-12,174	92.0
2005-06		-229,426	+188,704	-40,722	82.2

नोट

पांचवीं योजना : 1975-76 से 1978-79

1975-76 और 1978-79 के दौरान अदृश्य मदों में तीव्र वृद्धि के कारण चालू खाते पर भुगतान शेष में अधिशेष उत्पन्न हो गया। अदृश्य मदों की प्राप्ति में वृद्धि के उत्तरदायी मुख्य कारण थे: (*i*) तस्करी (Smuggling) और अन्य गैर-कानूनी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के विरुद्ध किए गए कड़े उपाय; (*ii*) रुपए के विदेशी मूल्य में ऐसे समय स्थिरता जब मुख्य अर्न्तराष्ट्रीय मुद्राओं के मूल्यों में भारी उच्चावचन हो रहे थे; (*iii*) पर्यटकों से प्राप्तियों में वृद्धि; (*iv*) तकनीकी परामर्श एवं अनुबन्ध सेवाओं (Technical consultancy and contract services) से प्राप्तियों में वृद्धि और (*v*) रोजगार के लिए विदेश जाने वाले भारतीयों की संख्या में वृद्धि और इनके द्वारा भारत को प्रेशण (Remittance) के रूप में अधिक राशि भेजना। 1974-75 से 1978-79 के काल में व्यापार-घाटा 3,179 करोड़ रुपए रहा किन्तु अदृश्य मदों में 6,261 करोड़ रुपये प्राप्त होने के कारण भुगतान-शेष में 3,085 करोड़ रुपए का भारी अतिरेक कायम हो गया। आयोजन आरम्भ होने के पश्चात् भारत की पहली बार विदेशी खाते में संतोषजनक स्थिति थी।

छठी योजनाा और सातवीं योजना का काल

1979-80 के पश्चात् भुगतान-शेष की स्थिति में भारी परिवर्तन हुआ है। जबकि पांचवीं योजना की सम्रग अवधि के दौरान भारत ने अनुकूल भुगतान-शेष अनुभव किया, 1979-80 के पश्चात् भारत ने प्रतिकूल भुगतान-शेष अनुभव किया। इसका मुख्य कारण व्यापार घाटे में वृद्धि था। व्यापार घाटा 1980-81 में बढ़कर 5,967 करोड़ रुपए और 1981-82 में और बढ़कर 6,121 करोड़ रुपए हो गया। 1983-84 और 1984-85 में भी व्यापार घाटा क्रमश: 5,871 करोड़ रुपय और 6,721 करोड़ रुपय रहा। इस असन्तोषजनक स्थिति का मुख्य कारण आयात में वृद्धि थी जबकि निर्यात में अपेक्षाकृत कहीं कम वृद्धि हुई। चाहे अदृश्य मदों के रूप में 1980-81 और 1984-85 के बीच प्राप्ति 19,072 करोड़ रुपए हुई जोकि अपने आप में एक रिकार्ड उपलब्धि थी, परन्तु व्यापार-शेष का घाटा 30,456 करोड़ रुपए होने के कारण भुगतान शेष 11,384 करोड़ रुपए तक प्रतिकूल हो गया। शुद्ध विदेशी सहायता के अतिरिक्त, भुगतान-शेष के इस भारी घाटे को पूरा करने के लिए भारत सरकार को अन्तर्राष्टीय मुद्रा कोष से भारी ऋण प्राप्त करना पड़ा।

1985-86 और 1989-90 के दौरान (सातवीं योजना की अवधि में) कुल व्यापार घाटा 54,204 करोड़ रुपए था। इसी काल के दौरान 13,157 करोड़ रुपए अदृश्य मदों से प्राप्त हुए। परिणामत: चालू खाते पर भुगतान-शेष का कुल घाटा 41,047 करोड़ रुपए हो गया।

1991-92 और इसके बाद का काल

पिछले 40 वर्षों में पहली बार, शुद्ध अदृश्य प्राप्तियाँ 1990-91 में 433 रुपए तक नकारात्मक हो गयीं। इसका मुख्य कारण 1990-91 में विनियोग-आय (Investment Income) के रूप में 6,732 करोड़ रुपए का उत्प्रवाह था जबकि 1980-90 में यह 4,875 करोड़ रुपए था। इस प्रकार इस उत्प्रवाह में 1990-91 में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार जो सुविधा व्यापार-घाटे का निष्प्रभावीकरण (Neutralisation) करने के लिए अदृश्य मदों के रूप में उपलब्ध थी, समाप्त हो गयी।

आठवीं योजना (1992-97) के दौरान, व्यापार-घाटा बढ़ता ही गया है और यह 1992-93 के 17,238 करोड़ रुपए से बढ़कर 1996-97 में 52,561 करोड़ रुपए हो गया। आठवीं योजना के दौरान अदृश्य मदों से प्राप्त ने व्यापार-घाटे को 58 प्रतिशत तक निष्प्रभावी बना दिया। यह एक सराहनीय उपलब्धि है। इसके बावजूद भी व्यापार-शेष में लगातार घाटा ही व्यक्त हुआ है।

1997-98 में हमारे चालू खाते का घाटा 20,883 करोड़ रुपये के रिकार्ड स्तर पर पहुंच गया और 1998-99 में थोड़ा

नोट

कम हो कर 16,787 करोड़ रुपये हो गया। 1999-2000 में, यह पुन: बढ़कर 20,331 करोड़ रुपये हो गया। इसका मूख्य कारण व्यापार घाटे का बहुत अधिक बढ़ कर 77,359 करोड़ रुपये तक पहुंच जाना था जिसको अदृश्य मदों के रूप में 57,028 करोड़ रुपये की प्राप्ति पूर्णतया निष्प्रभावी न बना सकी। 2000-01 में परिस्थिति में सुधार हुआ और चालू खाते का घाटा कम होकर 16,410 करोड़ रुपये हो गया।

2001-02 के दौरान, चाहे हमारा व्यापर-घाटा 60,427 करोड़ रुपये था परन्तु अदृश्य प्राप्तियों की भारी मात्रा अर्थात् 64,141 करोड़ रुपये उपलब्ध होने के परिणामस्वरूप न केवल व्यापारिक घाटे को ही साफ कर दिया बल्कि हमारे चालू खाते में 3,734 करोड़ रुपये का अतिरेक पैदा हो गया। समग्र नौवीं योजना (1997-98 से 2001-02) के दौरान, हमारे व्यापार-घाटे के 78 प्रतिशत की पूर्ति अदृश्य मदों द्वारा की जा सकी। परिणामत: नौवीं योजना के दौरान चालू खाते में कुल घाटा 70,670 करोड़ रुपये रह गया।

दसवीं योजना के पहले दो वर्षों के दौरान, 2002-03 में पुन: हमारे चालू खाते का अधिशेष 30,660 करोड़ रुपये तक सकारात्मक हो गया और 2003-04 में यह और बढ़कर 63,983 करोड़ रुपये हो गया। परन्तु यह अदृश्य मदों (Invisibles) में प्राप्त भारी अतिरेक का परिणाम था जिसने न केवल व्यापार-घाटे को साफ़ कर दिया बल्कि चालू खाते (Current Account) में सकारात्मक अधिशेष कायम कर दिया। भारत को यह अद्वितीय श्रेष्ठता प्राप्त है कि चाहे 2001-02 से 2003-04 की 3 वर्षीय अवधि के दौरान, हमारे व्यापार संतुलन में भारी घाटा व्यक्त हुआ, परन्तु शुद्ध अदृश्य मदों के भारी प्रवाह ने इसे चालू खाते में सकारात्मक अधिशेष के रूप में पलट दिया। किन्तु 2004-05 में व्यापार-शेष में 1,51,765 करोड़ रुपये का भारी घाटा व्यक्त हुआ जिसका कारण हमारे आयात में अभूतपूर्व वृद्धि था, चाहे हमारे निर्यात भी तेजी से बढ़े। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी अदृश्य मदों ने 1,39,591 करोड़ रुपये का सकारात्मक अधिशेष उपलब्ध कराया, परन्तु यह कुल व्यापर-घाटे के 92 प्रतिशत की ही भरपायी कर पाया। परिणामत: 2004-05 में हमारे चालू खाते में 12,174 करोड़ रुपये का घाटा उत्पन्न हो गया। यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है, परन्तु चूंकि 2005-06 में भी आयात-उदारीकरण की बेरोकटोक नीति जारी है, यह परिस्थिति और भी बिगड़ गयी और चालू खाते पर घाटा 40,722 करोड़ रुपये हो गया।

नोट्स नये आर्थिक सुधार 1991 में आरम्भ किए गए और निर्यात बढ़ाने का प्रयास किया गया ताकि आयात-बिल का मुख्य भाग निर्यात से चुकाया जा सके।

पूँजी खाते पर संतुलन कायम करना (Capital Account Balancing)

पारम्पिक रूप में दो मुख्य स्त्रोतों अर्थात् द्विपक्षीप एवं बहुपक्षीय स्त्रोतों से विदेशी सहायता और वाणिज्यिक उधार (Commericial borrowing) द्वारा चालू खाते के घाटे के लिए वित्त-प्रबन्ध किया जाता है। चाहे विदेशी सहायता ने 1991-92 में 304 करोड़ डालर और 1997-98 में 90 करोड़ डालर का वित्त जुटाया, विदेशी वाणिज्यिक उध ार ने लगभग 400 करोड़ डालर का योगदान दिया, जिसका अर्थ यह है कि ऋणशोधन (Amortization) और ब्याज के रूप में वाणिज्यिक उधार पर उत्प्रवाह शुद्ध विदेशी वाणिज्यिक उधारों के अन्त:प्रवाहों (Inflows) से अधिक थे। एक और कारणतत्व जिसने पूँजी खाते पर नकारात्मक प्रभाव डाला रूसी ऋण पर रुपया-सेवा-भर (Rupee debt service) है। यह 1991-92 में 124 करोड़ डालर और 1997-98 में 77 करोड़ डालर था, अनिवासी भारतीयों की जमा (Non-resident Indians deposits) 1996-97 में 335 करोड़ डालर की वृद्धि हुई जो आंशिक रूप में भूगतान-शेष की स्थिति में सुधार और एक हद तक एक नयी जमा योजना (Deposit scheme) को चालू करने का परिणाम थी।

नोट

इन सभी पूँजी अन्त:प्रवाहों (Capital inflows) के परिणामस्वरूम, विदेशी मुद्रा रिजर्व में 1992–93 में 357.6 करोड़ डालर और 1993–94 में 872 करोड़ डालर की वृद्धि हुई। लगभग यही परिस्थिति 1997–98 तक बनी रही। विदेशी मुद्रा रिजर्व में तीव्र वृद्धि अत्यधिक उधार या भारी मात्रा में विदेशी सहायता के अन्त:प्रवाह (Inflow) का परिणाम है। भारत सरकार परिस्थिति पर परदा डालने के लिए यह कहती रही है कि वर्तमान संकट को दूर करने के लिए गैर–ऋण कायम करने वाली सहायता का प्रयोग किया जा रहा है। परन्तु ऋण–रूपी अन्त:प्रवाहों (Non-debt inflows) के रूप में भेद विदेशी मुद्रा उत्प्रवाहों के भार को कम नहीं करता। ऋण के रूप में ऋण–शोधन भुगतान एवं ब्याज के रूप में उत्प्रवाह होते हैं और गैर–ऋण कायम करने वाली सहायता द्वारा लाभांश और रायल्टी के रूप में विदेशी मुद्रा का उत्प्रवाह होता है। दोनों परिस्थितियों में देश पर भार बढ़ता है। अत: यह भेद केवल रूप का ही है परन्तु वास्तविक रूप में अर्थहीन है।

अदृश्य मदें और भुगतान–शेष (Invisibles and Balance of Payments)

भारत ने अदृश्य मदों से प्राप्तियों के बारे में सराहनीय सफलता प्राप्त की है। इसके परिणामस्वरूप, न केवल व्यापार–घाटे को समाप्त किया गया बल्कि अदृश्य मदों के अतिरेक (Invisibles Surplus) ने चालू खाते पर व्यापार–शेष को भी सकारात्मक बना दिया। उदाहरणार्थ, 2003–04 में व्यापार घाटा 13.70 अरब डालर था परन्तु अदृश्य मदों का अतिरेक तेज़ी से बढ़ कर 27.80 अरब डालर हो गया। इसके नतीजे के तौर पर, चालू खाते पर भुगतान–शेष 14.1 अरब डालर तक सकारात्मक हो गया।

अदृश्य मदों के घटकों का अध्ययन करना उचित होगा ताकि विभिन्न मदों के महत्त्व को समझा जा सके। तालिका 3 में 2001–02 और 2005–06 के दौरान आंकड़े उपलब्ध कराए गए हैं। यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि प्राप्ति पक्ष में सेवाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण साफ्टवेयर सेवाएं है परन्तु प्रेषण (Remittances) के रूप में अन्तरण जो विदेश में रहने वाले भारतीयों द्वारा किए जाते हैं, प्राप्तियों में सबसे अधिक योगदान देते हैं। इन दो मदों के अतिरिक्त, यात्रा, परिवहन, निवेश सम्बन्धी आय और विविध मदों द्वारा मर्यादित योगदान उपलब्ध कराया जाता है। इस सम्बन्ध में अर्थिक समीक्षा (2004–05) में उल्लेख किया गया: "चालू खाते के पीछे मुख्य ड्राइवर अदृश्य मदों के बढ़ते हुए प्रवाह हैं विशेषकर निजी अन्तरण जिनमें प्रेषण शामिल हैं, और इनके साथ साफ्टवेयर सेवाएं भारत में चालू खाते पर अधिशेष कायम करने और इसे बनाए रखने के लिए जिम्मेदार हैं।" परिणामत: अदृश्य मदों पर अधिशेष जो 2001–02 में सकल देशीय उत्पाद का 3.1 प्रतिशत था, बढ़कर 2004–05 में 4.5 प्रतिशत हो गया। यह एक अभिनन्दनीय प्रवृत्ति है। 2005–06 में यह और बढ़कर 5.3 प्रतिशत हो गया।

तालिका अदृश्य मदों का विश्लेषण (विभिन्न मदों पर शुद्ध अतिरेक)

	2000–01	2001–02	2002–03	2003–04	2004–05	2005–06
(क) सेवाएं (*i* + *ii* + *iii* + *iv*)	1,692	3,324	3,643	10,144	15,426	23,881
	(17.3)	(22.2)	(21.4)	(36.5)	(49.4)	(56.0)
(*i*) यात्रा	693	3,014	–29	1,435	1,417	1,389
	(7.1)	(20.1)	(–0.2)	(5.2)	(4.5)	(3.2)
(*ii*) परिवहन	–512	3,467	–736	879	144	–1.550
	(–15.4)	(23.1)	(–4.2)	(3.2)	(0.5)	(–3.6)
(*iii*) साफ्टवेयर सेवाएं	5,750	6,884	8,863	12,324	16,900	22,262
	(58.7)	(46.0)	(52.0)	(44.3)	(54.1)	(52.2)
(*iv*) विविध	(–3,239)	–10,041	–4,445	–4,494	–3,035	1,780
	(–33.1)	(67.0)	(–26.2)	(–16.2)	(–9.7)	(–4.2)
(ख) अन्तरण (Transfers)	13,106	15,856	16,838	22,162	20,785	24,284

नोट

	(133.8)	(105.9)	(98.8)	(79.7)	(66.5)	(56.9)
(ग) आय	−5,004	−4,206	−3,346	−4,505	−4,979	−5,510
	(51.1)	(−28.1)	(20.2)	(−16.2)	(−15.9)	(−12.9)
कुल (क + ख + ग)	**9,794**	**14,974**	**17,035**	**27,801**	**31,232**	**42,655**
	(100.0)	**(100.0)**	**(100.0)**	**(100.0)**	**(100.0)**	**(100.0)**

भुगतान के पक्ष में दो भेद महत्त्वपूर्ण हैं- विविध सेवाएं और निवेश सम्बन्धी आय। इन मदें द्वारा 2003-04 में कुल अदृश्य मदों के भुगतान का 73 प्रतिशत भुगतान किया गया। इन दो मदों में भारत ने अदृश्य मदों में शुद्ध घाटा दिखाया। इस सम्बन्ध में सावधान रहने की ज़रूरत है, विशेष कर विदेशी निवेश के लगातार, अप्रतिबन्धित और तीव्र वृद्धि के कारण जिससे निवेश आय के रूप में उलटा प्रवाह जनित होता है।

यदि हम 2003-04 में अदृश्य मदों पर शुद्ध अधिशेष का अध्ययन करें, तो सेवाएं कुल प्राप्ति का 36 प्रतिशत हैं, अन्तरण का भाग 80 प्रतिशत है और निवेश से प्राप्त शुद्ध आय का योगदान 16 प्रतिशत तक नकारात्मक है। जहां साफ्टवेयर सेवाओं ने 44 प्रतिशत का भारी अधिशेष उपलब्ध कराया और इसने विविध सेवाओं से 2003-04 में शुद्ध घाटे को एक हद तक समाप्त कर दिया।

2004-05 में प्राप्त संकेत यह चेतावनी देते हैं कि व्यापार-घाटा बढ़कर 36.63 अरब डालर हो गया है, जबकि अदृश्य मदों का अधिशेष 31.22 अरब डालर था। अत: 2004-05 में चालू खाते में भुगतान-शेष में फिर घाटा व्यक्त हुआ है। 2002-03 और 2003-04 के दौरान में चालू खाते में प्राप्त अधिशेष सम्बन्धी खुशी का एहसास सूख गया है और भारत के फिर पारम्परिक चालू खाते में शुद्ध घाटा उत्पन्न हो गया है। जबकि वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री निर्यात में प्राप्त उच्च वृद्धिदरों की उपलब्धि के लिए गर्व महसूस कर रहे थे, उनके द्वारा इस बात की पूर्णतया अनदेखी की गयी कि उनके पैरों तले की ज़मीन खिसक रही है और इसका कारण आयात में भारी वृद्धि है और 2004-05 में व्यापार घाटा अभूतपूर्व रूप में बढ़कर 33.7 अरब डालर हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि साफ्टवेयर निर्यात सेवांए जो 1995-96 सेवाओं के कुल निर्यात का 10.2 प्रतिशत थी बढ़कर 2004-05 में लगभग 49 प्रतिशत हो गयी हैं, परन्तु यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे मन्द हो सकती है जैसे ही चीन विश्व के साफ्टवेयर बाज़ार में प्रवेश करता है। इसी प्रकार, भारतीयों द्वारा भेजे जाने वाले प्रेषणों में वृद्धि की गति भविष्य में धीमी पड़ सकती है क्योंकि ये शिखर स्तर पर पहुंच गए हैं।

हमारा उद्देश्य भारत को एक निराशा पूर्ण तस्वीर दिखाना नहीं है परन्तु विदेशी क्षेत्र में उभरते हुए खतरों के बारे में सतर्क रहने की चेतावनी देना है, क्योंकि भारत विदेशी क्षेत्र में एक-टांग पर चलने की नीति को बढ़ावा देता रहा है।

टास्क अदृश्य मदें किसे कहते हैं?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

3. दिए गए कथनों में ☑ अथवा ☒ का निशान लगाइए (State whether the following statements are 'Right' or 'Wrong')–

1. पहली योजना का काल समय 1951-52 से 1955-56 तक का हैं। ☐
2. तीसरी योजना के दौरान व्यापार शेष घाटा 2385 करोड़ रु. था। ☐
3. भारत ने आदृश्य मदों से प्राप्तियों के बारे में सराहनीय सफलता प्राप्त की है। ☐
4. भारत के भुगतान-शेष में प्रतिकूल की समस्या भारी व्यापार घाटे से उत्पन्न होती है। ☐

नोट

22.4 सारांश (Summary)

- भारत सरकार ने भारतीय विदेशी व्यापार के वस्तु-वर्गीकरण को 1987-88 से संशोधित कर दिया है, 1987-88 के बाद के आंकड़े इससे पहले के काल से तुलनीय नहीं हैं। हमने 1970-71 और 1980-81 के आंकड़ां को पुनवर्गीकृत करके कुछ हद तक तुलनीय बनाने का प्रयास किया है।
- अम्बारी आयात के तीन अंग हैं–(*i*) पेट्रोलियम रूक्ष एवं उत्पाद, (*ii*) अम्बारी उपभोग वस्तुएँ जिनमें अनाज और दालें, खाद्य-तेल और चीनी शामिल किए जाते हैं और (*iii*) अन्य अम्बारी मदों में उर्वरक, अलौह धातुएँ, कागज एवं गत्ता, रबड़, गुद्दा एवं रद्दी कागज, खनिज अयस्क लौह तथा इस्पात शामिल की जाती हैं।
- भारत के निर्यात का ढाँचा एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का प्रारूप है। भारत पारस्परिक रूप में कृषि सम्बन्धी कच्चे माल और इन पर आधारित निर्मित वस्तुओं का निर्यातक रहा है।
- भारत के विदेशी व्यापार की क्षेत्रीय दिशा (Regional direction) का अध्यन करने के लिए विश्व को मोटे तौर पर चार बड़े वर्गों में बाँट लेना उचित होगा अर्थात् अमेरिका, यूरोप, एशिया एवं ओशनिया (Oceania) और अफ्रीका।
- ऐतिहासिक रूप में 1947 तक भारत संयुक्त राज्य का एक उपनिवेश होने के कारण यू. के. के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखता था। इसके यूरोप के अन्य देशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध थे।
- हाल ही के वर्षों में पूर्वीय यूरोप के देशों अर्थात् यू.एस.एस.आर., पालैंड, रूमानिया, बुल्गारिया, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया के साथ हमारा व्यापार विकसित हुआ है। इन देशों से आयात की मुख्य मदें हैं–लौह एवं इस्पात, अलौह धातुएँ, रसायन, पूँजी साज-सामान, रेलवे स्टोर, कागज, दवाइयाँ एवं औषधियाँ और पैट्रोलियम उत्पाद।
- व्यापार-शेष में अदृश्य मदों से प्राप्त शुद्ध आय जोड़कर चालू खाते पर भुगतान-शेष (Balance of payments on current account) प्राप्त किया जाता है।
- भुगतान-शेष की सुविधा की दृष्टि से वर्गीकरण (क) चालू खाते पर भुगतान-शेष, और (ख) पूँजी खाते पर भुगतान-शेष के रूप में किया जाता है।
- भारत ने अदृश्य मदों से प्राप्तियों के बारे में सराहनीय सफलता प्राप्त की है। इसके परिणामस्वरूप, न केवल व्यापार-घाटे को समाप्त किया गया बल्कि अदृश्य मदों के अतिरेक (Invisibles Surplus) ने चालू खाते पर व्यापार-शेष को भी सकारात्मक बना दिया।
- चाहे सरकार किसी एक वर्ष के दौरान भुगतान-शेष के घाटे को पूरा करने के लिए संचित विदेशी मुद्रा रिजर्व का प्रयोग कर ले, या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण प्राप्त कर ले या विदेशी ऋण या अनुदान प्राप्त कर ले, परन्तु देश इस प्रकार अपने लगातार बने हुए भुगतान-शेष की समस्या का समाधान नहीं कर सकता। जब तक भुगतान-शेष में निरन्तर घाटा उत्पन्न करने वाले मूल कारणतत्व कायम रहते हैं, देश भुगतान-शेष में प्रतिकूलता अनुभव करता रहेगा।

22.5 शब्दकोश (Keywords)

- **प्रतिसार**–उल्टी दिशा में जाने वाले
- **प्रारक्षण**–कार्य, बात आदि को निश्चित रूप से पहले ही अलग करना रिज़र्वेशन

22.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना पर प्रकाश डालिए।

नोट

2. भारत का विदेशी व्यापार किस दिशा की ओर हैं तथा इसकी दिशा में हुए परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

3. स्वतंत्र भारत की विभिन्न योजनाओं की व्याख्या कीजिए।

4. भुगतान-शेष का अर्थ बताइए तथा भुगतान-शेष में हुए आर्थिक सुधारों का उल्लेख कीजिए।

5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखित-

(*i*) भुगतान शेष एवं नए आर्थिक सुधार।

(*ii*) अदृश्य मदें और भुगतान शेष।

(*iii*) भुगतान मदें और भुगतान शेष।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. (ग) 2. (क) 3. (ख) 4. (ग)
   5. (ख)
2. 1. संयुक्त राज्य 2. 1951-1952 3. ओ.ई.सी.डी. 4. यू.एस.आई.
3. 1. ☑ 2. ☒ 3. ☑ 4. ☑
   5. ☒

22.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–23: विदेशी पूँजी की भूमिका : एफ.डी.आई. और बहुराष्ट्रीय निगम (Role of Foreign Capital: FDI and Multinational Corporation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

23.1 विदेशी पूँजी की भूमिका (Role of Foreign Capital)

23.2 एफ.डी.आई एवं बहुराष्ट्रीय निगम (FDI and Multinational Corporations)

23.3 सारांश (Summary)

23.4 शब्दकोश (Keywords)

23.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

23.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- विदेशी सहायता की भूमिका की व्याख्या करने में।
- एफ.डी.आई एवं बहुराष्ट्रीय निगम की विवेचन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके दो अंग हैं–बड़ा अंग विदेशी सहायता का है जो सामान्यत: ऋण के रूप में रियायती शर्तों पर देश को मिली है, जैसे ब्याज की नीची दर, ऋण अदा करने की लम्बी अवधि, आदि। विदेशी सहायता का एक छोटा भाग अनुदान के रूप में मिला है जिसके सम्बन्ध में न तो मूलधन की अदायगी और न ही ब्याज चुकाने की समस्या उठती है। विदेशी पूंजी का दूसरा अंग, निजी विदेशी निवेश के रूप में है, जैसे इक्विटी या शेयर पूंजी जिसका उद्देश्य लाभ कमाना है। इस इकाई में हम विदेशी पूंजी के इन दोनों अंगों तथा इनसे सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

23.1 विदेशी पूँजी की भूमिका (Role of Foriegn Capital)

भारत जैसे अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए विशेषत: विकास के आरम्भिक चरणों में, विदेशी सहायता का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विदेशी सहायता से कोई देश जिन महत्त्वपूर्ण तरीकों से लाभान्वित होता है, उनको इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) संसाधनों में वृद्धि–विदेशी सहायता का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इससे सहायता पाने वाले देशों के घरेलू संसाधन बढ़ जाते हैं। अल्पविकसित देशों में आन्तरिक या घरेलू संसाधन बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होते

नोट

हैं। ऐसे देशों में प्रति व्यक्ति आय बहुत नीची और उपभोग-प्रवृत्ति बहुत ऊंची होती है। इसलिए बचत और निवेश बढ़ाने का क्षेत्र यहाँ बहुत कम होता है।

विदेशी सहायता से प्रापक देशों के संसाधनों में वृद्धि संभव बन जाती है। इससे इन्हें कई प्रकार से सहायता मिलती है। एक तो विदेशी सहायता से प्रापक देशों में बहुत-सी परियोजनाओं का निर्माण संभव हो जाता है जो अन्यथा संभव नहीं होता। कुछ विकास-कार्यक्रम अत्युत्तम परिणाम देते हैं, बशर्ते कि कार्यक्रम के सभी अंग साथ-साथ और प्रभावशाली ढंग से लागू किए जाएं। ऐसे कार्यक्रमों का उद्देश्य देश की सभी आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करना होता है। स्पष्टत: ऐसे कार्यक्रम बड़े पैमाने के होते हैं और इनमें भारी मात्रा में निवेश की आवश्यकता होती है। यदि अल्पविकसित देशों में उपलब्ध संसाधन इन कार्यक्रमों की न्यूनतम वित्तीय आवश्यकता से कम होते हैं, तो ये कार्यक्रम शुरू नहीं किये जा सकेंगे। ऐसी हालत में घरेलू संसाधन बेकार पड़े रहेंगे या फिर कम महत्त्व वाले कार्यक्रमों में प्रयुक्त होंगे। इससे उत्पादन और उत्पादिता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यदि ये संसाधन विदेशी संसाधनों के साथ मिलकर अधिक प्रतिफल वाले कार्यक्रम में लगाये जाएं, तो इनकी उत्पादिता कहीं अधिक हो सकेगी।

दूसरे, विदेशी सहायता मिलने पर घरेलू अर्थव्यवस्था में उपयोग के लिए संसाधनों की मात्रा बढ़ जाती है। इससे बड़ी परियोजनाओं और साथ ही ऐसा परियोजनाओं की स्थापना संभव हो जाती है जिनके लिए भारी मात्रा में आयात-सामग्री की जरूरत पड़ती है। इससे बहुत-से लाभप्रद निवेशों के लिए अवसर बढ़ जाता है। इस प्रकार के निवेश के अभाव में ऐसी संभावनाएं नहीं बन पातीं। इसके विपरीत, जब निवेश के और लाभ कमाने के नए मार्ग खुलते हैं, तो उद्यमियों को नए उद्यम शुरू करने और बचत करने वालों को अधिक बचत के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इससे घरेलू संसाधनों की उपलब्धि में भी वृद्धि होती है।

(2) विकासगत वस्तुओं का आयात–आर्थिक उन्नति के लिए, कम-से-कम आरंभिक चरणों में, कुछ ऐसी पूंजीगत वस्तुओं और तकनीकी जानकारी की आवश्यकता पड़ती है जो विकसित देशों में ही उपलब्ध होती है। इसलिए उनका आयात करना पड़ता है। इसका एक विकल्प यह हो सकता है कि ऐसी वस्तुओं और तकनीकी जानकारी को देश में ही उपलब्ध कराया जाए। ऐसा करना अच्छा तो है, किन्तु इसमें बहुत अधिक समय लगता है। इंग्लैंड को अपनी जरूरत की पूंजीगत वस्तुओं एवं तकनीकी जानकारी की स्वयं व्यवस्था करनी पड़ी थी। कारण, तब ऐसा कोई और देश था ही नहीं जहां से इनका आयात किया जाता।

आज की स्थितियां भिन्न हैं। एक ओर परिष्कृत पूंजीगत वस्तुएं और आधुनिक तकनीक बहुत से देशों में उपलब्ध है जहां से इन वस्तुओं का आयात किया जा सकता है, और दूसरी ओर अल्पविकसित देशों की विकास की समस्याएं इतनी बड़ी एवं अत्यावश्यक हैं कि वे अपनी पूंजीगत वस्तुएं और तकनीकी जानकारी स्वयं उत्पन्न करने के लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। यहां यह ध्यान रहे कि पूंजीगत वस्तुओं और तकनीकी जानकारी का आयात सदैव नहीं किया जा सकता। इन वस्तुओं का आयात करने वाले देशों को जल्दी-से-जल्दी इन वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए सक्षम हो जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि ऐसी पूंजीगत वस्तुएं और तकनीक उत्पन्न करनी चाहिए जो उनकी संसाधन-निधि (endowment) के अनुरूप हों।

इस प्रकार यद्यपि विभिन्न देशों को अपनी पूंजीगत वस्तुएं और तकनीक स्वयं उत्पन्न करनी चाहिए, फिर भी विकास के आरम्भिक चरणों में इन वस्तुओं का आयात करना आवश्यक होता है। इन विकासमूलक वस्तुओं का आयात करने की आवश्यकता पड़ने पर, विदेशी विनिमय की समस्या उठती है। इनका पर्याप्त आयात करने के लिए अल्पविकसित देशों के पास न तो इतना सोना होता है और न ही इतना विदेशी विनिमय का भण्डार या रिजर्व। इसके अलावा, इन भुगतान-माध्यमों का प्रयोग एक ही बार किया जा सकता है। आयात के वित्तीयन के लिए किसी लम्बी अवधि तक इनका लगातार प्रयोग नहीं किया जा सकता। और जैसा कि अभी हम देखेंगे, अल्पविकसित देशों का निर्यात-उपार्जन भी बहुत कम होता है। इसलिए वस्तुत: ऐसे देशों के लिए विदेशी सहायता का कोई विकल्प नहीं होता।

(3) निर्यात सीमा-बन्धनों को पार करना–अल्पविकसित देशों के लिए विदेशी सहायता का विकल्प निर्यात-उपार्जन में वृद्धि है, ताकि विदेशी विनिमय भारी मात्रा में उपलब्ध हो सके। किन्तु अल्पविकास के कारण इन देशों के निर्यात के क्षेत्र में बहुत-सी अन्तर्निहित कमजोरियां होती है। अल्पविकसित देश अपने औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण अधिकतर

नोट

प्राथमिक वस्तुएं ही उत्पन्न कर पाते हैं। यदि यह भी मान लिया जाय कि ये देश निर्मित वस्तुओं का पर्याप्त उत्पादन करने में समर्थ हैं या इनके पास निर्यात योग्य पर्याप्त अधिशेष हैं, तो भी समस्या हल नहीं हो जाती। निर्यात बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि अल्पविकसित देशों की वस्तुएं अंतर्राष्ट्रीय बाजार में स्वीकार्य हों या इनके लिए मांग हो। यहीं समस्या उत्पन्न होती है।

प्राथमिक वस्तुओं की कीमत-लोच और आय-लोच, दोनों बहुत कम होती हैं। इन वस्तुओं की कीमत गिरने पर इनकी मांग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं होती और न ही विकसित देशों की आय में वृद्धि के प्रभाव से प्राथमिक वस्तुओं की मांग में आनुपातिक वृद्धि होती है। इसके अलावा, प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन विकसित देशों में भी भारी मात्रा में होने लगा है और ये देश इनका निर्यात भी करते हैं। इतना ही नहीं, विकसित देशों में प्राथमिक वस्तुओं के अनेक प्रतिस्थापन-वस्तुएँ विकसित कर ली गई हैं। इन अनेक कारणों से अल्प-विकसित देशों को अपने निर्यात बढ़ाने में असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

यह स्पष्ट है कि विनिर्माण उद्योगों का, जिनके उत्पाद अधिक कीमत-लोचदार और आय-लोचदार होते हैं, विकास किए बिना कठिनाइयों पर विजय नहीं पाई जा सकती। लेकिन इन उद्योगों की स्थानपना और विकास के लिए पर्याप्त बचत और पूंजीगत वस्तुओं के आयात की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए यदि प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात इतना नहीं बढ़ाया जा सकता कि उससे आयात के लिए पर्याप्त साधन जुटाए जा सकें, तो विदेशी सहायता का ही रास्ता रह जाता है।

(4) भुगतान और कीमत सम्बन्धी कठिनाइयां–विकास-प्रक्रिया इस प्रकार की है कि इसके शुरू हो जाने पर, विशेषतया मूलभूत मशीनों का निर्माण करने वाले उद्योगों की स्थापना की आवश्यकता पड़ती है। तब अल्पविकसित देशों के समक्ष दो प्रकार की कठिनाइयां खड़ी हो जाती हैं–एक का सम्बन्ध भुगतान-शेष से है और दूसरी समस्या का सम्बन्ध घरेलू कीमतों से है। इन समस्याओं की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है।

विकास के लिए संसाधनों को पूंजीगत क्षेत्र की ओर मोड़ने की आवश्यकता होती है। विदेशी सहायता मिलने पर भी, पूंजीगत क्षेत्र के निवेश का अपेक्षाकृत बड़ा भाग घरेलू साधनों से ही प्राप्त करना पड़ता है। इससे उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन के लिए संसाधनों की कमी पड़ती है और इस क्षेत्र में उत्पादन की गति धीमी पड़ जाती है। दूसरी ओर पूंजीगत क्षेत्र का विस्तार होने से इस क्षेत्र में लगे लोगों की आय में वृद्धि होती है और इसलिए उपभोग-वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है, जबकि यह क्षेत्र उपभोगेतर वस्तुओं का उत्पादन करता है। इस प्रकार विकास-प्रक्रिया एक ऐसी स्थिति को जन्म देती है जिसमें एक ओर तो उपभोग-वस्तुओं की मांग बढ़ती है, और दूसरी ओर से इनकी आपूर्ति में अपेक्षाकृत कमी आती है। परिणाम यह होता है कि उपभोग-वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं।

ऐसी स्थिति में कुछ सीमित आपूर्ति वाली वस्तुओं की जरूरत पूरी करने के लिए और कुछ विदेशी सस्ते सामान खरीदने के लिए लोग अपनी बढ़ती हुई आय का एक भाग आयातित उपभोग-वस्तुओं को खरीदने पर व्यय करने लगते हैं। इस प्रकार विकास-प्रक्रिया जो पूंजीगत वस्तुओं का आयात अनिवार्य बना देती है, विदेशी उपभोग-वस्तुओं के लिए भी मांग उत्पन्न करती है। यदि उपभोग-वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग अनाज के लिए है, तो ऐसी आवश्यक उपभोग-वस्तुओं के आयात के लिए विदेशी सहायता अनिवार्य हो जाती है।

यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो उपभोग-वस्तुओं के अभाव के कारण इनकी कीमतें बढ़ जाएंगी जिससे मजदूरी बिल में भी वृद्धि होगी। चूंकि उत्पादन-लागत में मजदूरी का हिस्सा महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए मजदूरी बढ़ने पर लागत और कीमतों में वृद्धि होने लगेगी। इससे लागत-कीमत वृद्धि का एक दुष्चक्र शुरू हो लेगा। यदि इसे रोका नहीं गया, तो विकास-प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और उसकी गति धीमी पड़ जाएगी या रुक जाएगी।

इस प्रकार आर्थिक विकास की प्रक्रिया को शुरू करने और बनाए रखने में विदेशी सहायता महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विभिन्न रूपों में इसके योगदान को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, फिर भी इस पर बहुत अधिक निर्भर रहना ठीक नहीं है। इस दिशा से अनेक उलझनें उठती हैं और समस्याएँ पैदा होती हैं जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जाएगा। इस सम्बन्ध में पूरी सावधानी बरतनी आवश्यक है और सीमित मात्रा में ही इसका सहारा लिया जाना चाहिए।

नोट

विदेशी सहायता : मात्रा, उद्देश्य और स्त्रोत (Foreign Aid : Amount, Purpose And Sources)

समय के साथ विदेशी सहायता की मात्रा तेजी से बढ़ती रही है। सहायता विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाओं के संचालन में प्रयोग करने के लिए ली गई है। जिन स्त्रोतों से सहायता मिली है, वे अनेक और विभिन्न प्रकार के हैं। विदेशी सहायता के इन पहलुओं का अध्ययन इसकी समस्याओं को समझने में सहायक होगा।

विदेशी सहायता की मात्रा

विदेशी सहायता के आकार के विभिन्न पक्ष जैसे इसकी कुल मात्रा, अधिकृत और प्रयुक्त सहायता, कुल सहायता-राशि में ऋण और अनुदान का हिस्सा, निबद्ध और अनिबद्ध सहायता, विदेशी मुद्रा या रुपये में प्रतिदेव, आदि इसकी समस्या के कई पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ, विदेशी सहायता की मात्रा से यह बोध होता है कि वायदे की कितनी रकम मिल चुकी है। इससे देश की विदेशी सहायता समाहित करने अथवा खपाने की क्षमता का भी पता चलता है। ऋण के भाग से पता चलता है कि मूल और ब्याज मिलाकर भुगतान की समस्या कितनी है। अनुदान इस समस्या से मुक्त होता है निबद्ध (tied) और अनिबद्ध (untied) सहायता या ऋणों की मात्रा से यह पता चलता है कि इनके उपयोग में कितना लचीलापन है। अनिबद्ध ऋणों का प्रयोग किसी भी परियोजना के लिए किया जा सकता है या उससे किसी भी देश से सामान खरीदा जा सकता है। इसके विपरीत, निबद्ध ऋणों का प्रयोग उन्हीं परियोजनाओं में किया जा सकता है जिनसे ऋण जुड़ा हुआ है और उन्हीं देशों से माल खरीदा जा सकता है जिनका उल्लेख ऋण-समझौते में हुआ है। जिन ऋणों का भुगतान विदेशी मुद्रा में किया जाना होता है, उनके लिए निर्यात द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित करने की आवश्यकता पड़ती है। रुपये में भुगतान होने वाले ऋणों के सम्बन्ध में समस्या केवल इतनी होती है कि ऋणदाता को आवश्यक मात्रा में रुपये दिए जाएं, और वह राशि ऋणदाता द्वारा देश में ही खर्च की जाती है।

उक्त व्याख्या से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस देश में प्रयुक्त ऋण लगभग अधिकृत ऋण के बराबर होता है, उस देश की विदेशी सहायता को समाहित करने की क्षमता अधिक होती है और वही देश सहायता का उचित प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार जब कुल विदेशी सहायता में ऋण का अंश अधिक होता है, तब ऋण के भुगतान की समस्या उत्पन्न होती है क्योंकि इससे ऋण-भुगतान का बोझ बढ़ता है। विदेशी सहायता में अनिबद्ध ऋण का अंश जितना अधिक होता है, प्रापक देश सहायता का प्रयोग देश की जरूरतों के अनुसार उतना ही अधिक कर सकता है। दूसरी ओर निबद्ध ऋण में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं होती और इसलिए देश के आर्थिक विकास में इसका योगदान यथासम्भव नहीं हो पाता। विदेशी मुद्रा में चुकता किए जाने वाले ऋणों में भुगतान की समस्या रुपये में भुगताये जाने वाले ऋणों की समस्या से अधिक होती है।

> भारत को मिली विदेशी सहायता मुख्यतया ऋण और अनुदान के रूप में है जिसमें अधिकांश ऋण के रूप में है।

कुल सहायता—हाल के वर्षों में विदेशी सहायता की मिली कुल राशि में भारी वृद्धि हुई है। 1980 तक प्राप्त कुल राशि केवल 25 हजार करोड़ रुपये के लगभग थी, जबकि 2001 में यह राशि तेजी से बढ़कर 248 करोड़ रुपये के स्तर पर पहुँच चुकी थी। इस प्रकार 20 वर्षों की इस अवधि में कुल राशि में नौ गुने से भी ज्यादा वृद्धि हुई।

अधिकृत और प्रयुक्त राशि—अधिकृत सहायता राशि में प्रयुक्त राशि का भाग 75 प्रतिशत के लगभग बैठता है प्रयुक्त राशि का भाग और अधिक होना चाहिए। पिछले कुछ वर्षों से यह अनुमान बढ़ने लगा है। कभी-कभी तो 100 प्रतिशत और कभी पिछले ऋणों का प्रयोग होने से इससे भी अधिक रहा। उदाहरणतया 1998-99 में अधिकृत विदेशी सहायता की राशि 8531 करोड़ रुपये थी, जबकि प्रयुक्त राशि इससे बहुत अधिक रही—लगभग 13,239 करोड़ रुपये। चूंकि अब देश विदेशी सहायता का प्रयोग करने में पर्याप्त कुशलता प्राप्त कर चुका है, इसलिए प्रयुक्त सहायता का अनुपात बढ़ेगा ही।

नोट

ऋण और अनुदान–कुल अधिकृत विदेशी सहायता में ऋण का अंश लगभग 90 प्रतिशत और अनुदान का अंश केवल 10 प्रतिशत है। इन प्रतिशत संख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि भारत को विदेशी सहायता मुख्यतया ऋण के रूप में मिली है। इससे मूल सहित ब्याज की अदायगी की समस्या उठती है। ऋण-प्रभार ब्याज की दर और भुगतान की समय-सारणी पर निर्भर करता है। एक बात पर यह भी है कि विदेशी सहायता का बहुत बड़ा भाग विदेशी मुद्रा में चुकाया जाना है।

निबद्ध और अनिबद्ध सहायता–कुल विदेशी सहायता का केवल 30 प्रतिशत भाग ही अनिबद्ध है, बाकी 70 प्रतिशत सहायता निबद्ध है; अर्थात् इसका प्रयोग किसी विशेष परियोजना या देश के साथ बंधा हुआ है। इससे सहायता का प्रयोग करने में देश की स्वतंत्रता घट जाती है। कारण, ऐसी सहायता का प्रयोग मनचाहे ढंग से किसी भी परियोजना या कार्यक्रम पर या किसी भी देश से सामान खरीदने के लिए नहीं किया जा सकता। इनके अलावा, ऋणदाता की स्थिति अपेक्षाकृत मजबूत होने के कारण भारत को संलग्न देश से महंगा सामान खरीदने के लिए विवश होना पड़ा, जबकि अन्य देशों से वही सामान सस्ती दर पर खरीदा जा सकता था। परिणामस्वरूप विदेशी सहायता का शुद्ध लाभ घट गया।

ऋण परिशोधन–विदेशी ऋण का बहुत बड़ा अंश विदेशी मुद्रा में प्रतिदेय है और रुपये में चुकता की जाने वाली ऋण की मात्रा बहुत थोड़ी बैठती है–केवल 10 प्रतिशत। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें अपने निर्यात-अर्जन का एक महत्त्वपूर्ण भाग हर वर्ष ब्याज सहित ऋण की अदायगी में लगाना होगा। इसके फलस्वरूप उस सीमा तक विदेशों से माल का आयात न कर पाएंगे। या फिर मिलने वाली विदेशी सहायता के एक बड़े भाग को ऋण के भुगतान में लगाना होगा जिसके कारण प्रयोग में लाई जा सकने वाली विदेशी सहायता की मात्रा घट जायेगी।

उद्देश्य

भारत ने विदेशी सहायता विभिन्न प्रकार के आर्थिक कार्यकलापों में प्रयोग करने के लिए प्राप्त की है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अधिकांश विदेशी सहायता का प्रयोग प्रतिबन्धित है। फिर भी भारत अपनी आवश्यकतानुसार परियोजनायें तैयार करता रहा है और ऋणदाता देशों से तद्नुसार सहायता की मांग करता रहा है। विदेशी सहायता का प्रयोग जिस उद्देश्य के लिए होता है, वह उस क्षेत्र की ओर संकेत करता है जिसे दुलर्भ विदेशी मुद्रा के प्रयोग में प्राथमिकता दी गई है। स्पष्ट है कि विदेशी सहायता का प्रयोग अर्थपूर्ण तभी माना जायेगा, जबकि वह देश के आर्थिक विकास में अधिकतम योगदान करे। इसके लिए आवश्यक है कि विदेशी सहायता का प्रयोग आधारिक संरचना और पूंजीगत क्षेत्र की संवृद्धि के उद्देश्य से किया जाय; या फिर इसका ऐसा प्रयोग किया जाना चाहिए कि अर्थव्यवस्था में स्थायित्व आये, जैसे पूंजी के प्रतिस्थापन और रख-रखाव के लिए उपकरणों का आयात, या अकाल की स्थिति में खाद्यान्न का आयात, आदि।

विदेशी सहायता का प्रयोग निम्नलिखित मदों में किया गया है–परिवहन और संचार; शक्ति परियोजनाएं; इस्पात और इस्पात-परियोजनाएं; खनिज लोहे की परियोजनाएं; औद्योगिक विकास; कृषि-विकास; खाद्यान्न सामग्री तथा अन्य मदें जैसे उच्च शिक्षा, परिवार नियोजन कार्यक्रम, जल-आपूर्ति, कलकत्ता का शहरी विकास आदि। इस सूची से स्पष्ट है कि विदेशी सहायता का उपयोग आधारिक संरचना के विकास, मूल धातुओं, औद्योगिक विकास (विशेषतया पूंजीगत क्षेत्र में), कृषि के विकास, अनाज के अभाव की पूर्ति के लिए, जल-आपूर्ति और जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए किया गया है।

इन उद्देश्यों के अलावा, भारत विदेशी ऋणों के पुनर्भुगतान के लिए भी विदेशी सहायता प्राप्त करता रहा है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि ब्याज मूलधन लौटाने का समय आ गया था और ऋण चुकाने की समस्या उत्पन्न हो गई। इस पर हम विस्तृत रूप से आगे चर्चा करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वर्धमान आयात-बिल, उद्योगों के लिए आवश्यक वस्तुओं के आयात और निर्यात कमाई में अपर्याप्त वृद्धि के कारण इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई।

उद्देश्यवार प्रयोग पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि औद्योगिक विकास में विदेशी सहायता का भारी प्रयोग हुआ है।

नोट

ऐसा ही होना चाहिए था क्योंकि भारत जैसे देश के लिए आर्थिक विकास का अर्थ है औद्योगिक विकास। अन्य महत्वपूर्ण मदें जो रूप से आर्थिक विकास में सहायता करती हैं और विदेशी सहायता में उनका महत्वपूर्ण अंश है, उनमें परिवहन एवं संचार, शक्ति, इस्पात, और कच्चा लोहा शामिल हे। एक अन्य महत्वपूर्ण मद कृषि-विकास है जिसके लिए विदेशी सहायता का भारी प्रयोग किया गया है। इसके बाद अनाज के आयात और ऋण-राहत का स्थान आता है।

विदेशी सहायता के स्त्रोत

भारत ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई स्त्रोतों से विदेशी सहायता प्राप्त की है। इनमें पूंजीवादी और समाजवादी देश तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं सम्मिलित हैं। हाल में विदेशी सहायता पैट्रोलियम उत्पन्न करने वाले देश से विदेशी मुद्रा और कच्चे तेल के रूप में भी प्राप्त की गई है। इन सभी स्त्रोतों को मोटे तौर पर इन चार भागों में विभाजित किया जा सकता है–सहायता-संघ (consortium) के देश[1], विश्व बैंक ग्रुप, समाजवादी देश[2] और अन्य देश।[3]

विदेशी सहायता का सबसे बड़ा भाग सहायता-संघ के सदस्यों से प्राप्त हुआ है जिसमें सदस्य देशों और विश्व बैंक ग्रुप ने बहुत बड़ी मात्रा में योगदान किया है। ग्रुप के रूप में, विदेशी सहायता के योगदान मे दूसरा स्थान समाजवादी देशों का है। तेल-संकट के परिणामस्वरूप तेल-उत्पादक देशों से इधर बड़ी राशि में सहायता मिलने लगी है। प्रमुख ऋणदाता-देशों में, संयुक्त राज्य अमेरिका ने सबसे बड़ी रकम दी है, जो किसी एक स्त्रोत से मिली रकम से बहुत अधिक है। दूसरा स्थान ब्रिटेन का है और उसके बाद क्रमशः पश्चिमी जर्मनी, तेल-उत्पादक देशों, जापान और रूस का स्थान आता है। स्पष्ट है कि धनी देशों ने ही बड़ी रकम प्रदान की है।

विदेशी सहायता के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विवरण जो ऊपर प्रस्तुत किया गया है, उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो भारत को मिली विदेशी सहायता की मात्रा बहुत बड़ी है। इसने देश में पूंजी-निर्माण में बड़ा योगदान किया है। घरेलू बचत के साथ जुड़कर इसने निवेश-दर को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण हाथ बंटाया है।

एक अन्य तथ्य जो सामने आया है, वह यह है कि विदेशी सहायता का बहुत बड़ा भाग आधारिक संरचना के निर्माण, औद्योगिकी विकास और मूलभूत धातु-उद्योगों के विकास में प्रयोग किया गया है। इसके अलावा कृषि-विकास और खाद्यान्न के आयात के लिए भारी मात्रा में विदेशी सहायता का प्रयोग हुआ है। दुःख की बात यह है कि इसका एक भाग ऋण के भुगतान में चला जाता है। भुगतान का समय आने पर चुकता करने की सामर्थ्य न होने के कारण विदेशी सहायता का प्रयोग ऋण-भुगतान के लिए भी किया गया है। चूंकि विदेशी सहायता का बहुत बड़ा ऋण-परिशोधन का भार बढ़ने के अलावा विकास-कार्य अधिक मंहगा बन गया है।

तीसरी विशेषता यह है कि विदेशी सहायता का एक महत्त्वपूर्ण भाग कन्सोर्टियम अथवा सहायता संघ के देशों से आया है। अमेरिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋणदाता रहा है। इसके बाद ब्रिटेन का स्थान आता है। हाल में तेल-उत्पादक ग्रुप का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है। विश्व-संस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का योगदान अपेक्षाकृत अधिक रहा है। इससे उदार शर्तों पर सहायता प्राप्त होती है।

इस प्रकार देश में विदेशी सहायता ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसमें बहुत से देशों और विश्व-संस्थाओं का योगदान रहा है। यहां यह याद रखने की बात है कि विदेशी सहायता सर्वथा श्रेयस्कर नहीं है। इसका एक हानिकारक पहलू भी है। इसलिए विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे संतुलित धारणा बनाने के लिए इसके दोनों पहलुओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

निजी विदेशी पूंजी (Private Foreign Capital)

देश में निजी विदेशी पूँजी का प्रवाह विभिन्न रूपों में रहा है। मोटे तौर से इनको दो कोटियों में विभिक्त किया जा सकता है–(*i*) व्यापारिक ऋण और (*ii*) इक्विटी पूँजी, अर्थात् जोखिम उठाने वाली पूँजी।

व्यापारिक ऋण–यह निजी विदेशी पूँजी का एक छोटा भाग है। ये ऋण विदेशी वित्तीय संस्थाओं, जैसे कि बैंक, से प्राप्त होते हैं। सामान्य तौर से ये अल्पकालिक होते हैं और इनके लिए बाजार-दर से ब्याज चुकाया जाता है। अप्रवासी

नोट

भारतीयों की जमा-राशियाँ भी इसी कोटि में आती हैं। इस दिशा में विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती तो है, लेकिन विदेशी सहायता की तुलना में यह स्त्रोत मंहगा पड़ता हैं यही नहीं बल्कि पर्याप्त मात्रा में और आवश्यकता के समय इसकी उपलब्धि सुनिश्चित नहीं है।

इक्विटी पूँजी–निजी विदेशी पूँजी का बड़ा भाग इक्विटी पूँजी के रूप में आया है जिसका उद्देश्य लाभ कमाना है। देश में इस पूँजी का प्रवाह दो रूपों में रहा है। एक रूप प्रत्यक्ष-पूँजी निवेश का है। इसके अन्तर्गत विदेशी निवेशक मूल कम्पनियों की शाखाएँ खोल कर अथवा भारत में कम्पनियों को स्थापित करके उनमें प्रत्यक्ष रूप से पूँजी लगाते हैं। लाभांश के रूप में उन्हें आय की प्राप्ति होती है। इन कम्पनियों पर उनका पूर्ण स्वामित्व होता है। दूसरे रूप के अन्तर्गत विदेशी निवेशक भारतीय कम्पनियों के शेयर खरीद कर उनमें पूँजी लगाते हैं। यह विदेशी इक्विटी साझेदारी अथवा विदेशी सहयोग का उदाहरण ठहरता है। यहाँ भी लाभांश के रूप में आय अर्जित की जाती है। अब भारतीय विदेशी बाजार में अपने शेयर व बाण्ड बेच कर विदेशी इक्विटी पूँजी जुटाने लगे हैं।

विदेशी सहायता की उपलब्धि घटने के कारण तथा ऋण-परिशोधन की समस्या की गम्भीरता को देखते हुए इधर कुछ वर्षों से निजी विदेशी पूँजी का अधिकाधिक सहारा लिया जाने लगा है।

प्रत्यक्ष निजी विदेशी पूंजी के लाभ

प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश के अपने कुछ विशेष लाभ हैं जिनके कारण इधर इसका सहारा लिया जाने लगा है। इनमें से प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

(1) **संसाधनों में वृद्धि**–निजी विदेशी पूंजी के आने से देश के घरेलू संसाधन बढ़ जाते हैं। निस्सन्देह, सरकारों और विश्व संगठनों से मिलने वाली विदेशी सहायता से भी घरेलू संसाधनों में वृद्धि होती है। लेकिन प्राय: जरूरत के हिसाब से यह कम पड़ती है। इसी प्रकार ऋण के रूप में मिलने वाली निजी विदेशी पूंजी भी सहायक है। लेकिन यह प्राय: जरूरत के हिसाब से यह कम पड़ती है। इसी प्रकार ऋण के रूप में मिलने वाली निजी विदेशी पूंजी भी सहायक है। लेकिन यह साधारण तौर से अल्पकाल के लिए ही मिलती है और इस पर ऊंची दर से ब्याज चुकाना पड़ता है। निजी ईक्विटी पूंजी का जहां तक प्रश्न है, वह निवेशकर्ता की और से स्वत: प्राप्त होती है और इसके सम्बन्ध में निश्चित ब्याज सहित ऋण चुकाने की समस्या नहीं उठती। इसकी उपलब्धि से घरेलू संसाधन बढ़ जाते हैं।

(2) **जोखिम उठाना**–विदेशी निजी पूंजी का सम्भवत: सर्वप्रथम लाभ यह है कि उत्पादन के नये क्षेत्र विकसित करने में निहित यह आरंभिक जोखिम उठाती है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में इसका विशेष महत्त्व है क्योंकि इन देशों में प्रवर्तकों और जोखिम उठाने वाले उद्योगपतियों की बड़ी कमी होती है। इसके अतिरिक्त, विदेशी निवेश के साथ अनुभव, प्रवर्तन और उद्यम के नये क्षेत्र ढूंढ़ने की साधन-क्षमता भी होती है। इन्हीं गुणों के कारण हमारे देश में पैट्रोलियम-शोधक और परिष्कृत इन्जीनियरिंग उद्योगों की शुरूआत हो पाई है।

इसका एक लाभ यह भी है कि इससे प्रापक देश पर पूंजी के भुगतान से सम्बन्धित किसी प्रकार का दायित्व या भार नहीं होता। यदि उद्यम सफल होता है, तो लाभ होगा और यदि असफल होता है, तो हानि विदेशी निवेशकों को ही उठानी पड़ेगी। इसी कारण 'ईक्विटी' पूंजी को विदेशी ऋण की अपेक्षा अधिक अच्छा माना जाता है। विदेशी ऋण पर तो ब्याज चुकाना ही पड़ता है और प्रयोग सफल हो या असफल, ऋण की रकम एक अवधि के बाद अदा करनी पड़ेगी।

(3) **तकनीकी जानकारी**–चूंकि निजी निवेशकों का विदेशी सहयोग वाली कम्पनियों में अशंत: और विदेशी कम्पनियों या उनकी शाखाओं में पूर्णरूप से स्वामित्व होता है, इसलिए वह अपनी तकनीक और प्रबन्धकीय जानकारी अपने साथ लाते हैं। इससे प्रापक देश को अवसर मिलता है कि वह अपने साधनों का कुशल प्रबन्ध करें और निम्नतम लागत की उत्पादन-तकनीक अपनाये। भारत के बहुत से उद्योगों में जैसे पैट्रोलियम शोधक, रसायन, औषधि उत्पादन, हल्के एवं भारी इंजीनियरी आदि उद्योगों में विदेशी पूंजी के प्रवेश से सर्वथा नई तकनीक और उच्चस्तरीय प्रबन्धन का प्रचलन हुआ है।

नोट

(4) **उच्च मानदण्ड**–विदेशी-पूंजी वस्तुओं की क्वालिटी या गुणवत्ता, कर्मचारियों के वेतन और मजदूरी तथा व्यवसायगत व्यवहार आदि का स्तर ऊंचा रखने की परम्पराएं भी अपने साथ लाती हैं। ऐसी बातें केवल विदेशी व्यवसाय के हित को ही नहीं बढ़तीं, बल्कि वे देशी वस्तुओं की गुणवत्ता में वृद्धि करने, कर्मचारियों का वेतन ऊंचा करने, और व्यवसाय सम्बन्धी व्यवहारों के आधुनिकीकरण में भी सहायक सिद्ध होती हैं।

विदेशी पूंजी के ये लाभकारी प्रभाव, भारत में कार्यरत विदेशी कम्पनियों के सहयोग से चल रही फर्मों और अन्य स्वदेशी कम्पनियों में देखे जा सकते हैं, यद्यपि इन लाभों को मात्रात्मक रूप में मापना अत्यन्त कठिन है।

(5) **विपणन सुविधाएं**–निजी विदेशी निवेश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ विस्तृत एवं सुनिश्चित बाजारों की उपलब्धता से सम्बन्धित है। बहुराष्ट्रीय नियमों के उत्पादों के बाजार अनेक देशों में फैले होते हैं। इसका लाभ देश को अपने-आप मिलने लगता है।

(6) **प्रशिक्षण सुविधाएं**–सामान्यतया और विशेष रूप से ऐसी कम्पनियां जो विदेशी पूंजी और तकनीकी जानकारी के सहयोग से काम कर रहीं हैं, भारतीय श्रमिकों को प्रशिक्षण प्रदान करती हैं। प्रशिक्षण में प्रबन्धकीय तकनीकी, दोनों प्रकार के प्रशिक्षण शमिल हैं। इससे उच्चस्तरीय प्रशिक्षित श्रम के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलता है।

विदेशी निजी पूंजी अपने साथ केवल धनराशि और तकनीकी जानकारी ही नहीं लाती, बल्कि विकसित देशों की औद्योगिक संस्कृति भी लाती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... देशों में आन्तरिक या घरेलू संसाधन बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होते हैं।
2. विकास मूलक वस्तुओं का आयात करने की आवश्यकता पड़ने पर ..... की समस्या उठती है।
3. विदेशी सहायता मिलने पर भी, पूँजीगत क्षेत्र के ..... का अपेक्षाकृत बड़ा भाग घरेलू साधनों से ही प्राप्त करना पड़ता है।
4. ..... ऋणों का प्रयोग किसी भी परियोजना के लिए किया जा सकता है या उससे किसी भी देश से सामान खरीदा जा सकता है।
5. ..... में विदेशी सहायता का भारी प्रयोग हुआ है।
6. अल्पकाल में ऋण-सेवा का भार ..... के उपायों द्वारा कम किया जा सकता है।
7. पूँजी के रूप में सहायता मांगने के बजाय ..... के रूप में सहायता लेना उचित है।

23.2 एफ. डी. आई एवं बहुराष्ट्रीय निगम (FDI and Multinational Corporation)

यह प्राय: दावा किया जाता है कि वैश्वीकरण के कारण विदेशी निवेश के अधिक प्रवाह की प्राप्ति होती है जिससे प्रापक अर्थव्यवस्था की उत्पादिता को बढ़ाने में सहायता मिलती है। भारत के संदर्भ में इस पर विचार करना उचित होगा।

विदेशी निवेश दो रूप धारण करता है–विदेशी प्रत्यक्ष निवेश और विदेशी पोर्टफोलिया निवेश (Portfolio investiment)। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश से अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में सहायता प्राप्त होती है जबकि विदेशी पोर्टफोलियो निवेश की प्रकृति परिकल्पी होती है और यह बहुत चंचल होती है। विदेशी निवेश सम्बन्धी आंकड़ों पर ध्यान पूर्वक

नोट

विचार करने से पता चलता है कि 1990-91 और 1994-95 के दौरान कुल विदेशी निवेश में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का भाग 24.2 प्रतिशत था और पोर्टफोलिया निवेश का भाग 75.8 प्रतिशत था। अत: कुल विदेशी निवेश का केवल चौथा भाग उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए उपलब्ध था।

तालिका 1: विभिन्न देशों से विदेशी निवेश का प्रवाह

करोड़ यू. एस डालर

वर्ष	प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (1)	पोर्टफोलिया विदेशी निवेश (2)	कुल
1990-91	9.7	0.6	10.3
1991-92	12.9	0.4	13.3
1992-93	31.5	24.4	55.9
1993-94	58.6	356.7	415.3
1994-95	131.4	382.4	513.8
1995-96	214.4	274.8	489.2
1996-97	282.1	331.2	6133
1997-98	355.7	182.8	538.5
1998-99	246.2	−61	240.1
	(102.5)	(−2.5)	(100.0)
1999-00	215.5	302.6	518.1
2000-01	402.9	276.0	678.9
2001-02	613.0	202.1	815.1
2002-03	503.5	97.9	601.4
	(27.5)	(72.5)	(100.0)
2003-04	432.2	1,137.7	15,69.9
	(83.7)	(16.3)	(100.0)
2004-05	565.3	931.3	1,496.6
1990-91 to	**244.1**	**764.5**	**1,008.6**
1994-95	**(24.2)**	**(75.8)**	**(100.0)**
1995-96 to	**1,313.9**	**1,085.3**	**2,399.2**
1999-2000	**(54.8)**	**(45.2)**	**(100.0)**
2001-01 to	**2,516.9**	**2,645.0**	**5,161.9**
2004-2005	**48.8**	**(51.2)**	**(100.0)**

ब्रैकिट में दिए गए आंकड़े कतार में कुल का प्रतिशत हैं।

नोट

तीन-चौथाई बहुत चंचल एवं अस्थिर था। 1995-96 से 1999-2000 की 5-वर्षीय अवधि के लिए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का कुल निवेश में भाग बढ़ कर 55 प्रतिशत हो गया। किन्तु विदेशी पोर्टफोलिया निवेश का भाग लगभग 55 प्रतिशत के स्तर पर अभी भी ऊंचा था। अगले 5 वर्षों की अवधि (2001-01 से 2004-05) के दौरान, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का भाग 48.8 प्रतिशत था और विदेशी पोर्टफोलिया निवेश का 51.2 प्रतिशत रहा अर्थात् यह पिछले 5 वर्षों की अवधि में लगभग बराबर था।

किन्तु इन आंकड़ों का वर्षानुसार अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की तुलना में विदेशी पोर्टफोलिया निवेश में उच्चावचन कहीं अधिक तीव्र थे। उदाहरणार्थ, विदेशी पोर्टफोलिया निवेश में 1995-96 से 1998-99 के दौरान लगातार गिरावट आई और यह 1994-95 में 382.4 करोड़ डालर से गिरता हुआ 1998-99 में 6.1 करोड़ डालर के नकारात्मक स्तर पर पहुंच गया किन्तु यह 1999-00 में फिर जीवित होकर 302.6 करोड़ डालर हो गया। यह इसके अति अस्थिर होने और फिर पुनर्जीवित हो जाने का संकेत है। इसके बाद फिर विदेशी पोर्टफोलिया निवेश में गिरावट आयी और यह 2002-03 में 97.9 करोड़ डालर के नीचे स्तर पर पहुंच गया, किन्तु फिर पुनर्जीवित होकर 2003-04 में 1,137.7 करोड़ डालर के उच्च स्तर पर पहुंच गया। विदेशी फोर्टफोलिया निवेश का कुल निवेश में भाग जो 2002-03 में 16.3 प्रतिशत के निम्न स्तर पर पहुंच गया था फिर तेज़ी से बढ़ कर 2003-04 में लगभग 72.5 प्रतिशत हो गया। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि विदेशी पोर्टफोलियों निवेश अविश्वसनीय है। इसकी तुलना में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के आंकड़ों से इसकी धीरे धीरे वृद्धि का संकेत मिलता है। यह निवेश 1991-92 में 12.9 करोड़ डालर था जो बढ़कर 1994-95 में 131.4 करोड़ डालर हो गया और फिर और बढ़कर 1997-98 में 355.7 करोड़ डालर पर पहुंच गया। तत्पश्चात् यह 2001-02 में 613 करोड़ डालर के शिखर पर पहुंच गया। इसके बाद इसमें गिरावट आयी और यह 2003-04 में कम होकर 432.2 करोड़ डालर हो गया। इसका अर्थ यह कि नीति निर्माण के लिए मेज़बान देश विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के नियमित अन्तप्रर्वाह पर भरोसा कर सकता है यदि इस उद्देश्य के लिए प्रोत्साहक वातावरण कायम कर दे।

यह समझना अत्यन्त वांछनीय होगा कि वे कौन से क्षेत्र हैं जिनमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश हो रहा है ताकि यह विश्लेषण किया जा सके कि क्या इनसे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता का विस्तार होता है। तालिका 4 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि ऐसे कौन से क्षेत्र हैं जिनमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश आकर्षित हो रहा है। जनवरी 1991 से मार्च 2004 तक कुल स्वीकृत विदेशी निवेश का लगभग 69 प्रतिशत पांच उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों से सम्बन्धित है। ये क्षेत्र हैं: ऊर्जा, टेलीसंचार, बिजली के उपकरण, परिवहन और धातुकर्म उद्योग। परन्तु वास्तविक अन्तर्प्रवाहों से पता चलता है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की स्वीकृतियों एवं वास्तविक अन्तर्प्रवाहों में भारी अन्तर हैं। उदाहरणार्थ, ऊर्जा क्षेत्र में 77,825 करोड़ रुपये की कुल स्वीकृतियों के विरुद्ध, वास्तविक अन्तर्प्रवाह केवल 9,802 करोड़ रुपये था अर्थात् केवल 12.6 प्रतिशत। टेलीसंचार में भी परिस्थिति उतनी ही निराशाजनक थी और अन्तर्प्रवाह का अनुपात 18.7 प्रतिशत था। बिजली के उपकरणों, परिवहन, रसायन एवं सेवा क्षेत्र में निष्पादन बेहतर था और वास्तविक अन्तर्प्रवाह 42 से 53 प्रतिशत के बीच रहा। परन्तु कुल रूप में 2,54,131 करोड़ रुपये की स्वीकृतियों (Approvals) के विरुद्ध वास्तविक अन्तर्प्रवाह केवल 67,462 करोड़ रुपये अर्थात् 26.8 प्रतिशत था। इसमें सन्देह नहीं कि स्वीकृतियों एवं वास्तविक अन्तर्प्रवाहों में कुछ अन्तर तो रहता ही है परन्तु इनमें इतनी बड़ी खाई का विद्यमान होना यह संकेत देता है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के रूप में प्राप्त वास्तविक सहायता में बहुत धीमी प्रगति हुई और इस प्रकार इससे भारत जैसे अल्पविकसित देश के विकास में प्रोत्साहन भी बहुत सीमित हो जाता है। यदि वैश्वीकरण को अपनी प्रभावित। सिद्ध करनी है, तो स्वीकृत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और वास्तविक अन्तर्प्रवाहों के अन्तर को दूर करना होगा।

नोट

तालिका 2 : वे क्षेत्र जिनमें अधिकतम प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की स्वीकृतियां दी गयीं और वास्तविक अन्तर्प्रवाह (जनवरी 1991 से मार्च 2004 तक)

क्षेत्र	स्वीकृत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (करोड़ रु.) (1)	कुल का प्रतिशत (2)	प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अन्तर्प्रवाह (करोड़ रुपये) (3)	कुल प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रतिशत (4)	अन्तप्रर्वाह कुल स्वीकृतियां के प्रतिशत के रूप में 5 = 3/1×100
1. ऊर्जा जिसमें	77,828	26.62	9,802	10.21	12.6
(का) पावर	43,703	14.95			
(ख) तेल परिशोधन	34,125	11.67			
2. टेली संचार	57,328	19.61	10,725	11.17	18.7
3. बिजली उपकरण*	28,072	9.94	13,930	14.50	47.9
4. परिवहन	21,966	7.51	11,517	11.99	52.4
5. सेवा क्षेत्र	19.261	6.59	8,134	8.47	42.2
6. धातु कर्म उद्योग	15,534	5.31	1,254	1.31	8.1
7. रसायन (उर्वरकों को छोड़कर)	13,090	4.48	5,692	5.93	43.5
8. खाद्य एवं खाद्य-प्रसंस्करण	9,620	3.29	4,346	4.53	45.2
9. होटल एवं पर्यटन	5,215	1.78	899	0.87	17.2
10. टैक्साइल्स	3.517	1.20	1,163	1.21	33.1
कुल (1 से 10 तक)	**2,51,431**	**86.33**	**67,462**	**70.19**	**26.8**

नोट–इनमें कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर और इलैक्ट्रानिक्स शमिल हैं।

बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Corporations)

एकाधिकार और आर्थिक केन्द्रीयकरण की समस्याएं अब किसी एक राष्ट्र तक ही सीमित न रहकर अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित करने लगी है। ऐसे भी वृहद् आकार के निगम या कम्पनियां हैं जो एक से अधिक देशों में फैली हुई हैं। ऐसे राष्ट्रपार निगमों के गुण भी हैं और अवगुण भी जिनका अध्ययन करना इनके प्रति नीति-निर्धारण के लिए जरूरी है, ताकि इनसे अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके और इनकी हानियों से यथा संभव बचा जा सके।

अर्थ और कार्यक्षेत्र की सीमा– बहुराष्ट्रीय निगमों के सही ढंग से विवेचन के लिए सर्वप्रथम इनके अर्थ कार्यक्षेत्र को समझना जरूरी है। **अर्थ**–बहुराष्ट्रीय निगमों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है: यह एक ऐसी कम्पनी है जो एक से अधिक देशों में फैली होती है और जिसका उत्पादन और सेवा-सुविधाएं उस देश के बाहर भी होती हैं जिसमें यह जन्म लेती हैं। ऐसी कम्पनियों को अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी या बहुराष्ट्रीय कम्पनी/निगम कहा जाता है। ऐसी कम्पनियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके प्रमुख निर्णय पूरे विश्व के संदर्भ में लिए जाते हैं जिसके कारण इनके निर्णय बहुधा उस देश की नीतियों से मेल नहीं खाते जिनमें ये कार्य करती हैं। इनके अधिकतम लाभ के उद्देश्य में इस बात का समावेश नहीं होता कि इनकी क्रियाओं की प्रतिक्रिया उस देश पर क्या होगी जिसमें ये कार्यरत होती हैं। ये कम्पनियां विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से कार्य करती है। अल्पविकसित देशों में ये अपनी नियंत्रित कम्पनी या कम्पनियों जिन पर उनका पूरा स्वामित्त्व होता है, के माध्यम से कार्य करती हैं। ये नियंत्रित, दूसरे देश की कम्पनियों के साथ मिलकर संयुक्त उद्यम स्थापित कर लेती हैं, या फिर विभिन्न देशों की कम्पनियों के साथ उत्पादन और बाजार आदि के सम्बन्ध में समझौता कर सकती हैं।

नोट

बाजार में अल्पाधिकार स्थापित करना–अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के उदय और प्रसार से उत्पादन और निवेश का भी अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ है। चूँकि यह कार्य बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा किया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण भाग इन निगमों का आन्तरिक लेन-देन बन गया है। दूसरे शब्दों में, बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्पादन, निवेश और व्यापार सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओं का एक महत्त्वपूर्ण भाग अंतर-फर्म लेन-देन होता है। इसके फलस्वरूप, बाजार में अल्पाधिकार और केन्द्रीयकरण का विकास होता है। संक्षेप में, आंतरिक एकाधिकार और आर्थिक केन्द्रीयकरण से भिन्न, बहुराष्ट्रीय निगम अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार और विश्व-स्तर पर आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का प्रतीक है।

विस्तृत क्षेत्र–बहुराष्ट्रीय निगमों का उद्‌भव यद्यपि गत् लगभग 25-30 वर्षों से ही हुआ है, ये बहुत से देशों में फैल चुके हैं। इस प्रकार की कम्पनियां लगभग सभी विकसित देशों में पाई जाती हैं। ये संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे अधिक हैं। इन कम्पनियों का कार्य-क्षेत्र अपने देशों के बाहर विकसित एवं अल्पविकसित, दोनों प्रकार के देशों तक फैल चुका है। यहां तक कि समाजवादी देश भी इनकी पहुंच के बाहर नहीं हैं। बहुराष्ट्रीय निगम अल्पविकसित देशों में भी मौजूद हैं। अनुमान है कि इन देशों में इनकी संख्या 1000 से भी अधिक है। अल्पविकसित देशों के बहुराष्ट्रीय निगम अन्य विकासशील देशों में कार्य करते हैं। किन्तु विकसित देशों के बहुराष्ट्रीय निगमों की तुलना में ये कहीं नही उठते। उदाहरणार्थ, भारतीय संयुक्त उद्यमों द्वारा मध्य 1979 तक अन्य विकासशील देशों में किया गया कुल निवेश केवल 390 लाख डालर का था। समस्त भारतीय उद्यमों में किये गये निवेश का यह मूल्य किसी विकसित देश के एक औसत निगम द्वारा किये गये निवेश से भी बहुत कम ठहरता है। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगमों का मामला मुख्य रूप से विकसित देशों का ही मामला है।

विविध कार्यकलाप–बहुराष्ट्रीय निगमों के कार्यकलाप अनेक और विभिन्न प्रकार के हैं। इनका बोध दो स्तर पर किया जा सकता है। एक प्रकार के कार्यकलाप में वे सेवाएं शामिल हैं जिनका सम्बन्ध पूंजीगत तकनीक-अन्तरण और उत्पादों के विपणन आदि की जानकारी के लिए शोध और उसके विकास से हैं। इन कार्यकलाप में किये गये निवेश को प्रत्यक्ष निवेश कहा जाता है। दूसरे स्तर पर वस्तु और उत्पादन आते हैं। इनसे सम्बन्धित कार्यकलाप मुख्यतया खनिज और पैट्रोलियम जैसे गतिशील क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। इसके अलावा, ये कंपनियां, 'बेबी फूड' और कृषि उत्पादनों सहित खाद्य-सामग्री के क्षेत्र में भी कार्य करती है। इतना ही नहीं, इन कम्पनियों का दखल अल्पविकसित देशों को विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात के क्षेत्र में भी है। इन सेवाओं और उत्पादों को उपलब्ध कराने में ये उत्पादक और क्रेता, दोनों रूपों में कार्य करती हैं।

नोट्स भारत में बहुराष्ट्रीय निगम औषधीय उद्योग, विद्युत मशीनरी और रसायन, एल्युमिनियम धातु और उत्पाद, भारी इंजीनियरी सामान आदि उद्योगों में कार्यरत हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों के गुण– बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने कुछ गुण हैं जिनका उल्लेख विश्व-अर्थव्यवस्था या किसी एक विशेष अर्थव्यवस्था अथवा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के संदर्भ में इन निगमों की भूमिका का मूल्यांकन करते समय किया जाना चाहिए।

पूंजी और तकनीक–इन निगमों का एक महत्त्वपूर्ण लाभ पूंजी की आपूर्ति से सम्बन्धित है। यह औद्योगीकरण की आरम्भिक अवस्थाओं में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण रहा है जबकि अल्पविकसित देशों के लिए पूंजी प्राप्त करने के कुछ ही स्रोत उपलब्ध थे। जैसे-जैसे पूंजी विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध होने लगी और जब बहुराष्ट्रीय निगम भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से पूंजी प्राप्त करने लगे, वैसे-वैसे तकनीक के अन्तरण की समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण बनती गई। बहुराष्ट्रीय निगम के माध्यम से भी तकनीक का अन्तरण विभिन्न देशों में हुआ है। इस प्रकार से आन्तरिक तकनीक विभिन्न देशों में प्राप्त साधन-भण्डारों के अनुकूल नहीं भी हो सकती है। यह बात पूंजी-प्रधान देशों से

नोट

श्रम-प्रधान देशों को आन्तरिक तकनीक विभिन्न देशों में प्राप्त साधन-भण्डारों के अनुकूल नहीं भी हो सकती है। यह बात पूंजी-प्रधान देशों से श्रम-प्रधान देशों को अन्तरित अनुपयुक्त तकनीक के बारे में अधिक लागू होती है। ये निगम ऐसी अनुकूलित तकनीक के अन्तरण के लिए भी उत्तरदायी हैं जो अकुशल श्रम-प्रधान हैं। ऐसा इसलिए किया गया कि इस प्रकार उत्पादन-लागत कम बैठने से अधिक लाभ कमाया जा सकता था। अल्पविकसित देशों मे उपलब्ध सस्ते श्रम का लाभ उठाने के लिए राष्ट्र-पार उद्यमों ने अपने विनिर्माण वस्तु क्षेत्र के उत्पादन की तकनीक में अनेक बार महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। इतना ही नहीं, ये बहुराष्ट्रीय निगम नई तकनीक के विकास में समर्थ हो सकते हैं और रहे भी हैं। इसका कारण यह है कि इनके पास विशाल मात्रा में कौशल और संसाधन उपलब्ध हैं। इनके प्रयोग से श्रम-प्रधान तकनीक का विकास किया जा सकता है।

श्रम-प्रधान तकनीक के अलावा, उत्पादन के कुछ ऐसे हैं जिनका विकास पूंजी-प्रधान तकनीक के बिना नहीं हो सकता, जैसे पेट्रोलियम, रसायन, खनिज आदि उद्योग। इन क्षेत्रों से तकनीक का अन्तरण लाभप्रद हो सकता है। ऐसी तकनीक का उत्पादन चाहे स्थानीय हो या इसे आयात किया जाए, इसके लिए बहुत अधिक साधन और समय की आवश्यकता होती है। समय की बचत करने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों का सहारा लिया जा सकता है, विशेषतया कच्चे तेल जैसी आवश्यक वस्तु के उत्पादन की संभावना की वृद्धि के लिए।

शोध एवं विकास–तकनीक प्रगति के साथ तकनीक-विषयक शोध एवं विकास पर होने वाले व्यय का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इस व्यय का एक बड़ा भाग बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उनको अपने देश के बाहर किया जाता है, यद्यपि यह व्यय अल्पविकसित देशों में बहुत कम है। फिर भी, इस सीमित व्यय से कुछ लाभ उठाए जा सकते हैं। साध ारणतया इस व्यय में वृद्धि की जा सकती है, और की जानी चाहिए, क्योंकि अल्पविकसित देशों में लगे लोगों का वेतन-स्तर विकसित देशों की तुलना में बहुत नीचा है।

विपणन–उत्पादन-सम्बन्धी तकनीक के अलावा, बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उपलब्ध कराये जाने वाली "विपणन सेवाएँ" अल्पविकसित देशों में विकसित देशों को विनिर्मित माल के निर्यात के सम्बन्ध में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। निर्यात-विपणन एक ऐसी क्रिया है जिसमें विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप सम्मिलित हैं, जिन्हें बहुराष्ट्रीय निगम अल्पविकसित देशों की अपेक्षा अधिक कुशलता से कर सकते हैं। इन क्रियाकलापों में बाजार सम्बन्धी शोध, विज्ञापन, विपणन-सूचनाओं का प्रसार, गोदाम, यातायात, भण्डार का प्रबन्ध, पैकिंग की डिजायन तैयार करना और वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुंचाना आदि सम्मिलित हैं। यह सारे काम अल्पविकसित देशों के लिए बहुराष्ट्रीय निगम बहुत अधिक कुशलता से कर सकते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों के अवगुण

जहां एक और बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने अनेक गुण हैं, वहीं दूसरी और इनमें बहुत-से-अवगुण भी हैं। कुछ विशेष क्षेत्रों में इन निगमों को चुनते या अपनाते समय इनके गुणों के साथ-साथ इनके अवगुणों को भी ध्यान में रखना और दोनों को आमने-सामने रखकर निर्णय लेना जरूरी है।

उत्पादकों और उपभोक्ताओं के लिए हानिकारक–चूंकि बहुराष्ट्रीय निगम बहुत से देशों में फैले होते हैं, इसलिए ये किसी के प्रति निष्ठावान नहीं होते। इसके अलावा, इनका स्वरूप अल्पाधिकारी का होता है। अत: ये शक्ति का प्रयोग करके संभावित या वास्तविक प्रतियोगिता को समाप्त करते हैं। अपनी इच्छाओं को उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं पर लादने की ये अनेक तरकीबें अपनाते हैं। ये सट्टा बाजार में हेरा-फेरी करते हैं और धोखे भरे विज्ञापन से वस्तु-विभेद करते हैं। इस प्रकर वे अपने विश्वव्यापी लाभ को अधिकतम करने में सफल हो जाते हैं। अमेरिका के बहुराष्ट्रीय निगमों के एक अध्ययन से इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले गए हैं कि इनके कारण उपभोक्ताओं को ऊंची कीमतें देनी पड़ती हैं, किसानों की आय घटती है और वस्तुओं की गुणवत्ता में गिरावट आती है, जबकि इन निगमों के लाभ में भारी वृद्धि होती है।

कीमत-निर्धारण के अन्तरण की बुराइयां–बहुराष्ट्रीय निगमों ने बहुधा कीमत-निर्धारण में लुटने की नीति अपनाई है जिसमें ऐसी तरकीबें शामिल हैं, जैसे विभिन्न फर्मों के बीच बाजार का बंटवारा, बाजार में हेरा-फेरी, वस्तु-विभेद

नोट

आदि। कीमत-निर्धारण इन बहुत-सी तरकीबों को "कीमत-निर्धारण का अन्तरण" कहा जाता है। इसका तात्पर्य उस कीमत से है जो अन्तर-फर्म के लेन-देन में अपनाई जाती है। इसका उद्देश्य एक निगम द्वारा नियंत्रित सभी फर्मों के लाभ को अधिकतम करना है। ऐसा भी कहा जाता है कि ये निगम ऐसे देशों में जहां करों की दर नीची है, वहां अपने से सम्बन्धित कम्पनियों को ऊंची कीमतों पर माल बेचते हैं और ऊंची कर-दर वाले देशों में स्थित सम्बन्धित कम्पनियों से नीची कीमतों पर माल खरीदते हैं। इस नीति के द्वारा वे टैक्स से बचते हैं और दोनों प्रकार की कम्पनियों के सामूहिक लाभों को बढ़ाते हैं। कभी-कभी तो ये निगम नीची कर-दर वाले देशों में नकली या दिखावटी व्यापारी कम्पनियों की स्थापना करते हैं और अपने संपूर्ण लाभ को अधिकतम करने के लिए नकली फर्मों के माध्यम से लेन-देन में हेरा-फेरी करते हैं। इसके अलावा मूल निगम अपनी सम्बन्धित कम्पनियों के लाभ एक बड़ा भाग 'रायल्टी', तकनीकी फीन्स, प्रबन्ध सेवा-शुल्क आदि के रूप में चूस लेते हैं। इससे सम्बद्ध कम्पनियों का लाभ घट जाता है। इस तरह जिन देशों में ऐसी कम्पनियां काम करती हैं, उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ती है।

टास्क पूँजी और तकनीक में क्या संबंध है?

मुद्रा के सम्बन्ध में हेरा-फेरी—बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा वित्त प्राप्त करने में और अपने हित में उसका प्रयोग करने में अन्य वर्गों पर इसके कुपरिणाम की परवाह किए बिना जो हेरा-फेरा की जाती है, वह कम हानिकारक नहीं है। चूंकि बहुराष्ट्रीय निगम विभिन्न देशों में फैले होते हैं, इसलिए इनका लेन-देन विभिन्न देशों की मुद्रा में होता है। ये निगम दुलर्भ करेन्सी को लाभप्रद स्थानों पर एकत्रित करते जाते हैं और सुलभ करेन्सी के सम्बन्ध में अपनी सम्बद्ध कम्पनियों को निर्देश कम्पनियों को निर्देश देते हैं कि ऋण एकत्रित करें और पुराने ऋणों का भुगतान समय से पहले करें। संक्षेप में, इनकी नीति दुर्लभ मुद्रा के रूप में सम्पत्ति अर्जित करने और सुलभ मुद्रा के रूप में ऋण एकत्रित करने की होती है। इस प्रकार से ये मुद्रा-संकट की स्थिति को और गंभीर बनाते हैं। यद्यपि ये गतिविधियां इन निगमों की विशेष-क्रिया के बाहर होती हैं, फिर भी ये ऐसा अपने लाभ को बढ़ाने के लिए करते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों के इस व्यवहार से अल्पविकसित देशों को लाभ की अपेक्षा हानि होती है क्योंकि इन देशों की मुद्राएं और भी निर्बल होती जारी हैं।

व्यवसाय में अनैतिकता—बहुराष्ट्रीय निगमों की एक बुराई जिससे विशेषतया अल्पविकसित देशों को भारी आर्थिक हानि होती है, वह यह है कि इनके व्यावसायिक व्यवहार साधारण व्यवसाय सम्बन्धी नैतिक और मेजबान देशों की वैधानिक प्रणाली से परे होते हैं, जैसे इनके अन्तर-फर्म लेन-देन और अन्तरण-कीमत के सम्बन्ध में कपटपूर्ण व्यवहारी बहुराष्ट्रीय निगमों ने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के देशों में प्रभावशाली लोगों को अपना काम कराने के लिए घूस भी दी है। व्यावसायिक क्षेत्र के अलावा, इन निगमों के मूल देशों ने मेजबान देशों की राजनीति में भी हस्तक्षेप किया है। यह इनकी गतिविधियों का गंभीर पहलू है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के गुण-दोषों का विवेचन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनसे होने वाले लाभ बहुत सीमित हैं। इन निगमों की प्रासंगिकता और उपयोगिता अल्पविकसित देशों में विकास की आरंभिक अवस्था में उन मामलों में हैं जहां विकसित तकनीक को प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, और विकसित देशों में कुछ विनिर्मित वस्तुओं को बेचने की आवश्यकता होती है। इन क्षेत्रों के बाहर इन पर निर्भर होना हानिकारक है, क्योंकि इसके लिए कीमत बहुत अधिक चुकानी पड़ती है। इसलिए प्रयास नहीं किया जाना चाहिए कि इन पर निर्भरता कम-से-कम और यथासंभव इन पर निर्भर होने से बचना चाहिए।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct Option)–

1. किस सन् के पश्चात् भारत से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश में वृद्धि के परिणामस्वरूप शुद्ध अन्तर्प्रवाहों में महत्वपूर्ण कमी हुई–

   (क) सन् 2001 के (ख) सन् 2002 के

   (ग) सन् 2003 के (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रयोग विकासशील देशों को प्राप्त तुलनात्मक लागत-लाभ को बनाना है–

   (क) स्थिर (ख) प्रभावी

   (ग) निष्प्रभावी (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के उदय और प्रसार से किसका अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ है–

   (क) उत्पादन (ख) निवेश

   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सबसे ज्यादा अधिक हैं–

   (क) संयुक्त राज्य अमेरिका में (ख) जापान में

   (ग) इंग्लैण्ड में (घ) इनमें से कोई नहीं।

23.3 सारांश (Summary)

- भारत जैसे अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए विशेषत: विकास के आरम्भिक चरणों में, विदेशी सहायता का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।
- विदेशी सहायता से प्रापक देशों के संसाधनों में वृद्धि संभव बन जाती है। इससे इन्हें कई प्रकार से सहायता मिलती है। एक तो विदेशी सहायता से प्रापक देशों में बहुत-सी परियोजनाओं का निर्माण संभव हो जाता है जो अन्यथा संभव नहीं होता। कुछ विकास-कार्यक्रम अत्युत्तम परिणाम देते हैं, बशर्ते कि कार्यक्रम के सभी अंग साथ-साथ और प्रभावशाली ढंग से लागू किए जाएं।
- विकास के आरम्भिक चरणों में इन वस्तुओं का आयात करना आवश्यक होता है। इन विकासमूलक वस्तुओं का आयात करने की आवश्यकता पड़ने पर, विदेशी विनिमय की समस्या उठती है। इनका पर्याप्त आयात करने के लिए अल्पविकसित देशों के पास न तो इतना सोना होता है और न ही इतना विदेशी विनिमय का भण्डार या रिजर्व।
- विदेशी सहायता का बहुत बड़ा भाग आधारिक संरचना के निर्माण, औद्योगिकी विकास और मूलभूत धातु-उद्योगों के विकास में प्रयोग किया गया है। इसके अलावा कृषि-विकास और खाद्यान्न के आयात के लिए भारी मात्रा में विदेशी सहायता का प्रयोग हुआ है।
- देश में विदेशी सहायता ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसमें बहुत से देशों और विश्व-संस्थाओं का योगदान रहा है। यहां यह याद रखने की बात है कि विदेशी सहायता सर्वथा श्रेयस्कर नहीं है। इसका एक हानिकारक पहलू भी है। इसलिए विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे संतुलित धारणा बनाने के लिए इसके दोनों पहलुओं का अध्ययन करना आवश्यक है।
- इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विदेशी सहायता ने भारत के विकास-प्रयास में कई प्रकार से योगदान किया है। इसने न केवल पूंजीगत उपकरण और तकनीक के आयात के लिए हमारे विदेशी विनिमय संसाधनों को बढ़ाया है, बल्कि एक सीमा तक अर्थव्यवस्था में स्थायित्व लाने में भी मदद की है। लेकिन साथ ही इसने बहुत-सी समस्याओं को भी जन्म दिया है।

नोट

- विदेशी ऋण भुगतान-दायित्त्व की मात्रा और इससे उत्पन्न होने वाले परिणामों को देखते हुए हमें, जहां तक सम्भव हों, उसकी मात्रा कम करनी चाहिए और इसका भुगतान अपने निजी साधनों से करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सविस्तार सझाव देने से पहले उन कारणों पर विचार कर लेना आवश्यक है जिनके प्रभाव से हमारे विदेशी ऋण भुगतान-दायित्व में इतनी तेजी से वृद्धि हुई है।
- देश में निजी विदेशी पूँजी का प्रवाह विभिन्न रूपों में रहा है। मोटे तौर से इनको दो कोटियों में विभिक्त किया जा सकता है–(*i*) व्यापारिक ऋण और (*ii*) इक्विटी पूँजी, अर्थात् जोखिम उठाने वाली पूँजी।
- निजी विदेशी पूंजी की इन अनेक कमियों को देखते हुए ऐसे प्रबन्ध किए जाने आवश्यक हैं, जिससे कि ऐसी पूंजी का दुरुपयोग ने होने पाए।
- विदेशी निवेश दो रूप धारण करता है–विदेशी प्रत्यक्ष निवेश और विदेशी पोर्टफोलिया निवेश (Portfolio investiment)। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश से अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में सहायता प्राप्त होती है जबकि विदेशी पोर्टफोलियो निवेश की प्रकृति परिकल्पी होती है और यह बहुत चंचल होती है।
- एकाधिकार और आर्थिक केन्द्रीयकरण की समस्याएं अब किसी एक राष्ट्र तक ही सीमित न रहकर अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित करने लगी है। ऐसे भी वृहद् आकार के निगम या कम्पनियां हैं जो एक से अधिक देशों में फैली हुई हैं। ऐसे राष्ट्रपार निगमों के गुण भी हैं और अवगुण भी जिनका अध्ययन करना इनके प्रति नीति-निध रिण के लिए जरूरी है, ताकि इनसे अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके और इनकी हानियों से यथा संभव बचा जा सके।
- बहुराष्ट्रीय निगमों का उद्भव यद्यपि गत् लगभग 25-30 वर्षों से ही हुआ है, ये बहुत से देशों में फैल चुके हैं। इस प्रकार की कम्पनियां लगभग सभी विकसित देशों में पाई जाती हैं। ये संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे अधिक हैं।
- जहां एक और बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने अनेक गुण हैं, वहीं दूसरी और इनमें बहुत-से-अवगुण भी हैं। कुछ विशेष क्षेत्रों में इन निगमों को चुनते या अपनाते समय इनके गुणों के साथ-साथ इनके अवगुणों को भी ध्यान में रखना और दोनों को आमने-सामने रखकर निर्णय लेना जरूरी है।
- बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा वित्त प्राप्त करने में और अपने हित में उसका प्रयोग करने में अन्य वर्गों पर इसके कुपरिणाम की परवाह किए बिना जो हेरा-फेरा की जाती है, वह कम हानिकारक नहीं है। चूंकि बहुराष्ट्रीय निगम विभिन्न देशों में फैले होते हैं, इसलिए इनका लेन-देन विभिन्न देशों की मुद्रा में होता है।

23.4 शब्दकोश (Keywords)

- **रायल्टी**–स्वत्व शुल्क।
- **विपणन**–विक्रय व्यापार।
- **अन्तरण**–व्यवधान डालना, हस्तान्तरण।

23.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत के विशेष संदर्भ में अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता की भूमिका पर विचार कीजिए।
2. विदेशी सहायता के प्रयोग से देश को जिन समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उनका संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
3. एफ.डी.आई. की विवेचना कीजिए।

नोट

4. बहुराष्ट्रीय निगम क्या हैं? इनके कार्य-कलापों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
5. बहुराष्ट्रीय निगमों के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए। इस संबंध में किस प्रकार की नीति उपयुक्त रहेगी।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. 1. अल्पविकसित 2. विदेशी विनिमय 3. निवेश 4. अनिबद्ध
5. औद्योगिक विकास 6. ऋण-राहत 7. व्यापार।

2. 1. (क) 2. (ग) 3. (ग) 4. (क)

23.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–24: भारत में संघीय वित्त व्यवस्था (Fiscal Federalism in India)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

24.1 भारत में संघीय वित्त व्यवस्था (Fiscal Federalism in India)

24.2 सारांश (Summary)

24.3 शब्दकोश (Keywords)

24.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

24.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में संघीय वित्त व्यवस्था की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

किसी देश की सरकार के दो रूप हो सकते हैं, एकात्मक (Unitary) या संघीय (Federal)। इसी आधार पर वित्तीय प्रणाली को भी दो वर्गों में बांटा जाता है: एकात्मक वित्त प्रणाली (Unitary Finance System) और संघीय वित्त प्रणाली (Federal Finance System)। एकात्मक वित्त प्रणाली में केवल केन्द्र सरकार ही देश में सभी मदों पर व्यय करती है एवं सभी स्रोतों से राजस्व भी केन्द्र सरकार के खजाने (Exchequer) में हो जाता है। दूसरी ओर, संघीय वित्त प्रणाली में राजस्व एवं व्यय की सभी मदें केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकारों में विभाजित होती हैं। भारत की वित्तीय प्रणाली भी संघीय है। भारत के संविधान में भी संघ और राज्यों के आय के स्रोत एवं व्यय की मदें अलग-अलग दिए गए हैं। केन्द्र द्वारा लगाए जाने वाले कर संघ सूची में और राज्यों द्वारा लगाए जाने वाले कर राज्य सूची में दिए गए हैं। समवर्ती (Concurrent) सूची में कोई कर का प्रावधान नहीं है। समवर्ती सूची से संबंधित मदों के बारे में संसद तथा संबंधित राज्य की न्यायपालिका मिलकर कानून बना सकती है।

संघीय वित्त प्रणाली में सबसे कठिन समस्या केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच वित्तीय संबंधों की है। भारत के संविधान में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कार्यों एवं संसाधनों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है। किन्तु एक कल्याणकारी राज्य में केन्द्र एवं राज्य सरकारें दोनों ही विकासात्मक कार्य करते हैं। वास्तव में वित्तीय साधनों का आवंटन इस तरह होना चाहिए जिससे वे अपने-आप दायित्वों को उचित ढंग से पूरा कर सकें। परन्तु एक समस्या यह भी है कि सरकारों के कार्य एवं उत्तरदायित्व निरंतर बदलते रहते हैं, इसलिए इनके बीच कार्यों का स्पष्ट विभाजन नहीं हो सकता है।

24.1 भारत में संघीय वित्त व्यवस्था (Fiscal Federalism in India)

नोट

भारत में संघीय वित्त का विकास केन्द्रीय प्राधिकरण में धीरे-धीरे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के पथ पर हुआ है। वर्ष 1871 तक प्रांतों के पास राजस्व के पास राजस्व के अपने साधन नहीं थे। उन्हें केन्द्र से प्राप्त अनुदानों पर ही रहना पड़ता था। उन्हें सर्वप्रथम 1871 में कुछ राजस्व मदें सौंपी गईं, परन्तु इनसे होने वाले राजस्व की अपर्याप्तता के कारण केन्द्रीय अनुदानों की प्रथा भी बनी रही। सन् 1904 में विभाजित मदों की व्यवस्था को अपनाया गया। इसके अंतर्गत भूमि लगान, सिंचाई, उत्पादन शुल्क और स्टाम्प-शुल्क आदि से प्राप्त राजस्व केन्द्र और प्रांतों में विभाजित किया जाता था तथा कुछ अन्य राजस्व (जैसे डाक और तार, रेलवे, नमक, अफीम और टकसाल से आय) केवल केन्द्र के पास रहते थे। इस व्यवस्था में भी केन्द्र से प्रांतों को अनुदान देने का कार्य चलता रहा। भारत सरकार अधिनियम 1919 (जो 1921 में लागू किया गया) के अधीन विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया थोड़ी और सुदृढ़ हुई। क्षेत्रीय और स्थानीय महत्त्व की कई मदें प्रांतों को सौंप दी गईं, परन्तु राष्ट्रव्यापी मामले केन्द्र ने अपने हाथ में ही रखे। इस व्यवस्था में कार्यक्षेत्र और साधनों में तालमेल का अभाव था। प्रांतों को दिए गए वित्तीय साधनों से पर्याप्त राजस्व की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसके विपरीत उनके कार्यभार में लगातार फैलाव की प्रवृत्ति निहित थी। प्रांतों के साधनों में भूमि लगान, सिंचाई से प्राप्तियाँ, उत्पादन शुल्क, स्टाम्प्स तथा पंजीकरण तथा वन आदि थे। अन्य साधन स्त्रोत (जैसे कि आय कर, डाक-तार, रेलवे, नमक, अफीम, सीमा शुल्क, करेंसी, सिक्का निर्माण तथा टकसाल आदि) केन्द्र के पास थे। इसके बावजूद यह धारणा अपनाई गई कि प्रांतों के पास साधनों की अधिकता थी तथा इस कारण उन्हें केन्द्र को अंशदान (contributions) देने चाहिए। इसी दृष्टिकोण पर आधारित मैस्टन कमेटी का गठन किया गया जिसने इन अंशदानों के बारे में विस्तृत सिफारिशें तैयार कीं। परन्तु कुछ ही वर्षों में वस्तुस्थिति हो गई कि अंशदान की प्रथा को त्यागकर केन्द्र को प्रांतों की सहायता देने का कार्यभार संभालना पड़ा।

इससे अगला महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारत सरकार अधिनियम 1935 (जो 1937 में लागू हुआ) के अधीन आया। इस अधिनियम का ढाँचा ही बाद में भारतीय संविधान का भी आधार बना जिसमें केन्द्र तथा राज्यों के आपसी वित्तीय नातों की विस्तृत रूपरेखा बनाई गई। इस अधिनियम में वित्तीय दृष्टिकोण से एक सुदृढ़ केन्द्र की रचना की गई। कुछ करों को अनिवार्य रूप से तथा कुछ को स्वैच्छिक स्तर पर, केन्द्र और राज्यों में साझेदारी का प्रावधान किया गया। इसी प्रकार केन्द्र से राज्य सरकारों को अनुदान देने की भी व्यवस्था रखी गई।

संविधान में संघीय वित्त-व्यवस्था (Financial Federalism Under Constitution)

भारत का संविधान 1950 में लागू हुआ। इसका ढाँचा काफी हद तक भारत सरकार अधिनियम 1935 से मिलता-जुलता है। संविधान में सभी सरकारी कार्यक्षेत्रों और वित्तीय साधनों को तीन भागों में बाँटा गया है, जिनमें से एक भाग केन्द्र के लिए एक राज्य सरकारों के लिए, तथा एक भाग दोनों के लिए साँझा हैं। इसमें विभिन्न प्रकार से कर-विभाजन तथा अनुदानों का प्रबन्धन है। इस समस्त व्यवस्था के गठन में प्रशासनिक और वित्तीय कार्यकुशलता को उचित प्राथमिकता दी गई है। देशव्यापी अथवा अन्तरराज्यीय साधन केन्द्र को सौंपे गए हैं तथा यही आधार कार्य-मदों के आबंटन में भी अपनाया गया है।

संविधान के सातवें परिशिष्ट (Schedule) में तीन सूचियाँ हैं, जिनमें केन्द्र तथा राज्यों के विषय अनुसूचित किए गए हैं। इन्हीं विषयों में वे भी शामिल हैं जिनसे वित्तीय साधनों की प्राप्ति होती है अथवा उनका हस्तांतरण किया जाता है। संविधान के 73वें तथा 74वें संशोधनों से पूर्व स्थानीय निकायों का अस्तित्व अनिवार्य नहीं था। राज्यों द्वारा स्थानीय निकायों के गठन हेतु कानून पास किए जाते थे। स्पष्ट है कि इस गठन में स्थानीय निकायों के कार्यक्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण राज्य विधान मंडलों के दृष्टिकोण पर निर्भर करता था। उनके वित्तीय साधन भी राज्य सूची में से ही हस्तांतरित किए जाते थे। 73वें तथा 74वें संशोधनों के आधार पर अब राज्य विधान मंडलों के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि निर्दिष्ट प्रकार के स्थानीय निकायों का गठन करें, जो स्थानीय इलाकों के ग्रामीणपन अथवा शहरीपन के अनुकूल हों। परन्तु अभी भी स्थानीय निकायों को कार्य (तथा वित्तीय साधनों) की मदों का हस्तांतरण राज्य सूची में

नोट

से ही किए जाने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, हर राज्य के लिए स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति का अध्ययन करने और इस संदर्भ में उचित सिफारिशें करने के लिए एक राज्य वित्त आयोग का प्रावधान भी किया गया है।

प्रथम सूची-संघ सूची (First List-Union List)

कर-राजस्व (Tax Revenue)

संघ सूची मे 97 अदराज (Entries) हैं, जिनमें से निम्नलिखित केन्द्र सरकार के कर राजस्व की मदें हैं–

(1) कृषि-भिन्न आय पर कर (अदराज 82),

(2) सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क सहित (अदराज 83),

(3) भारत में उत्पादित अथवा निर्मित तम्बाकू तथा अन्य वस्तुओं पर उत्पाद शुल्क सिवाए

(*i*) मानवीय उपभोग के लिए शराब (alcoholic liquor), तथा

(*ii*) अफीम, देशी भाँग तथा अन्य नशीली औषधियों एवं मादक पदार्थों के (परन्तु ऐसी औषधियाँ और स्नान सामग्री को छोड़कर जिनमें इन पदार्थों का प्रयोग किया गया हो) (अदराज 84),

(4) निगम कर (निगम कर कम्पनियों की आय पर लगाया गया कर है, इसकी परिभाषा अनुच्छेद 366 में दी गई है) (अदराज 85),

(5) कृषि भूमि को छोड़कर व्यक्तियों और कम्पनियों की परिसम्पत्तियों के पूँजी मूल्य पर कर, कम्पनियों की पूँजी पर कर (अदराज 87),

(6) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा कर (अदराज 87),

(7) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर अर्थांतरण (Succession) कर (इंदराज 88),

(8) रेलवे, सागर तथा वायु यातायात से जाने वाले यात्रियों और वस्तुओं पर अंतस्थ कर (Terminal taxes), रेल के किरायों और भाड़ों पर कर (अदराज 89),

(9) स्टाक एक्सचेंजों और आगामी मंडियों (Future Markets) में होने वाले सौदों पर स्टाम्प शुल्कों को छोड़कर अन्य कर (अदराज 90),

(10) विनिमय-पत्रों (Bills of Exchange), चैकों, प्रोनोटों (प्रामिस्सरी नोटों), लदान पत्रों (Bills of loading), साख पत्रों, बीमा पालिसियों, शेयरों, ऋण पत्रों, प्रतिपत्रों और रसीदों के हस्तांतरण पर स्टाम्प शुल्क की दरें (अदराज 91),

(11) समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर (अदराज 92),

(12) समाचार पत्रों के छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर जब यह क्रय-विक्रय अन्तरराज्यीय व्यापार अथवा वाणिज्य के कारण हो (अदराज 92-अ),

(13) व्यापार अथवा वाणिज्य के लिए वस्तुओं के अन्तरराज्ययीय प्रेषित माल (Consignments) पर कर (अदराज 92-ब),

(14) इस सूची से सम्बद्ध मामलों पर वे फीसें जो न्यायालय में न ली गई हों (अदराज 96),

(15) सुप्रीम कोर्ट (उच्चतम न्यायालय) में ली गई फीसें (अदराज 77)।

कर-भिन्न राजस्व (Non-Tax Renevue)

केन्द्रीय सरकार के कर-भिन्न राजस्व में निम्नलिखित मदें शामिल हैं–

1. उधार–संविधान के अनुच्छेद 292 के अंतर्गत भारत सरकार भारत की समेकित निधि की आश्वस्तता के आधार पर देश के अन्दर से तथा विदेशों से उधार ले सकती है। इस संदर्भ में संसद अपनी इच्छानुसार ऋण की मात्रा को सीमाबद्ध कर सकता है।

नोट

2. सरकारी उद्यमों तथा एकाधिकारों से आय–इस वर्ग में करेंसी, सिक्का निर्माण तथा टकसाल, भारतीय रिजर्व बैंक, रेलवे, डाक–तार तथा अन्य वाणिज्यिक और गैर–वाणिज्यिक उद्यम, तथा लाटरियों आदि से होने वाली आय शामिल है।
3. सरकार को अपनी प्रशासनिक गतिविधियों तथा आधिपत्य के अधिकारों के कारण भी कई प्राकर की आय प्राप्तियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए इस वर्ग में (क) सरकारी जायदाद से आय, (ख) व्यपगमन (Lapse) तथा राजगमन (Escheat) से मिलने वाली आय अथवा सम्पत्ति (ग) युद्ध–क्षति पूर्ति (घ) तथा अफीम की खेती, निर्माण तथा निर्यात आदि से होने वाली आय आदि शामिल हैं।

द्वितीय सूची–राज्य सूची (Second List - State List)

इस सूची में राज्यों की कार्य–मदें तथा वित्तीय साधनों को दर्शाने हेतु 66 अदराज हैं जिनमें से वित्तीय साधनों से सम्बद्ध निम्नलिखित हैं–

कर–राजस्व (Tax Revenue)

इस सूची में राज्य सरकारों के कर राजस्व के निम्नलिखित स्रोत हैं–

(1) भू–राजस्व (अदराज 45),
(2) कृषि आय पर कर (अदराज 46),
(3) कृषि भूमि के अर्थांतरण पर शुल्क (अदराज 47),
(4) कृषि भूमि पर सम्पदा कर (अदराज 48)
(5) भूमि खंड़ों तथा भवनों पर कर (अदराज 49),
(6) खनिजीय विकास हेतु संसद द्वारा पारित कानूनी प्रतिबन्धों के अंतर्गत खनन अधिकारों पर कर (इंदराज 50),
(7) राज्य में निर्मित अथवा उत्पादित निम्नलिखित वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क तथा भारत में अन्य स्थानों पर निर्मित अथवा उत्पादित ऐसी ही वस्तुओं पर बराबर अथवा कम दर पर संतुलनकारी शुल्क–(क) मानवीय उपभोग के लिए शराब, तथा (ख) अफीम, देशी भाँग तथा नशीली औषधियाँ अथवा मादक पदार्थ, परन्तु उन औषधीय तथा प्रसाधन सामग्रियों को छोड़कर जिनमें इन पदार्थों का प्रयोग किया गया है (इंदराज 51),
(8) किसी स्थानीय इलाके में उपभोग, प्रयोग अथवा बिक्री के लिए लाई जाने वाली वस्तुओं पर कर (अदराज 52),
(9) विद्युत के उपभोग तथा बिक्री पर कर (अदराज 53),
(10) वस्तुओं के क्रय–विक्रय पर कर, सिवाए समाचार पत्रों के तथा सिवाए अंतरराज्यीय बिक्री के (अदराज 54),
(11) विज्ञापनों पर कर, सिवाए इसके जब वे समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हों (अदराज 55),
(12) सड़कों तथा अंतर्देशीय जल मार्गों द्वारा जाने वाले यात्रियों तथा वस्तुओं पर कर (अदराज 56),
(13) सड़कों पर चलने वाले वाहनों पर कर (अंदराज 57),
(14) पशुओं तथा नावों पर कर (अदराज 58),
(15) पथ कर, अर्थात् टोल्स (अदराज 59),
(16) धंधों, व्यापारों रोजगारों तथा पेशों पर कर (60),
(17) प्रति–व्यक्ति कर (Capitation Taxes) (अदराज 61)
(18) विलासिता की वस्तुओं पर कर (मनोरंजन, आमोद–प्रमोद, शर्तबाजी तथा जुआबाजी पर करों सहित) (अदराज 62),
(19) दस्तावेजों पर स्टाम्प शुल्क की दरें, सिवाए उन दस्तावेजों के जिन पर भारत सरकार द्वारा स्टाम्प शुल्क लगाया जाता हो (अदराज 63),

नोट

(20) कचहरी की फीसों को छोड़ कर, राज्य सूची की मदों में सम्बद्ध फीसें (अदराज 66),

(21) उच्चतम-न्यायालय को छोडकर सभी न्यायालयों में ली गई फीसें (अदराज 3),

(22) कुछ निर्दिष्ट केन्द्रीय करों का भाग।

***कर-भिन्न राजस्व* (*Non-Tax Revenue*)**

राज्यों के कर-भिन्न राजस्व में, निम्नलिखित शामिल हैं–

(1) संविधान के अनुच्छेद 293 के अधीन एक राज्य सरकार अपनी समेकित निधि की आश्वस्तता के आधार पर उधार ले सकती है, परन्तु यह आधार केवल देश के अन्दर से ही लिया जा सकता है तथा ऋणदात्री भारत सरकार भी हो सकती है। राज्य के विधान मंडल द्वारा राज्य के ऋण की सीमा निर्धारित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार की ऋणी हो अथवा भारत सरकार की जमानत पर किसी ऋण को पूरा अथवा आंशिक रूप से चुकाना बाकी हो, तो भारत सरकार का यह अधिकार बनता है कि राज्य सरकार पर कोई भी ऐसी शर्तें लागू कर दे जिन्हें पूरा करने पर ही वह नया ऋण ले सके।

(2) राज्य सरकार के पूर्ण अथवा अधूरे स्वामित्व वाले उद्यमों से आय।

(3) राज्य सरकार के स्वामित्व में सार्वजनिक सम्पत्ति से आय।

(4) खदानों, वनों तथा निखात-निधियों से स्वत्व शुल्क (Royalty from mines, forests and treasure troves)।

(5) केन्द्रीय सरकार से सहायता अनुदान।

(6) केन्द्रीय सरकार से अन्य अनुदान।

तृतीय सूची-सहवर्ती सूची (Third List - Concurrent List)

इस सूची में वे विषय दर्ज हैं जिनसे सम्बद्ध कानून केन्द्र तथा राज्य दोनों बना सकते हैं। इस सूची में कर राजस्व की कोई मद नहीं है, जिस कारण केन्द्र तथा राज्य एक साथ किसी एक ही कराधार पर करारोपण नहीं कर सकते। इसी प्रकार इस सूची में कर-भिन्न प्राप्तियाँ सरकारी गतिविधयों के परिणाम मात्र के रूप में है। यह भी स्मरणीय है कि यदि किसी विषय पर केन्द्र और किसी राज्य दोनों द्वारा कानून बनाए जाएँ तथा इनमें परस्पर विरोधाभास हो तो इनमें से केन्द्रीय कानून को मान्यता दी जाएगी।

वित्त आयोग (Finance Commission)

वित्त आयोग की संस्था भारत के संविधान की मुख्य विशेषताओं में से एक है। अनुच्छेद 280 का यह कहना है कि संविधान के लागू होने के दो वर्षों के भीतर राष्ट्रपति द्वारा प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की जाए तथा इसके पश्चात हर पाँचवें वर्ष अथवा आवश्यकता पड़ने पर, इससे पहले, नए आयोग की नियुक्ति की जाए। एक बार आयोग की नियुक्ति हो जाने पर उस की सिफारिशों पर ही राज्यों का विचाराधीन साधनों का हस्तांतरण किया जा सकता है। कानूनी दृष्टिकोण से राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह आयोग की सिफारिशों को रद्द कर दे अथवा संशोधित रूप में स्वीकार करे परन्तु वास्तविकता में आयोग की सिफारिशें लगभग सदैव ही स्वीकारी जाती रही है। कालान्तर में बदलती परिस्थितियों से निपटने के लिए साधन-वितरण की कोई ऐसी प्रणाली प्रभावी नहीं हो सकती जो आवश्यकतानुसार परिवर्तनीय न हो। भारत मं इस प्रकार की परिवर्तनशीलता का औचित्य और भी अधिक है, क्योंकि यहाँ पर व्यापक आर्थिक परिवर्तित स्थिति के अध्ययन का अवसर मिलता है तथा आवश्यकतानुसार साधन हस्तांतरण प्रणाली में सुधार किया जा सकता है। परन्तु इस सारे कथन का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि वित्त आयोग के कारण साधन हस्तांतरण की प्रणाली का त्रुटिरहित होना सुनिश्चित हो जाता है। व्यावहारिकता के स्तर पर इसमें कई ऐसे दोष पाए जाते हैं जिन्हें पूरी तरह सुधारा नहीं जा सकता।

अब तक दस वित्त आयोगों का गठन हो चुका है तथा सबकी रिपोर्टें भी दाखिल की जा चुकी हैं। प्रथम आयोग

नोट

की रिपोर्ट दिसम्बर 1952 में तथा दसवें आयोग की रिपोर्ट नवम्बर 1994 में दाखिल की गई थी। ग्यारवहें वित्त आयोग की नियुक्ति वर्ष 1997 में अपेक्षित थी।

नोट्स वित्त आयोग की व्यवस्था इस धारणा पर आधारित है कि देश में सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच साधन आबंटन की प्रणाली आवश्यकतानुसार संशोधनीय होनी चाहिए।

कार्यक्षेत्र (Jurisdiction)

केन्द्र से राज्यों को साधन हस्तांतरण प्रणाली में वित्त आयोग का कार्यक्षेत्र निम्न प्रकार से है–

I. कराधान (Taxation)

(1) *आयकर*–संविधान के अनुसार, अधिभार को छोड़कर, केन्द्र द्वारा वसूल किए गए आय कर की निवल प्राप्तियों में राज्यों का भागीदार होना जरूरी है। इस संदर्भ में आयोग के दो मुख्य कार्य है: (क) यह सिफारिश करना कि सकल विभाज्य पूँजी (divisible pool) में केन्द्र तथा राज्यों के हिस्से किस अनुपात में हों: तथा (ख) राज्यों के सामूहिक हिस्से में उन के व्यक्तिगत अनुपात क्या हों। ध्यान रहे कि आयोग को कोई ऐसी सिफारिश करने का अधिकार नहीं है जिसका उद्देश्य सकल विभाज्य पूजी में घटा-बढ़ी करना हो। आय कर की दरों, छूटों, रियासतों तथा अधिभार आदि के बारे में आयोग कोई सिफारिश नहीं कर सकता तथा न ही सकल विभाज्य पूँजी के अनुमान के ढंग में परिवर्तन का सुझाव दे सकता है।

(2) *संघ-उत्पाद कर* (Union Excise Duties): आयोग को संघ उत्पाद के बँटवारे पर विचार करने अथवा न करने के लिए आदेश देने का अधिकार राष्ट्रपति को है। वैसे वस्तुस्थिति यह है कि राष्ट्रपति ने हर आयोग को इस विषय पर विचार करने के लिए आदेश दिया है। यहाँ भी आयोग उत्पाद शुल्क के ढाँचे में किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा सुधार की सिफारिश नहीं कर सकता। आयोग केवल इस बात की सिफारिश कर सकता है कि उत्पादन शुल्कों में से किनकी निवल प्रप्तियाँ राज्यों से साथ *विभाज्य* हों, उन में से केन्द्र और राज्यों के तुलनात्मक प्रतिशत भाग क्या हों तथा राज्यों के सामूहिक हिस्से को उन में किस प्रकार बाँटा जाए। इस प्रकार आयोग के पास उत्पाद शुल्कों पर लगाए गए अधिभार एवं उपकरों को सकल विभाज्य पूँजी में शामिल करने की सिफारिश कर पाना शामिल नहीं है।

संघ उत्पाद शुल्कों में प्रयुक्त कुछ शब्द ऐसे हैं जिनकी जानकारी के अभाव में इन के विभाजन के मामले को समझने में भूल हो सकती है। सर्वप्रथम यह याद रखना चाहिए कि भारत सरकार द्वारा आयोजित उत्पाद शुल्कों में पहला वर्ग *बुनियादी तथा विशेष* उत्पाद शुल्कों का है। आयोग इन की निवल प्राप्तियों के विभाजन के बारे में सिफारिशें कर सकता है। संघ उत्पाद शुल्कों में दूसरा वर्ग वस्तुओं पर लगाए गए *उपकरों* का है। इन उपकरों की प्राप्तियाँ राज्यों के साथ विभाज्य नहीं होती, तथा आयोग इनके सम्बन्ध में सिफारिशें नहीं करता। संघ उत्पाद शुल्कों के तीसरे वर्ग को *वस्त्र और वस्त्र आदि पर अतिरिक्त शुल्क* के नाम से जाना जाता है। इनकी प्राप्तियाँ भी भारत सरकार के पास ही रहती है तथा वित्त आयोग को इनके विभाजन के बारे सिफारिशें करने का अधिकार नहीं है। संघ उत्पाद शुल्कों के चौथे वर्ग में *बिक्री कर के एवज में अतिरिक्त उत्पाद शुल्क* आते हैं। राज्य सरकारों ने कुछ वस्तुओं पर बिक्री कर लगाने के अपने अधिकार को त्यागकर भारत सरकार को बदले में अतिरिक्त उत्पाद शुल्क लगाने की अनुमति दी हुई है। अत: उन उत्पाद शुल्कों की सारी निवल प्राप्तियाँ राज्यों में ही वितरण की जाती हैं। इस वितरण की सिफारिशें वित्त आयोग के द्वारा की जाती हैं।

(3) *अनुच्छेद 269 के अनुसरण में आरोपित कर* : इस अनुच्छेद के अनुसरण में आरोपित करों की समस्त निवल प्रप्तियाँ राज्यों को सौंपी जाती हैं। वित्त आयोग को इन करों मं किसी प्रकार के संशोधन की सिफारिश करने

नोट

का अधिकार नहीं है। आयोग केवल यह सिफारिश कर सकता है कि इन राजस्व प्राप्तियों को राज्यों में किस प्रकार वितरित किया जाए। भारत सरकार ने अब तक केवल दो बार करारोपण के लिए इस अनुच्छेद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार भारत सरकार द्वारा लगाए जाने वाले सम्पदा कर को 1985-86 में हटा दिया गया। इस समय इस अनुच्छेद के अंतर्गत कोई भी कर नहीं लगाया जा रहा।

क्या आप जानते हैं 1957 से 1961 तक रेलवे यात्रियों के किरायों पर कर लगाया गया था, जो बाद में बुनियादी किरायों में मिला दिया गया।

II. अनुदान (Grants)

(1) राष्ट्रपति के आदेश पर वित्त आयोग राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाता है तथा इनके लिए *राजस्व सहायता-अनुदानो* (Grants-in-aid of Revenue) की सिफारिश करता है। यह सिफारिश करने का दायित्व भी इसी आयोग का होता है कि इन अनुदानों को किन *सिद्धांतों* के आधार पर तय किया जाए। यह आवश्यक नहीं कि सभी राज्यों को अनुदान मिलें अथवा सभी के लिए अनुदान राशियाँ एक समान हों।

(2) वित्त आयोग एक अथवा एक से अधिक राज्यों के लिए *विशेष-परियोजन* (special-purpose) *अनुदानों* की भी सिफारिश कर सकता है। इस कार्य को राष्ट्रपति के आदेश द्वारा भी आयोग विचारणीय विषयों में शामिल किया जा सकता है।

उपरोक्त प्रकार के अनुदानों *संविधिक अनुदानों* (*Statutoty Grants*) की संज्ञा दी जाती है। ये अनुदान संविधान के अनुच्छेद 275 की धारा (1) के आधीन आते हैं। परन्तु इस धारा के कुछ परंतुक (Provisos/प्रतिबन्ध अथवा उपबन्ध) ऐसे भी हैं जिनसे सम्बद्ध अनुदानों की सिफारिश करना वित्त आयोग के अधिकार से परे है।

(3) संविधान के अनुच्छेद 282 के अधीन केन्द्र राज्यों को अपनी इच्छा पर भी अनुदान दे सकता है। इन्हें ऐच्छिक अनुदान (Discretionary grants) कहते हैं। सामान्य दौर पर वित्त आयोग उनकी राशियों अथवा उनके राज्यों में आबंटन पर सिफारिश नहीं कर सकता। परन्तु इस वर्ग में से भी एक अथवा एक से अधिक अनुदानों को वित्त आयोग के विचारणीय विषय का भाग बनाया जा सकता है। राष्ट्रपति के आदेश पर आयोग इनकी राशियों तथा वितरण ढाँचे पर अपनी सिफारिशें कर सकता है।

III. अन्य मामले (Other Matters)

राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग को एक सुनिश्चित वित्त व्यवस्था के लिए निर्दिष्ट मामलों और समस्याओं का अध्ययन करने तथा सिफारिशें करने को कहा जा सकता है। राज्यों की ऋण स्थिति, उनके लिए ऋण रात की अभिप्रेतता एवं व्यवस्था, प्राकृतिक प्रकोपों में राहत व्यय का वित्त-पोषण, योजना-भिन्न स्कीमों तथा अन्य परिसम्पत्तियों का रख-रखाव आदि इन मामलों तथा समस्याओं के कुछ उदाहरण है परन्तु स्मरणीय है कि *आयोग राज्यों को नए ऋण देने की सिफारिश नहीं कर सकता।*

IV. प्रतिबन्ध (Restrictions)

आयोग को अपनी सिफारिशें करते समय कई प्रकार के प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, सातवें आयोग से लेकर अब तक एक प्रतिबन्ध यह लगाया जाता रहा है कि राज्यों के कर-राजस्व और सहायता अनुदानों में व्यक्तिगत भाग निर्धारित करने वाले घटकों में यदि जनसंख्या भी हो तो उसके आँकड़े 1971 की जनगणना के ही होंगे। इसी प्रकार, आयोग का विचारणीय विषय तय करते हुए बहुधा यह प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है कि अपनी सिफारिशें का निर्माण करते हुए बहुधा यह प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है कि अपनी सिफारिशों का निर्माण करते हुए केन्द्रीय सरकार और उसकी वित्तीय आवश्यकताओं, राज्य-योजनाओं के वित्त-पोषण हेतु

नोट

केन्द्रीय सहायता के निर्धारण, वितरण और उनकी प्रथाओं, राज्य-उद्यमों से निवेशित राशियों पर आय मिलने की अभिप्रेतता, राज्यों द्वारा वित्तीय-प्रबन्ध में सुधार की गुंजायश आदि को ध्यान में रखे।

नवे वित्त आयोग पर दो नए प्रकार के निम्नलिखित प्रतिबन्ध भी लगाए गए थे–

(क) आयोग को आदेश था कि केन्द्र और राज्यों की प्राप्तियों और व्यय के पूर्वानुमान वस्तुस्थिति के आधार पर नहीं, प्रत्युत मानकीय (Normative) आधार पर किए जाएँ। इसका अर्थ यह था कि इन पूर्वानुमानों में व्यय मदों के औचित्य तथा साधन जुटाने मे किए जा सकने वाले प्रयत्नों को आधार बनाया जाए।

(ख) आयोग से यह कहा गया कि अपनी सिफारिशों का आकार इस प्रकार रखे कि केन्द्र और राज्य दोनों 1994-95 तक अपने राजस्व खाते से घाटे से छुटकारा पा सकें तथा हो सके तो पूँजी निर्माण के लिए इस खाते में अधिशेष की स्थिति प्राप्त कर सकें।

इसी प्रकार दसवें वित्त आयोग पर मानकीय पद्धति को अपनाने के स्थान पर कई अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए गए जिनमें कर-राजस्व को बढ़ाने की गुंजायश, केन्द्र और राज्य सरकारों के बजटीय संतुलन की प्राप्ति, राजकोषीय घाटे में कमी और पूँजी निवेश के लिए साधन एकत्रण, व्यय में सुधार की गुंजायश राज्यों द्वारा उद्यमों में निवेशित पूँजी से अपेक्षित उचित आय तथा राज्यों और केन्द्र की विशेष बुनियादी आवश्यकताओं आदि को गिनवाया जा सकता है।

परन्तु इस प्रकार की सभी बंदिशों के बावजूद आयोग को यह अधिकार है कि वह अपनी आवश्कतानुसार हर प्रकार की सूचना प्राप्त कर सके: अपनी कार्य-पद्धति निर्धारित कर सके: तथा व्यक्तियों, व्यक्ति समूहों, संस्थाओं, कम्पनियों, व्यापार संगठनों, श्रम संगठनों एवं सरकारों आदि से वार्तालाप, स्मरण पत्रों तथा अन्य तरीकों के जानकारी प्राप्त कर सके।

V. कसौटियों का चुनाव (Choice of Criteria)

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या वित्त आयोग को अपनी सिफारिशें देते हुए कुछ वस्तुनिष्ठ कसौटियों को अपनाना चाहिए? इसका उत्तर केवल हाँ में ही दिया जा सकता है। आत्मनिष्ठ कसौटियों का स्थान उन निर्णयों में नहीं हो सकता जिनसे पूरे देश के वित्तीय प्रबन्ध का प्रश्न जुड़ा हुआ हो। इन वस्तुनिष्ठ कसौटियों का चुनाव भी देश के हित को ध्यान में रखते हुए ही किया जाना चाहिए।

परन्तु वस्तुनिष्ठ कसौटियों के चुनाव में भी कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे कि

(क) विभिन्न सम्भव कसौटियों में से किनको चुना जाए तथा किनको छोड़ दिया जाए।

(ख) कालान्तर में इनमें किस प्रकार का परिवर्तन किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए इस संदर्भ में अन्तरराज्यीय आर्थिक असमानताओं को दूर करने के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। क्या केन्द्र से राज्यों को साधन हस्तांतरण का प्रयोग इन असमानताओं को घटाने के लिए किया जाना चाहिए? इस प्रश्न का कोई पूर्व निश्चित उत्तर नहीं है। कुछ लोगों के तर्कानुसार ऐसा किया जाना चाहिए तथा कुछ अन्य लोगों के मतानुसार ऐसा करने का कोई औचित्य नहीं बैठता है। एक मत यह भी हो सकता है कि वित्त हस्तांतरण की कुछ मदों से इस भूमिका को निभाने की अपेक्षा की जाए, परन्तु अन्य मदों से नहीं। उदाहरण के लिए जिन करों को केन्द्र राज्यों की ओर से लगाता तथा वसूलता है, उनके आबंटन द्वारा अन्तरराज्जीय विषमताएँ घटाने के उद्देश्य का कोई औचित्य नहीं बैठता। परन्तु सहायता अनुदानों द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति की चेष्टा की जा सकती है। इसी प्रकार आर्थिक विषमताओं को दूर करने के उद्देश्य को मान्यता देने की पश्चात भी यह तय करना शेष रहता है कि अन्तरराज्यीय विषमताओं के प्रमापण क्या हों तथा उनकी चयन-पद्धति क्या हो। वैसे स्मरणीय वस्तुस्थिति यह है कि विभिन्न वित्त आयोगों द्वारा चुनी गई कसौटियों में काफी अन्तर रहा है तथा बहुधा एक आयोग द्वारा भी विभिन्न साधन मदों के लिए अलग-अलग कसौटियों को आधार माना गया है।

नोट

टास्क अनुदान किसे कहते हैं?

वित्त आयोग और कर-विभाजन (Finance Commission and Tax Sharing)

1. आयकर (Income Tax): आय कर ही केवल ऐसा कर है जिनकी निवल प्राप्तियाँ अनुच्छेद 270 के अनुसरण में राज्यों के साथ अनिवार्य रूप से विभाज्य हैं परन्तु संविधान का यह भी कहना है कि निगम कर (ब्वतचवतंजपवद जंग) तथा निगम कर और अन्य करों पर किसी प्रकार का संघ अधिभार और उपकर आदि राज्यों के साथ विभाज्य नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त आय कर की विभाज्य पूँजी (अर्थात् केन्द्र तथा राज्यों में विभाज्य राशि) के अनुमान में संघ राज्य क्षेत्रों से संबन्धित आयकर की निवल प्राप्तियाँ, संघीय परिलब्धियों के सम्बन्ध में देय कर तथा संघीय परियोजनों के लिए लगाए गए आयकर के अधिभार को विभाज्य पूँजी से बाहर रखा जाता है।

इस संदर्भ में राज्यों को केन्द्र से कई प्रकार की शिकायतें हैं। केन्द्र द्वारा अधिभार का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। राज्य यह भी चाहते हैं कि निगम कर भी विभाज्य पूँजी एक अंग हो, विशेषकर इसलिए कि यह भी कृषि-भिन्न आय कर ही एक भाग है जो व्यवसाय-क्षेत्र अदा करता है। उन्हें एक अन्य शिकायत यह है कि 1959 में आय कर के कानून में इस प्रकार से संशोधन किया गया कि राज्यों के साथ तब तक विभाज्य पूँजी का एक अंश अविभाज्य हो गया। इस संशोधन से पूर्व कम्पनियों द्वारा अदा किए गए कर का एक भाग आय कर माना जाने के कारण राज्यों के साथ विभाज्य था। परन्तु 1959 में आय कर नियमों में इस प्रकार परिवर्तन किया गया कि कम्पनियों द्वारा (उनकी आय पर) अदा किया जाने वाला सारा कर निगम कर की परिभाषा के अंतर्गत आ गया तथा राज्यों के साथ अविभाज्य हो गया।

इस प्रकार आय कर के सम्बन्ध में वित्त आयोग को तीन प्रश्नों का सामना करना पड़ता है–

(1) राज्य इस बात पर दबाव डालते रहे हैं कि निगम कर को भी विभाज्य पूँजी में जोड़ा जाए। स्पष्ट है कि संविधान में उपयुक्त संशोधन के बिना वित्त आयोग इस सुझाव को नहीं मान सकता।

(2) राज्य यह तर्क देते हैं कि विभाज्य पूँजी में से उन्हें मिलने वाले अनुपात को बढ़ाया जाए।

(3) राज्यों का इस बात पर मतभेद रहता है कि उनके सामूहिक हिस्से में से उनके व्यक्तिगत भाग किस आधार पर तय किए जाएँ। स्पष्ट है कि हर राज्य उस आधार की माँग करता है जिससे स्वयं उसको लाभ हो सके। इस संदर्भ में हम चार ऐसे मुख्य आधारों का वर्णन कर सकते हैं जिन का राज्य सरकारें विशेष रूप से समर्थन करती रही हैं।

(क) कराधार का *आकार*, अर्थात उन राशियों का कुल जोड़ जिन पर करदाताओं की करदेयता निर्धारित की गई हो। इस आधार की त्रुटि यह है कि कर राजस्व की राशि तथा करारोपित आयों के जोड़ में (विशेषकर कर की दरें अनुपाती न होने पर) कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता।

(ख) कर राजस्व की *उगाही* अर्थात् कर राजस्व की वास्तविक प्राप्तियाँ। इस आधार की त्रुटि यह बताई जाती है कि करारोपित आय का स्त्रोत किसी एक राज्य में तथा उस पर वसूला गया कर किसी अन्य राज्य में हो सकते हैं।

(ग) कराधार का स्त्रोत, अर्थात् वह राज्य जहाँ पर करारोपित आय की उत्पत्ति हुई हो। सैद्धांतिक स्तर पर बँटवारे का यह एक अच्छा आधार है, परन्तु वास्तविकता में इस बारे में पूरी जानकारी मिलना अति कठिन रहता है।

(घ) *आवश्यकता*, अर्थात् विभिन्न राज्यों की राजकोषीय आवश्यकताओं की तुलनात्मक स्थिति।

अधिकतर वित्त आयोगों ने आय कर में राज्यों के व्यक्तिगत भाग तय करने में उगाही, अथवा उगाही और आवश्यकता

नोट

के जोड़ का प्रयोग किया है। परंतु *आवश्यकता* के सैद्धांतिक औचित्य को सिद्ध करने के साथ इसके प्रयोग में कई अन्य कठिनाइयाँ भी आती हैं। इसमें सबसे बड़ी समस्या राज्यों की राजकोषीय आवश्यकता के मापने की है। इसके लिए प्रति व्यक्ति आय, प्रशासनिक और सामाजिक सेवाओं का स्तर, जनसंख्या का आकार अथवा घनत्व आदि घटकों का वर्णन किया जा सकता है। वैसे वस्तुस्थिति यह रही है कि अधिकतर वित्त आयोगों ने जनसंख्या के आकार को ही राज्यों की राजकोषीय आवश्यकता का तुलनात्मक माप मानने पर संतोष किया है, जब कि आयकर-भिन्न स्त्रोतों के आबंटन में आर्थिक पिछड़ेपन, प्रति-व्यक्ति आय तथा अन्य कई ऐसे घटकों का प्रयोग भी किया गया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. भारत का संविधान लागू हुआ था-
   (क) सन् 1950 में (ख) सन् 1951 में
   (ग) सन् 1956 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. संविधान के किस अनुच्छेद के आधीन एक राज्य सरकार अपनी समेलित निधि की आश्वस्ता के आधार पर आधार ले सकती है-
   (क) 286 (ख) 293
   (ग) 295 (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. प्रथम आयोग की रिर्पोट कब दाखिल की गई-
   (क) दिसंबर 1950 (ख) दिसंबर 1951
   (ग) दिसंबर 1952 (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. किस वित्त आयोग पर मानकीय पद्वति को अपनाने के स्थान पर कई अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए गये-
   (क) दशवें (ख) ग्यारहवें
   (ग) बारहवें (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. किस कर की निवल प्राप्तियाँ अनुच्छेद 270 के अनुसरण में राज्यों के साथ अनिवार्य रूप से अविभाज्य है-
   (क) सम्पत्ति कर (ख) आयकर
   (ग) (क) और (ख) आयकर (घ) इनमें से कोई नहीं।

24.2 सारांश (Summary)

- भारत में संघीय वित्त का विकास केन्द्रीय प्राधिकरण में धीरे-धीरे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के पथ पर हुआ है। वर्ष 1871 तक प्रांतों के पास राजस्व के पास राजस्व के अपने साधन नहीं थे। उन्हें केन्द्र से प्राप्त अनुदानों पर ही रहना पड़ता था।
- भारत का संविधान 1950 में लागू हुआ। इसका ढाँचा काफी हद तक भारत सरकार अधिनियम 1935 से मिलता-जुलता है। संविधान में सभी सरकारी कार्यक्षेत्रों और वित्तीय साधनों को तीन भागों में बाँटा गया है, जिनमें से एक भाग केन्द्र के लिए एक राज्य सरकारों के लिए, तथा एक भाग दोनों के लिए साँझा हैं। इसमें विभिन्न प्रकार से कर-विभाजन तथा अनुदानों का प्रबन्धन है।
- वित्त आयोग की संस्था भारत के संविधान की मुख्य विशेषताओं में से एक है। अनुच्छेद 280 का यह कहना है कि संविधान के लागू होने के दो वर्षों के भीतर राष्ट्रपति द्वारा प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की जाए तथा इसके पश्चात हर पाँचवें वर्ष अथवा आवश्यकता पड़ने पर, इससे पहले, नए आयोग की नियुक्ति की जाए।
- राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग को एक सुनिश्चित वित्त व्यवस्था के लिए निर्दिष्ट मामलों और समस्याओं का अध्ययन करने तथा सिफारिशें करने को कहा जा सकता है।

नोट

- आयोग को अपनी सिफारिशें करते समय कई प्रकार के प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, सातवें आयोग से लेकर अब तक एक प्रतिबन्ध यह लगाया जाता रहा है कि राज्यों के कर-राजस्व और सहायता अनुदानों में व्यक्तिगत भाग निर्धारित करने वाले घटकों में यदि जनसंख्या भी हो तो उसके आँकड़े 1971 की जनगणना के ही होंगे।
- आय कर ही केवल ऐसा कर है जिनकी निवल प्राप्तियाँ अनुच्छेद 270 के अनुसरण में राज्यों में के साथ अनिवार्य रूप से विभाज्य हैं परन्तु संविधान का यह भी कहना है कि निगम कर (Corporation tax) तथा निगम कर और अन्य करों पर किसी प्रकार का संघ अधिभार और उपकर आदि राज्यों के साथ विभाज्य नहीं हो सकते।
- अधिकतर वित्त आयोगों ने आय कर में राज्यों के व्यक्तिगत भाग तय करने में उगाही, अथवा उगाही और आवश्यकता के जोड़ का प्रयोग किया है। परंतु *आवश्यकता* के सैद्धांतिक औचित्य को सिद्ध करने के साथ इसके प्रयोग में कई अन्य कठिनाइयाँ भी आती हैं। इसमें सबसे बड़ी समस्या राज्यों की राजकोषीय आवश्यकता के मापने की है।

24.3 शब्दकोश (Keywords)

- **समेकित**–एकीकत
- **अदराज**–बही में लिखा जाना, प्रविष्टि

24.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत की संघीय वित्त व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।
2. संविधान में संघीय वित्त व्यवसाी की विवेचना कीजिए।
3. वित्त आयोग की व्याख्या करते हुए उसके कार्यक्षेत्र समझाइए।
4. वित्त आयोग तथा कर विभाजन पर प्रकाश डालिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. (क) 2. (ख) 3. (ग) 4. (क)
5. (ग)

24.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
2. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

नोट

इकाई–25 : सरकारी वित्त–संघ और राज्य (Government Finance : Union and States)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

25.1 सरकारी वित्त: संघ एवं राज्य (Government: Union and States)

25.2 सारांश (Summary)

25.3 शब्दकोश (Keywords)

25.4 अभ्यास प्रश्न (Review Question)

25.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सरकारी वित्त: संघ एवं राज्य का विवेचन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय संविधान में संघीय और राज्यीय सरकारों के वित्तीय अधिकारों की स्पष्ट बाँट की गयी है। इस वर्गीकरण के लिए जिस सिद्धानत को अपनाया गया उसका आधार यह था कि वे कर, जिनका अन्त: राज्यीय आधार है, संघीय सरकार द्वारा लगाए जाते हैं, जबकि स्थानीय आधार वाले राज्यीय सरकारों द्वारा लगाए जाते हैं। अवशिष्ट अधिकार (Residuary powers) संघीय सरकार को प्राप्त हैं।

25.1 सरकारी वित्त: संघ एवं राज्य (Government: Union and States)

संविधान में कुछ संघीय करों से प्राप्त राजस्व की राज्यों में बाँट सम्बन्धी धाराएँ दी गई हैं। संघीय सरकार द्वारा लगाए गए करों को चार भागों में बाँटा जाता है। (क) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं और जो पूर्णतया केन्द्र सरकार द्वारा ही रखे जाते हैं; (ख) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए तथा एकत्र किए जाते हैं, परन्तु जिनसे प्राप्त राजस्व राज्यीय सरकारों के साथ बाँटा जाता है; (ग) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए तथा एकत्र किए जाते हैं, परन्तु जिनसे प्राप्त समस्त राजस्व राज्यों को सौंप दिया जाता है, और (घ) वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं, परन्तु जो राज्य सरकारों द्वारा एकत्र तथा प्रयुक्त किए जाते है।

संघीय कर (Union Taxes) – जो भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में दिए गए है, इस प्रकार:

(1) कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर कर, (2) निगम आय कर (Corporation income tax), (3) सीमा शुल्क (custom Duties) जिनमें आयात तथा निर्यात शुल्क शामिल किए जाते हैं, (4) शराब तथा स्वापक औषधों को छोड़ अन्य वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, (5) कृर्षि भूमि को छोड़ अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा एवं उत्तराधिकार शुल्क, (Estate and Succession Duty), (6) कृर्षि भूमि को छोड़ व्यक्तियों और कम्पनियों की परिसम्पत के पूँजी

नोट

मूल्य (Capital Value) पर कर, (7) वित्तीय प्रलेखों पर स्टाम्प, (8) हिस्सा बाजार और भावी बाजार (Future market) के लिए किए गए सौदों पर स्टाम्प शुल्क छोड़कर अन्य कर, (9) समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय और उनमें दिए गए विज्ञापनों पर कर, (10) रेल भाड़े ओर किराए पर कर, (11) रेलवे, समुद्र या वायु द्वारा पहुँचाई गयी वस्तुओं या सवारियों पर चुँगी (Terminal Tax), और (12) अन्त: राज्यीय व्यापार (Inter-state trade) के दौरान वस्तुओं के क्रया विक्रय पर कर।

राज्यीय कर (State taxes)– भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में दिए गए कर निम्नलिखित हैं :

(1) भू-राजस्व, (2) समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के विक्रय या क्रय पर कर, (3) कृषि आय पर कर, (4) भूमि तथा भवनों पर कर, (5) कृषि भूमि पर सम्पदा व उत्तराधिकारी शुल्क, (6) शराब तथा स्वापक औषध ों पर उत्पाद शुल्क (7) किसी स्थानीय क्षेत्र में वस्तुओं के प्रवेश पर कर, (8) धातु अधिकारों पर कर, (9) बिजली के उपभोग तथा विक्रय पर कलर, (10) गाड़ियों, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, (11) वित्तीय प्रलेखों को छोड़कर अन्य प्रलेखों पर स्टाम्प शुल्क, (12) सड़क या जल अन्तर्देशी मार्गों द्वारा ढोई गयी वस्तुओं एवं सवारियों पर कर, (13) मनोरंजन तथा जुए पर कर (14) पथ कर (Toll Tax), (15) व्यवसाय, व्यापार, पेशे और रोजगार पर कर, (16) प्रति व्यक्ति कर (Capitation Taxes), और (17) समाचार-पत्रों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर।

दसवें वित्त आयोग ने, जिसके अध्यक्ष श्री के॰सी॰ पंत थे, केन्द्रीय करों के विकल्प वितरण की सिफारिश की। इसके अनुसार संविधान में संशोधन करना पड़ा जिसके आधीन सभी केन्द्रीय करों से प्राप्त राजस्व को राज्यों के साथ बांटना अनिवार्य कर दिया। ग्यारहवें और बारहवें वित्त आयोग ने आवंटन की नयी योजना का अनुसरण किया और हमने इनकी मुख्य सिफारिशों का सारांश अलग-अलग दिया है। केन्द्र और राज्यों में राजस्व का निम्नलिखित सारांश केवल दसवें वित्त आयोग की सिफारिशों पर आधारित है।

नोट्स

भारतीय संविधान का एक विशेष लक्षण यह है कि जिन करों का उल्लेख विशेष रूप से राज्यीय या समवर्ती सूची (Concurrent list) में नहीं है, उन्हें केन्द्रीय सरकार को लगाने का अधिकार है।

25.1.1 केन्द्रीय राजस्व का वितरण एवं आवण्टन (Distribution and Allocation of Central Revenue)

संविधान के कुछ ऐसे कर संघीय सूची (Union List) में शामिल किए गए हैं जो आंशिक या पूर्ण रूप से राज्यों को बाँट दिए जाते हैं। इस वर्ग में तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं परन्तु जो राज्यों द्वारा एकत्र एवं प्रयुक्त किए जाते हैं। इनमें स्टाम्प शुल्क और अल्कोहल तथा स्वापक औषधों पर लगाए गए उत्पादन शुल्क शामिल किए जाते हैं। दूसरे कुछ ऐसे कर हें जो केन्द्र द्वारा लगाए एवं एकत्र किए जाते हैं परन्तु जिनसे प्राप्त कुल आय राज्यीय सरकारों को सौंप दी जाती है। इन करों में हैं: उत्तराधिकार एवं सम्पदा शुल्क, सवारियों पर सीमा कर, रेल भाड़े और किराए पर कर, हिस्सा बाजारों और भावी बाजारो में किए गए सौदे पर कर, आदि। इनमें से कृषिभूमि को छोड़ अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क बाँट की जाती हैं। इनमें से 1 प्रतिशत संघीय क्षेत्र को दिया जाता है और शेष वित्तीय आयोग (Finance commission) की सिफारिशों के आधार पर बाँटा जाता है। रेलों के किराये पर कर 1957 में लगाया गया और 1961 में समाप्त कर दिया गया। तीसरे, निगम आय पर कर छोड़कर अन्य आय पर केन्द्रीय कर और उत्पादन शुल्क जो संघीय सरकार द्वारा लगाए और एकत्र किए जाते है, परन्तु जो राज्यों के साथ एक निध ारित ढंग से बाँटे जाते हैं। कारखाना-निर्मित कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क के बदले 1957 में इन वस्तुओं पर राज्यीयी बिक्री-कर (State Sales Tax) लगाया गया। यह कर संघीय सरकार द्वारा लगाया जाता है और इससे समग्र आय को राज्यों में इस प्रकार बाँटा जाता हे कि विस्थापित बिक्री-कर से पूर्व प्राप्त हाने वाली आय की गारण्टी प्रत्येक राज्य को दी जा सकें।

नोट

सहायता-अनुदान (Grant-in-aid)– राज्यीय सरकारों को कुछ महत्त्वपूर्ण कल्याणकारी एवं विकासात्मक कार्य सौंपे गए हैं परन्तु माँगों को पूरा करने के लिए पर्याप्त संसाधान नहीं हैं। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने एक स्थापित व्यवहार बना लिया है कि सहायता–अनुदान के रूप में अपने कुछ साधन राज्यों को दे दें। भारत में संघ–राज्य सम्बन्धों (Union-State Relations) में सहायता–अनुदान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। ये अनुदान वित्तीय साधनों में अन्त: राज्यीय असमानताओं (Inter-state disparties) को दूर करने में विशेष सहायता देते हैं। इनके द्वारा विभिन्न राज्यों में उपलब्ध अनिवार्य कल्याणकारी सेवाओं और विकासातमक प्रोग्रामों में कुछ हद तक केन्द्रीय नियन्त्रण और समन्वय भी कायम हो जाता है।

ऋण (Loans) – राज्यीय सरकारों को बाजार से उधार लेने का अधिकार प्राप्त है परन्तु वे संघीय सरकार से उधार ले सकती हैं जिसके परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार से माँगे जाने वाले वार्षिक उधार की दर बहुत काफी बढ़ गयी है। अन्य उद्देश्यों के अतिरक्ति, सिंचाई, नदी घाटी परियोजनाओं, कृषि विकास, पुनर्वास, सामुदायिक विकास और औद्योगिक गृह–निर्माण (Industerial Housing) के लिए भी उधार दिया जाता है। राज्य सरकारें केन्द्र सरकार के पास जमा के रूप में कुछ राज्यीय और स्थानीय राशियाँ भी रखती हैं, जो वास्तव में केन्द्र द्वारा दिए गए ऋण होते हैं। और जिनका प्रयोग सामान्य उद्देश्यों के लिए किया जाता है।

राज्यों को हस्तांतरित साधन (Resources Transferred to States)

1951–52 में केन्द्र से हस्तांतरित साधनों द्वारा कुल राज्यीय व्यय के 25 प्रतिशत के लिए वित्त जुटाया गया। परन्तु 1987–88 में यह अनुपात बढ़कर 46 प्रतिशत हो गया। केन्द्र से राज्यों को हस्तांतरित साधनों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति तीन बातों का प्रमाण देती है: (क) केन्द्रीय एवं राज्यीय वित्त में अधिकाधिक समन्वय हो रहा है (ख) राज्ये सरकारें केन्द्र पर बुरी तरह निर्भर होती जा रही हैं और (ग) केन्द्र द्वारा राज्यों के मामलों में दखल देने की शक्ति बढ़ती जा रही है।

औसत रूप में प्रथम योजना में राज्यों को केन्द्र से 280 करोड़ रुपए, की वार्षिक राशि हस्तांतरित की गयी, यह राशि दूसरी योजना में 2,868 करोड़ रुपए, तीसरी योजना में 5,650 करोड़ रुपए, और छठी योजना में 53,220 करोड़ रुपए, और सातवीं योजना में 1,23,530 करोड़ रूपऐ हो गयी। नवें वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर राज्यों को 1990–95 की अवधि के लिए 2,44,260 करोड़ रूपये वित्त आवंटन में मिला। यह वृद्धि वित्त आयोगों की सिफारिशों का परिणाम थी। इस प्रकार राज्यों के कुल व्यय का 43 प्रतिशत केन्द्र से हस्तांतरित साधनों द्वारा उपलब्ध कराया जाता है।

केन्द्र से राज्यों को हस्तांतरित संसाधन तीन प्रकार के होते हैं : कर, अनुदान और ऋण। राज्यीय साधनों में सबसे अधि क वृद्धि अनुदानों के रूप में हुई है जो राज्यों की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं की संकेतक हैं। करों में से, संघीय उत्पादन शुल्कों के भाग में सबसे अधिक वृद्धि हुई हैं इसका मुख्य कारण विभाज्य उत्पादन शुल्कों की सूची में सम्मिलित वस्तुओं की संख्या में वृद्धि है। विभिन्न करों से प्राप्त होने वाली आय में वृद्धि के कारण भी करों एवं शुल्कों के राज्यीय भाग में वृद्धि हुई।

25.1.2 वित्त आयोग (Finance Commissions)

संविधान में आधीन राष्ट्रपति को वित्त आयोग नियुक्त करना पड़ता है। आयोग को इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को निम्नलिखित विषयों में सिफारिशों करनी होती हैं : (क) केन्द्र और राज्यों के बीच करों से राजस्व की बाँट करना और फिर विभिन्न राज्यों में राजस्व बाँटना, (ख) वे सिद्धान्त निर्धारित करना जिनके आधीन राज्यों को सहायता अनुदान (Grantsin-aid) उपलब्ध कराया जाए, और (ग) केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों के बारे में किसी अन्य मामले की जाँच करना। वित्त आयोग की नियुक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके माध्यम से केन्द्र और राज्यों के बीच बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार वित्तीय सम्बन्धों में परिवर्तन की गुंजाइश है।

संविधान के चालू होने के पश्चात् दस वित्त आयोग नियुक्त किए जा चुके हैं जिन्होंने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की हैं।

नोट

इन वित्त आयोगों की सिफारिशों को तीन शीर्षकों के आधीन बाँटा जा सकता है : (i) आयकर तथा अन्य करों को विभाजन तथा वितरण, (ii) अनुदान, और (iii) संघ द्वारा राज्यों को दिए गए ऋण।

(i) आयकर की बाँट एवं वितरण– वैयक्तिक आयकर संघीय सरकार द्वारा लगाया और एकत्र किया जाता है। प्रथम वित्त आयोग नें कर से प्राप्त राशि का 55 प्रतिशत राज्यों में बाँटने की सिफारिश की। इस राशि का 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत राज्य से एकत्र की गयी राशि के आधार पर बाँटने के लिए कहा गया। दूसरे वित्त आयोग ने राज्य के भाग को 55 प्रतिशत से बढ़ाकर 60 प्रतिशत कर दिया। तीसरे वित्त आयोग ने इस भाग को और बढ़ा कर 66 प्रतिशत करने की सिफारिश की। चौथे और पाँचवें वित्त आयोग ने आयकर से प्राप्ति का 75 प्रतिशत राज्यों को देने की सिफारिश की। छठे वित्त अयोग (1972) ने कुल आयकर के 80 प्रतिशत को राज्यों में बाँटने की सिफारिश की। सातवें और आठवें वित्त अयोग ने आयकर का 85 प्रतिशत राज्यों के लिए निश्चित किया। जाहिर है कि प्रत्येक उत्तरोत्तर वित्त आयोग ने राज्यों के भाग को बढ़ा दिया। किन्तु दसवें वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट में 1995-2000 की अवधि के लिए आयकर से शुद्ध प्राप्ति के 77.5 प्रतिशत को राज्यों को हस्तांतरित करने की सिफारिश की है। (देखि तालिका 1)

तालिका 1 : **आयकर के सम्बन्ध में वित्त आयोगों की सिफारिशें**

वित्त आयोग	आयकर में राज्यों का भाग	राज्यों में आयकर का वितरण	
		जनसंख्या के आधार पर	एकत्र की गई कर आय के अधार पर
पहला	55	80	20
दूसरा	60	90	10
तीसरा	66	80	20
चौथा	75	80	20
पाँचवाँ	75	90	10
छठा	80	90	10
सातवें से नवें	85	90	10
दसवाँ	77.5	90	10

जहाँ तक आयकर प्राप्तियों को विभिन्न राज्यों में बाँटने का प्रश्न है, पहले कुछ वित्त आयोगों ने जनसंख्या ओर कर एकत्रीकरण (Tax collection) की दोहरी कसौटी का प्रयाग किया। इसके अनुसार इस राशि का 80 प्रतिशत जनसंख्या आधार पर और 20 प्रतिशत राज्य से एकत्र की गयी धनराशि के आधार पर बाँटा गया। इस कसौटी के आधार पर ऐसे राज्यों को जिनकी जनसंख्या अधिक थी ओर ऐसे समृद्ध राज्य जो आयकर राजस्व में अधिक योगदान देते थे, लाभ होना स्वाभाविक था। दूसरे वित्त आयोग ने राज्य की जनसंख्या को वितरण का अधिक महत्त्वपूर्ण आधार माना और आयकरर के विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) का 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की। इस कसौटी का स्वाभाविक लाभ उत्तर प्रदेश ओर बिहार जैसे अधिक जनसंख्या वाले राज्यों को होना था जो भारत के सबसे गरीब राज्य भी थे। इस स्थिति को तीसरे और चौथे वित्त आयोग ने पटल दिया। परिणामत: आयकर एकत्रीकरण के आधार को 20 प्रतिशत कर दिया जिससे महाराष्ट्र और पश्चिमी बंगाल जैसे राज्यों को लाभ हुआ क्योंकि इनका आयकर में योगदान अधिक था। कारण यह है कि इनमें मुम्बई औ कलकत्ता जैसे महानगर स्थित थे। पाँचवें वित्त आयोग के पश्चात् फिर आयकर वितरण के फार्मूले में राज्य की जनसं,ख्या को मुख्य कसौटी बनाया गया। पहली बार आठवें वित्त आयोग ने जिसके अध्यक्ष श्री वाई॰ बी॰ चव्हाण थे, राज्यों में आयकर के वितरण का एक नया फार्मूला लागू किया:

(i) आयकर से शुद्ध प्राप्ति का 10 प्रतिशत राज्यों में आयकर के योगदान के आधार पर वितरित किया जाता रहेगा;

(ii) शुद्ध प्राप्ति का 90 प्रतिशत राज्यों में निम्नलिखित कसौटियों के आधार पर बाँटा जाएगा: 25 प्रतिशत

नोट

जनसंख्या के आधार पर, 25 प्रतिशत प्रति व्यक्ति आय के विलोम को जनसंख्या से गुना के आधार पर; और 50 प्रतिशत राज्य की प्रति व्यक्ति आय और सबसे अधिक प्रति व्यक्ति आय वाले राज्य (अर्थात् पंजाब) के बीच अन्तर को जनसंख्या से गुना के आधार पर।

इन तीन कारकों वाले फार्मूले को उद्देश्य राज्यों में भारी मात्रा में साम्या (Equity) लाना है। नवें वित्त आयोग ने भी मूल रूप में कुछ छोटे-मोटे संशोधनों के साथ इसी फार्मूले का अनुसरण किया। आयकर की प्राप्तियों की बाँट के लिए नवें वित्त आयोग ने अब यह फार्मूला स्वीकार किया है:

नवें वित्त आयोग ने इसमें एक और कसौटी जोड़ दी, अर्थात् राज्यों के पिछड़ेपन का संयुक्त सूचकांक (Composite index) जो दो तत्वों पर आधारित होगा: (क) राज्य में अनुसूचित एवं जनजातियों की जनसंख्या और (ख) 1981 की जनगणना के आधार पर विभिन्न राज्यों में कृषि-श्रमिकों की संख्या। नेवं वित्त आयोग के अनुसार संयुक्त सूचकांक बहुत हद तक राज्य में निर्धनता और पिछड़ेपन का सही संकेतक होगा।

दसवें वित्त अयोग ने आठवें और नवें वित्त आयोगों के फार्मूले का मूल्यांकन कर आयकर की विभाजनीय राशियों के लिए निम्नलिखित फॉमूले की सिफारिश की है:

(क) 20 प्रतिशत 1971 की जनगणना के आधार पर;

(ख) 60 प्रतिशत प्रति व्यक्ति आय के अन्तर में आधार पर;

(ग) 5 प्रतिशत समायोजित क्षेत्र (Adjusted area) के आधार पर;

(घ) 5 प्रतिशत आधार सरंचना (Infrastructure) के सूचकांक के आधार पर; और

(ड.) 10 प्रतिशत कर-प्रयास के आधार पर।

(ii) उत्पादन शुल्क (Excise Duty) की बाँट एवं वितरण– प्रथम वित्त आयोग ने तीन वस्तुओं अर्थात् तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति पदार्थों पर लगाए गए उत्पादन शुल्क का 40 प्रतिशत राज्यों में जनसंख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की। दूसरे ओर तीसरे वित्त आयोग ने इस क्षेत्र में वस्तुओं की संख्या को और बढ़ा दिया। चौथे वित्त आयोग ने 45 वस्तुएँ शामिल की किन्तु राज्यों को इनसे प्राप्त कुल आय का 20 प्रतिशत देने की सिफारिश की जिसमें 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और शेष राज्य के आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन के आधार पर। पाँचवे वित्त आयोग ने भी लगभग वही सिफारिशें कीं जो चौथे वित्त आयोग ने की थीं। छठे वित्त आयोग ने भी उत्पादन-शुल्क में राज्यों का भाग जो 20 प्रतिशत ही रखा परन्तु इसके वितरण का आधार बदल दिया–75 प्रतिशत तो जनसख्यां के आधार पर और 25 प्रतिशत राज्य के पिछड़ेपन के आधार पर। सातवें वित्त आयोग ने राज्य का भाग उत्पादन-शुल्क से प्राप्ति का 40 प्रतिशत निश्चित करने की और इसके वितरण के लिए नया फार्मूला अपनाने की सिफारिश कि है। आठवें वित्त आयोग ने राज्यों के भाग को बढ़ाकर 45 प्रतिशत कर दिया और 40 प्रतिशत का वितरण नए फार्मूले के आधार पर और 5 प्रतिशत घाटे वाले राज्यों के लिए रखा गया। नवें वित्त आयोग ने 45 प्रतिशत की समग्र रूप में वितरित करने का प्रस्ताव किया, (इसकी बजाए कि इसे 40 प्रतिशत और 5 प्रतिशत के दो खण्डों में बाँटा जाए)।

किन्तु दसवें वित्त आयोग ने संघीय उत्पादन-शुल्कों की शुद्ध प्रात्तियों के भाग को बढ़ा कर 47.5 प्रतिशत कर दिया। उत्पादन-शुल्कों के राज्यीय-भाग में वृद्धि का उद्देश्य आयकर में इनके भाग में की गयी कमी की क्षतिपूवित करना है।

यहाँ इस बात पर बल देने की जरूरत हे कि सभी वित्त आयोगों ने एक मूल उद्देश्य अपने सामने रखा, अर्थात् केन्द्रीय उत्पादन शुल्कों में राज्यों के भाग को बढ़ाना। पहले कुछ वित्त आयोगों ने अधिकाधिक उत्पादन-शुल्कों को विभाजनीय संग्रह (Divisible Pool) में लाने की कोशिश की परन्तु राज्यों के प्रतिशत भाग को कम कर दिया किन्तु सातवें, आठवें और नवें वित्त आयोग ने (क) सभी केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों (Central Excise Duties) को विभाजनयी संग्रह में शामिल कर दिया; और (ख) राज्यों के भाग को पहले 20 प्रतिशत से बढ़ाकर 40 प्रतिशत ओर अन्ततः इसे 47.5 प्रतिशत कर दिया। अतः समय के साथ-साथ वित्त आयोग राज्यों की वित्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों पर निर्भर करते रहे हैं।

नोट

तालिका : **उत्पादन-शुल्क के बारे में वित्त आयोगों की सिफारिशें**

वित्त आयोग	उत्पादन शुल्क में राज्य का भाग आधार पर	उत्पादन शुल्क का वितरण	
		जनसंख्या के आधार पर	राज्य के पिछड़ेपन जैसी अन्य शर्तों के
पहला	3 शुल्कों का 40%	40	60
दूसरा	8 शुल्कों का 25%	40	60
तीसरा	35 शुल्कों का 20%	40	60
चौथा	45 शुल्कों का 20%	80	20
पाँचवाँ	45 शुल्कों का 20%	80	20
छठा	45 शुल्कों का 20%	75	25
	सभी शुल्कों का 40%	25	75
सातवाँ आठवां एव नवां	सभी शुल्कों का 45%	25	75
दसवाँ	सभी शुल्कों का 47.5%	20	80

जहाँ तक केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों से प्राप्तियों के वितरण का सम्बन्ध है, वित्त आयोग ने आरम्भ में दो कसौटीयाँ अपनायीं, अर्थात् राज्य की जनसंख्या और राज्य का पिछड़ापन। इस प्रणाली ने स्पष्टत: अधिक जनसंख्या ओर राज्य का पिछड़ापनं इस प्रणाली ने स्पष्टत: अधिक जनसंख्या वाले परनतु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश को लाभ पहुँचाया। सातवें वित्त आयोग ने **सबसे** पहले केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों के वितरण के लिए एक नया फार्मूला लागू किया जिसमें प्रत्येक अंग को 25 प्रतिशत महत्त्व दिया गया: (क) जनसंख्या, (ख) राज्य की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, (ग) प्रत्येक राज्य में निर्धनों की जनसंख्या, और (घ) राज्याकें के बीच आय समता (Income equalisation) के फार्मूले को। आठवें वित्त आयोग ने एक ओर नया फार्मूला लागू किया जिसका आधार राज्यों में आय-कर के वितर के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला फार्मूला ही था।

नवें वित्त आयोग की नयी कसौटियों का ध्यानपूर्वक मूल्यांकन करने से पता चलता है कि केन्द्रीय उत्पादन शुल्कों की प्राप्तियों के अन्त: राज्यीय विभाजन के लिए पिछले वित्त आयोगों के फार्मूलें को और संशोधित किया गया है।

(i) राज्यों के बीच 25 प्रतिशत भाग 1971 की जनगणना के आधार पर वितरित किया जाना चाहिए।

(ii) 12.5 प्रतिशत का वितरण राज्यों के बीच आय समायोजित कुल जनसंख्या (प्दबवउम ।करनेजमक ज्वजंस च्वचनसंजपवद) के आधार पर होना चाहिए।

(iii) 12.5 प्रतिशत का वितरण पिछड़ेपन के सूचकांक के आधार पर किया जाना चाहिए।

(iv) 33.5 प्रतिशत के वितरण का आधार राज्य की प्रति व्यक्ति आय और सबसे अधिक आय वाले राज्य (अर्थात् पंजाब) की आय से अन्तर को सम्बन्धित राज्य की 1971 की जनसंख्या से गुणा करके होना चाहिए।

(v) 16.5 प्रतिशत का वितरण करों के अन्तरण के पश्चात् घाटे वाले राज्यों के बीच होना चाहिए।

दसवें वित्त आयोग ने आयकर के विभाजन के फार्मूले का ही प्रयोग किया जिसके आधार पर उत्पादन-शुल्को का शुद्ध प्राप्तियों के 40 प्रतिशत का वितरण किया जाएगा। शेष 7.5 प्रतिशत घाटे वाले राज्यों के बीच बाँटा जाएगा।

बिक्री कर के एवज़ में अतिरिक्त उत्पादन शुल्क– सामान्य उत्पादन-शुल्कों के अतिरिक्त, केन्द्र बिक्री कर के एवज में सूती वस्त्रों, तम्बाकू और चीनी पर अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क भी लगाता रहा है और इनसे समग्र प्राप्तियों का वितरण

नोट

राज्यों में किया जा रहा है। चूँकि अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क बिक्री कर के एवज में लगाये जाते हें जो कि स्वंय उपभाग पर कर है, विभिन्न राज्यों के भाग इन वस्तुओं के उपभोग में उन राज्यों के भाग के अनुरूप ही हैं।

नवें वित्त आयोग ने यह संकेत दिया है कि इन वस्तुओं के राज्यवार उपभोग (Statewise consumption) के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं ओर इसलिए अतिरिक्त उत्पादन-शुल्कों से प्राप्त निवल आय में अलग-अलग राज्यों का भाग निध र्रित करने के लिए राज्यीय घरेलू उत्पाद (State domestic product) और जनसंख्या के प्रयोग की सिफारिश की है। दसवें वित्त आयोग ने इस आवंटन योजना को बदल दिया है।

रेल यात्री किराए पर कर के एवज में अनुदान :- संविधान के अनुच्छेद 269 में अन्य मदों के साथ रेल-यात्री किराए पर कर का जिक्र किया गया है। यह कर पहली बार 1957 में लगाया गया और इससे प्राप्त आय अन्य राज्यों में वितरित कर दी गया। वास्तव में, इस कर का विलयन मूल-किराए (Basic fare) में कर दिया गया और राजस्व में परिणामत: होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति करने के लिए राज्यों के लिए अनुदान की पति कायम की गयी। 1971 में रेल-यात्री किराए पर कर को पुन: जीवित किया गया परन्तु 1973 में इसे फिर समाप्त कर दिया कि वे इस कर के एवज में राज्यों को अनुदान देने के बारे में सुझाव दें। इस बारे में दों बातों पर निर्णय लेना है: (क) रेल-यात्री किराए के एवज में केन्द्र कितने अनुदान की मात्रा का राज्यों को अन्तरण करे अर्थात् क्या यह एक निश्चित राशि होनी चाहिए या यह कुल रेल-यात्री प्राप्तियों को प्रतिशत निश्चित किया जाना चाहिए? (ख) अनुदान के अन्त:राज्यीय विभाजन (Inter-state sharing) का आधार क्या होना चाहिए?

पहले प्रश्न पर केन्द्र और राज्यों के बीच हमेशा मतभेद रहा है। जब इस कर को समाप्त किया गया, तब यह गैर-उपनगरीय रेलवे यात्री प्राप्तियों का 10.7 प्रतिशत योगदान देता था। अत: राज्य हमेशा इस बात का आग्रह करते रहें हैं कि अनुदान की मात्रा रेलवे यात्री प्राप्तियों के 10.7 प्रतिशत पर निश्चित होनी चाहिए। परन्तु रेलवे विभाग सदा इस बात पर परिदृढ़ रहा है कि अनुदान एक निश्चित राशि के रूप में तय कर दिया जाना चाहिए। यह राशि मौलिक रूप में 23 करोड़ रूपये निश्चित की गयभ। आठवें वित्त आयोग ने इसे बढ़ाकर 95 करोड़ रूपये कर दिया जो कि उस समय पर रेलवे यात्री प्राप्तियों का 10.7 प्रतिशत था। अनुदान की निश्चित राशि तर्कय करने के लिए रेलवे ने निम्नलिखित तर्क दिए–

(क) रेलेवे के सामाजिक दायित्वों का आपात लगातार बढ़ता रहा है और रेलों को यात्री किराए में साहाय्य प्रदान करने और वस्तुओं पर निम्न भाड़े के रूप में 2,000 करोड़ रूपये की वार्षिक हानि हो रही हैं दूसरे शब्दों में रेले न केवल यात्री यातायात को सहाय्य प्रदान कर रही हैं बल्कि माल यातायात को भी।

(ख) रेलवे-प्राप्तियों को केन्द्र सरकार के कर-राज्सव के तुल्य नहीं मानना चाहिए जिसका एक भाग राज्यों पर निर्भर होता है। रेलवे को एक विकासशील अर्थव्यवस्था की माँग को पूरा करने के लिए एक आधुनिक और कुशल परिवहन अधारसंरचना (Transport infrastructure) की व्यवस्था लिए पर्याप्त साधन जुटाने होंगे। परिणामत: यदि रेल-यात्री किराए पर कर के एवज में अनुदान की राशि बढ़ायी जाती है, तो इससे उनके विाकस पर दुष्प्रभाव पड़ेगा।

नवें वित्त आयोग ने राज्यों की इस माँग को अस्वीकार कर दिया कि रेल-यात्री किराए पर कर के एवज में उन्हें गैर-उपनगरीय रेल-यात्री आय पर 10.7 प्रतिशत क्षतिपूर्ति अनुदान मिलना चाहिए। साथ ही आयोग ने रेलवे के तर्क के अनुसार अनुदान की मात्रा को 95 करोड़ रूपये तक ही समिति करने इन्कार कर दिया। अत: आयोग ने आठवीं योजना की अवधि (1990-95) के लिए प्रति वर्ष 150 करोड़ रूपये की एकमुश्त राशि निश्चित कर दी।

आठवें वित्त आयोग की भाँति दसवें वित्त आयोग ने रेलवे के तर्क को अस्वीकार कर दिया और बहुत से राज्यों में अपनी सहमति व्यक्त की अर्थात् अनुदान का भाग गैर-उपनगरीय रेलवे यात्रियों से प्राप्तियों का 10.7 प्रतिशत होना चाहिए। चूँकि 1992-93 के वर्ष के लिए उपलब्ध आँकड़ो में यह राशि 3,540 करोड़ रूपये थी, दसवें वित्त आयोग ने इसका 10.7 प्रतिशत अर्थात् 380 करोड़ रूपये राज्यों को प्रतिवर्ष 1995-2000 की अवधि के दौरान देने की सिफारिश की।

सम्पदा–शुल्क (Estate Duty)

सम्पदा-शुल्क 1953 में लागू किया गया जिससे होने वाली समग्र आय राज्यों को हस्तान्तरित करने का निर्णय किया गया। द्वितीय वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि इसका 1 प्रतिशत संघीय क्षेत्रों को दिया जाए और शेष राज्यों में

नोट

बाँट दिया जाए। चौथे, पाँचवें और छठे वित्त आयोग से संघीय क्षेत्रों (Union Territories) के भाग को बढ़ाकर 5 प्रतिशत करने की सिफारिश की। सातवें वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि कृषि सम्पदा को छोड़ अन्य प्रकार की सम्पदा से प्राप्त होने वाले सम्पदा शुल्का का वितरण प्रत्येक राज्य में स्थित सम्पदाओं के कुल मूलय के अनुपात में होना चाहिए। आठवें वित्त आयोग ने सम्पदा शुल्क के वितरण में कोई तबदली नहीं की।

राज्यों को सहायता-अनुदान (Grants-in-aid to the State)

भारत में संविधान की अनुसूची II में राज्यों को कल्याण एवं विकास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे गए हैं परन्तु संविधान के अन्दर विभिन्न कर-संसाधनों की व्यवस्था इस सम्बन्ध में लोचहीन एवं पूर्णतया अपर्याप्त थी। इस समस्या के समाधान के लिए संविधान में राज्यों को केन्द्र से अनुदान प्राप्त करने की प्रक्रिया की व्यवस्था की गयी। सहायता-अनुदान का एक सामान्य रूप चालू घाटे को पूरा करने के लिए अनुदान हो सकता है या संसाधनों में अन्त:राज्यीय असमानताओं को दूर करना हो सकता है। सहायता-अनुदान किसी पिछड़े राज्य में शिक्षा को प्रोन्नत करने जैसे विशिष्ट उद्देश्य के लिए दिए जा सकते हैं या प्रशासन को मजबूत करने के लिए, आदि।

क्या आप जानते हैं संविधान के अनुच्छेद 275 के आधीन वित्त आयोगों ने प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के तदनुरूप, सहायता-अनुदान सम्बन्धी निर्णय लिए हैं।

वित्त अयोग की सहायता-अनुदान सम्बन्धी सिफारिशें

वित्त आयोगों की सहायता-अनुदान सम्बन्धी सिफारिशों के सारांश से यह बात साफ हो जाती है कि छठे वित्त आयोग तक प्रत्येक वित्त आयोग ने राज्यों को सहायता-अनुदान की राशि बढ़ायी। इसके दो मुख्य कारण थे–

पहला, वित्त आयोगों ने यह महसूस किया कि राज्यों को कानून तथा व्यवस्था, कल्याण और विकास पर लगातार बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक संसाधनों की आवश्यकता है।

दूसरा, राज्यों की बड़ी मात्रा में कर-संसाधनों के अन्तरण (Transfer of Tax Resoucrces) के बावजूद वे भारी राजस्व-घाटे करते रहे।

परिणामत: उत्तरोत्तर वित्त आयोगों ने केन्द्र से राज्यों को अधिक अनुदान देने का निर्णय किया। सातवें और आठवें वित्त आयोग ने इस प्रवृत्ति को पलट दिया और राज्यों को कर-राजस्व के अपेक्षाकृत अधिक अन्तरण की व्यवस्था की;

वित्त आयोग	सहायता-अनुदान
पहला	(i) 7 राज्यों को 1951-56 के दौरान अपने घाटे की पूति के लिए।
	(ii) 8 राज्यों को प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएँ उन्नत करने के लिए।
दूसरा	राज्यों की विकासात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक सहायता-अनुदान।
तीसरा	(i) महाराष्ट्र को छोड़ सभी राज्यों को अपने राजस्व-व्यय के एक भाग की पूति के लिए 550 करोड़ रूपये।
	(ii) संचार में उन्नति के लिए 45 करोड़ रूपये।
चौथा	1966-71 के दौरान राजस्व-घाटे की पूर्ति के लिए 610 करोड़ रूपये।
पाँचवाँ	1969-74 के दौरान राजस्व-घाटे की पूर्ति के लिए 638 करोड़ रूपये।
छठा	21 में से 14 राज्यों को 1974-79 की अवधि के दौरान अपने योजना-भिन्न घाटे को पूरा करने के लिए 2,510 करोड़ रूपये।

नोट

सातवाँ	1980–85 की अवधि के दौरान अपने घाटे को पूरा करने के लिए और प्रशासन के स्तर को उन्नत करने के लिए 1,600 करोड़ रूपये।
आठवाँ	1985–90 की अवधि के दौरान राजस्व–घाटों को पूरा करने के लिए 1,556 करोड़ रूपयें का छोटा सा अनुदान; कुछ राज्यों को प्रशासन का स्तर उन्नत करने के लिए 915 करोड़ रूपये का अनुदान।
नवाँ	(i) 1990–95 की अवधि के लिए योनजा एवं योजना–भिन्न राजस्व के घाटे को पूरा करने के लिए 15,017 करोड़ रूपये का अनुदान। (ii) विपत्ति राहत कोष में केन्द्र के योगदान के रूप में 603 करोड़ रूपयें का विशेष वार्षिक अनुदान, जो पाँच वर्षों (1990–95) के लिए 3,015 करोड़ रूपये होगा। (iii) मध्य प्रदेश सरकार को भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ितों के पुनर्वास एवं सहायता पर व्यय के लिए 122 करोड़ रूपये का अनुदान।
दसवाँ	(i) 1995–2000 के दौरान राजस्व खाते पर घाटे की पूर्ति के लिए लगभग 7,580 करोड़ रूपये (ii) 1,360 करोड़ रूपये कुछ चुनी हुई मदों के लिए अर्थात् पुलिस, अग्निशमन सेवा, जेल, लड़कियों की शिक्षा की प्रोन्नति, उच्चतर प्राथमित स्कूलों में पीने के पानी की सुविधाएँ आदि के लिए। (iii) 1,250 करोड़ रूपये राज्यों की विशेष समस्याओं के समाधान के लिए (iv) 4,730 करोड़ रूपये विपत्ति राहत के लिए, और (v) 5,380 करोड़ रूपये स्थानयी निकायों अर्थात् पंचायतों और नगरपालिकाओं के लिए।

इस प्रकार सहायता अनुदान की कुल राशि 20,300 करोड़ रूपये तय की गयी।

(क) आयकर प्राप्तियों में राज्यों के भाग को 80 प्रतिशत से बढ़ाकर 85 प्रतिशत कर दिया;

(ख) केवल 45 उत्पादन–शुल्कों की अपेक्षा सभी उत्पादन शुल्क केन्द्रीय उत्पादन–शुल्कों के लिए कर–विभाजन के आधीन लाए गए;

(ग) उत्पादन–शुल्कों में राज्यों के भाग को 20 प्रतिशत से बढ़ाकर 40 प्रतिशत और अन्ततोगत्वा इसे 45 प्रतिशत तक ले जाना।

इन अधिनिर्णयों (Awards) के परिणामस्वरूप राज्यों को कर–राजस्व का इतना अधिक अन्तरण किया गया क उनमें से अधिक ने राजस्व–लेखे पर अतिरेक प्राप्त कर लिया। नवे वित्त आयोग ने आठवीं योजना की अवधि (1990–95) के लिए राज्यों के योजना–भिन्न तथा योजना घाटे (Non-plan and plan deficit) का अनुमान लगाया और क्रमशः 15,017 करोड़ रूपये 7,580 करोड़ रूपयें के कुल सहायता अनुदान का अधिनिर्णय दिया। इसने केन्द्र के योगदान के रूपमें विपत्ति राहत कोष और भोपाल गैस त्रासदी के लिए उदार अनुदान के रूप में 3,137 करोड़ रूपये का प्रावधान भी किया। दसवें वित्त आयोग ने भी राहत कोष के लिए उदार नीति अपनायी।

स्व–मूल्यांकन (Self-Assessment)

सही विकल्प चुनिए (Choose the Correct Option) –

1. संघीय सरकार द्वारा लगाए गए करों को कितने भागों में बाँटा जाता है–

   (क) दो (ख) चार (ग) आठ (घ) इनमें से कोई नहीं

2. के॰सी॰ पंत किस वित्त आयोग के अध्यक्ष हैं–

   (क) दसवे (ख) ग्यारहवें (ग) तेरहवें (घ) इनमें से कोई नहीं

नोट

3. रेलों के किराये पर कर कब लगाया गया–

(क) 1954 (ख) 1956 (ग) 1957 (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. केन्द्र से राज्यों को हस्तांतरित संसाधन होते हैं–

(क) कर (ख) अनुदान (ग) ऋण (घ) उपयुक्त सभी

5. सम्पदा-शुल्क कब लागू किया गया–

(क) 1950 (ख) 1953 (ग) 1956 (घ) इनमें से कोई नहीं

25.1.3 दसवें वित्त आयोग की लम्ब रूप अन्तरण की विकल्प योजना (Alternative Scheme of Vertical Devolution)

दसवें वित्त आयोग ने अपने अधिनिर्णय में केन्द्र और राज्यों के बीच करों के आवंटन की लम्बरूप विकल्प योजना की सिफारिश की और राज्यों के बीच विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) की समस्तर योजना (Horizontal Scheme) की सिफारिश की। दसवें वित्त आयोग ने वर्तमान वितरण योना की अपेक्षा लम्बरूप अनतरण (Vertical Devloution) को बेहत्तर समझा। इसके परिणामस्वरूप, संविधान में संशोधन किया गया। वर्तमान प्रणाली में केन्द्र राज्यों के साथ वैयक्तिक आयकर और केन्द्रीय उत्पाद शुल्कों (Central Excise duites) का सहभाजन करता था। दसवें वित्त आयोग का मत था कि कर प्रणाली में सुधारों की प्रगति सुविधाजनक बन जाएगी यदि कर-सहभाजन (Tax Sharing) व्यवस्था का विस्तार हो जाता हैं। इसके परिणामस्वरूप केन्द्र एवं राज्यों को प्राप्त होने वाले संशाधनों में निश्चितता बढ़ेगी।

दसवें वित्त आयोग ने उल्लेख किया कि 1985-95 के 10 वर्षों के दौरान आठवें और नौवें वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्यों को वैक्तिक आय का 85 प्रतिशत और केन्द्रीय उत्पाद शुल्कों का 45 प्रतिशत प्राप्त होता था और यह अनुपात स्थिर रहा। इसका अभिप्राय यह कि केन्द्र सरकार ने आयकर में कोई दिलचस्पी नहीं ली क्योंकि इसका भाग केवल 15 प्रतिशत था। अत: अनुच्छेद 268 और 269 के आधीन कर-संसाधनों का अल्प-विदोहन ही हुआ।

दसवें वित्त आयोग ने संकेत दिया कि निगम कर (Corporations tax) अधिक लोचशील है और राज्यों ने हमेशा वित्त आयोगों से यह मांग की है कि निगम कर को विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) के आधीन लाना चाहिए। वित्त आयोग भी इस कारण चिन्तित थे और इस कारण उन्होंने आयकर में राज्य के भाग को 55 प्रतिशत से बढ़ा कर 85 प्रतिशत कर दिया और उत्पाद शुल्कों में राज्यों के भाग को 40 प्रतिशत कर दिया। आठवें वित्त आयोग की राय में निगर कर ने उच्च लोचशीलता दिखायी है और यह उचित हे कि राज्यों को इसका भाग दिया जाए। सरकारिया आयोग ने संविधान में संशोधन का पक्ष लिया ताकि निगम कर को विभाजनीय संग्रह के आधीन लाया जाए।

अन्तत: कर सुधारों पर राजा चैलिय्या समिति ने कर-विभाजन के सम्बन्ध में संविधान के प्रावधानों की पुन: समीक्षा करने की वकालत की। समिति की राय के अनुसार "केन्द्र में राजकोषीय समायोजन (Fiscal adjustment) कार्य राज्य के साथ कर-विभाजन के फार्मूले के कारण कठिन हो जाता है..... वर्तमान स्थिति में, राज्यों की अनुमति और सहयोग से संविधान के इस प्रावधान में संशोधन कर इसे केन्द्र के कुल कर-राजस्व का 25 प्रतिशत किया जा सकता है। अत: इससे केन्द्र एव राज्यों को निश्चितता प्राप्त हा जाएगी और केन्द्र और राज्यों के बजटों में कितना राजस्व प्राप्त होगा, यह निश्चित हो जाएगा। अत: केन्द्र को अपने कर-ढांचे को विकृत नहीं करना पड़ेगा ताकि गै-विभाजनयी करों को ही बढ़ाना पड़े।

राजा चैलिय्या समिति की इस सिफारिश को स्वीकार करते हुए केन्द्र सरकार ने दसवें वित्त आयोग से प्रार्थना की कि वह कर-सहभाजन के ढांचे में वांछनीय परिवर्तन का सुझाव दे ताकि केन्द्र के कुल कर-राजस्व को विभाजनीय बनाया जा सके। यह प्रतिशत 22 से 23 प्रतिशत के इर्दगिर्द हो सकता है और यह आगामी 20 वर्षों के लिए स्थिर रहना चाहिए। यदि इस सुझाव को मान लिया जाता है, तो भारतीय संविधान में उचित संशोधन किया जा सकता है।

दसवें वित्त आयोग ने इस सभी बातों पर विचार किया और राज्य के भाग का परिकलन प्रत्येक कर के बारे में किया: (1) आयकर, (2) केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, (3) केन्द्रीय ब्रिक्री कर के बदले लगाए गए अतिरिक्त उत्पाद शुल्क और (4) सवारी किराए के बदले दिए गए अनुदान। इन सब विभाजनीय करों के कुल केन्द्रीय राजस्व के प्रतिशत के रूप

नोट

में 1979–80 से 1994–95 के लिए आंका। औसत इस प्रकार थी :

सातवां वित्त आयोग (1980–85) 27.28 प्रतिशत

आठवों वित्त आयोग (1985–90) 25.24 प्रतिशत

नौवां वित्त आयोग (1990–95) 27.26 प्रतिशत

दसवें वित्त आयोग ने इस आधार पर सिफारिश की कि

(क) केन्द्रीय करों से कुल राजस्व प्राप्ति का भाग 26 प्रतिशत होना चाहिए, और

(ख) अतिरिक्त उत्पाद शुल्क को बुनियादी उत्पाद शुल्क के साथ जोड़ कर, केन्द्र की कुल कर–प्राप्तियों का 3 प्रतिशत राज्यों को सौप देना चाहिए।

इस प्रकार दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश की कुल मिलाकर केन्द्र सरकार के कर–राजस्व का 29 प्रतिशत राज्यों को मिलना चाहिए। इस प्रावधान की भारतीय संविधान में उचित संशोधन द्वारा पुष्टि की जानी चाहिए और इसकी समीक्षा 15 वर्षों के पश्चात् की जानी चाहिए।

दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश की कि अनुच्छेद 268 के तहत करों से प्राप्ति (अर्थात् ऐसे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं परन्तु राज्य इन का इकट्ठा करते हैं) विभाजनीय संग्रह के बाहर रखना चाहिए। परन्तु अनुच्छेद 269 के तहत लगाए करों (ऐसे कर जो केन्द्र द्वारा लगातए जाते हैं परनतु जिन से प्राप्त राजस्व पूर्णतया राज्यों को प्राप्त होता है) विभाजनीय संग्रह में शामिल करना चाहिए। इस व्यवस्था से केन्द्र को इन करों के आधार का विस्तार करने का प्रोत्साहन मिलेगा जिनके विदोहन के लिए लम्बे समय से कुछ नहीं किया गया।

इस नयी व्यवस्था से दसवें वित्त आयोग के अनुसार तीन लाभा होगे :

(क) कुल कर राजस्व का भाग निश्चित हो जाने से, राज्यों को कर–राजस्व में वृद्धि का भाग अपने आप मिलता रहेगा;

(ख) केन्द्रसरकार इस बात का ख्याल किए बिना कि क्या कोई कर राज्यों के साथ विभाजनीय हे या नहीं; कर–सुधारों को आगे बढ़ा सकेगी; और

(ग) यदि अनुच्छेद 268 और 269 के आधीन लगाए गए कर इस व्यवस्था का अंग बन जाते हैं तो उनके विदोहन की अधिक संभावना है।

संविधान में संशोधन

कर–अन्तरण की विकल्प योजना जो दसवें वित्त आयोग द्वारा प्रस्तावित की गयी, को केन्द्र सरकार ने स्वीकार कर लिया और इसके अनुसार संविधान के 80वें संशोधन का कानून पारित कर दिया गया। परिणामत:

(क) सभी कर एवं शुल्क जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं। अनुच्छेछ 268 और 269 के आधीन लगाए गए अधिभारों और उपकरों (Surcharges and cesses) को छोड़कर, केन्द्र और राज्यों में बांटे जाते हैं।

(ख) केवल वे राज्य जिनमें ये कर और शुल्क लगाए जा सकते है, इन करों एवे शुल्कों के भागीदार हो सकते हैं।

(ग) इन करों एवं शुल्कों की शुद्धि प्राप्ति का प्रतिशत जो किसी वित्तीय वर्ष में राज्यों को सौंप दिया जाता है, भारत की समेकि निधि (Consolidated Fund of India) का अंग नहीं माना जाएगा।

25.1.4 ग्यारहवें वित्त आयोग की सिफारिशें (Recommendation of the Eleventh Finance Commission)

ग्यारहवों वित्त आयोग जुलाई 3, 1998 को गठित किया गया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इससे पहले के वित्त आयोगों के विचाराधीन विषय करों के वितरण और अनुदान सहायता को राज्यों के लिए उपलब्ध कराने तक सीमित थे। ग्यारहवें वित्त आयोग के विचाराधीन विषयों का विस्तार कर इनमें पंचायतें और नगरपालिकाएं जोड़ दी गयी। ग्यारहवें वित्त आयोग जिसके अध्यक्ष प्रोफेसर ए॰एम॰खुसरों, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बनाए गए, ने अपनी रिपोर्ट 7 जुलाई 2000 को प्रस्तुत की।

नोट

25.1.5 ग्यारहवें वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें (Main Recommendations)

आयोग ने निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें की :

1. अन्तरण (Transfer) की समस्त स्कीमों में केन्द्र की सकल राजस्व प्राप्तियों (ळतवे त्मअमदनम त्मबमपचजे) का 37.5 प्रतिशत राज्यों को अंतरित करने की अधिकतम सीमा की सिफारिश की गयी।
2. इस आंकड़े में शामिल किए गए: (i) केन्द्र के विभाजनीय करों शुल्कों से शुद्ध प्राप्ति राज्यों का 28 प्रतिशत अंतरण; (ii) चीनी, तम्बाकू एवं टैकसटाइल्स पर बिक्री-कर (ैंसम ज्ंग) के एविज में विभाजनीय करों एवं शुल्कों का 1.5 प्रतिशत; और (iii) ऐसे राज्य जो अंतरण के पश्चात भी राजस्व-घटे का सामना कर रहें हैं इन्हें अनुदान-सहायता (ळंदजे.पद.ंपक), स्थानीय निकायों (Local bodies) के लिए अनुदान, विपछा-राहत के लिए अनुदान और योजना-राजस्व अनुदान (Plan Revenue Grants)।
3. केन्द्र के करों एवं शुल्कों के संग्रह में राज्यों का भाग निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित मानदण्ड रखे गए:-

तालिका : **राज्यों का सापेक्ष भाग निर्धारित करने के लिए मानदण्ड एवं भारांश (Weights)**

		दसवां वित्त आयोग	ग्यारहवां वित्त आयोग
1.	जनसंख्या	20%	10%
2.	किसी राज्य की प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम प्रति व्यक्ति आय वाले राज्य से अन्तर	60%	62.5%
3.	क्षेत्रफल	5%	7.5%
4.	आधार-संरचना का सूचकांक	5%	7.5%
5.	कर-प्रयास	10%	5.0%
6.	राजकोषीय अनुशासन	....	7.5%

ग्यारहवें वित्त आयोग ने विभाजनीय करों एवं शुल्कों के फार्मूले में निम्नलिखित संशोधन किए:-

(क) जनसंख्या का भारांश (Weight) 20 प्रतिशत से कम करके 10 प्रतिशत कर दिया गया और 1971 की जनसंख़्या की अमेक्षा 1991 की जरसंख्या का इस उद्देश्य के लिए प्रयोग किया गयां

(ख) क्षेत्रफल एवं आधार-संरचना-सूचकांक (Index of infrastructure) का महत्व 5% से बढ़ा कर 7.5 प्रतिशत कर दिया गया।

(ग) जहाँ दसवें वित्त आयोग ने संसाधान गतिमान करने के प्रयास के सम्बन्ध में शुरूआत की, वहीं ग्यारहवे वित्त आयोग ने इसकी अपेक्षा दो मानदण्डों (Criteria) अर्थात् कर-प्रयास (Tax effort) और राजकोषीय अनुशासन (Fiscal discipline) का प्रयोग किया। जब कि कर प्रयास के भारांश (Weight) को 10 पतिशत से घटा कर 5 प्रतिशात कर दिया गया, वहाँ इसके साथ राजकोष अनुशासन का एक और मानदण्ड जोड़ दिया गया ताकि किसी राज्य का निष्पादन आंका जा सके और इसे 7.5 प्रतिशत भारांश दिया गया। इस प्रकार कर-प्रयास एवं राजकोषी अनुशासन बेहतर राकोषीय संतुलन प्राप्त करने का संयुक्त मानदण्ड बनाया गया और इसका ग्यारहवें वित्त आयोग द्वारा1 2.5 प्रतिशत भारांश निर्धारित किया गया।

राजकोषीय अनुशासन की परिभाषा किसी राज्य की अपनी राजस्व-प्राप्तियों का उसके कुल व्यय के अनुपात और इसी प्रकार से सभी राज्यों के अनुपात की तुलना में उन्नति को इसके माप का मानदण्ड माना गया। अत: ग्यारहवां वित्त आयोग किसी राज्य के राजकोषीय स्वास्थ्य को मापने के लिए न केवल कर-प्रयास में वृद्धि को मानदण्ड मानता है जिसके परिणामस्वरूप अधिक राजस्व प्राप्त होता है, बल्कि इसे राजस्व-व्यय में कमी लाने के प्रयास के साथ जोड़ना चाहता है। इन दोनों का सम्मिश्रण किसी राज्य के निष्पादन का बेहतर सूचकांक है। अत: ऐसे राज्य जो बेहत्तर राजकोषीय अनुशासन का परिचय देते हैं, घटिया निष्पादन दिखाने वाले राज्यों की अपेक्षा अधिक साधन प्राप्त कर सकेंगे।

नोट

इन सभी कारणतत्वों को दृष्टि में रखते हुए, 5 वर्षों (2000–01से 2004–05) की अवधि के लिए करों एवं शुल्कों के विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) में भिन्न–भिन्न राज्यों का भाग इस प्रकार है:–

तालिका से स्पष्ट होता है कि चार राज्यों अर्थात् उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रवेश और पश्चिम बंगाल का सभी विभाजनीय करों एवं शुल्कों मे भाग 51.3 प्रतिशत था। यह उल्लखे करना उचित होगा कि इन राज्यों में भारत की कुल जनसंख्या का 43 प्रतिशत निवास करता है। जाहिर है कि राज्यों की प्रति व्यक्ति आय नीची होने के परिणामस्वरूप इनके विभाजनीय संग्रह के भाग में वृद्धि हुई है।

4. आज जम्मू तथा कश्मीर राज्य में वयय–कर और सेवा–कर (Service Tax) नहीं लगाए जाते और इस करण इन करों में से इसे कोई हिस्सा नहीं दिया गया। इन करों से प्राप्त सकल राज्स्व को अन्य सभी राज्यों में उनके सापेक्ष भाग में संशोधन कर बांट दिया गया है।

5.4,973 करोड़ रूपए की राशि गैर–विकासात्मक सामाजिक क्षेत्रों (Non-developmental social sectores) में स्टैंडर्ड के उन्नयन (Upgradation os standard) और सन् 2000–05 के दौरान विशेष–समस्या अनुदान (Special Problem grnat) देने के सिफरिश की गयी हैं।

6. वित्त वर्ष सन् 2000–01 से आरम्भ कर पंचायतों के लिए प्रत्येक वर्ष 1,600 करोड़ रूपए और नागरपालिकाओं के लिए प्रत्यके वर्ष 400 करोड़ रूपए की राशि पाँच वर्षों (2000–0225) के लिए देनी तय की गयी है ।

इस अनुदान में पंचायतों एवं नगरपालिकाओं के लिए विभिन्न राज्यों के सापेक्ष भाग निर्धारित करने के लिए मानदण्डों एवं उनके भाराशं (Weight) दस प्रकार है: (i) ग्रामीण/नगरीय जनसंख्या का राज्य में अनुपात (40 प्रतिशत), (ii) विकेन्द्रीयकरण–सूचकांक (Index of decentralisaton) (20 प्रतिशत) (iii) अधिकतम प्रति व्यक्ति आय से अन्तर (iv) स्थानीय निकायों का कर–प्रयास (10 प्रतिशत) और (v) भौगोलिक क्षेत्रफल (10 प्रतिशत)

7. ग्यारहवें वित्त आयोग ने 5 वर्षों (2000–05) की अवधि के लिए करों एवं अनुदानों के अन्तरण के लिए कुल 4,34,905 करोड़ रूपए की राशि देने की विफारिश की है। विभिन्न–मदों के आधीन प्राप्त होने वाली राशि इस प्रकार है:–

तालिका : **राज्यों के कुल अन्तरण (2000–05)**

	करोड़ रूपए	कुल का प्रतिशत
1. केन्द्रीय करों एवं शुल्कों में भाग	3,76,318	86.5
2. अनुदान–सहायता	58,587	13.5
(क) गैर–योजना राजस्व घाटा	35, 359	8.1
(ख) उन्नयन एवं विशेष समस्याएं	4,973	1.2
(ग) पंचायतें	8,000	1.8
(घ) नगरपालिकाएं	2,000	0.5
(ड़) राहत–व्यय	8,256	1.9
कुल (1+2)	**4,34,905**	**100.00**

ध्यान देने योग्य बात यह हे कि कुल राशियों के अन्तरण में करों एवं शल्कों का भाग 86.5 प्रतिशत और अनुदानों का भाग13.5 प्रतिशत है।

स्थानीय निकायों (Local bodies) के सहायता के लिए ग्राम में पंचायतों के स्तर पर और नगरों में नगरपलिका स्तर पर–ग्यारहवे वित्त आयोग ने 10.000 करोड़ रूपए की व्यवस्था की है। इसमें से पंचायतो को प्रतिवर्ष 1,600 करोड़ रूपए और नगरपालिकाओं को 400 करोड़ रूपए प्राप्त होंगें।

इसके अतिरिक्त, आपदों (Calamities) के दैरान राहत के लिए 8,256 करोड़ रूपए का प्रावधान किया गया है।

ग्यारहवें वित्त आयोग के गठन के समय पर देश का राजकोषीय परिदृय पहले से काफी खराब था और इसको लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजकोषीय चल (key Fiscal variable) अत्यन्त असंतोषजनक आकार में पहुच चुका था औन

नोट

नकारात्मे दिशा में बढ़ रहा था। देश के सभी राज्य, विशेष श्रेणी के राज्य एवं अन्य, भारी राजस्व-घटे और राजकोषीय घाटे में ग्रस्त हो चुके थे और इनमे उन्नति के कोई चिन्ह दिखयी नहीं देते थे। राजस्व की वृद्धि दर काफी मन्द गति पर पहुंच गई थी और व्यय की वृद्धि दर ने एक खतरनाक मोड़ ले लिया था। प्रत्येक क्षेत्र मे बढ़ते हुए गैर-योजना व्यय की प्रवृति विकासात्मक एवं पूँजी व्यय में गिरावट का कारण बन गई थी जिसके परिणामसवरूप आधारसंरचना (Infrastructure) का निर्माण जो अर्थव्यवस्था के विकास और पोषण के लिए अनिवार्य था, लगभग असंभव बन गया था। इसी करण वित्त आयोग ने स्थिति को सुधारने के लिए केवल अल्पकालीन सिफारिशें ही नहीं की बल्कि इस गर्त से अर्थव्यवस्था को निकालने के निकालने के लिए दीर्घकालीन रणनीति के रूप में भी सुझाव दिए

आपदा राहत निधि (Calamity Relief Fund)

ग्यारहवें वित्त आयोग ने यह विफारिश की है कि राज्यों में कार्य कर रही वर्तमान आपदा रहात निधि 2000-05 के दौरान अपने 11,008 करोड़ रूपये के कुल आकार से साथ बनी रहनी चहिए। इसमें केन्द्र रूपये के कुल आकार के साथ बनी रहनी चहिए। इसमें केनद्र कर भाग 8,256 करोड़ रूपये और राज्यों का भाग 2,752 करोड़ रूपये (75:25 के अनुपात में) शामिल है। आयोग ने वर्तमान राष्ट्रीय आपदा राहत निधि (Natonal Fund for Calamity Relief) को समाप्त करने की सिफारिश की है। केन्द्र द्वारा राज्यों को कोई भी आपदा राहत सहायता उपलब्ध कराने के लिए एक निश्चित समय के लिए केन्द्रीय कारों पर अधिभार (Surcharge) लगा कर वित्त जुटाना होगा। इस अधिभार से प्राप्त राशि को एक पृथक निधि, जिसे राष्ट्रीय आपदा आकस्मिा निधि (national Countigency Fund) कहा जाएगा, में रखना होगा। निधि भारत सरकार के सार्वजतिक खाते में कायम की जाना चाहिए।

बजट घाटे को कम करने के लिए ग्यारहवें वित्त आयोग के सुझाव

इस सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए:-

1. बजट घाटे की समस्या के स्थायी समाधान के लिए बजटीय पद्धति एवं बजटीय नियंत्रण (Budgetary Control) की आकर ध्यान देना होगां नव गठित व्यय-आयोग (Expenditure Commission) को बजटीय व्यवहार और नियंत्रणों के प्रणाली की समीझा कर इस दिशा में सुधार लाने के लिए सिफारिशें करनी हैं।
2. चूंकि सेवाए अर्थव्यस्था का तेजी से बढ़ता हुआ क्षेत्र है और सकल देशीय उत्पाद (Gross Demestic Product) मे 50 प्रतिशत से अधिक योगदान करती हैं, उन्हें अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय को बढ़ाने के लिए अधिकाधिक रूप में कर जाल (Tex net) में लाना चाहिए
3. राज्यों एवं स्थानीय निकायों के कर-आधार (Taxbase) का विस्तार करना चाहिए और इसके लिए भू-आधारित करों (Land based taxes) का बेहतर विदोहन करना होगा। सम्पति करों एवं अन्य करों का बेहतर प्रशासन करना होगा। सम्पति करों एवं अन्य करों का बेहतर प्रशासन करना होगा, सम्पति करों एवं अन्य करों का बेहतर प्रशासन करना होगा।
4. व्यवसाय कर (Profession tax) की अधिकतम कसीमा को संशोधित कर लोक सभा को सशक्त बनाने के लिए संविधान में संशोधन करना चाहिए।
5. निर्धारित एवं ने उगाहे गए करो की बहुत भानी राशियां केन्द्र एवं राज्यों-दोनो के खातों में बकाया हैं। इन बकाया राशियों को उगाहने के लिए प्रभावी कदम उठाने होगे।
6. प्रयोक्ता-प्रभार (User Charges) को आदान लागतों (Input costs) के सूचकांक सं जोड़ना चाहिए और आवधिक संशोधन (Periodic revision) की प्रक्रिया को स्वचालित बना देनी चाहिए।
7. खनिजों पर रायल्टी में नियमित संशोधन होना चाहिए। रायल्टी दरों पर सिफारिशें करने का कार्य एक स्वतंत्र निकाय को सौंप देना चाहिए।
8. सरकारी व्यय की संरचना को प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों अर्थात् प्राथमिक शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य सुरक्षा, जल आपूर्ति, स्वच्छता और आधार-संरचना जैसे सड़कों एवं पुलों के पक्ष में परिवर्तित करना होगा। वेतन, पेंशन, ब्याज भुगतान, सब्सिडी पर होने वाले व्यय पर कड़ा नियंत्रण करना चाहिए।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ती करें (Fill in the blanks) –

1. ..... ने वर्तमान वितरण योजना की अपेक्षा लम्बरूप अतंरण को बेहतर समझा।
2. ..... जुलाई 3, 1998 को गठित किया गया।
3. ग्यारहवें वित्त आयोग के अध्यक्ष ..... बनाए गए।
4. बजट घाटे की समस्या के स्थायी समाधान के लिए ..... एवं बजटीय नियंत्रण की ओर ध्यान देना होगा।

25.2 सारांश (Summary)

- संविधान में कुछ संघीय करों से प्राप्त राजस्व की राज्यों में बाँट सम्बन्धी धाराएँ दी गई हैं। संघीय सरकार द्वारा लगाए गए करों को चार भागों में बाँटा जाता है।
- दसवें वित्त आयोग ने, जिसके अध्यक्ष श्री के॰सी॰ पंत थे, केन्द्रीय करों के विकल्प वितरण की सिफारिश की। इसके अनुसार संविधान में संशोधन करना पड़ा जिसके आधीन सभी केन्द्रीय करों से प्राप्त राजस्व को राज्यों के साथ बांटना अनिवार्य कर दिया।
- संविधान के कुछ ऐसे कर संघीय सूची (Union List) में शामिल किए गए हैं जो आंशिक या पूर्ण रूप से राज्यों को बाँट दिए जाते हैं। इस वर्ग में तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते हैं परन्तु जो राज्यों द्वारा एकत्र एवं प्रयुक्त किए जाते हैं।
- संविधान में आधीन राष्ट्रपति को वित्त आयोग नियुक्त करना पड़ता है। आयोग को इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को निम्नलिखित विषयों में सिफारिशों करनी होती हैं : (क) केन्द्र और राज्यों के बीच करों से राजस्व की बाँट करना और फिर विभिन्न राज्यों में राजस्व बाँटना, (ख) वे सिद्धान्त निर्धारित करना जिनके आधीन राज्यों को सहायता अनुदान (Grantsin-aid) उपलब्ध कराया जाए, और (ग) केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों के बारे में किसी अन्य मामले की जाँच करना।
- प्रथम वित्त आयोग ने तीन वस्तुओं अर्थात् तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति पदार्थों पर लगाए गए उत्पादन शुल्क का 40 प्रतिशत राज्यों में जनसंख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की।
- यहाँ इस बात पर बल देने की जरूरत हे कि सभी वित्त आयोगों ने एक मूल उद्देश्य अपने सामने रखा, अर्थात् केन्द्रीय उत्पादन शुल्कों में राज्यों के भाग को बढ़ाना। पहले कुछ वित्त आयोगों ने अधिकाधिक उत्पादन-शुल्कों को विभाजनीय संग्रह (Divisible Pool) में लाने की कोशिश की परन्तु राज्यों के प्रतिशत भाग को कम कर दिया किन्तु सातवें, आठवें और नवें वित्त आयोग ने (क) सभी केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों (Central Excise Duties) को विभाजनयी संग्रह में शामिल कर दिया; और (ख) राज्यों के भाग को पहले 20 प्रतिशत से बढ़ाकर 40 प्रतिशत ओर अन्ततः इसे 47.5 प्रतिशत कर दिया। अतः समय के साथ-साथ वित्त आयोग राज्यों की वित्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय उत्पादन-शुल्कों पर निर्भर करते रहे हैं।
- दसवें वित्त आयोग ने अपने अधिनिर्णय में केन्द्र और राज्यों के बीच करों के आवंटन की लम्बरूप विकल्प योजना की सिफारिश की और राज्यों के बीच विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) की समस्तर योजना (Horizontal Scheme) की सिफारिश की।
- ग्यारहवों वित्त आयोग जुलाई 3, 1998 को गठित किया गया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इससे पहले के वित्त आयोगों के विचाराधीन विषय करों के वितरण और अनुदान सहायता को राज्यों के लिए उपलब्ध कराने तक सीमित थे।

नोट

- ग्यारहवें वित्त आयोग ने यह विफारिश की है कि राज्यों में कार्य कर रही वर्तमान आपदा रहात निधि 2000-05 के दौरान अपने 11,008 करोड़ रूपये के कुल आकार से साथ बनी रहनी चहिए।

25.3 शब्दकोश (Keywords)

- **स्वापक** – नींद लाने वाला
- **समेकित** – समेकन, एकत्र करना
- **सहभाजन** – विभाजित होने वाले

25.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय संविधान में वित्तीय संबंध का विवेचन कीजिए।
2. केन्द्रीय राजस्व के वितरण एवं आवंटन की व्याख्या कीजिए।
3. दसवें वित्त आयोग के अन्तरण की विकल्प योजना पर प्रकाश डालिए।
4. ग्यारहवें वित्त आयोग की सिफारिशों का विवरण दीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

(*d*) संघीय कर (*b*) राज्यीय कर (*c*) वित्त आयोग (*d*) संपदा शुल्क

उत्तर :- स्व-मूल्यांकन (Answers: Self-Assessment)

1. 1. (ख) 2. (क) 3. (ग) 4. (घ) 5. (ख)

2. 1. दसवं वित्त आयोग 2. ग्यारहवां वित्त आयोग
3. प्रोफेसर ए॰एम॰ खुसरो 4. बजटीय पद्धति

25.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–26: बारहवां एवं तेरहवां वित्त आयोग (12th and 13th Finance Commissions)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

26.1 बारहवां एवं तेरहवां वित्त आयोग (12th and 13th Finance Commissions)

26.2 सारांश (Summary)

26.3 शब्दकोश (Keywords)

26.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

26.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- बारहवें एवं तेरहवें वित्त आयोग की विवेचना करने में ।

प्रस्तावना (Introduction)

वित्त आयोग की संख्या भारत के संविधान की मुख्य विशेषताओं में से एक है। अनुच्छेद 280 का यह कहना है कि संविधान के लागू होने के दो वर्षों के भीतर राष्ट्रपति द्वारा प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की जाए तथा इसके पश्चात हर पाँचवें वर्ष अथवा आवश्यकता पड़ने पर इससे पहले नए आयोग की नियुक्ति की जाए। एक बार आयोग की नियुक्ति हो जाने पर उसकी सिफारिशों पर ही राज्यों को विचाराधीन साधनों का हस्तांतरण किया जा सकता है। कानूनी दृष्टिकोण से राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह आयोग की सिफारिशों को रद्द कर दे अथवा संशोधित रूप में स्वीकार करे परन्तु वास्तविकता में आयोग की सिफारिशें लगभग सदैव ही स्वीकारी जाती रही हैं।

वित्त आयोग की व्यवस्था इस धाारणा पर आधारित है, कि देश में सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच साधन आवंटन की प्रणाली आवश्यकतानुसार संशोधनीय होनी चाहिए।

अब तक 13 वित्त आयोगों का गठन हो चुका है तथा सबकी रिपोर्ट भी दाखिल की जा चुकी है। इस इकाई में हम 12वें और 13वेंवित्त आयोग का अध्ययन करेंगे।

26.1 बाहरवां एवं तेरहवां वित्त आयोग (12th and 13th Finance Commission)

राष्ट्रपति द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 के अधीन बारहवां वित्त आयोग स्थापित किया गया। श्री सी. रंगराजन को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इसके विचाराधीन वही विषय थे जो ग्यारहवें वित्त आयोग के अधीन थे। केवल थे वित्त आयोग के अधीन थे। केवल एक विषय और बाद में एक विशिष्ट अधिसूचना के आधीन जोड़ा गया। विचाराधीन विषय में निम्नलिखित शामिल किए गए–

नोट

1. सभी करों की शुद्ध प्राप्तियों (Net proceeds) का केन्द्र और राज्यों के बीच वितरण और ऐसी प्राप्तियों के अपने हिस्से का राज्यों में आवंटन;
2. उन सिद्धान्तों को तय करना जिसके अनुसार
   (क) भारत की समेकित निधि (Consolidated Fund) से राज्यों को सहायता दी जाती है; और
   (ख) राज्यों को संविधान के अनुच्छेद 275 के अधीन दी जाने वाली सहायता दी जाती है;
3. उन उपायों का सुझाव देना जिनके अनुसार किसी राज्य की समेकित निधि को बढ़ाया जा सके ताकि वे राज्य की पंचायतों एवं नगरपालिकाओं के संसाधनों की अनुपूर्ति कर सकें;
4. केन्द्र द्वारा ग्यारहवें वित्त आयोग के आधार द्वारा राजकोषीय सुधारों (Fiscal Reforms) की समीक्षा करना और इसके उद्देश्यों का प्राप्त करने के लिए प्रभावी सुझाव देना;
5. मार्च 2004 के अन्त तक राज्यों की ऋण-स्थिति की समीक्षा करना और इसके सुधार के लिए उपायों का सुझाव देना जो हमारी समष्टि आर्थिक स्थिरता (Macro-economic stability) के अनुकूल हों।
6. विपदा-प्रबन्ध (Disaster Management) की वर्तमान व्यवस्थाओं की समीक्षा करना।
7. केन्द्र को लाभ-पैट्रोलियम (Profit Petroleum) से प्राप्त होने वाली कर-भिन्न आय (Non-tax income) के विभाजन के बारे में सिफारिश करना कि क्या यह उन राज्यों में बांटी जाए जिनसे यह खनिज तेल प्राप्त होता है और यदि ऐसा करना है, तो किसी सीमा तक।

बारहवें वित्त आयोग का अधिनिर्णय (Award)

विचाराधीन विषयों पर अपना अधिनिर्णय देने से पूर्व, बारहवें वित्त आयोग ने विचाराधीन विषयों के विभिन्न मुद्दों पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों के विचारों पर ध्यानपूर्वक विचार किया। आयोग का मुख्य उद्देश्य यह था कि विकास की गति कायम रखी जाए, राजकोषीय समेकन (Fiscal Consolidation) प्राप्त किया जाए और आय-हस्तांतरण की ऐसी योजना की सिफारिश की जाए जिससे समता (Equity) और कुशलता के युगल उद्देश्य प्राप्त किए जा सकें। केन्द्र से राज्यों को कर एवं अनुदानों के अन्तरण का अर्थ यह है कि इनके माध्यम से लम्बरूपी एवं समतल असंतुलन ठीक किए जा सकें।

तालिका 1: केन्द्र से राज्यों को राजस्व-अन्तरण, केन्द्र के सकल राजस्व के प्रतिशत के रूप में

	वित्त आयोग के हस्तातंरण			*योजना आयोग एवं अन्य स्रोतों से अन्तरण*	*कुल प्रतिशत अन्तरण*
	केन्द्रीय करों में भाग	*अनुदान*	*कुल अन्तरण*		
सातवां आयोग	22.4	2.0	24.4	13.7	38.1
आठवां आयोग	20.3	2.5	22.8	15.1	37.9
नवां आयोग	21.4	3.4	24.8	15.5	40.3
दसवां आयोग	21.4	2.3	23.7	11.1	34.8
ग्यारहवां आयोग (प्रथम दो वर्ष)	20.9	5.2	26.1	11.2	37.3

स्रोत–बाहरवें वित्त आयोग की रिपोर्ट

लम्बरूपी असंतुलन और अन्तरण (Verticle imbalance and devolution)–भारत में लम्बरूपी असंतुलन हमेशा ही पाए गए क्योंकि केन्द्र को अधिक राजस्व सौंपा गया परन्तु राज्य सरकारों पर अधिक उत्तदायित्व डाले गए। अत: इन लम्बरूपी असंतुलनों को सुधारने के लिए केन्द्र को राज्य सरकारों को राजस्व-अन्तरण (Revenue transfer) अनिवार्य हो जाता है।

नोट

अपने दस्तावेज़ों मे राज्यों ने यह मांग की कि विभाजनीय संग्रह (Divisible pool) का जो भाग ग्यारहवें वित्त आयोग ने 29.5 प्रतिशत तक तय किया था, उसे बढ़ा कर 33 प्रतिशत कर दिया जाए। कई राज्यों ने तो इसे बढ़ाकर 50 प्रतिशत करने की भी मांग की। आयोग ने अन्ततः यह निर्णय किया कि इसे बढ़ाकर 30.5 प्रतिशत कर दिया जाए –1 प्रतिशत की वृद्धि। वास्तव में यह अतिरिक्त उत्पाद–शुल्क जोकि चीनी, तम्बाकू एवं टैक्सटाइल पर लगाया गया है, उसके बदले में है।

जहां तक समग्र अन्तरणों (Transfer) का सम्बन्ध है, ग्याहरवें वित्त आयोग ने इन्हें केन्द्र के सकल राजस्व (Gross Revenue) का 37.5 प्रतिशत तय किया था। वित्त मंत्रालय ने वस्तुतः बारहवें वित्त आयोग को यह निवेदन किया कि पिछले आयोग के निर्णय पर पुनर्विचार करें। अतः 12वें वित्त आयोग ने सभी प्रकार के दृष्टिकोणों जिनमें अन्तरण की ऐतिहासिक प्रवृत्तियां भी थीं, पर विचार किया।

12वें वित्त आयोग ने यह पाया कि केन्द्र के सकल राजस्व का लगभग 38 प्रतिशत राज्यों का हस्तांतरिक किया जाता है। इसमें एक भाग वित्त आयोग के अधिनिर्णय के आधार पर प्राप्त होता है और दूसरा भाग योजना आयोग से अनुदान (Grants) एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त होता है। आयोग ने संप्रग सरकार के राष्ट्रीय न्यूनतम साझे कार्यक्रम पर भी ध्यान दिया जिसमें यह मांग की गयी थी कि राज्यों का भाग केन्द्र के कुल राजस्व के विभाजनीय संग्रह में बढ़ना चाहिए। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए बारहवें वित्त आयोग ने केन्द्रीय कुल राजस्व का 38 प्रतिशत राज्यों में बांटने का निर्णय किया–ग्यारहवें वित्त आयोग की तुलना में केवल आधे प्रतिशत की वृद्धि।

समतल सहभाजन (Horizontal sharing)–अन्तरण के समतल पक्ष का सम्बन्ध देश के विभाजनीय संग्रह (Shareable pool) का राज्यों में वितरण है। यदि भारतीय संघ के सभी राज्यों की प्रतिव्यक्ति आय बराबर या लगभग बराबर होती और यदि सभी राज्यों की राजकोषीय क्षमता (Fiscal capacity) भी समान होती, तो राज्यों के बीच अन्तरण (Transfers) की समस्या साधारण होती अर्थात् प्रत्येक राज्य को प्रति व्यक्ति समान अन्तरण। वास्तव में, इनमें काफी समतल असंतुलन (Horizontal imbalances) हैं। राज्यों में क्षेत्रफल, जनसंख्या, आय, कर–आधार (Tax base), वन तथा खनिज सम्पत्ति आदि के रूप में अन्तर पाए जाते हैं। राज्यों की क्षमताओं और आवश्यकताओं में भेद हैं और सेवाओं को उपलब्ध कराने की लागतों में भी अन्तर हैं। देश के सभी राज्यों में केन्द्रीय संसाधनों के वितरण के आधार पर इन असंतुलनों को दुरुस्त करना होगा।

बारहवें वित्त आयोग ने इस मुद्दे पर पुराने वित्त आयोगों की सिफारिशों और विभिन्न राज्यों द्वारा निम्नलिखित विषयों पर दिए गए ज्ञापनों पर विचार किया–

(क) जनसंख्या के प्रयोग को एक कारणतत्व के रूप में जारी रखना;

(ख) किसी राज्य की प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम प्रतिव्यक्ति आय में अन्तर;

(ग) क्षेत्रफल को एक कारणतत्व के रूप में जारी रखना; और

(घ) कर–प्रयास और राजकोषीय अनुशासन की कसौटी को जारी रखना।

ऊपर दी गयी कसौटियों में कोई भी तटस्थ कसौटी नहीं है। अभी तक प्रत्येक वित्त आयोग द्वारा यह प्रयास किया है कि भिन्न–भिन्न कसौटियों और प्रत्येक कसौटी के लिए भिन्न भार (Weights) तय किए जाएं ताकि समानता की उचित हद तक प्राप्ति की जा सके। परन्तु व्यवहार में ऐसा करना संभव नहीं और प्रत्येक आयोग की आलोचना उन राज्यों द्वारा की गयी जिन्होंने यह महसूस किया कि उन्हें केन्द्रीय विभाजनीय संग्रह (Central Shareable Pool) का बड़ा भाग मिलना चाहिए था।

सबसे पहले जनसंख्या कारणतत्व की कसौटी को ही लें जोकि सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं की आवश्यकता कीमूल सूचक है। इससे सभी राज्यों में प्रति व्यक्ति समान संसाधन–हस्तांतरित किए जाते हैं। यह बात सभी वित्त आयोगों द्वारा स्वीकार की गयी, चाहे अलग–अलग वित्त आयोगों ने इसे भिन्न–भिन्न महत्त्व या भार (Weight) दिया। इस सम्बन्ध में बारहवें वित्त आयोग ने उल्लेख किया: "हाल ही के वर्षों में, सातवें और आठवें वित्त अयोग द्वारा जनसंख्या को 22.5 प्रतिशत से 25 प्रतिशत महत्व (भार) दिया गया। इस भार को नौवें वित्त आयोग ने कम करके 20 प्रतिशत और

नोट

ग्यारहवें वित्त आयोग ने और कम करके 10 प्रतिशत कर दिया। हम ऐसा महसूस करते हैं कि जनसंख्या का भार बढ़ाने का पक्ष मज़बूत है और इसलिए इसका भार (Weight) 25 प्रतिशत रखा गया है।" यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि विभिन्न राज्यों ने यह मांग की थी कि जनसंख्या का भार 10 प्रतिशत से 50 प्रतिशत के बीच रखा जाए।

अन्ततोगत्वा, बारहवें वित्त आयोग ने करों में राज्यों का भाग निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित कसौटियां और उनका सापेक्ष भार तय किया–

तालिका 2: बारहवें वित्त आयोग द्वारा निर्धारित विभिन्न कसौटियों का सपेक्ष भार

कसौटी	*भार (%)*
जनसंख्या	25
आय-अन्तर	50
क्षेत्रफल	10
कर-प्रयास	7.5
कर-अनुशासन	7.5
कुल	**100.0**

बारहवें वित्त आयोग ने निष्कर्ष निकाला "हमने एक ऐसे फार्मूले का निर्माण किया जो समता (Equity) का राजकोषीय कुशलता के साथ संतुलन बिठाता है। किन्तु इसमें समता का प्रधान स्थान है क्योंकि संघीय-अन्तरण (Federal Transfers) में समता-सिद्धान्त को कार्यांवित करने का प्रयास किया जाता है।" इस फार्मूले के आधार पर निम्नलिखित पाँच राज्यों को कुल विभाजनीय राजस्व का सबसे अधिक भाग प्राप्त होगा।

तालिका 3: 12वें वित्त आयोग द्वारा तय आवंटन में पाँच राज्यों का भाग

	विभाजनीय-संग्रह में भाग (प्रतिशत)
उत्तर प्रदेश	19.3
बिहार	11.0
आंध्र प्रदेश	7.4
पश्चिम बंगाल	7.1
मथ्य प्रदेश	6.7
5 राज्यों का कुल भाग	**51.5**

अन्य 23 राज्यों को विभाजनीय संग्रह का 48.5 प्रतिशत प्राप्त होगा।

अनुदान (Grants-in-aid)

पिछले वित्त आयोगों की भान्ति, 12वें वित्त आयोग ने गैर-योजना राजस्व घाटे सम्बन्धी अनुदान संविधान के अनुच्छेद 275 के अधीन 15 राज्यों को वितरित करने की सिफारिश की जिनका कुल गैर-योजना राजस्व-घाटा (Non-plan Revenue deficit) 2005-10 की अवधि के लिए 56,856 करोड़ रुपये आंका गया।

12 वित्त आयोग द्वारा अन्य अनुदान सम्बन्धी निम्नलिखित सिफारिश की गयी–

8 राज्यों के लिए शिक्षा सम्बन्धी अनुदान 2005-10 की अवधि के लिए 10,172 करोड़ रुपये जिनमें से किसी भी योग्य राज्य के लिए कम-से-कम प्रतिवर्ष 20 करोड़ रुपये

नोट

7 राज्यों को स्वास्थ्य के लिए अनुदान 2005–10 की अवधि के लिए 5,887 करोड़ रुपये जिनमें से किसी भी योग्य राज्य को कम-से-कम प्रतिवर्ष 10 करोड़ रुपये।

तालिका 4: सड़कों एवं पुलों के रख-रखाव के लिए अनुदान

2005–10 की अवधि के लिए	15,000 करोड़ रुपये
सरकारी भवनों के लिए:	5,000 करोड़ रुपये
वनों के लिए:	1,000 करोड़ रुपये
विरासत-संरक्षण (Heritage conservation)	
के लिए:	625 करोड़ रुपये
विशिष्ट आवश्यकताओं के लिए :	
2005–10 की अवधि के लिए	7,100 करोड़ रुपये
कुल मिला कर, 12वें वित्त आयोग ने 7,55,752 करोड़ रुपये का कर एवं अनुदान वितरित किया।	
कर-अन्तरण (Tax Devolution) 6,13,112 करोड़ रुपये	
अनुदान	1,42,640 करोड़ रुपये
कुल	**7,55,752 करोड़ रुपये**

स्थानीय निकाय–पंचायतें एवं नगरपालिकाएं

सबसे पहले, ग्यारहवें वित्त आयोग से आग्रह किया गया कि वह राज्य की समेकित निधि (Consolidated Fund of a State) को बढ़ाने के लिए आवश्यक उपायों का सुझाव दे ताकि पंचायतों एवं नगरपालिकाओं को सहायता प्रदान की जा सके। 11वें वित्त आयोग ने इस सम्बंध में कई एक उपायों का सुझाव दिया। इनमें शामिल थे: भूमि कर, व्यवसाय कर, अधिभार, उप-करों को राज्यों को सौंपना ताकि वे मूल नागरिक सेवाओं को उन्नत कर सकें और सामाजिक एवं आर्थिक विकास की योजनाओं को आरम्भ कर सकें। इसके साथ-साथ, 11वें वित्त आयोग ने राज्यों पर राज्यीय वित्त आयोगों (State Finance Commissions) की सिफारिशों को लागू करने के भार को ध्यान में रखा। अत: पंचायतों के लिए 1,000 करोड़ रुपये और नगरपालिकाओं के लिए 400 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष के तदर्थ अनुदान (Ad hoc grant) की सिफारिश की-अर्थात् 2000-05 की अवधि के लिए 7,000 करोड़ रुपये।

12वें वित्त आयोग ने राज्य सरकारों, भारत सरकार के ग्रामीण विकास के मंत्रालय, नगर विकास एवं निर्धनता-निवारण मंत्रालय के विचार जाने। आयोग ने यह महसूस किया कि केन्द्र से अतिरिक्त अनुदानों के रूप में संसाधनों के अन्तरण द्वारा राज्यों की समेकित निधियों को बढ़ाने के पक्ष में तर्क में बल है। इसके लिए राज्यों की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखना होगा। इसके अतिरिक्त, विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया (Decentralisation process) को बढ़ावा देने की स्पष्ट आवश्यकता है। अत: आयोग ने अधिनिर्णय-अवधि (Award period) 2005–10 के लिए 25,000 करोड़ रुपये के अनुदान की सिफारिश की ताकि राज्यों की समेकित निधियों को बढ़ाया जा सके जिससे वे नगरपालिकाओं एवं पंचायतों के साधनों की अनुपूर्ति कर सकें। ये अनुदान विभाजनीय कर-संग्रह के 2.4 प्रतिशत और केन्द्र की कुल राजस्व-प्राप्तियों जो 2005–10 के लिए आंकी गयी हैं, के 0.9 प्रतिशत के बराबर होंगे।

12वें वित्त आयोग ने यह तर्क दिया कि नगरपालिकाओं (नगर स्थानीय निकायों) की पहुंच स्वयं कर एवं. कर-भिन्न संसाधन प्राप्त करने में अपेक्षाकृत अधिक है, इसलिए पंचायतों को काफी सहारा देने की ज़रूरत है। 2001 की जनगणना के अनुसार, नगर-जनसंख्या में भाग 26.8 प्रतिशत था। इसलिए 12वें वित्त आयोग ने अनुपात 20:80 रखा। इसका अर्थ यह है कि 5,000 करोड़ रुपये का अनुदान नगरपालिकाओं अनुदान को प्राप्त होगा (अर्थात् कुल अनुदान का 20 प्रतिशत) और 20,000 करोड़ रुपये (80 प्रतिशत) ग्रामों को। इस सम्बन्ध में 12वें वित्त आयोग ने सड़कों एवं भवनों के रख-रखाव के लिए पृथक अनुदान देने की सिफारिश की जिसमें नगरपालिकाओं के आधीन वे सड़कें भी हैं जिनके

नोट

रख-रखाव की ज़िम्मेदारी इन पर है। अत: इस प्रकार नगरपालिकाएं मुख्य लाभप्राप्तकर्ता होंगी। अनुदानों का अन्त:राज्जीय वितरण (Inter-state distribution) निम्न प्रकार से होगा:

तालिका 5: अनुदानों के अन्त:राज्जीय वितरण का अधार

कसौटी	*भार (प्रतिशत)*
1. जनसंख्या	40
2. भौगोलिक क्षेत्र	10
3. उच्चतम प्रतिव्यक्ति आय से अन्तर	20
4. विपन्नता (Deprivation) का सूचकांक	10
5. राजस्व प्रयास	10
कुल	**100**

12वें वित्त आयोग ने इस बात पर बल दिया है कि पंचायतों को आवंटित अनुदानों के लिए व्यय में जल-प्रबन्ध के परिचालन एवं रख-रखाव (Operation and maintenance) और सफाई को प्राथमिकता देनी चाहिए और राजस्व सरकारों से प्राप्त अनुदानों का कम-से-कम 50 प्रतिशत ठोस मरूभूमि (Solid waste) प्रबन्ध की योजना के लिए सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

विपदा-राहत व्यय का वित्तपोषण

12वें वित्त आयोग का राष्ट्रीय विपदा राहत कोष (National Calamity Relief Fund) और राष्ट्रीय विपदा संभाव्यता कोष (National Calamity Contingency Fund) के संदर्भ में विपदा प्रबंन्ध (Disaster management) के वित्तपोषन की वर्तमान व्यवस्था की समीक्षा के लिए कहा गया और इस सम्बन्ध में उचित सिफारिशें करने का आग्रह किया गया। विपदा-प्रबन्ध का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् 12वें वित्त आयोग ने विपदा राहत कोष की वर्तमान व्यवस्था को आपने वर्तमान रूप में जारी रखने की सिफारिश की और इसमें केन्द्र और राज्यों का अनुपात 75:25 तक किया। 2005-10 की अधिनिर्णय अवधि के लिए विपदा राहत कोष का आकार 21,333 करोड़ रुपये निर्धारित किया गया, जिसमें से केन्द्र का भाग 16,000 करोड़ रुपये और शेष 5,333 करोड़ रुपये राज्यों के भाग के रूप में होंगे। 12वें वित्त आयोग ने राष्ट्रीय विपदा संभाव्य कोष को अपने वर्तमान रूप में जारी रखने की सिफारिश की है और इसके लिए 500 करोड़ रुपये की आरक्षित निधि (Corpus) कायम करनी होगी। इस कोष में से निकासी की भरपाई के लिए राष्ट्रीय विपदा आकस्मिक शुल्क और कुछ विशेष अधिभार (Surcharge) लगाने होंगे।

टास्क अनुदान से क्या आप समझते हैं?

राज्यों को ऋण-राहत (Debt Relief to States)

12वें वित्त आयोग को 31 मार्च 2004 पर भारत के राज्यों की ऋण-स्थिति की समीक्षा करने के लिए कहा गया और ऐसे सुधारात्मक उपायों का सुझाव देने के लिए कहा गया जो हमारी समष्टि-आर्थिक (Macro-economic) स्थिरता और इसकी संपोषणीयता (Sustainability) को बनाए रखें। आयोग ने यह अनुमान लगाया कि मार्च 2004 के अन्त तक राज्यों का सार्वजनिक ऋण (Public Debt) 7,83,310 करोड़ रुपये हो जाएगा और यह 2010 के मार्च के अन्त तक 8,81,350 करोड़ रुपये तक पहुंच जाएगा। आयोग ने यह पाया कि पिछले वित्त आयोगों ने विभिन्न प्रकार से ऋण राहत प्रदान की थी।

नोट

1. ऋणों को साझी शर्तों पर समेकित करने के साथ इन पर भविष्य में ब्याज-दर कम करना;
2. ब्याज की दरों में कमी किए बिना, ऋण के भुगतान की शर्तों में संशोधन करना;
3. कुछ वर्षों में देय मूलधन एवं ब्याज एवं ब्याज के भुगतान को स्थगित करना;
4. किसी विशेष अवधि के दौरान देय ऋणों को समाप्त करना; और
5. ऐसी योजनाओं को चालू करना जो कर-राहत को राजकोषीय निष्पादन (Fiscal Performance) के साथ जोड़ दें।

12वें वित्त आयोग ने पिछले आयोगों द्वारा किए गए सब उपरिलिखित उपायों पर विचार किया और इसके साथ-साथ राज्यीय सरकारों द्वारा ऋण-राहत (Debt Relief) सम्बन्धी ज्ञापनों पर भी विचार किया जिनमें शामिल थे: अन्य उपायों के साथ केन्द्रीय ऋणों पर ब्याज-दर कम करना, ब्याज से छूट देना, ऋणों का समेकन (Consolidation), मूलधन के समाप्त करना और भुगतान की पुन: समय-सारणी (Rescheduling) तैयार करना और भुगतान का स्थान। 12वें वित्त आयोग ने ऋण-राहत की निम्नलिखित योजना की सिफारिश की है:

(क) मार्च 2005 के अन्त तक सभी बकाया केन्द्रीय ऋणों की समय-सारणी पुन: तैयार की जानी चाहिए और इन्हें 20 वर्षों के लिए ताजा ऋणों के रूप में तबदील करना होगा जिस पर ब्याज की दर 7.5 प्रतिशत हो और यह उस वर्ष से लागू किया जाएगा जिस वर्ष कोई राज्य राजकोषीय उत्तरदायित्व कानून (Fiscal Responsibility Legislation) पारित कर दे।

(ख) राज्य के राजस्व-घाटे को कम करने के लिए ऋण-परिसमाप्त (Debt Write-off) करना। भुगतान में परिसमाप्ति की मात्रा इस प्रक्रिया से जोड़ना कि अधिनिर्णय अवधि के दौरान प्रत्येक वर्ष में राजस्व-घाटे में कुल रूप में कितनी कमी की जाती है।

नोट्स 12वें वित्त आयोग के दो युगल उद्देश्य हैं–राज्यों को ऋण-राहत देना और राज्यों से आग्रह करना कि वे अपने राजस्व-घाटे को बदस्तूर घटाते जाएं और इसे समाप्त कर दें।

लाभ पैट्रोलियम (Profit Petroleum) का सहभाजन

12वें वित्त आयोग को यह पूछा गया कि क्या संघीय सरकार लाभ-पैट्रोलियम से प्राप्त गैर-कर-आय (Non-tax income) उन राज्यों के साथ सहभाजन के लिए तैयार है जहां ये खनिज उत्पन्न किये जाते हैं और यदि ऐसा करना है, तो किस सीमा तक। वस्तुत: यह 12वें वित्त आयोग के विचाराधीन विषय था।

लाभ-पैट्रोलियम के सहभाजन के प्रश्न को समझने के लिए हमें इसकी पृष्टभूमि के बारे में कुछ जानकारी होनी अनिवार्य हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 294 और 296 के अनुसार किसी राज्य में उपलब्ध सभी भूमि और खनिज संसाधनों का स्वामित्व उसी राज्य सरकार के पास रहता है जहां वे स्थित हैं। इस संवैधानिक अधिकार को स्वीकार करते हुए, पैट्रोलियम और प्राकृतिक गैस नियमों (1959) में यह प्रावधान किया गया कि किसी भूमि के लाइसेंस या पट्टे का हक भी उसी राज्य सरकार को ही होगा (चाहे इसमें केन्द्र सरकार की सहमति प्राप्त की जा सकती है)। इन प्रावधानों के अधीन किसी खनिज तेल या निकाले गए खनिजों के सम्बन्ध में प्राप्त रायल्टी उसे ही अदा करनी होगी–

(क) जहाँ किसी राज्य सरकार ने अपने तट के निकट क्षेत्रों में पट्टा दिया हो; और

(ख) केन्द्र सरकार ने तट से दूर क्षेत्रों में केन्द्र द्वारा पट्टा दिया हो।

आरंभ में, केवल दो राष्ट्रीय तेल कम्पनियां चलती थीं और वे ही 20 प्रतिशत उपकर (Cess) आदि कि दर पर राज्य सरकार को रायल्टी अदा करती थीं। 1997 के पश्चात्, भारत सरकार ने निजी निवेश को तेल की खोज और उत्पादन बढ़ाने के लिए आकर्षित करने के लिए खोज-खण्डों (Exploration blocks) की नीलामी करनी शुरू कर दी। नई खोज लाइसेंस नीति (New Exploration Licensing Policy) ने रायल्टी की दर घटा कर नयी पार्टियों के लिए 20

नोट

प्रतिशत से 12.5 प्रतिशत कर दी, उपकर समाप्त कर दिया, आयात को सीमा-शुल्कों से छूट दे दी और तेल का वाणिज्यक उत्पादन आरंभ करने की तिथि से 7-वर्षों के लिए कर-अवकाश (Tax holiday) प्रदान कर दिया।

राज्यों ने नई खोज लाइसेंस नीति स्वीकार कर ली परन्तु कुछ राज्यों (गुजरात, असम और मध्य प्रदेश) ने उत्पादन-सहभाज अनुबन्ध (Production sharing contracts) के अधीन केन्द्र सरकार से लाभ-पैट्रोलियम का कम-से-कम 50 प्रतिशत हिस्सा मांगा।

भारत सरकार के विधि मंत्रालय का यह कहना था तेल-भण्डारों और खनिज तेल संसाधनों का विनियमन एवं विकास केन्द्र सरकार का विषय है जो संघीय सूची (Union list) की 7वीं अनुसूची (Schedule) की 53 प्रविष्टि (Entry) में दर्ज है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि यह राज्यों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है, भले ही राज्य सरकारों को उनके क्षेत्राधीन आने वाले मामलों में कुछ लाभ दिए गए हैं, जैसे लाइसेंस, पट्टा आदि प्रदान करने का अधिकार और किराया, फीस, रायल्टी आदि प्राप्त करने का अधिकार।

12वें वित्त आयोग ने विधि मंत्रालय से अपनी सहमति नहीं दिखाई बल्कि इसके यह राय बनायी कि इस पर कोई संवैधानिक या कानूनी आपत्ति नहीं की जा सकती यदि केन्द्र सरकार लाभ-सहभाजन-अनुबन्ध के अधीन यह निर्णय करती है कि वह राज्य सरकारों को लाभ-पैट्रोलियम में हिस्सा देगी।

लाभ-पैट्रोलियम के सहभाजन के बुनियादी प्रश्न पर राज्यों के पक्ष में प्रबल तर्क विद्यमान हैं। भूमि और खनिज संसाधनों पर उनका अधिकार है। उन्हें इनके लिए आधारसंरचना का विकास करना पड़ता है, सार्वजिनक सेवाएं उपलब्ध करानी पड़ती हैं और तेल की खोज एवं विकास को सुविधाजनक बनाने के लिए पर्यावरण लागत (Environment costs) लगानी पड़ती है। अत: राज्यों को नयी खोज लाइसेंस नीति के आधीन लाभ-पैट्रोलियम में भाग मिलना चाहिए, चूंकि रायल्टी कम करके 12.5 प्रतिशत कर दी गयी है।

परन्तु इस प्रश्न पर राज्यों के बीच में कुछ मत भेद हैं। तेल संसाधनों वाले राज्यों ने पैट्रोलियम से प्राप्त लाभ में 15 से 50 प्रतिशत हिस्सा मांगा है। कुछ गैर तेल उत्पादन करने वाले राज्यों ने यह सुझाव दिया है कि लाभ-पैट्रोलियम की बांट केवल उन्हीं राज्यों में नहीं होनी चाहिए जो तेल का उत्पादन करते हैं बल्कि सभी राज्यों में होनी चाहिए। इस विचार के पक्ष में उन्होंने दो रुचिकर परन्तु प्रासंगित तर्क दिए-

(क) पैट्रोलियम के उत्पादन पर लाभ-चाहे वह तटवर्ती हो या तट से दूर (Onshore or offshore) से प्राप्ति उत्पाद-शुल्क (Excise duty) ही है और परिणामत: इसे करों के विभाजनीय संग्रह (Shareable pool) में शामिल करना चाहिए और अन्य करों की भान्ति इसका सहभाजन होना चाहिए।

(ख) केन्द्र सरकार को प्राप्त होने वाली किसी भी आय को विभाजनीय संग्रह का भाग बनाना चाहिए और तेल के विक्रय से होने वाला लाभ सारे देश से प्राप्त होता है, न कि केवल उसी राज्य से, इसलिए लाभ-पैट्रोलियम को किसी विशिष्ट राज्य से नहीं जोड़ना चाहिए।

इन सब विचारों का विश्लेषण करने के पश्चात् 12वें वित्त आयोग ने अपना अधिनिर्णय (Award) दिया-

(*i*) नई खोज लाइसेंस नीति से प्राप्त होने वाला लाभ-पैट्रोलियम का केन्द्र सरकार को उन राज्यों से सहभाजन करना चाहिए जहां खनिज तेल और खनिज-गैस उत्पन्न होती है और यह सभाजन 50:50 के अनुपात में होना चाहिए।

(*ii*) कोयला-तह-मिथेन नीति (Coal bed methane policy) के अधीन किए गए अनुबंधों से केन्द्र सरकार को प्राप्त होने वाले राजस्व का भी लाभ-पैट्रोलियम की भान्ति उन राज्यों के साथ सहभाजन करना चाहिए जो इसका उत्पादन करते हैं।

निष्कर्ष

बारहवें वित्त आयोग का अधिनिर्णय सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया है चाहे वित्त मंत्रालय ने कुछ शर्तें इसके साथ जोड़ दी है। उदाहरणार्थ, केन्द्र के सकल राजस्व में राज्यों का कुल भाग 38 प्रतिशत से ऊपर नहीं होगा। मोटे तौर पर यह अधिनिर्णय प्रत्याशा के अनुकूल ही था। समग्र अधिनिर्णय की समीक्षा और केन्द्र एवं राज्यों द्वारा दिए गए तर्कों से दो बातें उभर कर आती हैं जिनका समाधान भावी आयोगों को करना होगा-

नोट

(*i*) केन्द्र के पास वस्तुत: कानून एवं व्यवस्था और राष्ट्र-निर्माण का कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं है, परन्तु भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) के अधिकारियों ने मंत्रालयों की कमज़ोर स्थिति का लाभ उठाते हुए नये विभागों को स्थापना एवं विस्तार किया है जिससे केन्द्र सरकार का व्यय बढ़ गया है, और ऐसा उन क्षेत्रों में भी हुआ है जिनके संवैधानिक कार्य राज्यों को सौंपे गए हैं। अत: वास्तव में केन्द्र सरकार के व्यय को कम करने की ज़रूरत है। परिणामत: केन्द्रीय राजस्वय का और अधिक भाग राज्यों को अंतरित किया जाना चाहिए।

(*ii*) जैसे केन्द्र सरकार के सभी करों का राज्यों में सहभाजन किया जाता है, ठीक उसी प्रकार गैर-कर-राजस्व (Non-tax revenue) का भी राज्यों को भाग मिलना चाहिए। यह तर्क सही है।

केन्द्र सरकार द्वारा **"बड़े भाई की प्रवृत्ति"** जिसके आधीन साझी आय का सहभाजन चचेरे भाइयों के साथ होता है, एकदम बन्द करनी चाहिए। यह जितनी जल्दी किया जाएगा, उतना ही देश के लिए बेहतर होगा।

तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशें (2010-15)

अध्यक्ष: 13वें वित्त अयोग के अध्यक्ष डॉ. विजय एल केलका हैं। ये संघ के भूतपूर्व वित्त चिव और तत्कालीन वित्त मंत्री के के सलाहकार है। 33वें वित्त आयोग को मुख्य सिफारिश केंद्र और राज्यों के राजस्व के मल अनुदान, वस्तु प्राप्त्यिों का बंटवारा, अनुच्छेद 275 के तहत राज्यों के राजस्व के मत अनुदान, वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी), राहत व्यय के वित्तीय प्रबंध और वित्तीय उकीकरण के लिए दिशा-निर्देश से संबंधित है। इसकी मुख्य सिफारिशें निन हैं-

1. केंन्द्रीय करों की हिस्सेदारी: इस आयोग ने सिफारिश की है कि केंद्रीय करों की कुल प्राप्तियों में राज्यों का हिस्सा 32 प्रतिशत पर तय किया जा सकता है। इसने राज्यों के बीच राज्यों वे। हिस्से के पारस्परिक वितरण की अनुशंसा भी की है। राजस्व खाते पर राज्यों की कुल हस्तुातरण केंद्र की सकल राजस्व प्राप्तियों के 39.5 के सूचक सीमांत के अनुसार होगा।

2. संविधान के अनुच्छेद 275 के तहत राज्यों के मद का अनुदान: गैर योजना राजस्व घाटा अनुदान: 13वे वित्त आयोग ने 2010-15 की अवधि के लिए राज्यों के राजस्वों और व्यय का मूल्यांकन किया है और प्रत्येक राज्य के लिए केन्द्रीय करों में उसके हिस्से की राशि पर विचार करने के बाद उस प्रत्येक राज्य के लिए घाटे का अनुमान लगाया है। इसने आठ राज्यों के लिए इस घाटे को पूरा करने के लिए 51,800 करोड़ रुपए के अनुदान की अनुशंसा की है 129वें वित्त आयोग ने असम, सिक्किम और उत्तराखंड के तीन विशेष श्रेणी के राज्यों के लिए 1500 करोड़ रुपए के निष्पादन प्रोत्साहन अनुदान की भी अनुशंसा की है जो गैर योजना राजस्व घाटे से क्रमबद्ध विकास द्वारा बाहर किले हैं।

प्राथमिक शिक्षा के लिए अनुदान: सर्वशिक्षा अभियान की शर्तो पर अधारित प्रत्येक राज्य के लिए प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता के मूल्यांकन के बाद 15 प्रतिशत के बराबर 24068 करोड़ रुपए का अनुदान प्रदान करने की अनुशंसा की

पर्यावरण संबंधित अनुदान: 13वें वित्त आयोग ने 5000 करोड़ रुपए प्रत्येक की इस श्रेणी के तहत तीन अनुदानों की अनुशंसा की है, जो कुल मिलाकर 15000 करोड़ रुपए होते हैं। ये इस प्रकार हैं-

1. वन अनुदान,
2. अक्षय ऊर्जा की प्रोत्साहन, तथा
3. जल क्षेत्र।

परिणामों में सुधार लाने के लिए अनुदान: 13वें वित्त आयोग ने इस श्रेणी के तहत छह अनुदानों के रूप में कुल 14,446 रुपए की अनुशंसा की है जो इस प्रकार हैं-

1. शिशु मृत्युदर॑ की लाने के लिए एक प्रोत्साहन अनुदान - 5000 करोड़ रुपए।
2. लोग अदालतों व कानूनी सहायता, वैकल्पिक विवाद संसधनों केंद्रों, विरासत अदालत भवनों, राज्य न्यायिक एकेडी और न्यायिक अधिकारियों और जल अभियोजक के प्रशिक्षण के लिए ताकि न्याय प्रदान करने की प्रक्रिया में सुधारा हो सके - 5000 करोड़ रुपए।

नोट

3. अनोख पहचान (यूआईडी) कार्यक्रम के लिए अनुदान - 2989.10 करोड़ रुपए।
4. जिला अभिनव परिवर्तन कोष - 616 करोड़ रुपए।
5. जिला एवं राज्य स्तरों पर सांख्यिकीय प्रणालियों में सुधार लाने के लिए -616 करोड़ रुपए तथा
6. कर्मचारियों एवं पेंशनभेगियों के डाटाबेस की स्थापना के लिए - 225 करोड़ रुपए।

सड़कों एवं पुलों के रख-रखाव के लिए अनुदान: 13वें वित्त आयोग ने एक राज्य में सड़कों की सामान्य मरम्मतें की जरूरत का मूलयंकन किया है और 2011-13 से शुरू होने वाली अवॉर्ड अवधि के चचार वर्षों के लिए प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना के तहत सड़कों के लिए निर्धारित जरूरत के 90 प्रतिशत और अन्य सड़कों के लिए निर्धारित 5रूयरत के 50 प्रतिशत के समतुल्य 19,930 करोड़ रुपए के अनुदान की अनुशंसा की है।

राज्य विशिष्ट अनुदान: 13वें वित्त आयोग ने राज्यों की विभिन्न राज्य विशिष्ट जरूरतों के लिए कुल 27945 करोड़ रुपए की अनुशंसा की है जो 13वें वित्त आयोग द्वारा अनधार्रित शर्तों के राज्यों द्वारा पूरा करने पर निर्भर करेंगे।

वस्तु एवं सेवा कर: 13ें वित्त आयोग ने वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) की एक मॉडल संरचना की अनुशंसा की है जिसमें एक दर, निर्यात की शून्य रेटिंग, जीएमटी के दायरे में केंन्द्र और राज्य स्तर में विभिन्न अप्रत्यक्ष करों का समावेश, छूट संरचना को बड़े पैमाने पर युक्तिसंगत बनाने इत्यांदि जैसे कई पहलू शामिल है। इस आयोग ने अनुशासित मॉडल कै रूप में जीएसटी को लागू करने के लिए 50,000 करोड़ रुपए के अनुदान की सिफारिश की है। इस अनुदान को शुरूआत में जीएसटी को लागू करने के कारण हुई क्षति की भरपाई के रूप में वितरित किया जाएगा और शेष राशि को हस्तांतरण फॉर्मूला के अनुरूप अवॉर्ड अवधि के अंतिम वर्षों ें राज्यों के बीच वितरित किया जाएगा। इस आयोग ने इस अनुदान के क्रियान्वयन एवं निगरानी के लिए प्रशासानिक संरचला की भी सिफारिश की है। सरकार ने इस सिफारिशों को सिद्धांतत: स्वीकार कर लिया है।

3. स्थानीस निकाय

13वें वित्त आयोग ने पूर्ववर्ती वर्ष के विभाज्य कोष के प्रतिशत पर आधारित स्थानीय विकायों के परिणाम के लिए एक मूलभूत अनुदान एक निष्पादन अनुदान की अनुशंसा की है। मूलभूत अनुदान की राशि पूर्ववर्ती वर्ष के विभाज्य कोष के आकरों का 1.5 प्रतिशत है। 2011-12 के लिए निष्पादन अनुदान पूर्ववर्ती वर्ष के विभाज्य कोश का 0.5 प्रतिशत है और अवॉर्ड अवधि में परवर्ती वर्षों के लिए पूर्ववर्ती वर्ष के विभाज्य कोष का 1 प्रतिशत है।

13वें वित्त आयोग ने संविदा के भाग IX एवं IX ए में शामिल नहीं किए गए क्षेत्रों और अनुसूची V एवं अनुसूची VI के क्षेत्रों के लिए अवॉर्ड अवधि में, प्रत्येक वर्ष के लिए कुल मूलभूत अनुदान से निकाले गए 20 रुपए प्रति व्यक्ति के एक अलग विशेष क्षेत्र मूलभूत अनुदान से निकाल गए 20 रुपए प्रति व्यक्ति के एक अलग विशेष क्षेत्र मूलभूत अनुदान की भी सिफारिश की है। इन क्षेत्रों के लिए इस आयोग ने 2011-2012 के लिए 1.0 रुपए प्रति व्यक्ति के एक विशेष क्षेत्र निष्पादन अनुदान की अनुशंसा की हैं और अवॉर्ड अवधि के परवर्ती वर्षों में 20 रुपए प्रति व्यक्ति की अनुशंसा की है।

13वें वित्त आयोग द्वारा निर्धारित शार्तों को राज्यों द्वारा पूरा करने पर ही निष्पादन अनुदान को जारी किया जाएगा। 13वें वित्त आयोग ने अनुमान लगाया है कि इस अवॉर्ड अवधि के दौरान स्थानीय निकायों के लिए अनुशासित अनुदान का योग 87519 करोड़ रुपए होगा। इस आयोग ने शहरी और राज्यों के बीच पारिस्परिक वितरण की भी सिफारिश की है।

4. आपदा राहत

13वें वित्त आयोग ने 1 अप्रैल, 2010 से राष्ट्रीय आपदा आकस्मिक कोष (एनसीएफ) के राष्ट्रीय आपदा प्रतिक्रिया कोष (एनडीआरएफ)ें विलय और आपदा राहत कोष (सीआरएफ) के राज्य आपदा प्रतिक्रिया कोष (उसडीआरएफ) में विलय और वर्तमान कोषों की शेष राशि के नए कोषों में हस्तांतरण की सिफारिश की है।

नोट

क्या आप जानते हैं एनडीआरएफ और एसडीआरएफ आपदा प्रबंधन अधिनियम, 2005 के अंतर्गत है।

इसमें सामान्य श्रेणी के लिए एसडीआरएफ की जरूरत का 75 प्रतिशत और विशेष श्रेणी के राज्यों के लिए 90 प्रतिशत है जो केंन्द्र राज्यों को एक अनुदान के सहयोग से प्रदान करेगा। 13वें वित्त आयोग ने क्षमतावर्धन के लिए 525 करोड़ रुपए की भी सिफारिश की है। कुल मिलाकर एसडीआरएफ में केंद्र की हिस्सेदारी को पूरा करने के लिए और क्षमतावर्धन के लिए इस आयोग ने 26373 करोड़ रुपए की सिफारिश की है। इस आयोग ने राहत व्यय के लिए उचित रूप से हिसाब देने के लिए सभी राज्यों को आवश्यक गणना प्रक्रिया का अनुसरण करने का निर्देश दिया है। सरकार ने स्थानीय निकायों और आपदा राहत पर अनुशंसाओं को सवीकार कर लिया है।

5. वित्तीय दिशा निर्देश

13वें वित्त आयोग ने सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 68 प्रतिशत संयुक्त ऋण लक्ष्य को 2014–15 तक पूरा करने का उल्लख किया है।

अवॉर्ड के लिए वित्तीय घाटे (एफडी) और राजस्व घाटे (आरडी) के लिए एक दिशा–निर्देश तैयार किया है। केंद्र के लिए इसने राजस्व घाटे को खत्म करने और वित्तीय घाटे का 2013–14 तक जीडीपी के 3 प्रतिशत तक नीचे जाने की अनुशंसा की है। राज्यों के लिए, इस अयोग ने प्रत्येक राज्य के लिए उसके वर्तमान घाटे एवं ऋण स्तरों के आधाार पर वित्तीय योजना तैयार की है। राज्यों को विभिन्न चरणों में इस प्रकार इस आयोग की अवॉर्ड अवधि के दौरान राजस्व घाटे को खत्म करना होगा और वित्तीय घाटे को उनके संबंधित सकल राज्य घरेलू उत्पाद (जीएसडीपी) के 3 प्रतिशत तक लाना होगा कि सभी राज्य 2014–15 तक राजस्व घाटे को खत्म कर सकेंगे और वित्तीय घाटे की जीएसडीपी के 3 प्रतिशत तक ला सकेंगे।

इन राज्यों की उधार सीमाओं को इन लक्ष्यों के अनुरूप केंद्र द्वारा तय किया जाना चाहिए। सरकार ने सिद्धांतत: इन अनुशंसाओं को स्वीकार कर लिया है।

5. राज्यों के ऋण राहत

13वें वित्त आयोग ने सिफारिश की है कि 2006–07 के अंत तक राज्यों को राष्ट्रीय लघु बचन कोष (एनएसएफ) द्वारा दिए ऋणों और 2009–10 के अंत में बकाया पर ब्याज दर को 9 प्रतिशत पर फिर से निर्धारित किया जाए। ऐसाा अनुमान है कि यह अवॉर्ड अवधि के दौरान 13517 करोड़ रुपए की राहत प्रदान करेगा और अंतिम ऋण की परिपक्वता तक संपूर्ण अवधि के दौरान 28360 करोड़ रुपए की राहत प्रदान करेगा।

13वें वित्त आयोग ने सिफारिश की है कि केंद्रीय प्रायोजित योजनाओं / केंद्रीय योजना स्कीमों के तहत वित्त मंत्रालय को छोड़कर केंद्रीय मंत्रालय द्वारा राज्यों को दिए गए केंद्रीय ऋणों के 2009–10 की समाप्ति पर बकाया को माफ कर दिया जाए।

इस आयोग ने 12 वें वित्त आयोग द्वारा अनुशंसित ऋण एकीकरण सुविधाा का विस्तार उन राज्यों तक करने की भी सिफारिश की है जिन्होंने इस लाभ का फायदा नहीं उठाया है। 31 मार्च 2004 तक इन राज्यों द्वारा लिए गए ऋणों और जिस वर्ष एफआरबीएम अधिनियम का लागू किया गया था। उसके पूर्ववर्ती वर्ष की समाप्ति पर बकाया का एकीकरण 12वें वित्त आयोग द्वारा अनुशंसित शर्तो एवं स्थितियों के अनुरूप किया जाएगा।

उपरोक्त ऋण राहत राज्यों को तभी मिलेंगे जब वो इस आयोग की सिफारिशों के अनुरूप एफआरबीएम अधिनियम में संशोधन करेंगे/कानून बनाएंगे। इस आयोग ने यह भी अनुशंसा की है कि राज्य विशिष्ट अनुदानों के लिए तभी योग्य होंगे जब वो इस शर्त का पालन करेंगे।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. ..... बारहवें वित्त आयोग के अध्यक्ष थे।
2. बारहवें वित्त आयोग का मुख्य उद्देश्य था कि ..... की गति कायम रखी जाए।
3. बारहवें वित्त आयोग ने राष्ट्रीय विपदा ..... को अपने वर्तमान रूप में जारी रखने की सिफारिश की है।
4. भारत सरकार के विधि मंत्रलय का यह कहना था कि तेल भंडारों और खनिज तेल संसाधनों का विनिमन एवं विकास ..... का विषय है।
5. केन्द्र के पास वस्तुतः कानून एवं व्यवस्था और ..... का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है।
6. 13वें वित्त अयोग के अध्यक्ष ..... हैं।
7. 13वें वित्त आयोग ने ..... की अवधि के लिए राज्यों के राजस्वों और व्यय का मूल्यांकन किया है।
8. ..... वित्त आयोग ने क्षमतावर्धन के लिए 525 करोड़ रूपए की भी सिफारिश की है।

26.2 सारांश (Summary)

- राष्ट्रपति द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 के आधीन बारहवां वित्त आयोग स्थापित किया गया। श्री सी. रंगाराजन को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इसके विचाराधीन वही विषय थे जो ग्यारवें वित्त आयोग के अधीन थे। केवल थे वित्त आयोग के अधीन थे। केवल एक विषय और बाद में एक विशिष्ट अधिसूचना के आधीन जोड़ा गया। विचाराधीन विषय में निम्नलिखित शामिल किए गए–
- विचाराधीन विषयों पर अपना अधिनिर्णय देने से पूर्व, बारहवें वित्त आयोग ने विचाराधीन विषयों के विभिन्न मुद्दों पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों के विचारों पर ध्यानपूर्वक विचार किया। आयोग का मुख्य उद्देश्य यह था कि विकास की गति कायम रखी जाए, राजकोषीय समेकन (Fiscal Consolidation) प्राप्त किया जाए और आय-हस्तांतरण की ऐसी योजना की सिफारिश की जाए जिससे समता (Equity) और कुशलता के युगल उद्देश्य प्राप्त किए जा सकें।
- अन्तरण के समतल पक्ष का सम्बन्ध देश के विभाजनीय संग्रह (Shareable pool) का राज्यों में वितरण है। यदि भारतीय संघ के सभी राज्यों की प्रतिव्यक्ति आय बराबर या लगभग बराबर होती और यदि सभी राज्यों की राजकोषीय क्षमता (Fiscal capacity) भी समान होती, तो राज्यों के बीच अन्तरण (Transfers) की समस्या साधारण होती अर्थात् प्रत्येक राज्य को प्रति व्यक्ति समान अन्तरण।
- पिछले वित्त आयोगों की भान्ति, 12वें वित्त आयोग ने गैर-योजना राजस्व घाटे सम्बन्धी अनुदान संविधान के अनुच्छेद 275 के अधीन 15 राज्यों को वितरित करने की सिफारिश की जिनका कुल गैर-योजना राजस्व-घाटा (Non-plan Revenue deficit) 2005-10 की अवधि के लिए 56,856 करोड़ रुपये आंका गया।
- ग्यारहवें वित्त आयोग से आग्रह किया गया कि वह राज्य की समेकित निधि (Consolidated Fund of a State) को बढ़ाने के लिए आवश्यक उपायों का सुझाव दे ताकि पंचायतों एवं नगरपालिकाओं को सहायता प्रदान की जा सके।
- 12वें वित्त आयोग ने यह तर्क दिया कि नगरपालिकाओं (नगर स्थानीय निकायों) की पहुंच स्वयं कर एवं. कर-भिन्न संसाधन प्राप्त करने में अपेक्षाकृत अधिक है, इसलिए पंचायतों को काफी सहारा देने की ज़रूरत है। 2001 की जनगणना के अनुसार, नगर-जनसंख्या में भाग 26.8 प्रतिशत था।
- 12वें वित्त आयोग का राष्ट्रीय विपदा राहत कोष (National Calamity Relief Fund) और राष्ट्रीय विपदा संभाव्यता कोष (National Calamity Contingency Fund) के संदर्भ में विपदा प्रबंन्ध (Disaster

नोट

management) के वित्तपोषन की वर्तमान व्यवस्था की समीक्षा के लिए कहा गया और इस सम्बन्ध में उचित सिफारिशें करने का आग्रह किया गया।

- 12वें वित्त आयोग को 31 मार्च 2004 पर भारत के राज्यों की ऋण–स्थिति की समीक्षा करने के लिए कहा गया और ऐसे सुधारात्मक उपायों का सुझाव देने के लिए कहा गया जो हमारी समष्टि–आर्थिक (Macro-economic) स्थिरता और इसकी संपोषणीयता (Sustainability) को बनाए रखें।
- 12वें वित्त आयोग को यह पूछा गया कि क्या संघीय सरकार लाभ–पैट्रोलियम से प्राप्त गैर–कर–आय (Non-tax income) उन राज्यों के साथ सहभाजन के लिए तैयार है जहां ये खनिज उत्पन्न किये जाते हैं और यदि ऐसा करना है, तो किस सीमा तक। वस्तुत: यह 12वें वित्त आयोग के विचाराधीन विषय था।
- बारहवें वित्त आयोग का अधिनिर्णय सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया है चाहे वित्त मंत्रालय ने कुछ शर्तें इसके साथ जोड़ दी है। उदाहरणार्थ, केन्द्र के सकल राजस्व में राज्यों का कुल भाग 38 प्रतिशत से ऊपर नहीं होगा। मोटे तौर पर यह अधिनिर्णय प्रत्याशा के अनुकूल ही था। समग्र अधिनिर्णय की समीक्षा और केन्द्र एवं राज्यों द्वारा दिए गए तर्कों से दो बातें उभर कर आती हैं

26.3 शब्दकोश (Keywords)

- **विनियमन्–**आदान–प्रदान
- **संभाव्य–**संभावना
- **अनुशंसाओं–**अनुमति देना

26.4 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

1. बारहवें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. तेरहवें वित्त आयोग के सिफारिशों का मूल्यांकन कीजिए।
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   1. समतल सहभाजन
   2. स्थानीय निकाय – पंचायतें एवं नगरपालिकाएं

उत्तर : स्व–मूल्यांकन

1. श्री सी. रंगराजन
2. विकास
3. संभाव्य कोष
4. केन्द्र सरकार
5. राष्ट्र निर्माण
6. डॉ. विजय एल केलका
7. 2010–15
8. 13वें

26.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

2. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।

3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–27: अर्थव्यवस्था का शासन : आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन (Governance of the Economy: Implementation of Economic Policies)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

27.1 अर्थव्यवस्था का शासन : आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन (Governance of the Economy: Implementation of Economic Policies)

27.2 सारांश (Summary)

27.3 शब्दकोश (Keywords)

27.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

27.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अर्थव्यवस्था का शासन 'आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन का विवेचन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक नेतृत्व और देशीय व्यापारी समुदाय में आम सहमति थी कि स्वतंत्र भारत भारी उद्योग और बुनियादी सुविधाओं में भी राज्य समुचित निवेश से तीव्र औद्योगीकरण करेगा। इसलिए जब भारत में योजना प्रक्रिया शुरू हुई, सार्वजनिक क्षेत्र को निवेश के लिए स्थान मिला। 1980 के दशक के प्रारंभ में योजना प्रक्रिया के लिए चुनौतियाँ थीं, जिसने मूलभूत नीतियों और रणनीतियों के संबंध में सवाल उठाए, जिसमें न केवल निवेश के बारे में अपितु निजी क्षेत्र के विनियमन और नियंत्रण के बारे में भी राज्य की भूमिका के पक्ष में भारी पूर्वाग्रह थे। 1970 के दशक के अंत और 1980 के दशक के प्रारंभ के समय स्थापित कई समितियों द्वारा प्रमुख नीतियों का विश्लेषण किया जाना था। समितियों का निष्कर्ष था कि सार्वजनिक निवेश का घटते हुए भाग के साथ आर्थिक सुधारों और बाजार संचालित संवृद्धि की ओर था। यहां तक कि योजना निवेश में भी राज्य की भूमिका घट गई थी।

इसके अंतर्गत योजना के युग में पंचवर्षीय योजनाओं की मूलभूत रणनीति, प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में वृद्धि-प्रधान उद्देश्यों के लक्ष्य और उपलब्धियाँ, प्रमुख आर्थिक नीतियों और उन नीतियों में परिवर्तन की समीक्षा, जिनसे 1991 में आर्थिक सुधारों का प्रारंभ हुआ एवं देश में आर्थिक सुधारों के क्रियान्वयन की अवधि के समय नीतियों और आर्थिक निष्पादन में परिवर्तनों की रूपरेखा आदि की चर्चा की गई है।

नोट

27.1 अर्थव्यवस्था का शासन : आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन (Governance of the Economy : Implementation of Economic Policies)

प्रत्येक योजना में विकास की क्षेत्रीय प्राथमिकताएँ और रणनीति पर समय की आर्थिक त्वरित जरूरतें अधिकार जमाए रहीं। समय के साथ-साथ संपूर्ण नीति संरचना और सार्वजनिक एवं निजी निवेश की सापेक्ष भूमिकाओं में भी बदलाव आ गया। इन अत्यधिक बदलावों को जानने के लिए इस भाग को दो अनुभागों में बांटा गया है। पहले अनुभाग में 6 पंचवर्षीय योजनाओं और दूसरे अनुभाग में सातवीं से ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजनाओं पर विचार किया गया है।

पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) का निरूपण बड़ी समस्याओं की उपस्थिति में किया गया था। प्रथम, देश के विभाजन के बाद से भारी मात्रा में शरणार्थी आए जिनका पुनर्वास किया जाना था। द्वितीय, खाद्यान्न का बहुत अभाव था, जिसे प्राथमिकता के आधार पर लिया जाना था। तृतीय, मुद्रा स्फीति भी बढ़ रही थी, जिसे नियंत्रित किया जाना था। प्रथम योजना की रणनीति के अनुसार खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने के लिए कृषि का तीव्र विकास था।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) स्थिरता के माहौल में तैयार की गई। पहली पंचवर्षीय योजना में कृषि संबंधी लक्ष्य पूर्ण किए गए थे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य विस्तृत पैमाने पर औद्योगीकरण था। महालॉनोबिस मॉडल दूसरी योजना की रणनीति बना, जिसमें भारी उद्योगों पर बल दिया गया था। यह औद्योगिक नीति संकल्प (Industrial Policy Resolution), 1956 में प्रस्तावित किया गया था, जिसमें मूलभूत, भारी और रणनीतिक उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुखता स्पष्ट की गई और निजी क्षेत्र के विनियमन का आधार सुनिश्चित किया गया। दूसरी योजना के अंत तक कृषि उपज के पिछड़ने और मांग के अनुसार खाद्यान्न उत्पादन में कमी के स्पष्ट संकेत थे। इसलिए तीसरी पंचवर्षीय योजना में आत्मनिर्भरता और बुनियादी उद्योगों पर बल देने के अतिरिक्त कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गई। संपूर्ण योजना प्रक्रिया न केवल युद्धों, अपितु राष्ट्रव्यापी सूखे और स्फीतिकारी गतिरोध के कारण बाधित हुई थी। खाद्यान्न उत्पादन की गंभीर हानि हुई। अर्थव्यवस्था को गंभीर विदेशी मुद्रा संकट का सामना करना पड़ा।

1956 में चौथी योजना के मूलाधार को त्याग दिया गया और एक प्रकार का 'योजना अवकाश' लागू किया गया। पंचवर्षीय योजना अवकाश के दौरान तीन वर्षीय योजनाएँ (1966-69) क्रियान्वित की गई थीं। चौथी योजना (1969-74) ने स्वयं ही सैद्धान्तिक रूप में स्थिरता और सामाजिक न्याय के साथ वृद्धि के लक्ष्य सुनिश्चित किए। इसका लक्ष्य समुदाय के कमजोर वर्गों की स्थिति सुधारने के बल के साथ उत्तरोत्तर आत्मनिर्भरता प्राप्त करना था। बाद में यह कार्यक्रम 'गरीबी हटाओ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चौथी पंचवर्षीय योजना में कृषि पर अधिक बल दिया गया, जिसमें 'हरित क्रांति' प्रौद्योगिकी ने अपनी जड़ें जमाईं और खाद्यान्न उत्पादन में सुधार दृष्टिगोचर होने लगे।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) उस समय शुरू हुई, जब देश 1973 के 'तेल संकट' द्वारा उत्पन्न गंभीर मुद्रा स्फीति में गोते खा रहा था। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना की रणनीति पर समुचित चर्चा हुई। इस योजना में प्रमुख उद्देश्य गरीबी उन्मूलन और आत्मनिर्भरता प्राथमिकताओं के रूप में आए। वर्ष 1978-79 के दौरान देश में भारतीय कामगारों से जो मध्य पूर्व क्षेत्र में गए थे, प्रेषण से विदेशी मुद्रा के भार अंतर्वाह के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा कोष बहुत बढ़ गया। 1977 में स्थापित आयात-निर्यात नीति और प्रक्रिया समिति ने आयात प्रणाली का उतरोत्तर उदारीकरण और निर्यात संवर्धन तथा घरेलू उदारीकरण की रणनीति की दिशा में बदलाव करने का सुझाव दिया। उदारीकरण नीति व्यवस्था की मूलभूत शुरूआत 1970 के दशक के अंत में हुई थी। यह वह अवधि थी, जब आवर्ती योजना (रोलिंग प्लान) का दृष्टिकोण शुरू किया गया था, उससे 'पंचवर्षीय योजनाओं' के पूर्व दृष्टिकोण की जटिलता को कम किया गया। इसके पश्चात छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में उसको और भी महत्त्व दिया गया, जब कांग्रेस पार्टी 1980 में पुनः सत्तासीन हुई। रणनीति के तहत व्यापक अर्थव्यवस्था की स्थिति विकसित करके गरीबी पर एक बार पुनः आक्रमण किया गया।

सातवीं से ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजनाएँ

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के अंत तक देश खाद्यान्न उत्पादन में लगभग आत्मनिर्भरता में पहुंच गया था। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) स्थिर उच्च स्तरीय वृद्धि का दृष्टि से तैयार की गई। उदारीकरण के कुछ उपाय

नोट

व्यापार और औद्योगिक नीतियों में प्रारंभ किए गए। योजना के मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित थे–खाद्यान्न उत्पादन की तीव्र वृद्धि, रोजगार अवसरों में वृद्धि और उत्पादकता स्तर में सुधार सातवीं पंचवर्षीय योजना में विकास को प्राथमिकता दी गई। सातवीं पंचवर्षीय योजना की विकास रणनीति में प्रमुख तत्त्व उत्पादक रोजगार के अवसर विकसित करना था। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण को अस्थिर राजनीतिक स्थिति और केन्द्र में सरकारों के बदलने के कारण अनेक संशोधन हुए। आखिर में आठवीं योजना (1992-07) का चौथा प्रारूप भयंकर आर्थिक संकट, मुद्रा स्फीति की ऊँची दर, बहुत कम विदेशी मुद्रा भंडार, बढ़ता हुआ बजट घाटा, बढ़ता हुआ ऋण भार और औद्योगिक में मंदी की अवस्थाओं के अंतर्गत स्वीकृत किया गया। इसके अतिरिक्त आठवी पंचवर्षीय योजना के प्रवर्तन की पृष्ठभूमि समस्त आर्थिक सुधारों के सूत्रपात द्वारा भी स्पष्ट होती है।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) को भी अंतिम रूप देने में देरी और संशोधनों का मुकाबला करना पड़ा। इस योजना में न्याय और समानता के साथ संवृद्धि पर बल दिया गया। इसमें 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि दर का लक्ष्य सुनिश्चित किया गया। दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) के निरूपण पर रोजगार की धीमी वृद्धि और घटिया कृषि संबंधी वृद्धि निष्पादन पर चिंता थी, जो खाद्य उत्पादन की स्थिरता के लिए चुनौती थी। इस योजना में 8 प्रतिशत की उच्च वृद्धि दर का लक्ष्य निर्धारित करने के अतिरिक्त, गरीबी न्यूनीकरण और अतिरिक्त लाभप्रद रोजगार के अवसर विकसित करने पर बल दिया गया। इस उद्देश्य के लिए कृषि को क्रोड तत्त्व के रूप में देखा गया था। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान अभी तक किसी भी योजना अवधि में प्राप्त उच्चतम 7.7 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि दर की पृष्ठभूमि से प्रारंभ हुई। बचत और निवेश की दरें समुचित रूप से बढ़ीं। वैश्विक प्रतियोगिता के लिए उद्योग की सकारात्मक अनुक्रिया रही। ग्यारहवीं योजना ने न केवल सकल घरेलू उत्पाद में 9 प्रतिशत वृद्धि दर का लक्ष्य रखा, अपितु 'समावेशी वृद्धि' पर ध्यान देने की आवश्यकता पर बल दिया। ग्यारहवीं योजना का प्रमुख उद्देश्य ऐसी विकास प्रक्रिया शुरू करना है, जो लोगों के जीवन की गुणवत्ता में विस्तृत आधार का सुधार निर्धारित करती है।

पंचवर्षीय योजनाओं में संवृद्धि लक्ष्य की उपलब्धियाँ

योजना की प्राथमिकताओं और रणनीतियों के विश्लेषण से यह जानने की इच्छा जाग्रत होती है कि आर्थिक निष्पादन के आधार पर पंचवर्षीय योजनाओं के समय वास्तव में क्या हुआ है। वर्ष 1951 से 1980 तक अर्थव्यवस्था की वृद्धि निष्पादन संभावनाओं से कम, सकल घरेलू उत्पाद में लगभग 3.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर रही। जनसंख्या की 2 प्रतिशत से ज्यादा वृद्धि दर से इस काल में प्रति व्यक्ति आय में लगभग 1.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर देखी गई। 1980 के दशक के प्रारंभ में भारत की अर्थव्यवस्था में एक मोड़ सिद्ध हुआ। छठी और सातवीं योजना के दौरान वार्षिक औसत वृद्धि दर 5-6 प्रतिशत तक बढ़ी। आठवीं योजना के दौरान अर्थव्यवस्था 6.5 प्रतिशत की उच्च दर से बढ़ी। इसकी अपेक्षा नौवी-योजना में 5.5 प्रतिशत दर्ज की गई। लेकिन अर्थव्यवस्था पुनः तीव्रता से स्थापित हुई और दसवीं योजना के दौरान 7.7 प्रतिशत की दर प्राप्त की। दसवीं योजना के अंतिम 4 वर्षों में लगभग 8.7 प्रतिशत का औसत रिकॉर्ड दर्ज किया गया। यह ग्यारहवीं योजना के प्रथम वर्ष (2007-08) तक जारी रही। ग्यारहवीं योजना का प्रमुख उद्देश्य वृद्धि दर 9 प्रतिशत सुनिश्चित करना था।

आर्थिक नीतियों और सुधारों की ओर अंतरण

योजनाकाल के दौरान प्रथम 30 वर्षों में छोटे-छोटे बदलावों के साथ नेहरू महालॉनोबिस निवेश रणनीति का दबदबा रहा। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुखता के साथ भारी उद्योगों पर बल दिया गया। इस रणनीति का नीतिगत ढाँचा 1956 की औद्योगिक नीति संकल्प में दिखाई दिया, जिसमें ठोस लाइसेंस प्रणाली और आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण (Import Substitution Industrialisation) सहित आवक व्यापार नीति पर बल दिया गया। 1060 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था में विपत्ती की स्थिति में कोयला, गेहूँ व्यापार में राष्ट्रीयकरण द्वारा और एकाधिकार तथा एकाधिकार प्रतिबंधित विधियों द्वारा विदेशी मुद्रा अंतर्वाह का विनियमन पर सख्त नियंत्रण करके राज्य की भूमिका को ज्यादा तीव्र किया गया। 1970 के दशक के अंत से राज्य विनियमन और नियंत्रण की विफलता के कारण अनुज्ञा पत्र प्राप्त करने

नोट

के लिए व्यापक भ्रष्टाचार देखा गया। इसके साथ कर-वंचन और काले धन में भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई। परिवर्तित राजनीतिक अवस्थाओं और आर्थिक प्रबंधन के दबाव से विद्यमान नीतियों का विश्लेषण करना जरूरी हो गया। भारत सरकार ने विद्यमान नीतियों का विश्लेषण करने तथा सुधार करने के लिए कई समितियां नियुक्त कीं।

व्यापार नीति

व्यापार नीति में अनेक बदलाव हुए, लेकिन शुरुआती वर्षों में समुचित 'निर्यात अनुमति' (Export Permission) जिसका अर्थ है औद्योगीकरण के बिना भारत के पास वृद्धि के इंजन के रूप में कार्य करने के लिए व्यापार में देने के लिए पर्याप्त नहीं थी। इसलिए 'आवक अभिविन्यास' (Inward Orientation) अथवा आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण (Import Substitution Industrialisation) पर बल दिया गया। पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में भारी आवक अभिविन्यास पर बल दिया गया। तीसरी योजना के समय तक निर्यात को बढ़ावा देने के लिए निर्यात अनुदान द्वारा 'जावक अभिविन्यास' (Outward Orientation) प्रारंभ किया गया। चौथी और पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान विदेशी व्यापार पर कम ध्यान दिया गया।

व्यापार नीतियों से संबंधित समिति (आबिद हुसैन समिति 1984) की रिपोर्ट–इस समिति ने निर्यात संवर्धन और आयात प्रतिस्थापन के मध्य संतुलन पर जोर दिया। इसलिए सरकार ने 1980 के दशक के मध्य में निर्यात संवर्धन और आयात उदारीकरण की नीति आरंभ की। 1980 के दशक में व्यापार उदारीकरण और इन अंतरणों ने 1991 में आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण की नीति पूर्णत: त्यागने पर बल दिया और समग्र आर्थिक सुधारों के भाग के रूप में व्यापार के उदारीकरण की दिशा में आगे बढ़ा।

राजकोषीय नीति

राजकोषीय नीति आर्थिक विकास में प्रमुख भूमिका अदा करती है। राजकोषीय नीति द्वारा सरकार सार्वजनिक निवेश सेवाओं की व्यवस्था के लिए सार्वजनिक आर्थिक नीतियाँ बनाती है और उन्हें जारी रखती है। वर्ष 1951-80 के मध्य भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धि संतोषजनक रही। कर आगम-सकल घरेलू उत्पाद अनुपात 1950-51 में 7 प्रतिशत था, जो 1984-85 में बढ़कर 17 प्रतिशत हो गया। इस अवधि में प्रति व्यक्ति आय में लगभग 1.5 प्रतिशत की धीमी वृद्धि हुई। भू-राजस्व और व्यक्तिगत आयकर के अतिरिक्त समस्त करों ने बेहतर निष्पादन किया। कर-वंचन और काले धन के प्रमुख कारणों में से एक कराधान के उच्च प्रभावी दरें थीं। कुल कर राजस्व में प्रत्यक्ष कर का भाग 1950-51 में 37 प्रतिशत से घटकर 1984-85 में 15 प्रतिशत हो गया। व्यक्तिगत आय अवधि में 21 प्रतिशत से घटकर 5 प्रतिशत हो गया।

नोट्स 1980 के दशक के मध्य तक व्यक्तिगत आय कराधान और कठिन वस्तु कराधान प्रणाली की अधिकतम शीर्ष स्तरों पर नियंत्रणों और विनियमों के कारण कर वंचन और काले धन की अर्थव्यवस्था पैदा हुई।

दीर्घकालिक राजकोषीय नीति (1985)–इस नीति में इन बदलावों और कर प्रशासन में सुधार करने के लिए अनेक उपायों को जोड़ा गया। व्यापार नीति व्यवस्था में सुधार, आयात लाइसेंस प्रणाली और आयात कोटा प्रणालियों का उन्मूलन, टैरिफ दरों में कटौती, निर्यात अनुदान में धीरे-धीरे कटौती और अयात पूँजी प्रवाह के लिए अर्थव्यवस्था खोलना सम्मिलित थे। इन सुधारों ने देश में प्रतियोगात्मक वातावरण तैयार कर दिया और घरेलू नीति प्रणालियों में उदारीकरण से मिलाया।

मौद्रिक नीति

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय मौद्रिक व्यवस्था ने पंचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए संसाधन जुटाने में काफी मदद की। 1980 के दशक से शुरू होने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण बदलावों से भारतीय रिजर्व बैंक भारतीय मुद्रा व्यवस्था

नोट

को नए दृष्टिकोण से देखना चाहता था और इस प्रयोजन के लिए भारतीय मुद्रा व्यवस्था का विश्लेषण करने के लिए सुखमय चक्रवर्ती की अध्यक्षता में दिसम्बर, 1982 में एक समिति गठित की गई। मुद्रा लक्ष्य से संबंधित समिति की प्रमुख सिफारिशें थीं, बजट घाटे और ब्याज दर नीति में बदलाव। समिति की ज्यादातर सिफारिशें 1980 के दशक के अंत तक भारत सरकार द्वारा स्वीकार गई।

बैंकिंग और वित्तीय क्षेत्र की नीतियाँ

वर्ष 1969 में भारत में बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक महत्त्वपूर्ण चमत्कारिक घटना थी। उसी समय से देश में बैंकिंग और वित्तीय क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण भौगोलिक और प्रकार्यात्मक विस्तार हुआ है। लेकिन कालांतर में संसाधन गतिशील बनाने और ऋण का विस्तार करने में बैंकिंग और वित्तीय प्रणाली में अनेक समस्याएं पैदा हुईं। कई सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक और वित्तीय संस्थाएँ कमजोर हो गई थीं और कुछ सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को लगातार घाटा हो रहा था। भारत सरकार ने इस स्थिति को दूर करने के लिए 1991 में एम. नरसिम्हम की अध्यक्षता में उच्च स्तरीय समिति गठित की। समिति की सिफारिशों का राजनीतिक दृष्टि से संवेदनशील स्वरूप होने के कारण अनेक सिफारिशें जैसे प्राथमिकता क्षेत्र प्रस्थिति समाप्त करना और विलय आदि लागू नहीं किए गए। इसके बावजूद सांवेधिक नकदी आवश्यकता 38.5 प्रतिशत से घटाकर 25 प्रतिशत कर दी गई। इसी प्रकार नकदी रिजर्व अनुपात (Cash Reserve Ratio) के संदर्भ में विलय प्रस्ताव आंशिक रूप से क्रियान्वित किए गए। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को बाजार दरों की वास्तविक ब्याज दरों के साथ कमजोर वर्गों से अलग वर्गों को अपनी सेवाएं बढ़ाने की स्वीकृति दे दी गई।

आर्थिक सुधार

आर्थिक नीतियों में अनेक बदलावों के कारण 1980 के दशक में न केवल तीन दशकों के निम्न वृद्धि से निकलकर उच्चतर वृद्धि देखी गई, अपितु आर्थिक विकास के योजनाबद्ध व्यवस्था ने समुचित पुनः निरूपण (Reformation) की अवधि में भी प्रवेश किया। भारतीय अर्थव्यवस्था को योजनाबद्ध ढाँचे से निकालकर उसे बाजारोन्मुख बनाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने 1991 में बहुत बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार कार्यक्रम शुरू किए। इसके लिए सरकार ने नीतियों संबंधी अनेक निर्णय लिए, जिनका उद्देश्य था राजकोषीय अनुशासन, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निजीकरण, उदारीकरण का संवर्द्धन, देशीय वित्तीय बाजारों पर नियंत्रण को हटाने और विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करना।

नई आर्थिक नीति

1980 में नीतियों में जो बदलाव हुए, जिन्हें 1980 के दशक के मध्य प्रभावी हुए, उनमें सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र के अधिक विनियमन के नेहरूवादी ढांचे से हटने की नई प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर हुईं। ये नीतिगत बदलाव राजीव गांधी सरकार के अंतर्गत यह नई आर्थिक नीति के रूप में लागू हुए, जिन्होंने निजी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वहन की। नई नीति ने औद्योगिक लाइसेंस, निर्यात-आयात रीति, विदेशी पूँजी, इक्विटी, नियंत्रण और प्रतिबंधन उन्मूलन, राजकोषीय और प्रशासनिक विनियमन की प्रणाली के सरलीकरण में कई बदलाव किए। नई आर्थिक नीति के अंतर्गत सरकार नियंत्रणों की इमारत विखंडन करने की दिशा में आगे बढ़ी। साथ ही बहुराष्ट्रीय उद्यमों सहित निजी कम्पनी क्षेत्र के उन्मुख विस्तार की अत्यधिक संभावना उपलब्ध की।

जुलाई, 1991 में सरकार द्वारा घोषित औद्योगिक नीति में विदेशी पूँजी निवेश एवं विदेशी टेक्नॉलोजी के स्थानांतरण के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बारे में निर्णय लिए गए। इनमें से कुछेक प्रमुख का उल्लेख हम इस प्रकार कर सकते हैं–

(*i*) प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में विदेशी पूँजी के अंश पूँजी में 51% तक प्रत्यक्ष निवेश की स्वीकृति दी जाएगी।

(*ii*) प्रत्यक्ष निवेश के अंतर्वाह से संबद्ध कानूनों और सरकारी व्यवहारों की पुनः इस दृष्टि से जाँच की जाएगी कि यह विदेशी पूँजी के अंतर्वाह में रुकावट न पैदा करें।

(*iii*) अनेक ऐसे विषय और मुद्दे जो विदेशी निवेश के प्रवाह में बाधा बन सकते हैं, उनके औचित्य पर पुनः विचार किया गया।

नोट

संरचनात्मक नीति और आर्थिक सुधार

भारत की आर्थिक नीति में किए गए प्रमुख संरचनात्मक परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

(*i*) उद्योग व व्यापार पर नियंत्रणों में बहुत ढील दी गई है।

(*ii*) कई उद्योगों को लाइसेंसीकृत कर दिया गया है।

(*iii*) कई क्षेत्र जो पहले केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित थे, प्रतिस्पर्धा बढ़ाने की दृष्टि से अब निजी व विदेशी निवेश के लिए मुक्त कर दिए गए।

(*iv*) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए नीतिगत उपाय अपनाए गए हैं।

(*v*) वित्तीय क्षेत्र में तथा कर प्रणाली में अनेक सुधरों को लागू किया गया है।

औद्योगिक नई नीति, 1991

नई औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका घटाकर निजी क्षेत्र को अधिक व्यापक वह महत्त्वपूर्ण बना दिया गया। नई नीति में नियन्त्रण और लाइसेन्स प्रणाली को बहुत सीमा तक समाप्त कर दिया गया, जिससे बाजारतंत्र अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है तथा अर्थव्यवस्था ने पर्याप्त खुला रूप धारण कर लिया है साथ ही घरेलू अर्थव्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था के काफी नजदीक आ गई है।

विदेशी निवेश उदारीकरण

व्यापार, निवेश और वित्त के संबंध में उदारीकरण विभिन्न गतियों से और विभिन्न प्रकार से हुआ है। अभी भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें उदारीकरण आंशिक रूप से हुआ है, जिनमें कृषि एवं कपड़ा उद्योग शामिल हैं, जो विकासोन्मुख देशों के लिए विशेष महत्त्व के हैं, परन्तु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उदारीकरण बहुत अधिक हुआ है। निवेश का उदारीकरण बहुत अधिक असमान गति से हुआ है। व्यापार के उदारीकरण और प्रत्यक्ष विदेशी प्रणाली के साथ-साथ विदेशी लेनदेनों का उदारीकरण भी किया जाता है।

सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार

सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार निम्नलिखित थे–

लघु पैमाने के और गैर-सामरिक महत्त्व के क्षेत्र, नीची प्रौद्योगिकी पर आधारित उद्योग, अकुशल और अनुत्पादक क्षेत्र व क्षेत्र जिनमें सामाजिक या सार्वजनिक उद्देश्य न हों और वे क्षेत्र जिनमें निजी क्षेत्र ने काफी निपुणता और संसाधन प्राप्त कर लिए हैं। बीमार इकाइयों के पुनर्वास के लिए इन्हें औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) को या फिर ऐसी किसी और संस्था को सौंपा जाएगा।

इकाइयों के पुनर्वास से प्रभावित मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रक्रिया बनायी जाएगी। साधन जुटाने और जनता की भागीदारी को प्रोत्साहन देने हेतु सार्वजनिक क्षेत्र में सरकार के पास शेयरों का एक भाग म्युचुअल फंड, वित्तीय संस्थाओं, सामान्य सार्वजनिक कर्मचारियों को बेचा जाएगा। प्रदर्शन में सुधार समझौते के ज्ञापन द्वारा होगा, जिसके प्रबंध को अधिक स्वायत्तता दी जाएगी और वह जबावदेह होगा। यह समझौता ज्ञापन संसद में पेश होगा और इस पर बहस होगी। इससे सार्वजनिक उद्यमों की कार्यप्रणाली सुधरेगी। सार्वजनिक क्षेत्र में अब 8 उद्योगों का आरक्षण है, जैसे रेलवे, परिवहन, खनिज तेल, कोयला व लिग्नाइट, एटमी ऊर्जा, हथियार और गोला-बारूद आदि।

सार्वजनिक निजी भागीदारी

सामाजिक और भौतिक बुनियादी ढाँचे के लिए वित्त व्यवस्था करने और उसे विकसित करने में आर्थिक सुधारों ने सार्वजनिक निजी भागीदारी पर समुचित बल दिया है। इसके अंतर्गत सार्वजनिक परिसम्पत्तियों का हस्तांतरण अथवा पट्टा, प्रयोक्ता प्रभारों की वसूली के लिए सरकारी प्राधिकरण का प्रत्यायोजन, सार्वजनिक उपयोगिताओं का प्रचालन और नियंत्रण आदि सम्मिलित हैं।

नीतिगत परिवर्तन

पिछले 10 वर्षों के दौरान भारत विश्व में शीर्ष 10 त्वरित विकसित हो रही अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। लेकिन मुख्य

नोट

कमियों में प्रमुख यह है कि वृद्धि का लाभ बहुत-से समूहों तक नहीं पहुंच पा रहा है, जो अभी भी विकास की प्रक्रिया से अलग समझे जाते हैं।

समावेशी वृद्धि

समावेशी वृद्धि का प्रयोजन व्यक्तियों के जीवन-स्तर में विस्तृत आधार पर सुधार करना है। हालांकि सकल घरेलू उत्पाद में 9 प्रतिशत की उच्चतर वृद्धि दर और यहां तक कि सकल घरेलू उत्पाद प्रति व्यक्ति में 7.6 प्रतिशत की प्राप्त करने की संभावना स्वीकारते हुए ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में उल्लेख किया गया कि लक्ष्य केवल त्वरित वृद्धि नहीं है, बल्कि समावेश वृद्धि सभी को आगे बढ़ने के बेहतर अवसर प्रदान करती है।

टास्क 1960 के दशक के मध्य तक भारत ने जिन संकटों का सामना किया, उसका स्वरूप क्या था और योजना पर इसका क्या प्रभाव था।

19वीं शताब्दी के अंत में भारत में अर्थशास्त्रियों के एक विशेष समूह का आविर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त अधिकतर विद्वानों ने भारत के आर्थिक विकास पर चिंतन में योगदान दिया है। वास्तविक रूप से योगदानकर्त्ताओं की संख्या व्यापक है और उनके विचार सशक्त और विस्तृत हैं।

19वीं शताब्दी के अंत में और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में तीन प्रमुख योगदान सम्मिलित किए गए। इसके अंतर्गत प्रथम योगदान दादाभाई नौरोजी का 'अपवहन सिद्धान्त' (Drain Theory) है, जिसका मूल भारत के स्वतंत्रता संग्राम में और उससे संबंधित आर्थिक इतिहास में है। 'संतुलित संवृद्धि सिद्धान्त' (Balanced Growth Theory) में रानाडे का अद्वितीय योगदान है, जो 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लोकप्रिय हुआ, जो बहुत समय पूर्व दृष्टिकोण के महत्त्व का पूर्वानुमान करता है। इसके बाद गोखले का योगदान 'शिक्षा और आर्थिक विकास' (Education and Economic Development) 21वीं शताब्दी के भारत में ज्यादा सराहनीय रहा।

दादाभाई नौरोजी : अपवहन सिद्धान्त

यह सिद्धान्त 19वीं शताब्दी के अंत में और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद का प्रतीक माना जाता है। इस समय में ब्रिटिश शासन कायम रहा, जिसके फलस्वरूप धन-सम्पत्ति और आय का अंतरण भारत से ब्रिटेन में होने का संकेत मिलता है। यह भारतीय अर्थव्यवस्था पर 'स्रावी अपवहन' (Bleeding Drain) लागू करता है। अपवहन सिद्धान्त का मूल है एकपक्षीय अंतरण, जिसने भारत को प्रणालीबद्ध रूप से देश के संसाधनों से वंचित करके ब्रिटेन को आधिपत्य के लिए मजबूर किया और गरीबी को स्थायी बना दिया।

एम.जी. रानाडे : संतुलित विकास और औद्योगीकरण

आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से रानाडे आधुनिकतावादी थे और विकास पर उनके विचार पश्चिमी अनुभव द्वारा प्रभावित थे। उन पर जर्मन हिस्टोरिकल स्कूल (German Historical School) और फ्राइड्रिख लिस्ट (Friedrich List) का प्रभाव पड़ा। उन्होंने आर्थिक विकास की परिभाषा समाज की उत्पादक शक्ति के संपूर्ण और चहुँमुखी विकास के रूप में की। उन्होंने 'संवृद्धि की अवस्थाओं' (Stages of Growth) का वर्णन किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि विनिर्माण उद्योग ने अन्य क्षेत्र की बजाय ज्यादा अवसर दिया तथा 'आर्ट मेनिप्यूलेशन' (Art Manipulation) के रूप में उल्लेख किया, जो उत्पादन प्रक्रिया के लिए आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग दर्शाता है। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि विनिर्माण ने उत्पादकता सुधार करने के लिए सीखने के अवसर प्रदान किए, जो कृषि में संभव नहीं था।

जी.के. गोखले : शिक्षा और आर्थिक विकास

विशेषत: गोखले को भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में रानाडे के उत्तराधिकारी के रूप में माना जाता है। उन्होंने मानव पूँजी के विकास हेतु शिक्षा के महत्त्व पर बल दिया। उन्होंने विकास के लिए पूर्वापेक्षा के रूप में सामूहिक शिक्षा की जरूरत पर बल दिया और कहा कि 'अशिक्षित और निरक्षर राष्ट्र कभी भी स्थायी रूप से उन्नति नहीं कर सकता है।' वे

नोट

'प्राथमिक शिक्षा के प्रसार' को देश की भावी मुक्ति का माध्यम मानते थे। गोखले ने संपूर्ण देश में प्रारभिक शिक्षा नि:शुल्क और अनिवार्य करने की वकालत की। उन्होंने उस भूमिका वर्णन किया, जो सामूहिक साक्षरता ने इन राष्ट्रों के आर्थिक विकास में निभाई थी, जहां समस्त जनसंख्या निरक्षर थी और भारत में सार्वजनिक प्रारंभिक शिक्षा की ज्यादा जरूरत है, जो उस समय मुश्किल से 6 प्रतिशत साक्षर थी।

परवर्ती राष्ट्रवादी : पश्चिमी मॉडलों का विकल्प

एम.के गांधी : 'स्वदेशी' और 'ग्राम स्वराज्य'

महात्मा गांधी कोई शैक्षिक अर्थशास्त्री नहीं थे। उनके योगदान को एक सिद्धान्त के अनुसार देखा जा सकता है। उन्होंने अर्थशास्त्र के महत्व के अनेक विषयों पर लिखा, लेकिन आर्थिक विकास की दृष्टि से 'स्वदेशी' और 'ग्राम स्वराज्य' पर उनके लेख ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। आवश्यकताओं पर नियंत्रण की उनकी संकल्पना अर्थशास्त्र से अलग है, जहां मनुष्य प्रतियोगी आवश्यकताओं के मध्य उस विकल्प को चुनता है, जो उपलब्ध संसाधनों से अधिक संतुष्टि देता है। एम. के गांधी के विचार विकास और मानव कल्याण पर प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा प्रेरित थे, जो भारत के प्राचीन धर्मग्रंथों में विद्यमान हैं। स्वेदशी पर गांधीजी के विचार अंग्रेजी शासन के खिलाफ संघर्ष के रूप में सामने आए। स्वदेशी सिद्धांत ने गांधीजी को औद्योगीकरण के पश्चिमी प्रारूप का विरोधी बना दिया। वे तीन कारणों से मशीनीकरण के खिलाफ थे। प्रथम, मशीन मनुष्य और पशु श्रम को उसे सहायता करने के बदले विस्थापित करती है। द्वितीय, उसके विस्तार और वृद्धि की कोई सीमा नहीं है, जो मानव श्रम में है। तृतीय, इसके अपने ही कानून हैं, जिससे न केवल श्रमिक विस्थापित होता है, बल्कि उसके विस्थापित होने की दर में वृद्धि होती है।

जे.के मेहता : आवश्यकताविहीनता का सिद्धान्त

जे.के. मेहता अर्थव्यवस्था और दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान थे। मेहता को 1930 के दशक में सीमांत राजस्व की संकल्पना की उनकी स्वतंत्र खोज के लिए पहचाना जाता है। मेहता ने अपने लेखों के माध्यम से आर्थिक क्रियाकलापों के प्रवर्तक के रूप में असीमित जरूरतों के पश्चिमी अर्थशास्त्रियों के सिद्धांत का विरोध करने के लिए 'आवश्यकताविहीनता सिद्धांत' विकसित किया। उनके अनुसार जरूरतें पहले व्यक्तियों के मस्तिष्क में विकसित होती हैं। इसके पश्चात पीड़ा के स्रोत के रूप में बहुत तीव्रता से बाहर निकलती हैं, उस समय हम उन्हें पूरा करने में सक्षम नहीं होते। इसके अतिरिक्त जरूरत पूरी होने पर आवर्ती संतुष्टि के लिए मस्तिष्क में भावना विकसित होती है और अनेक संबद्ध जरूरतों की उत्पत्ति भी होती है।

विकास और सामाजिक न्याय

विकास के साथ संवृद्धि समाज के किसी भी समूह की उपेक्षा नहीं करती और सामाजिक दृष्टि से सामूहिक तरीके से समाज के समस्त समूहों को एकत्रित करने की कोशिश करती है।

बी.आर. अम्बेडकर : छोटे फार्म, कृषि संबंधी प्रश्न और भूमि का राष्ट्रीयकरण

डॉ. अम्बेडकर ने 1917 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की और बाद में लंदन स्कूल ऑफ इकानॉमिक्स (1921) से डॉक्टर ऑफ साइन्स की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात वे विधि और विधिशास्त्र में चले गए। *'The Problem of the Rupee'* और *'The Evolution of Provincial Finance in British India'* में उनका योगदान परम सराहनीय है। 1918 में प्रकाशित लेख *'Small Holdings in India and their Remedies'* में अम्बेडकर द्वारा भारत में छोटे और विखंडित फार्मों तथा न्यून उत्पादकता की वकालत की गई है। उस समय ब्रिटिश विशेषज्ञों ने भारतीय फार्मों को बहुत छोटा एवं विखंडित मानकर चकबंदी का सुझाव दिया था। अम्बेडकर ने सभी पहलुओं का विवेचनात्मक परीक्षण किया। वास्तविक रूप से जो कुछ भी किसान के पास है, उसके उसके उपयोग करने में योग्यता की कमी का प्रमुख कारण नहीं है। केवल कृषि के माध्यम से अपनी समृद्धि के लिए भारत में समुचित भूमि की अनुपलब्ध थी।

नोट

भूमि का राष्ट्रीयकरण और सामूहिक खेती

1947 के आसपास आसमान जोतों और अनुसूचित किराया तथा अनिश्चित भूधारण के साथ काश्तकारी कानून की कठोरता देखने के पश्चात अम्बेडकर भूमि के राष्ट्रीयकरण और सामूहिक खेती के थोड़े-बहुत समाधान लेकर सामने आए। उन्होंने कृषि संबंधी अवस्थाओं की बुराइयों के समाधान के रूप में सामूहिक खेती के साथ संपूर्ण कृषि राज्य का उद्योग होगा। कृषि निम्नलिखित प्रणाली में संगठित होगी–

1. राज्य द्वारा अधिगृहीत भूमि को मानक आकार के फार्मों में बांटा जाना चाहिए और किसानों के रूप में गांव के लोगों को खेती के लिए फार्म दिए जाने चाहिए।
2. भूमि गांवों को जाति अथवा धर्म का कोई अंतर न करके बिना प्रभार के दी जानी चाहिए जिसमें भूमि का कोई मालिक न हो, कोई किसान हो और भूमिहीन श्रमिक हो।
3. कृषि उत्पाद में वृद्धि के लिए जल आपूर्ति, पशु, खाद्य, बीज आदि की आपूर्ति द्वारा सामूहिक फार्म की खेती का वित्त पोषण राज्य की जिम्मेदारी होनी चाहिए।

आर.एम.लोहिया : जाति असमानता के विरुद्ध

राम मनोहर लोहिया की लोकप्रियता गांधीवादी, स्वतंत्रता सेनानी एवं अपनी सामाजवादी पार्टी के माध्यम से अपने जाति-विरोधी आंदोलन के कारण थी। लोहिया का मानना था कि भारत की उन्नति के लिए वर्ग की बजाय जाति ज्यादा बड़ी रुकावट है। उनके अनुसार जाति अवसरों को सीमित करती है। सीमित अवसर दक्षता को संकुचित करते हैं। जाति के कारण लोगों के अवसर और योग्यता भी लगातार संकीर्ण होते हुए एक वृत्त में सीमित हो जाते हैं। उन्होंने अपनी संयुक्त समाजवादी पार्टी में निम्न जाति के उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने के लिए टिकट देकर प्रोत्साहित किया। हालांकि वह जाति के संबंध में लगातार बोलते थे, लेकिन वे जातिवादी नहीं थे, उनका लक्ष्य यह आश्वस्त करना था कि लोग समाजवादी पार्टी के उम्मीदवार को वोट देते हैं, भले ही वह किसी भी जाति का हो। उनका मानना था कि देश को मजबूत बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति की इसमें भागीदारी जरूरी है। लोहिया ने ऐसी विशिष्ट तकनीकी का पक्ष लिया, जो कठोर मजदूरी को कम कर सके, लेकिन आम लोगों को शक्तियों की दया पर न छोड़े। लोहिया का मानना था कि पार्टी कुछ लक्ष्यों को लेकर आगे बढ़ी। लोहिया निजी विद्यालयों को समाप्त और सरकारी विद्यालय स्थापित करना चाहते थे, जो समस्त जातियों के विद्यार्थियों को समान शैक्षिक अवसर प्रदान कर सके। उन्होंने किसानों की दैनिक समस्याओं का समाधान करने के लिए 'हिन्द किसान सभा' की स्थापना की।

विकास की योजना के मॉडलों पर चर्चा

कृषि पर निर्भर रहने वाली विशाल ग्रामीण जनसंख्या में गरीब कृषि श्रमिकों और काश्तकारों की स्थिति सुधारने के लिए विचारकों द्वारा कृषि क्षेत्र में किसी-न-किसी प्रकार के सुधार की वकालत की गई। यहां भी ऐसा मिश्रित मॉडल सोचने के लिए जो कृषि और उद्योग दोनों से पारस्परिक रूप से प्राप्त करता है तथा भारत जैसे कम विकसित अर्थव्यवस्था की व्यापक कृषि आधार के मांग से तालमेल रखने में पश्चोयुक्त ग्राम मॉडल, जैसे खादी और ग्रामोद्योग (Khadi and Village Industry; KVI) के लिए उचित है। भारत में विकास संबंधी योजना भी विचारकों के सहयोग का परिणाम है।

जवाहरलाल नेहरू–पी.सी. महालॉनोबिस : महालॉनोबिस मॉडल

पं. जवाहरलाल नेहरू रूस से तीव्र आर्थिक विकास और केन्द्रीयकृत योजना से बहुत प्रभावित हुए थे। वे दीर्घकालिक आत्मनिर्भर विकास को स्थिर बनाने के लिए भारी उद्योग पर निवेश करने के लिए संकेन्द्रित निवेश के सोवियत मॉडल से अत्यधिक प्रभावित हुए। प्रथम योजना प्रारंभिक हरोड-डोमर मॉडल पर आधारित थी। इसका संबंध नियत वृद्धिमान पूँजी उत्पाद अनुपात के माध्यम से पूँजी संचयन की कुल दर से वृद्धि की कुल दर से जोड़ता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना पूँजीगत माल क्षेत्र और उपभोक्ता वस्तु क्षेत्र में भेद करने एवं पूँजीगत माल की अस्थानांतरणीयता के आधार पर तैयार की गई थी। टिकाऊ आत्मनिर्भर विकास पर नेहरूवादी बल द्वारा प्रोत्साहित पी.सी. महालॉनोबिस द्वारा योजना की बुनियादी रूपरेखा तैयार की गई थी, जो महालॉनोबिस मॉडल के नाम से जानी जाती है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना

नोट

भारी उद्योग अथवा पूँजीगत वस्तुओं के साथ तीव्र औद्योगीकरण की रणनीति थी। उनका मानना था कि भारत जैसे विशाल देश को यदि उत्पाद स्थायी रूप से लोगों का उपभोग बढ़ाना था, तो इसे उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए जरूरी बुनियादी मशीनरी और उपकरण विकसित करने चाहिए।

महालॉनोबिस ने दो क्षेत्रीय मॉडल विकसित किया, जिसने अर्थव्यवस्था को उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र और निवेश/पूँजीगत वस्तुओं में विभाजित किया। महालॉनोबिस द्वारा दो क्षेत्र मॉडल का बाद में चार क्षेत्रीय मॉडल में विस्तार किया गया। चार क्षेत्र मॉडल में सम्मिलित थे–(1) निवेश वस्तुएं, (2) उपभोक्ता माल का कारखाना उत्पादन, (3) उपभोक्ता वस्तुओं का घरेलू उत्पादन एवं (4) सेवाएं। महालॉनोबिस की दोमुखी रणनीति में स्पष्ट है कि पूँजीगत वस्तुओं के लिए निवेश आबंटन में वृद्धि के साथ कुटीर उद्योगों का संवर्धन, जिसका शीर्ष उत्पादन पूँजी अनुपात है, उपभोक्ता माल आपूर्ति को स्थायी रख सकता है।

सी.एन. वकील–पी.आर. ब्रह्मानंद : मजदूर-मालिक मॉडल

सी.एन. वकील भारतीय अर्थशास्त्र विभाग के वरिष्ठ सदस्य थे। वह बम्बई अर्थशास्त्र विद्यालय के संस्थापक निदेशक थे तथा भारतीय अर्थव्यवस्था की समकालीन समस्याओं में योगदान के लिए जाने जाते थे। पी.आर. ब्रह्मानंद जो सी. एन. वकील के छात्र थे, की भारत के विख्यात अर्थशास्त्रियों में उनकी गणना की जाती है। आर्थिक सिद्धान्त के लिए उनका महत्त्वपूर्ण योगदान विकासशील देशों के लिए क्लासिकी अर्थशास्त्र का पुनर्निर्माण करना था। उन्होंने कल्याण अर्थशास्त्र और विकास की समस्याओं को विस्तारित क्लासिकी दृष्टि से देखा। वकील और ब्रह्मानंद ने अपने विख्यात कार्य 'प्लानिंग फॉर एक्सटेंडिंग इकानॉमी' (1956) में द्वितीय योजना के लिए महालॉनोबिस के 'भारी उद्योग' मॉडल की तुलना में भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए ज्यादा उचित विकल्प के रूप में 'वेज-गुड्स मॉडल' प्रस्तुत किया। उनका मानना था कि महालॉनोबिस मॉडल भारतीय स्थितियों से बिल्कुल अलग सोवियत अनुभव द्वारा प्रेरित था। वकील-ब्रह्मानंद ने तर्क दिया कि भारत में प्रमुख समस्या कम बचत और प्रछन्न बेरोजगारी की है। उनके मॉडल ने कम विकसित देशों में ग्रामीण 'छद्म बेरोजगारी' की स्थिति में 'अप्रकट संभावना' के नर्कसे की विचारधारा का विस्तार किया। वकील और ब्रह्मानंद ने उत्पादनकारी परियोजनाओं में 'प्रछन्न बेरोजगारी' की अप्रकट बचत संभावना का महत्त्वपूर्ण प्रयोग करते हुए और 'वेज-गुड्स' के उत्पादन में सीमित बचत प्रयोग का प्रस्ताव किया, जिसकी आपूर्ति अब परियोजनाओं में नियुक्त कामगारों की मांग पूरी करने के लिए की जा सकती है, जो आर्थिक पूंजी का निर्माण करते हैं।

विकास और कल्याण

20वीं शताब्दी के अंत में विकास और कल्याण की प्रमुखता को बल देने की जरूरत अनुभव की गई। ज्यादातर ऐसे अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने आर्थिक दर्शन में इस प्रतिमान अंतरण की दिशा में योगदान दिया।

अमर्त्य सेन : क्षमताएं और मानव विकास

अमर्त्य कुमार सेन अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार प्राप्त एकमात्र एशियाई विद्वान हैं। अमर्त्य सेन को योगदान दर्शन में उतना ही व्यापक है, जितना अर्थशास्त्र के लिए है। सेन का क्रांतिकारी योगदान विकास अर्थशास्त्र और सामाजिक सूचकों के लिए 'क्षमता' की संकल्पना है। 'क्षमता' की परिभाषा अनेक वैकल्पिक परिभाषा 'होना और करना' को निरूपित करने वाले प्रकार्यात्मक बंडलों के सेट के रूप में की है, जिसे व्यक्ति अपनी आर्थिक, सामाजिक और व्यक्तिगत विशेषताओं से प्राप्त कर सकता है। क्षमता से अर्थ है कि व्यक्ति को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करे। इसलिए विकास का मूल अपने आप में आजादी है न कि संकीर्ण भावना से बोलने की आजादी, अपितु व्यक्तियों को अपनी क्षमता प्राप्त करने की आजादी है। इस विषय पर सेन का प्रमुख योगदान *'डेवलपमेंट एज फ्रीडम'* (Development of Freedom) 1999 में है। यह क्षमताओं की वृद्धि के लिए मनुष्य के कल्याण को पुनः परिभाषित करता है। उसके दार्शनिक और सैद्धान्तिक कार्य ने गरीबी की दर और मानव विकास मापने के लिए प्रयुक्त सूचकों का सुधार करने में मदद की। वह मानव विकास सूचकांक के विकास में और संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की मानव विकास रिपोर्ट में उसकी अभिव्यक्ति में सहायक था, जिसने गरीबी माप पर नव-उदारवादी 'वाशिंगटन सर्वसम्पति' को विकल्प का कुछ संकेत दिया। सेन ने स्पष्ट किया कि ज्यादातर देशों में मानव विकास सूचकांक अधिक

नोट

था, भले ही उनकी प्रति व्यक्ति आय कम थी। इसलिए उसने तर्क दिया कि विकास प्राथमिकताएं वृद्धि-केन्द्रित आर्थिक नीति के बदले विस्तृत श्रेणी के बहुचर सूचिकाओं द्वारा मूल्यांकित मानव विकास सुधारने की ओर बढ़ाई जानी चाहिए।

क्या आप जानते हैं अमर्त्य कुमार सेन अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार प्राप्त एकमात्र एशियाई विद्वान हैं।

आई.जी. पटेल : भारत के सोने को आर्थिक संवृद्धि में कैसे बदला जाए?

आई.जी. पटेल ने अपने जीवन की शुरुआत अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से की और बाद में उन्होंने भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार, भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर के रूप में कार्य किया। तत्पश्चात के लंदन स्कूल ऑफ इकानॉमिक्स के निदेशक बने। उनका अनुसंधान व योगदान भारत की स्वर्ण समस्या पर था। आई.जी. पटेल ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में अपने प्रारंभिक कैरियर को सोने के प्रश्न से जोड़ा और 'सोने के लिए मांग के प्रति भारत का लचीलापन' (India's Elasticity of Demand for Gold) पर भी लिखा। पटेल ने तर्क दिया कि सोने के लिए मांग उसके सापेक्ष मूल्य में बदलावों पर अत्यधिक प्रभावी थी। पटेल इस प्रश्न से निरंतर जूझते रहे कि जमाखोरी व सोने के भंडार को उत्पादनकारी निवेश के लिए तस्करी से लाए गए सोने का प्रभाव से भारत की आर्थिक संवृद्धि में कैसे गतिशील किया जा सकता है। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि भविष्य में सोने के मूल्य के संबंध में लोगों की आशाओं को प्रभावित करने वाले स्थायी प्रचार अनिवार्यता और प्रोत्साहन के मिश्रण से समस्या का समाधान निकालने का प्रयास किया जा सकता है।

विशिष्ट प्रमुख योगदान : विकास और कल्याण (वी.के.आर.वी. राव, के.एन. राज, डी.आर. गाडगिल)

स्वातंत्र्योत्तर भारत ने विकास के लिए योजना पर चिंतन में योगदान करने वाले विकास अर्थशास्त्रियों की विशेष टीम को देखा। उसमें प्रमुख योगदानकर्त्ता निम्नलिखित रहे–

वी.के.आर.वी. राव–डॉ. वी.केआर.वी. राव को अर्थशास्त्री, सुपरिचित शिक्षाविद, प्रशासकऔर संस्था निर्माता के रूप में जाना जाता है। उनका प्रमुख योगदान राष्ट्रीय आय का वैज्ञानिक आकलन था। उसका प्रारंभिक योगदान समष्टि आर्थिक सिद्धान्त में था, जिसमें निवेश, आय और गुणक के मध्य अंत:संबंध का प्रयोग किया गया। उसने बताया कि कीनेशियन गुणक भारत जैसे अल्पविकसित देशों पर लागू नहीं होता। उन्होंने अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताओं की पहचान की–(1) प्रछन्न बेरोजगारी की व्यापकता, (2) घरेलू उद्यमों में उत्पादन का प्रभुत्व, (3) अपने उपभोग के लिए उत्पादन की समुचित सीमा, (4) कृषि की प्रधानता, (5) तकनीकी ज्ञान का अभाव, (6) पूँजीगत उपकरण की कमी, (7) एकता समाप्त करने की उच्च सीमांत प्रवृत्ति, (8) आय में किसी भी वृद्धि में खाद्य के लिए बढ़ती मांग का उच्च अनुपात। राव के अनुसार निवेश में प्राथमिक वृद्धि हो सकती है। उपभोग वस्तु क्षेत्र में उत्पादन के विस्तार से निवेश में वृद्धि का परवर्ती प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक प्रभाव नहीं हो सकता।

के.एन.राज–दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स के विकास में के.एन. राज का अभूतपूर्व योगदान रहा है। राज पहली पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा तेयार करने में सम्मिलित थे। इसके पश्चात उन्होंने तिरुअवनंतपुरम में विकास अध्ययन केन्द्र की स्थापना की उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ केरल अर्थव्यवस्था पर कार्य किया तथा 'केरल मॉडल' के तत्त्वों का खुलासा किया।

डी.आर. गाडगिल–डी.आर. गाडगिल ने कैम्ब्रिज से लौटकर पुणे में गोखले राजनीति और अर्थशास्त्र संस्थान की स्थापना की और बाद में योजना आयोग के उपाध्यक्ष बने। उनके अध्ययन कृषि, सिंचाई और संस्थाओं पर आधारित थे। उन्होंने कृषि और कृषि केन्द्रित उद्योगों के विकास पर बल दिया। वे भारत में विकेन्द्रीकृत योजना के मार्गदर्शक थे।

विकास के संबंध में प्राचीन भारतीय विचारधारा : आधुनिक आर्थिक चिंतन से तुलना

विकास का प्राचीन भारतीय प्रतिमान उपभोग पर नियंत्रण को उचित ठहराता है और यह संकल्पना करता है कि पूँजी निर्माण का विस्तार और संवृद्धि मूल्यों की रूपरेखा में प्राप्त होनी चाहिए। समस्त कार्यों के उद्देश्यों की संकल्पना एकीकृत रूपरेखा के आधार पर तैयार की गई है। विकास का प्राचीन भारतीय प्रतिमान सामाजिक एकरूपता, अत्यधिक लाभ

नोट

प्राप्ति की वकालत करता है। सामाजिक कल्याण को भौतिक स्वार्थ से ज्यादा महत्त्व देना जरूरी है। विकास के प्राचीन भारतीय प्रतिमान में सकल कल्याण उत्पादन सकल घरेलू उत्पाद और जीवन के नैतिक मूल्यों का मिश्रण है। विकास का प्राचीन भारतीय प्रतिमान मानव जीवन-मूल्यों और नैतिकता के लिए वचनबद्धता के बिना सकल घरेलू उत्पाद की उच्च संवृद्धि प्राप्त करने के दृष्टिकोण से घृणा करता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. पहली पंचवर्षीय योजना में ..... संबंधी लक्ष्य पूर्ण किए गये थे।
2. ..... में चौथी योजना के मूलाधार को त्याग दिया गया और एक प्रकार का 'योजना अवकाश' लागू किया गया।
3. सरकार ने ..... के दशक के मध्य में निर्यात संवर्धन और आयात उदारीकरण की नीति आरंभ की।
4. स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय ..... ने पंचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए संसाधन जुटाने में काफी मदद की।
5. नई ..... में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका घटाकर निजी क्षेत्र को अधिक व्यापक व महत्वपूर्ण बना दिया गया।
6. संतुलित संवृद्धि सिद्धांत में ..... का अद्वितीय योगदान है।
7. ..... अर्थव्यवस्था और दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान थे।
8. ..... ने दो क्षेत्रीय मॉडल विकसित किया।

27.2 सारांश (Summary)

- प्रत्येक योजना में विकास की क्षेत्रीय प्राथमिकताएँ और रणनीति पर समय की आर्थिक त्वरित जरूरतें अधिकार जमाए रहीं। समय के साथ-साथ संपूर्ण नीति संरचना और सार्वजनिक एवं निजी निवेश की सापेक्ष भूमिकाओं में भी बदलाव आ गया।
- औद्योगिक नीति संकल्प (Industrial Policy Resolution), 1956 में प्रस्तावित किया गया था, जिसमें मूलभूत, भारी और रणनीतिक उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुखता स्पष्ट की गई और निजी क्षेत्र के विनियमन का आधार सुनिश्चित किया गया। दूसरी योजना के अंत तक कृषि उपज के पिछड़ने और मांग के अनुसार खाद्यान्न उत्पादन में कमी के स्पष्ट संकेत थे।
- उदारीकरण नीति व्यवस्था की मूलभूत शुरूआत 1970 के दशक के अंत में हुई थी। यह वह अवधि थी, जब आवर्ती योजना (रोलिंग प्लान) का दृष्टिकोण शुरू किया गया था, उससे 'पंचवर्षीय योजनाओं' के पूर्व दृष्टिकोण की जटिलता को कम किया गया।
- छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के अंत तक देश खाद्यान्न उत्पादन में लगभग आत्मनिर्भरता में पहुंच गया था। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) स्थिर उच्च स्तरीय वृद्धि का दृष्टि से तैयार की गई।
- ग्यारहवीं योजना का प्रमुख उद्देश्य ऐसी विकास प्रक्रिया शुरू करना है, जो लोगों के जीवन की गुणवत्ता में विस्तृत आधार का सुधार निर्धारित करती है।
- योजनाकाल के दौरान प्रथम 30 वर्षों में छोटे-छोटे बदलावों के साथ नेहरू महालॉनोबिस निवेश रणनीति का दबदबा रहा। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुखता के साथ भारी उद्योगों पर बल दिया गया। इस रणनीति का नीतिगत ढाँचा 1956 की औद्योगिक नीति संकल्प में दिखाई दिया, जिसमें ठोस लाइसेंस प्रणाली और आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण (Import Substitution Industrialisation) सहित आवक व्यापार नीति पर बल दिया गया।

नोट

- व्यापार नीति में अनेक बदलाव हुए, लेकिन शुरुआती वर्षों में समुचित 'निर्यात अनुमति' (Export Permission) जिसका अर्थ है औद्योगीकरण के बिना भारत के पास वृद्धि के इंजन के रूप में कार्य करने के लिए व्यापार में देने के लिए पर्याप्त नहीं थी।
- स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय मौद्रिक व्यवस्था ने पंचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए संसाधन जुटाने में काफी मदद की। 1980 के दशक से शुरू होने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण बदलावों से भारतीय रिजर्व बैंक भारतीय मुद्रा व्यवस्था को नए दृष्टिकोण से देखना चाहता था।
- वर्ष 1969 में भारत में बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक महत्त्वपूर्ण चमत्कारिक घटना थी। उसी समय से देश में बैंकिंग और वित्तीय क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण भौगोलिक और प्रकार्यात्मक विस्तार हुआ है।
- 1980 में नीतियों में जो बदलाव हुए, जिन्हें 1980 के दशक के मध्य प्रभावी हुए, उनमें सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र के अधिक विनियमन के नेहरूवादी ढांचे से हटने की नई प्रवृत्तियाँ स्पष्टत: दृष्टिगोचर हुईं। ये नीतिगत बदलाव राजीव गांधी सरकार के अंतर्गत यह नई आर्थिक नीति के रूप में लागू हुए, जिन्होंने निजी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वहन की।
- पिछले 10 वर्षों के दौरान भारत विश्व में शीर्ष 10 त्वरित विकसित हो रही अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। लेकिन मुख्य कमियों में प्रमुख यह है कि वृद्धि का लाभ बहुत-से समूहों तक नहीं पहुंच पा रहा है, जो अभी भी विकास की प्रक्रिया से अलग समझे जाते हैं।
- 19वीं शताब्दी के अंत में और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में तीन प्रमुख योगदान सम्मिलित किए गए। इसके अंतर्गत प्रथम योगदान दादाभाई नौरोजी का 'अपवहन सिद्धान्त' (Drain Theory) है, जिसका मूल भारत के स्वतंत्रता संग्राम में और उससे संबंधित आर्थिक इतिहास में है।
- आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से रानाडे आधुनिकतावादी थे और विकास पर उनके विचार पश्चिमी अनुभव द्वारा प्रभावित थे।
- विशेषत: गोखले को भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में रानाडे के उत्तराधिकारी के रूप में माना जाता है। उन्होंने मानव पूँजी के विकास हेतु शिक्षा के महत्त्व पर बल दिया। उन्होंने विकास के लिए पूर्वापेक्षा के रूप में सामूहिक शिक्षा की जरूरत पर बल दिया और कहा कि 'अशिक्षित और निरक्षर राष्ट्र कभी भी स्थायी रूप से उन्नति नहीं कर सकता है।
- जे.के. मेहता अर्थव्यवस्था और दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान थे। मेहता को 1930 के दशक में सीमांत राजस्व की संकल्पना की उनकी स्वतंत्र खोज के लिए पहचाना जाता है। मेहता ने अपने लेखों के माध्यम से आर्थिक क्रियाकलापों के प्रवर्तक के रूप में असीमित जरूरतों के पश्चिमी अर्थशास्त्रियों के सिद्धांत का विरोध करने के लिए 'आवश्यकताविहीनता सिद्धांत' विकसित किया।
- विकास के साथ संवृद्धि समाज के किसी भी समूह की उपेक्षा नहीं करती और सामाजिक दृष्टि से सामूहिक तरीके से समाज के समस्त समूहों को एकत्रित करने की कोशिश करती है।
- राम मनोहर लोहिया की लोकप्रियता गांधीवादी, स्वतंत्रता सेनानी एवं अपनी सामाजवादी पार्टी के माध्यम से अपने जाति-विरोधी आंदोलन के कारण थी। लोहिया का मानना था कि भारत की उन्नति के लिए वर्ग की बजाय जाति ज्यादा बड़ी रुकावट है।
- पं. जवाहरलाल नेहरू रूस से तीव्र आर्थिक विकास और केन्द्रीयकृत योजना से बहुत प्रभावित हुए थे। वे दीर्घकालिक आत्मनिर्भर विकास को स्थिर बनाने के लिए भारी उद्योग पर निवेश करने के लिए संकेन्द्रित निवेश के सोवियत मॉडल से अत्यधिक प्रभावित हुए।
- 20वीं शताब्दी के अंत में विकास और कल्याण की प्रमुखता को बल देने की जरूरत अनुभव की गई। ज्यादातर ऐसे अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने आर्थिक दर्शन में इस प्रतिमान अंतरण की दिशा में योगदान दिया।

नोट

27.3 शब्दकोश (Keywords)

- **अंतरण**–प्रवहि।
- **संवर्धन**–पोषित।

27.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. वह कौन-सी योजना थी, जिसने 2002 तक प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य के रूप में सभी के लिए प्रतिशत निर्धारित किया? इस पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए संकल्पित आवश्यकता क्या थी?
2. भारतीय अर्थव्यवस्था को 'काले धन की अर्थव्यवस्था' द्वारा अनिष्ट करने के क्या कारण थे?
3. 1991 में आर्थिक संकट पर विजय पाने के लिए सरकार द्वारा क्या तात्कालिक कदम उठाए गए थे?
4. विकास पर प्रमुख भारतीय आर्थिक विचारधाराओं की व्याख्या कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. कृषि	2. 1996	3. 1980	4. मौद्रिक व्यवस्था
5. औद्योगिक नीती	6. रानाडे	7. जे.के. मेहता	8. महालॉबोबिस।

27.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई–28: समानान्तर अर्थव्यवस्था (Parallel Economy)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

28.1 समनान्तर अर्थव्यवस्था (Parallel Economy)

28.2 सारांश (Summary)

28.3 शब्दकोश (Keywords)

28.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

28.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के इकाई के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समान्तर अर्थव्यवस्था की व्याख्या करने में

प्रस्तावना (Introduction)

देश में इस समय दो अर्थव्यवस्थाएँ चल रही हैं–**एक** वह अर्थव्यवस्था जो सरकारी मौद्रिक प्रणाली पर आधारित है जिसमें खुले लेन-देन होते हैं जिसमें सरकारी नियमों के अनुसार धन पैदा किया जाता है तथा धन का हिसाब होता है। इसके अतिरिक्त एक **दूसरी** अर्थव्यवस्था है जो सरकारी अर्थव्यवस्था के समानान्तर चल रही है तथा इससे प्रतियोगिता कर रही है जिसमें छिपे लेन देन होते हैं जिनका कोई हिसाब नहीं दिया जाता तथा प्राप्त आय को छिपा लिया जाता है। कालान्तर में इसका आकार बहुत बढ़ गया है।

28.1 समानान्तर अर्थव्यवस्था (Parallel Economy)

सार्वजनिक राजस्व एवं नीति के राष्ट्रीय संस्थान (NIPFP) द्वारा काली मुद्रा के बारे में किए गए अध्ययन में इस शब्द का इस्तेमाल **'काली आय'** के रूप में किया गया है। NIPFP के अनुसार, "आय के उस भाग को जो कर योग्य है लेकिन जिसे कर अधिकारियों की जानकारी में नहीं लाया जाता है, काली मुद्रा कहते हैं।"

कर योग्य आय जिस पर कर का भुगतान नहीं किया जाता, काली आय कहलाती है।

काले धन की प्रकृति को अच्छी प्रकार समझने के लिए हमें निम्नलिखित दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए–

(*i*) पूर्णतया कानूनी और न्यायोचित ढंग से अर्जित आय उस समय काली बन जाती है जब करदाता कर निर्धारण के लिए इस आय को अपने हिसाब में प्रदर्शित नहीं करते।

(*ii*) गैर-कानूनी स्रोतों से अर्जित आय शुरू से ही काला धन कहलाती है। उदाहरण के लिए, रिश्वत में ली गई आय काला धन है क्योंकि रिश्वत एक गैर-कानूनी अवधारणा है।

नोट

28.1.1 भारत में काले धन का प्रादुर्भाव (Impergence of Black Money in India)

भारत में काले धन का प्रादुर्भाव द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् से शुरू होता है जब ब्रिटिश सरकार द्वारा अनिवार्य वस्तुओं की कमी को दूर करने के लिए **नियन्त्रण** की व्यवस्था शुरू की गई थी। विवरण और नियन्त्रणों की व्यवस्था के कारण भारत में **गुप्त बाजार** का प्रादुर्भाव हुआ। गुप्त बाजार में निर्धारित कीमतों के स्थान पर वस्तुओं की मनचाही कीमतें वसूल की जाती थीं फलत: व्यापारियों और उद्योगपतियों को अत्यधिक लाभ हुआ। इस प्रकार कमाये गये लाभ को वे न तो अपने हिसाब में दिखाते थे और न ही बैंकों में जमा करते थे। इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था में काले धन का प्रादुर्भाव हुआ। शनै:-शनै: काले धन की मात्रा बढ़ती गई और भारतीय अर्थव्यवस्था के समानान्तर एक और अर्थव्यवस्था पनपने लगी जिसे काले धन की अर्थव्यवस्था कहते हैं।

काले धन के आकलन की विधियाँ (Methods of Estimation of Black Money)

काले धन का अनुमान लगाने के लिए कई दृष्टिकोणों से काम लिया जाता है, जैसे–(*i*) राजकोषीय दृष्टिकोण, (*ii*) मौद्रिक दृष्टिकोण, (*iii*) श्रम बाजार दृष्टिकोण तथा (*iv*) राष्ट्रीय तथा लेखा दृष्टिकोण। सार्वजनिक वित्त एवं नीति के राष्ट्रीय संस्थान ने **वित्तीय दृष्टिकोण** को अपनाया। वित्तीय पद्धति का सूत्र निम्नलिखित है–

$$BI = TTI - TAT$$

यहाँ BI = काला धन (करों की चोरी से उत्पन्न आय)

TTI = कुल कर देय आय तथा

TAT = कुल वास्तविक करारोपित आय।

28.1.2 भारत में काले धन की मात्रा (Magnitude of Black Money in India)

भारत में काले धन की सही मात्रा का अनुमान लगाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि–

(*i*) काला धन और सफेद धन एक-दूसरे से इतने अधिक मिलते जा रहे हैं कि किसी भी समय आसानी से काले धन को सफेद धन में और सफेद धन को काले धन में सरलता से बदला जा सकता है। फलत: इन दोनों मुद्राओं के बीच विभाजन करने वाली रेखा धूमिल होती जा रही है और इसी कारण काली मुद्रा का आकलन कठिन होता जा रहा है।

(*ii*) भारत में काले धन का अनुमान लगाना इसलिए भी कठिन है क्योंकि अधिकांश व्यक्ति स्वरोजगार युक्त हैं जैसे–व्यापारी, दुकानदार, लघु निर्माता आदि। अधिकांश आय अर्जनों की सही आय का अनुमान लगाना कठिन है। ये व्यक्ति आसानी से कर परिहार करने में सफल हो जाते हैं।

उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी भारत में काले धन का अनुमान लगाने के लिए कई अध्ययन किये गये हैं लेकिन विद्वानों ने काले धन की मात्रा का अलग-अलग अनुमान लगाया है। कुछ प्रमुख अनुमान निम्नलिखित हैं–

(1) **निकोलस काल्डोर** के अनुसार–भारत में सर्वप्रथम काले धन का अनुमान प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **निकोलस काल्डोर** ने लगाया जिनके अनुसार सन् 1953-54 में 600 करोड़ रुपये का काला धन होने का अनुमान लगाया गया।

(2) **वान्चू समिति के अनुमान–वान्चू समिति** ने बताया कि 1961-69 तक के लगभग 10 वर्षों में काली मुद्रा 700 करोड़ रुपये से बढ़कर 1,400 करोड़ रुपये हो गई थी। समिति के एक सदस्य **स्व. डी. ले. रंगनेकर** ने अपने असहमति नोट में कहा था कि यह 1965-66 में 2,340 करोड़ से बढ़कर 1967-70 में 3,080 करोड़ रुपये हो गई थी। उसी विधि के अनुसार रंगनेकर द्वारा समानान्तर अर्थव्यवस्था के आकार का अनुमान 1973-74 के लिए 5,909 करोड़ रुपये था 1980-81 के लिए 18,241 करोड़ रुपये किया गया था।

(3) **सार्वजनिक वित्त व नीति पर राष्ट्रीय संस्थान के अनुमान–**भारत सरकार द्वारा काले धन की समस्या का हल निकालने के लिए **सार्वजनिक वित्त व नीति पर राष्ट्रीय संस्थान** को देश के बिना हिसाब के मुद्रा का अनुमान लगाने का कार्य जुलाई 1982 को सौंपा गया जिसने अपना प्रतिवेदन 1986 में प्रस्तुत किया।

नोट

इस संस्थान के अनुमान के अनुसार 1983-84 में जब देश में काली मुद्रा की मात्रा 32,000 करोड़ से 37,000 करोड़ रुपये के बीच थी जो उस वर्ष साधन लागत पर कुल सकल घरेलू उत्पाद की राशि 1,73,420 करोड़ रुपये के 18 प्रतिशत से 21 प्रतिशत के बीच में थी।

(4) **डॉ. चेलैया का अनुमान**–भूतपूर्व योजना आयोग के सदस्य **डॉ. चेलैया** के अनुसार वर्ष 1984-85 में भारत में कुल काले धन की मात्रा 37,000 करोड़ रुपये आंकी गई।

(5) **प्रो. अरुण कुमार के अनुमान**–जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अरुण कुमार ने 1995-96 के लिए काली मुद्रा का अद्यतन अनुमान प्रस्तुत किया है। इस अनुमान के अनुसार, 1980-81 में कुल काली आय 15,777 करोड़ रुपये थी जिसमें से 33.4 प्रतिशत अर्थात् लगभग एक-तिहाई (5,273 करोड़ रुपये) गैर-कानूनी अर्थव्यवस्था का भाग था और 66.6 प्रतिशत अर्थात् दो-तिहाई 10,502 करोड़ रुपये कानूनी अर्थव्यवस्था का भाग था किन्तु 1995-96 में, चालू कीमतों पर काली आय का आकार 3,62, 183 करोड़ रुपये था (सकल देशीय उत्पाद का 4.90 प्रतिशत) जिसमें से 20 प्रतिशत गैर-कानूनी क्रियाओं का योगदान था और 80 प्रतिशत (2,90,607 करोड़ रुपये) कानूनी क्षेत्र का योगदान था। काली आय के इतने बड़े आकार का हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सामाजिक एवं राजनैतिक ढाँचे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जाहिर है कि राजनैतिक प्रणाली का निहित हित इस बात में है कि काली अर्थव्यवस्था निरन्तर बनी रहे और इसके आकार में वृद्धि हो। 1999-2000 में काले धन की मात्रा 6,00,000 करोड़ रुपये आँकी गई है।

28.1.3 काले धन के स्त्रोत (Sources of Black Money)

मुख्य कानूनी तथा गैर-कानूनी स्त्रोत जहाँ काला धन जन्म लेता है, निम्न हैं–

(*i*) वास्तविक जायदाद के लेन-देन, (*ii*) तस्कर व्यापार, (*iii*) निर्माण (Construction), (*iv*) व्यवसाय, (*v*) बड़े पैमाने पर पुनर्निर्माण, (*vi*) फुटकर व्यापार, (*vii*) होटल-रेस्टोरेण्ट, (*viii*) सरकार एवं इसका भ्रष्ट सार्वजनिक प्रशासन, (*ix*) ट्रस्ट तथा धार्मिक संस्थाएँ, (*x*) आयात एवं निर्यात, (*xi*) राजनैतिक दलों के चुनाव तथा चन्दे, (*xii*) फिल्म उद्योग, (*xiii*) ठेके पर कमीशन, (*xiv*) लाइसेन्सों तथा परमिटों की बिक्री तथा (*xv*) थोक व्यापार।

उपर्युक्त स्त्रोतों के अतिरिक्त काले धन को जन्म देने वाले अन्य दूसरे भी स्त्रोत हैं अत: उपर्युक्त सूची पूर्ण नहीं है। **अरुण कुमार** का मत है कि आय तीन मुख्य संघटकों से जनित होती है–

(*i*) सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा (सार्वजनिक कृषि के भाग को निकालकर) इसके योगदान का लगभग 4 प्रतिशत काली आय के रूप में सकल देशीय उत्पाद को 1980-81 में और 6 प्रतिशत 1995-96 में उपलब्ध कराया गया।

(*ii*) संगठित निजी गैर-कृषि क्षेत्र का काली आय में योगदान 1980-81 में इसके उत्पादन का 12 प्रतिशत था जो 1995-96 में और बढ़कर 40 प्रतिशत हो गया।

(*iii*) असंगठित गैर-कृषि क्षेत्र द्वारा अपने उत्पादन का 26 प्रतिशत 1980-81 में काली आय के रूप में सकल देशीय उत्पाद में किया और यह अनुपात बढ़कर 1995-96 में 74 प्रतिशत हो गया।

अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि इस काली आय के **मुख्य मालिक** कौन हैं? **प्रो. अरुण कुमार** ने इन काली आय के मुख्य उत्पादकों का एक मोटा-सा अनुमान 72 लाख परिवारों तक रखा है। काली आय के उत्पादक का ब्यौरा इस प्रकार है–1995-96 में 92 लाख परिवार–54 लाख निजी क्षेत्र में और 38 लाख सार्वजनिक क्षेत्र में काली आय के प्रमुख लाभभोगियों में हैं। इसका अर्थ यह है कि काली आय सर्वोच्च 3 प्रतिशत परिवारों में संकेन्द्रित है। काली आय पर आधारित ठाट-बाट और विलासी उपभोग भारतीय जनसंख्या के सर्वोच्च 3 प्रतिशत तक सीमित है। इसी प्रकार **प्रो. एस. बी. गुप्त** ने अपने अध्ययन में यह पाया कि भारत में काली आय जनसंख्या के सर्वोच्च 10% में संकेन्द्रित है। यह प्रतिशत भारत के समृद्ध और उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।

डॉ. अरुण कुमार के अनुमान को बहुत ही संकीर्ण माना जा सकता है और डॉ. एस.बी. गुप्त के अनुमान को उदार

नोट

कहा जा सकता है। यह सम्भव है कि सत्य कहीं डॉ. गुप्त के सर्वोच्च दशमक (10 प्रतिशत) और डॉ. अरुण कुमार के सर्वोच्च 34 प्रतिशत के बीच हो परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि भारत में भारी काली आय 6% व 8% के बीच छोटे-से वर्ग में सिमटी हुई है, जबकि देश की 26% जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही है।

28.1.4 काले धन के कारण (Causes of Black Money)

1. करारोपण का स्तर ऊँचा हैं।
2. राजनैतिक वित्त
3. अभाव की अर्थ व्यवस्था
4. भ्रष्ठ व्यापारिक तरीके
5. नैतिक पतन
6. मुद्रा स्फीति
7. निर्बल उपाय
8. अन्य कारण

काल धन के लिए कई कारण उत्तरदायी हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

1. **करारोपण का स्तर ऊँचा है** (High Level of Taxation)–भारत में काले धन को उत्पन्न करने वाला एक बहुत बड़ा कारण करारोपण की ऊँची दरें हैं। करारोपण की ऊँची दरें करवंचना तथा उसके परिणाम काले धन को जन्म देते हैं।
2. **राजनैतिक वित्त** (Political Finance)–ऐसा विश्वास किया जाता है कि काला धन भारतीय अर्थव्यवस्था की राजनीति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है। **वान्चू समिति** (1971) ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि राजनैतिक दल और चुनाव प्रणाली ने भारत में काले धन को बढ़ाने में काफी हिस्सा लिया है। **श्री पेन्ड्से** (1983) के अनुसार, 1980 में लोकसभा चुनावों में लगभग 170 करोड़ रुपये की काली मुद्रा खर्च होने का अनुमान है। इसमें विधान सभाओं और स्थानीय संस्थाओं के चुनाव व्यय में काम आने वाले काले धन को भी सम्मिलित किया जाये तो यह कई सौ करोड़ रुपये होगी।
3. **अभाव की अर्थव्यवस्था** (Deficient Economy)–देश की अर्थव्यवस्था में वस्तुओं की कमी है। इन कमियों को दूर करने के लिए वितरण तथा कीमतों पर कण्ट्रोल आवश्यक हो जाता है। कण्ट्रोल का दुरुपयोग होता है तथा चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी एवं कर वंचन की बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। इस प्रक्रिया से काले धन को जन्म मिलता है।
4. **भ्रष्ट व्यापारिक तरीके** (Corrupt Commercial Methods)–गुप्त कमीशन, घूस, पगड़ी इत्यादि देने के लिए काला धन हाथ में रहना आवश्यक रहता है।
5. **नैतिक पतन** (Moral Crisis)–हाल के वर्षों में नैतिक मूल्यों तथा सामाजिक प्रवृत्तियों में भारी गिरावट आयी है। आज के समाज में काला बाजारियों, तस्कर व्यापारियों, भ्रष्ट राजनीतिज्ञों तथा करवंचकों को बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता। **वान्चू समिति** ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि हमारी जनता के नैतिक स्तर में भारी गिरावट करवंचन का एक महत्वपूर्ण कारक है। भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद हमारे जीवन का आवश्यक अंग बन गये हैं।
6. **मुद्रा-स्फीति** (Inflation)–मुद्रा-स्फीति के कारण कई प्रकार से काले धन का सृजन होता है, जैसे–(अ) मुद्रा-स्फीति के कारण बँधी हुई आय या स्थिर आय प्राप्त करने वाले कर्मचारियों की वास्तविक आय में कमी हो जाती है। फलत: वे अपनी आय बढ़ाने के लिए अपनी सत्ता का दुरुपयोग करते हैं अर्थात् घूँस आदि लेते हैं जिससे काले धन का सृजन होता है। (ब) प्रगतिशील आय और सम्पत्ति कर प्रणाली में
7. **निर्बल उपाय** (Weak Measures)–व्यवहार में करवंचन के विरुद्ध अपनाये गये उपाय कमजोर रहे हैं। उदाहरण के लिए, (*i*) 'स्थायी खाता संख्या प्रणाली' को पूरी तरह से नहीं अपनाया गया है। (*ii*) पद्धति पूर्ण सर्वेक्षण के द्वारा करों की चोरी का पता नहीं लगाया जाता। (*iii*) आयकर विभाग में, विगत दो दशकों में प्रशासन के निचले स्तर पर भ्रष्टाचार, नाटकीय रूप से बढ़ गया है। (*iv*) कर कानूनों को प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं किया गया है।

नोट

8. **अन्य कारण** (Other Causes)–सार्वजनिक वित्त एवं नीति के राष्ट्रीय संस्थान की रिपोर्ट के अनुसार "सरकार स्वयं शीशे के मकान में रहती है क्योंकि पिछले दो दशकों में इसके द्वारा व्यय में वृद्धि ने काले धन के सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।" सरकारी व्यय जो 1970-71 में 8,847 करोड़ रुपये था, 1983-84 में बढ़कर 60,748 करोड़ रुपये हो गया। **'संथानम समिति'** ने जो बात 1964 में कही थी, वह आज भी सत्य है बल्कि स्थिति और भी खराब हो गयी है। निर्माण के सब ठेकों, खरीद-बिक्री तथा अन्य नियमित व्यापार में जो सरकार की ओर से किये जाते हैं, एक निश्चित प्रतिशत का भुगतान किया जाता है।

नोट्स मुद्रा-स्फीति के कारण वास्तविक आय और वास्तविक सम्पत्ति पर कर भार बढ़ता है जिससे करवंचन को प्रोत्साहन मिलता है।

28.1.5 काले धन का प्रभाव (Effect of Black Money)

'वान्चू समिति' ने काले धन को अर्थव्यवस्था में लगे घुन का नाम दिया है जिस पर यदि प्रतिबन्ध न लगाया गया तो यह अर्थव्यवस्था को विनाश की ओर ले जाएगा।

प्रो. गुन्नार मिर्डल ने अपनी पुस्तक **'धारा के विरुद्ध'** (Against the Stream) लिखा है कि "काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था पनपती जा रही है। यह समस्त आयोजन को विकृत और राजनीतिक जीवन को विषाक्त कर देती है क्योंकि राजनीतिक पार्टियों और इन पार्टियों में काँग्रेस भी पीछे नहीं है तथा यदाकदा विभिन्न राजनीतिज्ञों को आसानी से उपलब्ध और छिपे साधनों में हिस्सा बँटाने के लिए राजी कर लिया जाता है। मैं समझता हूँ कि भारत में सुखद और सुस्थिर विकास के लिए भ्रष्टाचार और **'नरम राज्य'** के अन्य सब परिणामों के विरुद्ध, कृत-संकल्प और निरन्तर संघर्ष, अनिवार्य और निर्णायक है।"

1. काले धन का प्रभाव राजकोषीय प्रणली पर प्रभाव
2. साधनों के वितरण पर बुरा प्रभाव
3. आय के वितरण पर प्रभाव
4. मौद्रिक नीति के क्रियान्वयन में कठिनाई
5. अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में गलत सुचनाएँ

संक्षेप में, काले धन का अर्थव्यवस्था पर निम्नलिखित दुष्प्रभाव पड़ते हैं–

1. **राजकोषीय प्रणाली पर प्रभाव** (Effect on Fiscal Policy)–कर की चोरी का सबसे बड़ा दुष्प्रभाव यह होता है कि सरकार करों से प्राप्त होने वाली आय के एक बड़े भाग से वंचित हो जाती है फलत: अधिक आगम प्राप्त करने के लिए सरकार मनमानी कर लगाती है और कर की दरों में वृद्धि करती है। इससे करवंचन को प्रोत्साहन मिलता है। यही नहीं, कर आगम के इस वंचन से कुछ दीर्घकालीन परिणाम भी होते हैं जैसे इससे कर प्रणाली की लोच शक्ति कम हो जाती है।
2. **साधनों के वितरण पर बुरा प्रभाव** (Bad Effects on Allocation of Resources)–काले धन से न केवल सरकार को आय की हानि होती है बल्कि इससे अर्थव्यवस्था में साधनों के आबण्टन या वितरण पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके कारण मुद्रा का अपव्यय होने लगता है। काले धन से विलासिता की वस्तुओं के उपभोग में वृद्धि होती है, बड़ी मात्रा में वित्तीय साधनों का उपयोग अनुत्पादक कार्यों में होने लगता है।

नोट

3. **आय के वितरण पर प्रभाव** (Effect on Distribution of Income)–सार्वजनिक वित्त एवं नीति के राष्ट्रीय संस्थान (NIPFP) द्वारा बताया गया है कि "जिन लोगों के पास काले का धन अधिक भाग विद्यमान है, वे उतनी ही अधिक मात्रा में अपनी सही आय को छुपाने का प्रयास करते हैं। प्रगतिशील कर प्रणाली में अधिक आय पर अधिक कर आरोपित होता है इसलिए धनी लोग अधिक मात्रा में करवंचन करके काला धन जमा करने में सफल हो जाते हैं। धनी लोग करवंचन करके इस काली आय का उपयोग गैर-कानूनी व्यवस्थाओं में करते हैं जिससे और अधिक काले धन का सृजन होता है। काले धन से आय का वितरण और अधिक असम्मान हो जाता है।"

   काले धन के कारण ही ईमानदार करदाताओं को बेईमान करदाताओं द्वारा त्यागे गये कर भार को वहन करना पड़ता है परन्तु यह कहना बहुत कठिन होता है कि काले धन के कारण आय के वितरण पर कितनी मात्रा में प्रभाव पड़ता है।

4. **मौद्रिक नीति के क्रियान्वयन में कठिनाई** (Difficulties in Implementation of Monetary Policy)–काली मुद्रा की उपलब्धता के कारण मौद्रिक अधिकारियों को अर्थव्यवस्था में मुद्रा के नियन्त्रण में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हमारी अर्थव्यवस्था में अत्यधिक काला धन विद्यमान होने के कारण मौद्रिक अधिकारियों के लिए गुणात्मक साख-नियन्त्रण के उपायों को लागू करना भी कठिन हो जाता है। जिसके कारण कम उपयोगी कार्यों से अधिक उपयोगी कार्यों तथा विभिन्न उपयोगों में साख का प्रभाव सम्भव नहीं हो पाता। वस्तुतः काला धन मौद्रिक अधिकारियों की मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति को क्रियान्वित करने में अनेक बाधाएँ प्रस्तुत करता है। **आर.एल. चुग** के अनुसार, "काली तरलता वित्त का वैकल्पिक स्त्रोत बनकर मौद्रिक अधिकारियों की साख राशनिंग नीतियों के साथ टकराव उत्पन्न करती है।"

5. **अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में गलत सूचनाएँ** (Wrong Information of Economy)–भारत में काले धन का आकार निरन्तर बढ़ता जा रहा है जिसके कारण इसे समानान्तर अर्थव्यवस्था की संज्ञा दी जाती है। चूंकि यह धन आर्थिक नीति के दायरे में नहीं आता इसलिए इस धन के कारण अर्थव्यवस्था की सही स्थिति की जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। बड़ी मात्रा में काले धन की उपलब्धता के कारण राष्ट्रीय आय के अनुभवों, आय के वितरण, राष्ट्रीय उपभोग, राष्ट्रीय बचत आदि के सम्बन्ध में सही-सही अनुमान लगाना कठिन हो गया है। सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में विनियोग के आँकड़े भी शंका की दृष्टि से देखे जाते हैं। चूँकि आर्थिक नियोजन समष्टिगत निर्देशांकों पर आधारित होते हैं परन्तु इन निर्देशांकों में काले धन पर कोई विचार नहीं किया जाता इसलिए आर्थिक नियोजन अपना महत्व खो बैठता है और आर्थिक निर्णय अर्थहीन हो जाते हैं।

28.1.6 समस्या समाधान के प्रयास (Efforts to Solve the Problem)

देश की सभी सरकारों ने इस समस्या को स्वीकार करके इसके नियन्त्रण के लिए अनेक उपाय किये हैं लेकिन विभिन्न उपायों के बावजूद देश में काली मुद्रा की मात्रा दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है तथा आज इसने काफी विकराल रूप धारण कर लिया है।

1. **विमुद्रीकरण** (Demonetisation)–अधिक मूल्य वाली मुद्रा का भारत में दो बार विमुद्रीकरण किया गया है– पहला 1964 में और दूसरा 1978 में। जनता सरकार ने एक हजार रुपये के नोटों का विमुद्रीकरण किया था लेकिन इससे कोई लाभ नहीं हुआ। विमुद्रीकरण के परिणामस्वरूप केवल 29 करोड़ रुपये मूल्य की मुद्रा चलन से बाहर जा सकी है। यह कुल काले धन का एक बहुत ही छोटा भाग है।

2. **स्वेच्छा प्रकटन योजना** (Voluntary Discloser Plan)–इस योजना का उपयोग काले धन को बाहर निकालने के लिए 1951, 1956, 1965, 1966, 1975 एवं 1997 में किया गया। इसके अन्तर्गत स्वेच्छा से

नोट

घोषित आय पर करों में रियायतें व अन्य कई प्रकार की सजाओं व हर्जानों से मुक्ति देने का वायदा किया था। इस योजना से 1997 में 33,000 करोड़ रुपये की अघोषित राशि प्रकाश में आई है।

3. **विशिष्ट धारक बॉण्ड** (Special Bearer Bond)–सरकार द्वारा तीसरा प्रहार 12 जनवरी, 1981 को किया गया जिसमें कि यह व्यवस्था की थी कि बॉण्डों में 10,000 रुपये जमा कराने पर 10 वर्ष बाद 12,000 रुपये देने का वादा किया था। फरवरी व मार्च, 1981 के महीनों में अर्थात् 1980-81 के वित्तीय वर्ष में इस स्कीम से 200 करोड़ रुपये तथा 1981-82 के लिए 800 करोड़ रुपये प्राप्त करने के लक्ष्य रखे गये थे।

4. **छापे, तलाशियाँ आदि** (Raids, Scarches etc.)–काली मुद्रा को बाहर निकालने के लिए कर अधिकारी समय-समय पर उन लोगों के घरों पर छापे मारते रहते हैं जिनके पास काले धन होने की आशंका रहती है। छापे के बाद बरामद किये गये काले धन का जोरदार प्रचार किया जाता है। जनवरी, 1982 के संशोधित बीस सूत्रीय कार्यक्रम के उन्नीसवें सूत्र में तस्करों, संग्रहकर्ताओं व कर की चोरी करने वालों के खिलाफ सख्ती बरतने का उल्लेख किया गया था लेकिन इन उपायों से आशानुकूल सफलता अर्जित नहीं हो सकी है।

5. **अन्य उपाय** (Other Measures)–सरकार द्वारा काले धन की मात्रा को रोकने के लिए 'इन्दिरा विकास पत्र' निकाला गया है जिसमें कि पैसा लगाने पर पैसा करमुक्त हो जाता है। यह नवम्बर, 1986 से देश के सभी डाकघरों में बेचा जा रहा है।

काले धन को बाहर निकालने के लिए किये गये सरकारी उपायों को संक्षेप में नीचे सारणी द्वारा दर्शाया गया है–

सारणी 1–काले धन को बाहर निकालने के लिए किये गये सरकारी उपाय (करोड़ रुपये में)

उपाय	*वर्ष*	*कुल मामले*	*कुल आय की घोषणा*	*कर वसूली*
आयकर जाँच आयोग	1946-47	अनुपलब्ध	48.0	30.0
स्वैच्छिक प्रकटीकरण योजना	मई से अक्टूबर 1951	20.912	70.2	10.89
विभागीय जाँच	1963-64 से 1966-67	अनुपलब्ध	81.0	31.0
स्वैच्छिक प्रकटीकरण योजना-I	मार्च से मई 1965	2001	52.18	30.8
स्वैच्छिक प्रकटीकरण योजना-II	अगस्त 1965 से मार्च 1966	1,14,226	145	19.45
आयकर अधिनियम (1961) के अनुच्छेद 271(4A) के तहत	1965-68	अनुपलब्ध	22	अनुपलब्ध
आय और सम्पत्ति अधिनियम	अक्टूबर 1975	13,422 (आय)	841.72 (आय)	7.7 (आय)
1976 के तहत स्वैच्छिक प्रकटीकरण		2,45,570 (सम्पत्ति)	746.08 (सम्पत्ति)	249 (सम्पत्ति)
विशेष धारक बांड योजना (1981)	1980	अनुपलब्ध	400	160
वित्त अधिनियम (1985)	1985-86	1,53,990	2,940.37	388.03
स्वैच्छिक जमा (राहत एवं छूट)	1991	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध	984
स्वैच्छिक आय प्रकटीकरण योजना (वीडीआईएस)	1997	4,70,000	33,000	10,100

नोट– (1) 1991 में घोषित चार माफी सम्बन्धी योजनाओं में से तीन भारतीयों के लिए थीं।

नोट

(2) 1998 के 'रिसर्जेण्ट इण्डिया बांड' के द्वारा 400 करोड़ रुपये एकत्रित किये गये। इसे उपर्युक्त सूची में इसलिए शामिल नहीं किया गया है क्योंकि यह एक अल्प अवधि की योजना थी।

टास्क भारत में काले धन की क्या स्थिति है?

28.1.7 समस्या के सुधार के लिए सुझाव (Suggestions for Solution of Problem)

सरकार द्वारा अपनाये गये विभिन्न उपायों के बावजूद काले धन के सृजन में कोई कमी नहीं हुई है। काले धन की समस्या के समाधान में निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं–

1. बेनामी संव्यवहारों को समाप्त करना (Elimination of Benami Transactions)–काली आय और काली सम्पत्ति का पता लगाने के लिए बेनामी संव्यवहारों को समाप्त करना होगा। इसके लिए सभी आर्थिक सूचनाओं की जानकारी और उचित मिलान आवश्यक है। काले धन का इस्तेमाल जमीन व मकान खरीदने के लिए बड़ी मात्रा में किया जाता है। 'एटार्नी की शक्ति' द्वारा जमीन के संव्यवहारों का गैर-कानूनी तरीका निकाल लिया जाता है, सरकार को जमीन की बिक्री से अनावश्यक प्रतिबन्धों को समाप्त कर देना चाहिए और साथ ही जमीन की खुली बिक्री को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में जमीन के खरीदने वाले काले धन का प्रयोग नहीं कर सकेंगे।

2. चुनाव प्रक्रिया में सुधार (Improvement in Election Process)–चुनाव प्रक्रिया में सुधार की आवश्यकता है जिससे कि राजनीति के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त किया जा सके, इसके लिए सरकार द्वारा स्वयं एक चुनाव कोष की स्थापना की जाये जिसमें कि उद्योगपति, व्यापारी वर्ग आदि स्वेच्छा से अंशदान दे सकें तथा उनके द्वारा दी गई राशि करमुक्त कर दी जाये। इस कोष पर चुनाव आयोग का अधिकार हो।

3. कण्ट्रोल तथा लाइसेन्स को न्यूनतम किया जाये (Minimisation of Control and Licence)–कण्ट्रोल तथा काला धन एक दुष्चक्र (Vicious Circle) पैदा करते हैं, कण्ट्रोल से काला बाजार पैदा होता है तथा काला बाजार काला धन करवंचना पैदा करता है। वे सब कण्ट्रोल जो प्रभावहीन, व्यर्थ तथा कष्टप्रद हैं, समाप्त कर दिये जायें अथवा उनको परिवर्तित स्थिति के अनुरूप बदल लिया जाये।

4. कर संरचना का सरलीकरण (Simplification of Tax Structure)–काले धन के विस्तार को नियन्त्रित करने के लिए कर के ढाँचे में सरलीकरण करना भी आवश्यक है। ऊँची दर पर आधारित कर प्रणाली जिसमें कई प्रकार की छूटों और कटौतियों का प्रावधान होता है, उसकी बजाय ऐसी कर प्रणाली अधिक उपयोगी होगी जिसमें सामान्य दर वाले कर हों तथा बहुत रियायतें व कटौतियाँ न हों।

5. अन्य सुझाव (Other Suggestions)–

(*i*) तस्कर व्यापार को रोकने के लिए विशेष गुप्तचरों की व्यवस्था की जाये।

(*ii*) प्रशासनिक व्यवस्था राजनीति से दूर रखी जायें, ताकि भर्ती, पदोन्नति, स्थानान्तरण के लिए निर्देशित नियमों का पालन हो सके।

(*iii*) **कृषि आय** को भी न्यूनतम आय में सम्मिलित किया जाये।

(*iv*) **अत्यधिक व्यय** पर, प्रगतिशील दर से कर लगाया जाये।

(*v*) **तस्करों,** काला बाजारियों तथा करवंचक व्यक्तियों की सही जानकारी देने वाले व्यक्ति को पुरस्कार व उच्च राजकीय सेवाओं में प्राथमिकता देनी चाहिए।

(*vi*) कर प्रणाली में सुधार के लिए यह भी जरूरी है कि कर निर्धारण का कार्य शीघ्र ही निबटाया जाना चाहिए।

नोट

(*vii*) राजनैतिक प्रणाली में प्रशासनिक अधिकारियों के नैतिक स्तर में भी सुधार आवश्यक है। कर नियमों तथा अन्य आर्थिक नियमों को बिना किसी भेद-भाव के सख्ती से लागू करना चाहिए।

विभिन्न समितियों और आयोगों की काले धन की समस्या के समाधान की सिफारिशें (Recommendations of Different Committees and Commission on Solution of Black Money Problem)

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने समय-समय पर विभिन्न समितियों और आयोगों की नियुक्तियाँ कीं, ताकि कर वे कर-प्रणाली में सुधार के लिए अपने सुझाव दे सकें। इनमें से निम्नलिखित समितियों व आयोगों ने काले धन की समस्या के समाधान पर भी सुझाव दिये हैं–

1. कर जाँच आयोग, 1953;
2. प्रो. कालडोर के कर प्रस्ताव;
3. प्रत्यक्ष कर प्रबन्धन जाँच समिति;
4. प्रत्यक्ष कर जाँच समिति (वान्चू समिति) की सिफारिशें।

उपर्युक्त समितियों व आयोगों ने काले धन की समस्या के समाधान के लिए सुझाव दिये हैं।

वान्चू समिति की रिपोर्ट (1971) के एक दशक से अधिक बाद सरकार ने सार्वजनिक वित्त एवं नीति के राष्ट्रीय संस्थान को भारत के काले धन के विभिन्न पहलुओं का विशद् अध्ययन करने का काम सौंपा। संस्थान के अध्ययन दल का नेतृत्व **डॉ. राजा चेलैया** के निर्देशन में **डॉ. शंकर राय आचार्य** ने किया। संस्थान ने अपनी रिपोर्ट **'भारत के काले धन के पहलू'** (Aspects of the Black Money) सरकार को मार्च 1985 में प्रस्तुत किया।

इस संस्थान ने काले धन की समस्या पर प्रभावी नियन्त्रण के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये–

(*i*) काला धन रखने वाले अपनी सम्पत्ति कर अधिकारियों को घोषित कर दें। पिछले वित्तीय वर्ष में इन परिसम्पत्तियों से होने वाली अनुमानित आय पर 50% की दर से कर लगें तथा घोषणा के वर्ष में धन कर लगें।

(*ii*) कम्पनियाँ मान्यता प्राप्त दलों को अपने कर पश्चात् लाभ में से चन्दा दे सकती हैं तथा राजनीतिक दलों को अपने खाते में प्रकाशित करने चाहिए।

(*iii*) लोक सभा तथा विधान सभाओं के चुनावों के लिए सरकार उम्मीदवारों को निश्चित राशि उपलब्ध कराये।

(*iv*) किराया नियन्त्रण नियमों को उदार बनाया जाये लेकिन किरायेदारों के हितों का पूरा ध्यान रखा जाये।

(*v*) कर ढाँचे को सरल बनाया जाये जिसमें कम कर हो।

(*vi*) जहाँ तक सम्भव हो, मूल्य नियन्त्रण हटाया जाये।

(*vii*) वरिष्ठ अधिकारियों में ईमानदारी की भावना बढ़ाने के उद्देश्य से पुरस्कार एवं दण्ड की व्यवस्था शुरू की जाये। अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की जाये।

(*viii*) सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगने वाले स्टाम्प शुल्क को कम करके 5% मूल्यानुसार कर देना चाहिए।

(*ix*) केन्द्र सरकार को कम्पनी लाभ पर कर, व्यक्तिगत आयकर, सम्पत्ति कर, स्टाम्प शुल्क को बहुत कम करना चाहिए। साथ ही मुद्रा स्फीति के प्रभाव को दूर करने के लिए कर योग्य आय पर छूट की सीमा समय-समय पर निर्धारित करनी चाहिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. कर योग्य आय जिस पर कर का भुगतान नहीं किया जाता–

   (क) कर परिहार (ख) करवंचना (ग) काला धन (घ) इनमें से कोई नही।

नोट

2. ड़ॉ चेलैया के अनुसार भारत में कुल काले धन की मात्र हैं–

(क) 37,000 करोड़ रुपये (ख) 49,000 करोड़ रुपये

(ग) 55,000 करोड़ रुपये (घ) इनमें से कोई नही।

3. धार के विरूद्ध पुस्तक के लेखक हैं–

(क) प्रो. गुन्नार मिर्डर (ख) प्रो. वान्चू

(ग) प्रो. अरूण कुमार (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन सही हैं–

(क) काली मुद्रा को दाग लगा धन कहते हैं।

(ख) भारत में काला धन उत्पन्न होने का कारण है करारोपण की ऊँची दर।

(ग) गैर-कानूनी स्रोतों से अर्जित आय शुरू से काला धन कहलाती है।

(घ) कर परिहार से अभिप्राय अपनी आय का पूर्ण या आंशिक रूप से करारोपण हेतू प्रगत न करने से है।

5. भारत में वी. डी. आई . एस. शुरू की गई थी–

(क) 1995 (ख) 1996

(ग) 1997 (घ) 1998

28.2 सारांश (Summary)

- **सार्वजनिक राजस्व एवं नीति के राष्ट्रीय संस्थान** (NIPFP) द्वारा काली मुद्रा के बारे में किए गए अध्ययन में इस शब्द का इस्तेमाल **'काली आय'** के रूप में किया गया है। NIPFP के अनुसार, "आय के उस भाग को जो कर योग्य है लेकिन जिसे कर अधिकारियों की जानकारी में नहीं लाया जाता है, काली मुद्रा कहते हैं।"
- भारत में काले धन का प्रादुर्भाव द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् से शुरू होता है जब ब्रिटिश सरकार द्वारा अनिवार्य वस्तुओं की कमी को दूर करने के लिए **नियन्त्रण** की व्यवस्था शुरू की गई थी। विवरण और नियन्त्रणों की व्यवस्था के कारण भारत में **गुप्त बाजार** का प्रादुर्भाव हुआ।
- जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अरुण कुमार ने 1995-96 के लिए काली मुद्रा का अद्यतन अनुमान प्रस्तुत किया है। इस अनुमान के अनुसार, 1980-81 में कुल काली आय 15,777 करोड़ रुपये थी जिसमें से 33.4 प्रतिशत अर्थात् लगभग एक-तिहाई (5,273 करोड़ रुपये) गैर-कानूनी अर्थव्यवस्था का भाग था और 66.6 प्रतिशत अर्थात् दो-तिहाई 10,502 करोड़ रुपये कानूनी अर्थव्यवस्था का भाग था
- भारत में भारी काली आय 6% व 8% के बीच छोटे-से वर्ग में सिमटी हुई है, जबकि देश की 26% जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही है।
- देश की अर्थव्यवस्था में वस्तुओं की कमी है। इन कमियों को दूर करने के लिए वितरण तथा कीमतों पर कण्ट्रोल आवश्यक हो जाता है। कण्ट्रोल का दुरुपयोग होता है तथा चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी एवं कर वंचन की बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। इस प्रक्रिया से काले धन को जन्म मिलता है।
- गुप्त कमीशन, घूस, पगड़ी इत्यादि देने के लिए काला धन हाथ में रहना आवश्यक रहता है।
- **'वान्चू समिति'** ने काले धन को अर्थव्यवस्था में लगे घुन का नाम दिया है जिस पर यदि प्रतिबन्ध न लगाया गया तो यह अर्थव्यवस्था को विनाश की ओर ले जाएगा।

नोट

- काली मुद्रा की उपलब्धता के कारण मौद्रिक अधिकारियों को अर्थव्यवस्था में मुद्रा के नियन्त्रण में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हमारी अर्थव्यवस्था में अत्यधिक काला धन विद्यमान होने के कारण मौद्रिक अधिकारियों के लिए गुणात्मक साख-नियन्त्रण के उपायों को लागू करना भी कठिन हो जाता है।
- देश की सभी सरकारों ने इस समस्या को स्वीकार करके इसके नियन्त्रण के लिए अनेक उपाय किये हैं लेकिन विभिन्न उपायों के बावजूद देश में काली मुद्रा की मात्रा दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है तथा आज इसने काफी विकराल रूप धारण कर लिया है।

28.3 शब्दकोश (Keywords)

- **लाइसेंस**–अनुज्ञप्ति, अनुमति
- **प्रतिवेदन**–रिर्पोट, प्रार्थना
- **अद्यतन**–आज का, चालू, ताजा

28.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. काले धन की प्रकृति को स्पष्ट कीजिए। भारत में काले धन की मात्रा कितनी है?
2. भारत में काले धन के प्रमुख स्रोत व कारण क्या हैं?
3. भारत में काले धन की समास्या के समाधान के लिए सरकारी प्रयासों की विवेचना कीजिए। इस समस्या को समाप्त करने के लिए सुझाव दीजिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. (ग) 2. (क) 3. (ग) 4. (घ)
5. (ग)

28.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–29: आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में हस्तान्तरण प्रक्रिया और नौकरशाही की भूमिका (Role of Bureaucracy and Delivery Mechanism in Implementation of Economic Policies)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

29.1 आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में हस्तान्तरण प्रक्रिया और नौकरशाही की भूमिका (Role of Bureaucracy and Delivery Mechanism in Implementation of Economic Policies)

29.2 सारांश (Summary)

29.3 शब्दकोश (Keywords)

29.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

29.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में हस्तान्तरण प्रक्रिया और नौकरशाही की भूमिका की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सरकार नौकरशाही के माध्यम से कार्य करती है, इसलिए विकास के लिए काफी हद तक नौकरशाही पर निर्भर करती है। नीति निर्माण व क्रियान्वयन दोनों में नौकरशाही एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। नीति-निर्माण व क्रियान्वयन दोनों ही नौकरशाही का काम है। अत: इस वजह से उन्हें कई अधिकार भी मिल जाते हैं। हालांकि नौकरशाही जनसेवक के रूप में कार्य करती है परंतु वह शासक की तरह भी बर्ताव कर सकती है तथा अपने अधिकारों का दोषपूर्ण इस्तेमाल कर सकती है। नीतियों के कार्यान्वयन के लिए नौकरशाही को कई महत्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ भी वहन करनी पड़ती हैं। जिससे परियोजना की योजना बनाना, योजना और बजट तैयार करना तथा कार्यक्रमों का निष्पादन आदि प्रमुख हैं।

29.1 आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में हस्तान्तरण प्रक्रिया और नौकरशाही की भूमिका (Role of Bureaucracy and Delivery Mechanism in Implementation of Economic Policies)

सरकार नौकरशाही के माध्यम से कार्य करती है, इसीलिए विकास के लिए काफी हद तक नौकरशाही पर ही निर्भर करती है। विकास कई तरह का हो सकता है–आर्थिक भी और सामाजिक भी। किसी भी देश की उन्नति को मापने का पहला सूत्र उसकी आर्थिक प्रगति है। अगर कोई देश आर्थिक रूप से समृद्ध है, उसने अपने विकास के संसाधनों

नोट

का समुचित इस्तेमाल किया है, तो कहा जाता है कि यह एक विकसित देश है अन्यथा विकासशील या अविकसित। देश की आर्थिक प्रगति में नौकरशाही की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। यह भूमिका है आर्थिक विकास के अभिकरण के रूप में कार्य करने की भूमिका। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ राज्यों को कुछ ऐसे कार्य भी करने पड़ते हैं, जिनसे जनता के पिछड़े वर्गों का कल्याण हो। ये कार्य हैं–रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना, बच्चों, अपंगों व विधवाओं के लिए कल्याण योजनाएँ बनाना आदि। इन कार्यों का महत्व इतना है कि इन्होंने राज्य का नाम कल्याणकारी राज्य रख दिया है अर्थात् कल्याणकारी कार्य करने वाला राज्य। ये कल्याणकारी राज्य योजनाएँ नौकरशाही द्वारा ही तैयार व क्रियान्वित की जाती हैं। इस प्रकार नौकरशाही एक कल्याणकारी सेवक के रूप में भी कार्य करती है। भारतीय समाज में छुआछूत, बाल-विवाह, दहेजप्रथा जैसी अनेक कुरीतियाँ व्याप्त हैं, जिनमें बदलाव या सुधार की आवश्यकता है। पहले सामाजिक बदलाव व सुधार का कार्य विवेकानन्द, गुरु नानक, गौतम बुद्ध जैसे महापुरुष करते थे, अब इसकी जिम्मेदारी सरकार पर आ पड़ी है। सामाजिक कुरीतियों को दूर करके, समाज में बदलाव व सुधार का कार्यक्रम नौकरशाही द्वारा ही क्रियान्वित होता है। इस प्रकार नौकरशाही समाज-सुधारक के रूप में भी कार्य करती है। अक्सर यह देखा गया है कि नए निर्मित राष्ट्रों के भावनात्मक संबंध बहुत कमज़ोर होते हैं। कमज़ोर भावनात्मक संबंधों के कारण इनके विभाजन का खतरा बना रहता हैं जैसे–आजादी के साथ पाकिस्तान से विभाजन या कुछ वर्षों बाद बांग्लादेश का बनना। प्रचार माध्यम व अन्य उपायों से राष्ट्र को मज़बूत करने का प्रयास किया जाता है। यह सब नौकरशाही के प्रयासों से ही संभव है। नौकरशाही राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने और उसके विकास में सहायता प्रदान करती है।

नीति निर्माण व क्रियान्वन दोनों में नौकरशाही एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। विकासशील देशों में यह भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण से जाती है, किसी भी समाज में विभिन्न श्रेणी के लोग होते हैं–जैसे व्यापारी, श्रमिक, कर्मचारी इत्यादि। उनकी आवश्यकताओं अलग-अलग उनके हितों में टकराव की संभावना बनी रहती है। जनता व सरकार के हितों की पूर्ति तभी संभव है, जब उनमें विचारों का आदान-प्रदान (संचार) हो। यह संचार केवल नौकरशाही द्वारा ही संभव है। जनता अपनी समस्याएं लेकर नौकरशाही (संबंधित अधिकारी) के पास जाती है तथा वे समस्या को अपने उच्च अधिकारी तक तथा बदले में उनके संदेश जनता तक पहुँचा देते हैं। अधिकारी जनता की आवश्यकताओं के आधार पर ही नीतियाँ बनाते हैं। सरल शब्दों में, नीति-निर्माण के लिए संचार के माध्यम का कार्य नौकरशाही ही करती है। नीति-निर्माण एक जटिल व दुष्कर कार्य है। इसके लिए काफी तैयारी करनी पड़ती है तथा काफी सूचनाएं भी इकट्ठी करनी पड़ती हैं। यह सूचनाएं पुरानी नीतियों की असफलताओं के बारे में भी हो सकती हैं तथा नई आवश्यकताओं के बारे में भी।

सूचनाओं से नीति-निर्माण में सहायता मिलती है। नौकरशाही अपने कार्यानुभव व दस्तावेजों के आधार पर सूचनाओं का भंडार है। इसीलिए नौकरशाही की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अधिकतर मंत्री अपने कार्यक्षेत्र से अनजान होते हैं। उन्हें अपने मंत्रालय के कार्यों की जटिलता व नई तकनीकों के बारे में जानकारी नहीं रहती। यह जानकारी व सलाह उन्हें नौकरशाही के माध्यम से ही उपलब्ध होती है। इस तरह नौकरशाही नीति-निर्माण के साथ-साथ तकनीकी सलाहकार के रूप में भी कार्य करती है। समाज की रचना पूँजीपतियों व क्षमिकों आदि घटकों को मिलाकर हुई है। एक अच्छी सरकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसी नीतियों का निर्माण करे जिससे समाज के हर वर्ग का हित हो। इसलिए नीति-निर्माण के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो निष्पक्ष, तटस्थ तथा अपने विषय के विशेषज्ञ हों। राजनीतिज्ञ चुनावों के साथ आते हैं और चले जाते हैं व उन्हें क्षेत्र के वर्ग-विशेष का समर्थन हासिल होता है, परंतु नौकरशाही के साथ ऐसा नहीं होता, इसीलिए उनके ज्यादा तटस्थ व निष्पक्ष रहने की संभावना होती है। वे अपने विषय के कुशल जानकार भी होते हैं। कुल मिलाकर वे एक सरकार के एक महत्त्वपूर्ण सलाहकार के रूप में भी कार्य करते हैं।

नौकरशाही का प्रमुख व प्रत्यक्ष कार्य नीतियों का कार्यान्वयन् है। नीतियों के कार्यान्वयन के लिए नौकरशाही को कई महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियां वहन करनी पड़ती हैं। नीति मूलत: एक विचारधारा है, जिसके कार्यान्वयन के लिए परियोजनाओं व कार्यक्रमों में बदलना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, नीति के एक हिस्से को जो कार्यान्वयन के लिए चुना जाता है, परियोजना कहलाता है और परियोजना का एक हिस्सा जो कार्यान्वयन के लिए चुन लिया जाता है, कार्यक्रम कहलाता

नोट

है। नीति से कार्यक्रम तक के बँटवारे और उनके कार्यान्वयन जिम्मेदारी नौकरशाही पर ही होती है। परियोजना की योजना का अर्थ है किसी एक कार्यक्रम को लागू करने संबंधी योजना बनाना, जैसे–किसी क्षेत्र विशेष में परिवार-नियोजन कार्यक्रम। परियोजना की योजना का पहला कदम होता है कार्यक्रम संबंधी सूचना और आंकड़े इकट्ठे करना। दूसरा कदम है कार्यक्रम की व्यवहारिकता का अध्ययन करना अर्थात् लागत-लाभ आदि का आकलन करना। तीसरा कदम है–आकलन के आधार पर एक प्रस्ताव तैयार करना और उसे अनुमोदन के लिए संबंधित एजेंसियों में भेजना। भारतीय अर्थव्यवस्था की दो विशेषताएं हैं–पहली, भारतीय अर्थव्यवस्था कई क्षेत्रों में बंटी हुई है; जैसे–कृषि, उद्योग, रेल इत्यादि। दूसरी, भारतीय अर्थव्यवस्था पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर कार्य करती है। बजट का अनुमान भी योजनाओं के आधार पर लगाया जाता है। इसमें यह निश्चित करना होता है कि किस क्षेत्र के लिए कितने संसाधनों की आवश्यकता होगी। कुछ योजनाएं काफी बड़ी होती हैं। उन्हें पूरा करने में वर्षों लग जाते हैं, इसलिए इन योजनाओं को संसाधनों के बँटवारे के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में बाँट दिया जाता है। क्षेत्र व बजट के आधार पर योजनाएं तैयार करने के लिए बहुत अधिक दक्षता व अनुभव की आवश्यकात होती है, इसीलिए नौकरशाही की जिम्मेदारी काफी बढ़ जाती है। कार्यक्रमों का निष्पादन नौकरशाही की एक प्रमुख जिम्मेदारी है। निष्पादन का अर्थ है–कार्यों को पूरा करना। प्राय: सरकारी कार्यों का निष्पादन चरणबद्ध तरीके से होता है अत: कार्यों को पूरा करने के लिए विभिन्न विभागों के कर्मचारियों को समन्वित होकर कार्य करना पड़ता है। ऐसे समन्वयन और निश्चित समय सीमा में कार्यक्रमों के चरणबद्ध तरीके से निष्पादन हेतु एक निश्चित अंतराल पर किए गए कार्य की विस्तृत रिपोर्ट की आवश्यकता होती है। रिपोर्टों की जांच के आधार पर उच्च अधिकारी कार्यक्रमों के निष्पादन पर नियंत्रण रख सकते हैं।

29.1.1 भारतीय नौकरशाही की औपनिवेशिक विरासत (Colonial Heritage of Indian Bureaucracy)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय नौकरशाही की शक्ति और प्रतिष्ठा बनी हुई है। यह विकसित देशों की तुलना में कहीं अधिक है। ब्रिटिश शासन के दौरान राजकाज भारत में स्थित अधिकारियों के हाथ में होता था। वे ही नीति बनाने और लागू करने का काम करते थे। इंग्लैण्ड में उन पर नाममात्र का नियंत्रण रखा जाता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में लोकतांत्रिक सरकार है। इसमें जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल करते हैं। नौकरशाही इन राजनीतिक प्रतिनिधियों के नियंत्रण में कार्य करती है। नौकरशाही ब्रिटिश शासन जितनी तो नहीं, फिर भी काफी शक्तिशाली है। इसका मुख्य कारण यह भी रहा कि ब्रिटिश शासकों ने जनता को जागरूक नहीं बनने दिया और न ही संगठित होने दिया। दूसरी तरफ शक्ति का केन्द्रीकरण नौकरशाहों के हाथ में रहा, जिस कारण वे आज भी राजनीतिक दलों के मुकाबले अधिक विकसित व संगठित हैं। नौकरशाही को ब्रिटिश काल से ही काफी प्रतिष्ठा मिली हुई थी। व्यवहारिक तौर पर ही असली शासक थे। आज भी अच्छी शैक्षणिक योग्यता वाले युवक प्रशासनिक सेवाओं में आने के लिए जी-जान लगा देते हैं। भारत में सरकार को अच्छी-बुरी या आपात् स्थितियों से निपटने के लिए नौकरशाही पर ही निर्भर करना पड़ता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मंत्री लोग छोटी अवधि के लिए होते हैं तथा उनमें जानकारी का भी अभाव रहता है, इस वजह से जानकारी और नियंत्रण के लिए वे नौकरशाही का इस्तेमाल करते हैं, जिससे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती है।

क्या आप जानते हैं अफसरशाही की शक्ति बहुत हद तक औपनिवेशिक युग की देन है।

भर्ती वह प्रक्रिया है, जिसके जरिए लोग नौकरशाही में सम्मिलित किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, भर्ती के जरिए ही यह निर्णय लिया जाता है कि नौकरी के लिए आवेदक की योग्यता (आयु, शिक्षा) आदि क्या होगी व किसे चुना जाएगा और किसे छोड़ा जाएगा। भर्ती के समय नौकरी के प्रकृति का भी विशेष ध्यान रखा जाता था। अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय लोक सेवा के सदस्यों का चुनाव प्रतियोगी परीक्षा के जरिए होता था। भर्ती केवल विश्वविद्यालय से स्नातक

नोट

स्तर की शिक्षा प्राप्त लोगों की होती थी। तकनीकी या व्यावसायिक शिक्षा को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। भर्ती हो चुके लोग सचिव के रूप में कार्य करते थे। उनका प्रमुख कार्य था नीति-निर्माण आदि के क्षेत्र में सरकार को सलाह देना। भारत में आज भी अंग्रेजी शासन काल वाली नीति चली आ रही है। भारत में सामान्यत: केवल युवाओं की भर्ती की जाती है, जिनके पास शैक्षणिक योग्यता तो होती है, परंतु अनुभव नहीं होता। न्यूनतम व अधिकतम आयु सीमा भी रहती है; योग्यता व आयु-सीमा के चलते पार्श्व प्रवेश भी नहीं हो पाता। वे नियम सार्वजनिक क्षेत्र की उन्नति की राह में बाधक भी हैं। प्रोन्नति का अर्थ है काम या पद में तरक्की। सरल शब्दों में एक स्तर ऊँचा पद पाना 'प्रोन्नति' कहलाता है। प्रोन्नति कर्मचारी व संगठन दोनों के लिए लाभदायक स्थिति है। कर्मचारी को इससे प्रतिष्ठा व वेतन में वृद्धि मिलती है। संगठन को इससे यह लाभ मिलता है कि कर्मचारी प्रोन्नति की आशा में सच्चा काम करने की कोशिश करते हैं। अंग्रेजों ने नौकरशाही को कई श्रेणियों में बाँटा हुआ था तथा प्रोन्नति के लिए भी उनकी एक स्तर प्रणाली थी। भारत में आज भी अंग्रेजों द्वारा लागू प्रोन्नति की नीति को मान्यता प्राप्त है, इस नीति का एक नकारात्मक पहलू भी है—वह यह कि नीति काफी कठोर है तथा प्रोन्नति क्रमबद्ध तरीके से होती है। यह क्रमबद्धता और कठोरता कर्मचारियों को बेहतर काम करने से रोकती है, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें शीघ्रतर प्रोन्नति नहीं मिलेगी।

नौकरशाही के कुछ रीति-रिवाज ऐसे थे, जिनका विकास औपनिवेशिक राज के दौरान संगठनिक परिवेश के कारण हुआ।

अंग्रेजी शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू था सत्ता का केन्द्रीकरण। सम्पूर्ण भारती की सत्ता गवर्नर जनरल के हाथों में केन्द्रित थी। उसके नीचे सचिव कार्य करते थे। उनके एकात्मक रूप को सचिवालय कहा जाता था। सचिवालय सम्पूर्ण शासन की धुरी था। पूरे भारत का शासन इसी सचिवालय के माध्यम से चलता था। नई नीतियाँ बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने तथा नियंत्रित करने का काम गवर्नर जनरल द्वारा इसी सचिवालय के माध्यम से चलाया जाता था। प्रत्येक काम के लिए गर्वनर जनरल की अनुमति आवश्यक होती थी, जो सचिवालय के माध्यम से ही प्राप्त होती थी। इस प्रकार के वातावरण में लोक सेवकों में अपने वरिष्ठ अधिकारियों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बन गयी थी। यह मनोवृत्ति कुछ हद तक स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक बनी रही। इस मनोवृत्ति का एक नकारात्मक पहलू यह रहा कि इससे शक्ति का केन्द्रीकरण हो गया और सेवा-भावना पनप नहीं पाई। नौकरशाही में स्थानांतरण का उपयोग सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए किया जाता था। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी शासनकाल में नौकरशाही के पास बहुत ताकत थी। वे अपनी ताकत का इस्तेमाल करके सत्ता का दुरुपयोग कर सकते थे। स्थानांतरण की वजह से इस पर रोक लगाई जा सकती थी। साथ ही नौकरशाही बाहरी ताकतों से अच्छे या बुरे संबंधों पर भी अंकुश लगाया जा सकता था। स्थानांतरण प्रणाली दो तरीके से काम करती थी—नियमित और अनियमित। नियमित स्थानांतरण प्रणाली में लोकसेवकों का हर तीन साल बाद स्थानांतरण होता था। इसका नकारात्मक पहलू यह था कि विकास कार्यक्रमों के लिए जनता की सहभागिता की आवश्यकता होती थी और लोक-सेवकों को सहभागिता के लिए जनसंपर्क करने के लिए पर्याप्त समय व अवसर नहीं मिलता था। साथ ही हर स्थानांतरण के साथ अफसरशाही को एक नई जिंदगी की शुरूआत करनी होती है। जिससे उनके कार्य व पारिवारिक जीवन में बाधा पहुँचती है। वास्तविकता में भारतीय स्थानांतरण प्रणाली ब्रिटिश उपनिवेशवाद की देन है। इस प्रणाली का आज के विकसित देशों में प्रचलन नहीं है, क्योंकि वहां नौकरशाही बेहतर ढंग से नियंत्रित है।

इस प्रकार यह पता चलता है कि सत्ता के केन्द्रीकरण व स्थानांतरण की प्रणाली हमें ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान संगठनिक विरासत के रूप में मिली।

अंग्रेजों ने लगभग दो शताब्दियों तक हम पर शासन किया। इससे भारतीय नौकरशाही पर न केवल ब्रिटिश शासन प्रणाली की छाप पड़ी, बल्कि नौकरशाही पर ब्रिटिश संस्कृति यानि पहनावा, खानपान और बोलचाल का भी काफी प्रभाव पड़ा। इसके कई कारण थे—

(क) उदार शिक्षा—विदेशी शासक नौकरशाही के माध्यम से ही प्रशासन की बागडोर संभालते थे। विदेशी शासकों ने नौकरशाही को इस तरह से ढालना शुरू किया कि वह शासकों के लिए लाभदायक हो। इसके लिए परिश्चमी शिक्षा काफी उपयोगी थी। इस शिक्षा के जरिए नौकरशाहों का रहन-सहन, पहनावा और दृष्टिकोण अंग्रेजों

नोट

के अनुसार हुआ। भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़े हुए लोग लोकसेवाओं के लिए अयोग्य माने जाते थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी प्रशासकों की भर्ती का मुख्य आधार पश्चिमी शिक्षा और प्रतियोगी परीक्षा ही है।

(ख) **पश्चिम पर निर्भरता**–उपनिवेशवाद का प्रभाव यह पड़ा कि हम कई मामलों में पश्चिम पर पूरी तरह निर्भर हो गए। 1947 में हमें राजनीतिक स्वतंत्रता तो मिल गई, परंतु हमारी मानसिकता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। श्रेष्ठ वैज्ञानिक, डॉक्टर और इंजीनियर आदि आज भी पश्चिमी देशों में काम के अवसर ढूँढते हैं। यही बात अन्य मामलों में भी लागू होती है।

(ग) **पूंजीवादी और सामंतवादी दृष्टिकोण का मिश्रण**–अंग्रेजी राज़ के दौरान, अंग्रेजों की यह भरसक कोशिश रहती थी कि पश्चिम की पूँजीवादी संस्कृति को हमारी सामंतवादी संस्कृति पर थोपा जाए। इस प्रयास का नतीजा यह निकला कि भारतीय समाज का पश्चिमी शिक्षा प्राप्त वर्ग और विशेषकर नौकरशाही, पूँजीवाद पश्चिमी संस्कृति और सामंतवादी पूर्वी संस्कृति का मिश्रण बन कर रह गया। यह प्रभाव आज भी देखने को मिल जाता है और यही प्रभाव भारत जैसे विकासशील देश की प्रगति में बाधक है। इसका मुख्य कारण होता है कि विकासशील देशों का मुख्य लक्ष्य होता है आत्मनिर्भरता प्राप्त करना, जबकि विकसित पूँजीवादी देशों का लक्ष्य होता है बड़प्पन और प्रदर्शन। भारत का आर्थिक और सामाजिक वातावरण इस बड़प्पन प्रदर्शन का बोझा उठा पाने में असमर्थ है।

(घ) **नौकरशाही व जन-साधारण के बीच संवाद का अभाव**–पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव तले भारतीय नौकरशाही, जनसाधारण से बात करने में अपनी बेइज्जती समझती रही है। यह स्थिति ब्रिटिशकाल से चली आ रही है और आजादी के बाद भी इसमें कुछ खास परिवर्तन नहीं आया। इस संवाद के अभाव का मुख्य कारण जनता व लोकतंत्र के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश में भिन्नता का होना था।

नोट्स संवाद का अभाव राष्ट्रीय उन्नति व सामाजिक विकास में बाधक है।

29.1.2 भारतीय नौकरशाही की सामाजिक पृष्ठभूमि (Social Background of Indian Bureaucracy)

उच्च नौकरशाही की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने के आधार निम्नलिखित हैं–

पैतृक व्यवसाय उच्च नौकरशाही की पृष्ठभूमि जानने का सबसे सरल और प्रचलित तरीका है। विगत में किए गए सर्वेक्षणों के अनुसार स्वतंत्रता के प्रथम दशक तक प्रशासनिक सेवा में आए 94% भारतीय लोगों के अभिभावक भी इसी वर्ग के थे। आज भी 80% से अधिक प्रार्थनापत्र उच्च मध्यम आय वर्ग के लोगों के होते हैं, जिनके अभिभावक स्वयं प्रशासनिक अधिकारी, डॉक्टर, वकील व अध्यापक होते हैं। जमींदार वर्ग के लोगों का अनुपात इसमें कम ही रहा। 1960 में ऐसे लोगों का प्रतिशत 12 था, जो अब बढ़कर 19% हो गया है। अनुसंधानों से यह भी पता चला है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा में अधिकतर लोग विशेष स्कूलों, कॉलेजों (कान्वेण्ट) के पढ़े-लिखे होते हैं, जिनमें शिक्षा का माध्यम सामान्यत: अंग्रेजी ही होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय जहाँ केवल 16 प्रतिशत लोग ऐसे स्कूल-कॉलेजों में पढ़े थे, 1980 तक आते-आते यह प्रतिशत 60% हो गया।

शिक्षा का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि यूँ तो प्रशासनिक सेवाओं के स्नातक डिग्री की ही आवश्यकता होती है, परंतु सेवा में आए अधिकांश लोक स्नातकोत्तर होते हैं। 1981 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में चुने गए 129 लोगों में 106 स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त लोग थे, जबकि केवल 13 लोक स्नातक थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही प्रशासनिक सेवाओं में शहरी लोगों का बोलबाला रहा है तथा स्थिति में पिछले चार-पाँच दशकों से कुछ खास फर्क नहीं आया है। 1957 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में आए लोगों में 74% लोग शहरी थे और 1981 में 72% लोग थे। अत: कुल मिलाकर सेवाओं में ग्रामीण लोगों के प्रतिशत में वृद्धि तो हुई, परंतु यह वृद्धि नाममात्र की रही। यह एक

नोट

कटु सच है कि निम्न जाति के व्यक्ति गरीब होने की वजह से अपनी संकीर्ण मानसिकता की वजह से अपने बच्चों को उच्च शिक्षा नहीं दिला पाते, इसीलिए प्रशासनिक सेवाओं में उनका प्रतिशत कम ही रहता है। आजादी के दो दशक बाद तक प्रशासनिक सेवाओं में आए लोगों में केवल 11 प्रतिशत लोग अनुसूचित जातियों के थे। बाद में सरकारी नीतियों व प्रोत्साहन के कारण 1981 में यह प्रतिशत बढ़कर 15 हो गया।

हालांकि भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है तथा प्रशासनिक सेवाओं में सभी धर्मों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है, परंतु फिर भी कुछ धर्मों की सदस्य संख्या उनकी जनसंख्या के समानुपात में कम है। 1981 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में 88 प्रतिशत हिन्दू थे, 5 प्रतिशत सिख, 4 प्रतिशत इसाई तथा मुसलमान केवल 1 प्रतिशत, जबकि आबादी में मुसलमानों का प्रतिशत कहीं ज्यादा है। महिलाओं का प्रशासनिक सेवाओं में प्रतिनिधित्व काफी कम है। हालांकि उनका प्रतिनिधित्व हमेशा बढ़ता ही रहा है। 1957 में केवल 3 प्रतिशत महिलाएं प्रशासनिक सेवाओं में थी, जो बाद में सन् 1981 में बढ़कर 12 प्रतिशत हो गई। चूँकि महिलाओं की जनसंख्या भारत की जनसंख्या आधी से थोड़ी ही कम है, तो हम कह सकते हैं कि प्रशासनिक सेवाओं में उनका पुरुषों के मुकाबले अनुपात काफी कम है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा में 70% से अधिक लोग उस जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो कुल जनसंख्या का 10% से भी कम है, इसलिए कहा जा सकता है उच्च नौकरशाही समाज का समग्र रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती। इससे प्रशासन पर अनेक तरह के प्रभाव पड़ते हैं। जैसा कि ज्ञात है अधिकांश प्रशासनिक अधिकारी शहरी मध्यवर्ग के तथा कॉन्वेण्ट स्कूलों के पढ़े होते हैं। अपनी पारिवारिक व शैक्षणिक पृष्ठभूमि के कारण सुसभ्य, शिक्षित व अनुशासित तो होते हैं, परन्तु उनसे जीवन मूल्य जनसाधारण से सर्वथा अलग होते हैं। उनकी सोच, उनकी परिस्थितियाँ व उनका रहन-सहन, जनसाधारण से एकदम अलग होता है। विभिन्न परिवेश होने के कारण उनके व जन साधारण के बीच संवाद का अभाव रहता है।

जैसे विकासशील देशों में नौकरशाही का प्रमुख कार्य है गरीबी की उन्मूलन। यदि नौकरशाही इसके कारणों व परिणामों की समुचित जानकारी नहीं होगी, तो नीति-निर्धारण व कार्यान्वयन भी प्रभावहीन होकर रह जाएगा। प्रभावकारिता अभाव के कारण जनता की सहभागिता भी प्राप्त नहीं होगी। लोकतंत्र का मूलभूत सिद्धान्त है सबको समान अवसर देना। इसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता व मेहनत के अनुसार वांछित तथ्यों की प्राप्ति के लिए समान अवसर मिलना चाहिए, परंतु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि अपनी कमज़ोर सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के कारण अधिकतर लोग सही अवसरों का लाभ नहीं उठा पाते। जनता का विशाल भाग गाँवों में रहता है, जहाँ शिक्षा व संचार की उचित व्यवस्था नहीं है, जिससे उन्हें तरक्की के पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाते। इन कारणों से उन्हें अपनी उपेक्षा व अन्याय की अनुभूति होती है।

यह एक कटु सत्य है कि नौकरशाही हमारे पूरे समाज को प्रतिनिध्यात्मक नहीं बनाती। इसके फलस्वरूप एक वर्ग विशेष के और प्रभावहीन लोग ही सेवाओं में आते रहते हैं। भारत के केवल 36% लोग साक्षर हैं। नौकरी प्राप्त करने के लिए केवल साक्षर होना काफी नहीं है, बल्कि नौकरी करने योग्य उपयुक्त शिक्षा होनी चाहिए। भारत में माध्यमिक व उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों का अनुपात बहुत कम है। स्कूल में दाखिला पानेवाले हर 100 बच्चों में से केवल 23 आठवीं कक्षा तक पहुँच पाते हैं और केवल 4.8% लोग ही उच्च शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं। यदि शिक्षा का उचित प्रसार होगा, तो पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ेगी और नौकरशाही का स्रोत विशाल हो जाएगा। अधिक लोगों की क्षमता का उपयोग हो सकेगा तथा नौकरशाही अधिक प्रतिनिध्यात्मक बनेगी। भारत की कार्मिक प्रणाली अभी भी अविकसित है। इसमें कार्य के बजाए सेवा में भर्ती पर अधिक बल दिया जाता है। इसके दो नुकसान होते हैं–पहला समाज के सामित वर्ग से भर्ती दूसरा विशेष ज्ञान का अभाव। पदीय वर्गीकरण और विशेषज्ञता वाली भर्ती प्रणाली लागू करने से ऐसे कार्मिक मिल सकते हैं, जो अपने कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त हैं तथा इससे नौकरशाही को अधिक प्रतिनिधित्व भी मिलेगा। अभी भारत में लगभग सभी प्रमुख सेवाओं की भर्ती लिखित परीक्षा और उसके बाद साक्षात्कार के आधार पर की जाती है, जो कि उचित नहीं है। अधिक वैज्ञानिक ढंग से तथा कार्य के आधार पर भर्ती के तरीकों का चयन न केवल अधिक उचित व्यक्तियों का ही चयन किया जा सकता है, बल्कि विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि के लोगों को प्रतिनिधि बनाया जा सकता है।

नोट

29.1.3 तटस्थ बनाम प्रतिबद्ध नौकरशाही (Neutral Versus Committed Bureaucracy)

तटस्थता का अर्थ है–निष्पक्षता। विभिन्न प्रणालि के दोषपूर्ण होने, विभिन्न वर्गों के असंगत व अतार्किक होने से नौकरशाही का तटस्थ होना और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है।

भारतीय समाज अनेक वर्गों से मिलकर बना है। यह वर्गीकरण कार्य-व्यवसाय के आधार पर किया जाता है। ये वर्ग हैं–कृषक, व्यवसायी, मजदूर, कर्मचारी इत्यादि। सरकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रत्येक वर्ग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तटस्थता और संतुलन बनाए रखे। चूँकि सरकार नौकरशाही के माध्यम से कार्य करती है, इसीलिए नौकरशाही के लिए तटस्थता का महत्त्व और भी व्यापक हो जाता है। नौकरशाही की तटस्थता अन्य कारणों से भी हो सकती है। एक कारण तो यह है कि नौकरशाही द्वारा विकास लाया जा सकता है। विकास तभी सम्भव है जब समाज के सभी वर्ग मिलकर विकास करें, विशेषकर छोटे व्यापारी किसान या मजदूर वर्ग, क्योंकि राष्ट्रीय उत्पाद में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। विद्युत, कर्ज तथा अन्य सुविधाएं जो नौकरशाही उपलब्ध कराती है, का वितरण निष्पक्ष होना चाहिए। दूसरा पहलू है विभिन्न गुटों के बीच संघर्ष। व्यापारी अपने लाभ के लिए मजदूरों व जमींदार कृषक वर्ग का शोषण करना चाहते हैं, यदि नौकरशाही तटस्थता की नीति वर्गों के बीच के टकराव को रोक सके, तो सर्वांगीण विकास सम्भव है।

हमारा समाज कार्य व्यवसाय के अलावा धर्म, जाति भाषा तथा संस्कृति पर आधारित विभिन्न वर्गों से मिलकर बना है। नौकरशाही से उम्मीद की जाती है वह तटस्थ रहकर विभिन्न गुटों के बीच संतुलन बनाए रखे। सांस्कृतिक गुटों में संघर्ष दूसरे वर्गों की अपेक्षा अधिक और तीव्र होता है। सामाजिक असमानताओं को दूर कर तथा शिक्षा में गुणवत्ता लाकर सांस्कृतिक गुटों के बीच तटस्थता लाई जा सकती है। भारतीय लोकतंत्र में बहुदलीय प्रणाली है, इसलिए उनके बीच प्रतियोगिता अनिवार्य है। दल घोषणापत्र के आधार पर चुनाव लड़ते हैं तथा जीता हुआ दल सरकार बनाता है। सरकार चुनावी घोषणापत्र के आधार पर नीति निर्माण करती है, नीति क्रियान्वयन का काम नौकरशाही का होता है। उनके साथ राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि भी काम करते हैं। ये प्रतिनिधि कार्यकुशलता व अनुभव से रहित होते हैं। इस सब के चलते नौकरशाही की तटस्थता को बनाए रखना एक दुष्कर कार्य हो जाता है। सरकारी प्रतिनिधि नौकरशाही दबाव व टकराव की स्थिति भी बना सकते हैं। लेकिन यदि समाज के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोकतांत्रिक गुट अपना कार्य भली प्रकार करें, तो मंत्री वर्ग व नौकरशाही के बीच तटस्थता लाई जा सकती है।

हर कार्य की अपनी सीमाएं व लाभ हानि होते हैं। यही बात नौकरशाही के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। नौकरशाही की प्रतिकूलता को दूर कर उसमें कार्यकुशलता लाने के लिए नौकरशाही में अपने कार्यों के प्रति प्रतिबद्धता होनी चाहिए। यह प्रतिबद्धता कार्य की जटिल समस्याओं को दूर करने के लिए भी जरूरी है। नैतिक दृष्टि से मूल्य अपने आप में उद्देश्य हैं अत: उनके प्रति प्रतिबद्धता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मूल्य कई प्रकार के होते हैं, मानवीय मूल्य जैसे कि सहानुभूति, ईमानदारी आदि का राष्ट्रीय मूल्य जैसे कि कानून पालन। सरकार के प्रतिनिधिके रूप में नौकरशाही को चाहिए कि वे मानवीय व राष्ट्रीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध रहें।

इसके अलावा नौकरशाही को राष्ट्रीय उद्देश्यों के प्रति भी प्रतिबद्ध होना चाहिए। राष्ट्रीय उद्देश्य संविधान की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं अत: अधिकारी तन्त्र का यह कर्त्तव्य बन जाता है कि उल्लिखित उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता व कर्त्तव्यनिष्ठा का निर्वाह करे। नीति-निर्माण व क्रियान्वयन नौकरशाही का ही काम होता है अत: इस वजह से उन्हें कई अधिकार भी मिल जाते हैं। हालांकि नौकरशाही 'जन सेवक' के रूप में कार्य करती है परंतु वह शासक की तरह भी बर्ताव कर सकती है तथा अपने अधिकारों का दोषपूर्ण इस्तेमाल कर सकती है। अंतत: नौकरशाही से यही उम्मीद की जाती है कि वह अधिकारों का उचित इस्तेमाल कर जनसेवा करेगी। जनसेवा के प्रति प्रतिबद्धता से ही नौकरशाही की भूमिका का उचित निष्पादन हो सकता है। आजकल लोक प्रशासन में विभिन्न कार्यों के विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। इन कार्यों में डॉक्टरी, इंजीनियरिंग इत्यादि शामिल हैं। इनमें दक्षता प्राप्त करने को वृत्ति कहा जाता है। वृत्तिक योग्यता प्राप्त करने के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ता है तथा ऐसी योग्यता प्राप्त लोगों को उच्च प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। चूंकि प्रत्येक वृत्ति से संबंधित कर्त्तव्य के लिए न सिर्फ ज्ञान और कौशल, बल्कि नैतिक समर्पण ज़रूरी है। अत: किसी वृत्ति के प्रति प्रतिबद्धता में उसकी आचार नीति और शिष्टाचार का अनुपालन शामिल है।

नोट

29.1.4 नौकरशाहों और राजनेताओं के बीच सम्बन्ध (Bureaucrats and Politicians and their Relationship)

पहले आम धारणा यह थी कि नीति-निर्धारण का कार्य नेताओं का और नीति क्रियान्वयन का कार्य नौकरशाही का होता है। वस्तुत: नौकरशाही नीति-निर्धारण में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दोनों के संबंधों में समन्वय होने पर ही यह प्रक्रिया पूरी होती है। इनके संबंधों के कारक निम्नलिखित हैं–

(क) **लोगों के साथ सम्पर्क–**लोक नीति का गठन, समूह में कार्यरत लोगों, राजनेताओं और नौकरशाही के बीच अन्त: संबंध के आधार पर होता है। अंत: संबंध की प्रक्रिया में ये तीनों घटक आपस में सम्पर्क रखते हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करना चाहते हैं। राजनेता, लोगों के विशेष वर्ग से जुड़े होते हैं तथा एक सीमा तक उनके हिमायती भी होते हैं। नौकरशाही एक तरह से तटस्थ होती है तथा राजनेता, नौकरशाही को उदासीन व संवेदनहीन समझते हैं। इसका कारण यह होता है कि उच्च नौकरशाही और सामान्य लोगों के बीच प्रतिष्ठा में काफी फर्क रहता है। इस सबके बावजूद कई बार राजनेता और नौकरशाही के सम्पर्क माध्यम एक हो जाते हैं, अत: अनेक भिन्नताओं और अलग-अलग विचारधारा होने के बावजूद उन्हें आपसी सहयोग करना पड़ता है।

(ख) **सूचना की अवस्था–**राजनेताओं और नौकरशाही, दोनों के पास विविध प्रकार की जानकारी रहती है, जिसकी नीति-निर्माण में आवश्यकता होती है। सिविल अधिकारियों के पास लम्बा अनुभव तथा फाइलों के रूप में सारा रिकॉर्ड रहता है। राजनेताओं के पास जनता की मनोस्थिति व आवश्यकताओं की अच्छी जानकारी रहती है। दोनों तरह की सूचनाओं का मूल्यांकन हो जाने के बाद प्रशासनिक अधिकारी नीतिगत प्रस्तावों को नए कार्यक्रमों का बजट संबंधी प्रस्तावों में बदलने का कार्य शुरू कर सकते हैं।

(ग) **तकनीकी अनुचिंतन–**सरकार द्वारा बनाई गई नीतियों व कार्यक्रमों का तकनीकी अनुचिंतन काफी महत्वपूर्ण है, ताकि न्यूनतम लागत पर निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति की जा सके। तकनीकी अनुचिंतन के कई पहलू हैं; जैसे–

1. संबंधित विशेषज्ञों द्वारा जाँच
2. व्यवहार्यता की जाँच
3. आर्थिक विश्लेषण

इस तरह यह पता चलता है कि नीति-निर्माण में सुविज्ञों का योगदान महत्वपूर्ण होता है, अत: प्रभावोत्पादकता व कार्यकुशलता के लिए तकनीकी अनुचिंतन करने हेतु सुविज्ञों की मदद ली जानी चाहिए।

(घ) **समन्वय–**सभी नीतियाँ और कार्यक्रम परिवर्ती सीमा तक परस्पर संबंधित हैं जैसे कृषि या उद्योगों की उन्नति के लिए शिक्षा की उन्नति होना जरूरी है। इस सबके लिए समन्वय की आवश्यकता है। समन्वय सभी स्तरों पर होना चाहिए। समन्वय से संयुक्त प्रयासों को बढ़ावा मिलता है तथा संयुक्त प्रयासों के परिणाम सदैव अच्छे होते हैं।

(ङ) **अनुमोदन–**नीति गठन की अंतिम अवस्था अनुमोदन है। नीतियों व कार्यक्रमों का अनुमोदन प्राय: मंत्रिमंडल द्वारा विधि के रूप में किया जाता है। किसी नीति को विधिक रूप देने का काम नौकरशाही द्वारा होता है। अत: राजनेताओं व नौकरशाही के बीच समन्वय होना भी जरूरी है।

नीति-निर्माण नेताओं का कार्य है और नौकरशाही का क्रियान्वयन परन्तु जनता के प्रतिनिधि के तौर पर नीति के क्रियान्वयन के समय राजनेताओं को नौकरशाही पर नियंत्रण रखना पड़ता है। मंत्री को यह सुनिश्चित करना होता है कि सभी अधिकारी विधि अनुसार कार्य करें तथा नीतियों को प्रभावी तथा कुशल ढंग से कार्यान्वित किया जाए। कार्यान्वयन की प्रक्रिया पर नियंत्रण के लिए निम्नलिखित कार्य आवश्यक हैं–

(क) **नियम बनाना–**नौकरशाही को बहुत अधिक शक्तियाँ व अधिकार देना सही नहीं है, इसलिए यह जरूरी समझा गया कि कुछ ऐसे नियम बनाए जायें, जिससे नौकरशाही पर नियन्त्रण बना रहे तथा उन नियमों की समीक्षा

नोट

विधायिका के सदस्यों द्वारा की जाए।

(ख) पर्यवेक्षण और मूल्यांकन–नीति का कार्यान्वयन सामान्यत: क्षेत्रीय अधिकारियों द्वारा किया जाता है। कार्य का पर्यवेक्षण विभागीय पर्यवेक्षकों द्वारा किया जाता है तथा कार्य का मूल्यांकन कार्य पूरा होने के बाद विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा किया जाता है। कभी-कभी गहन अध्ययन करने के लिए मूल्यांकन का काम विशेष एजेंसियों द्वारा करवाया जाता है। मूल्यांकन नियंत्रक महालेखा परीक्षक द्वारा भी किया जाता है जो न केवल यह देखता है कि कितना खर्च किया गया बल्कि यह भी देखता है कि कार्य मेहनत और ईमानदारी से किया गया या नहीं। पर्यवेक्षण और मूल्यांकन के दौरान राजनेता और नौकरशाही को आपस में सहयोग देना चाहिए तथा नौकरशाही पर सरकार का नियंत्रण रहना चाहिए।

(ग) प्रशासनिक संबंध–प्रशासनिक संबंध का अर्थ है–संगठन का पूर्ण प्रबन्ध नीतियों व कार्यक्रमों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए प्रभावी प्रशासनिक संबंध अपेक्षित है। भारत में इस प्रयोजन के लिए वित्त, योजना, कार्मिक और प्रशासनिक सुधार के विभाग हैं। विकासशील देशों में प्रशासनिक संबंध का कोई खास महत्व नहीं है। आज राजनेताओं व नौकरशाही के बीच नए संबंधों की स्थापना की जरूरत है, जिसमें राजनेता अपनी जिम्मेदारी स्वीकार कर प्रशासनिक सुधार में अपना सहयोग दें।

राजनेताओं व नौकरशाही के संबंधों के बीच की निम्नलिखित समस्याएँ हैं–

(क) हस्तक्षपे का मनोभाव–हस्तक्षेप मनोभाव शब्द का अर्थ *"नौकरशाही के हस्तक्षेप"* के प्रति राजनेताओं की शिकायतों तथा राजनैतिक हस्तक्षेप के प्रति प्रशासकों के प्रति आरोपों से है। राजनेताओं की प्राय: यह शिकायत रहती है कि नौकरशाही प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन संबंधी नीतियों और कार्यक्रमों को बिगाड़ देती है। दूसरी तरफ, प्रशासनिक अधिकारी यह कहते हैं कि मंत्री व नेतागण, व्यक्तिगत हितों के लिए अधिकारियों की नियुक्ति, स्थानांतरण व पदोन्नति के मामले में हस्तक्षेप करते हैं।

(ख) नौकरशाही की शक्तियाँ–नौकरशाही का ताकतवर होना हमारी औपनिवेशिक परम्परा का एक हिस्सा है। इस औपनिवेशिक नौकरशाही की अभिवृत्तियों और व्यवहार का राजनैतिक प्रणाली के लोकतांत्रिक आदर्शों के साथ सामंजस्य नहीं बैठता। नौकरशाही का नियोजन राज्य स्तर पर होता है अत: वह स्थानीय नेताओं के दबाव में नहीं आती तथा टकराव की स्थिति बनी रहती है।

(ग) निष्ठा–नौकरशाही से आशा की जाती है कि वे सहज मानवीय गुणों और राष्ट्रीय उद्देश्यों के प्रति समर्पित तथा निष्ठावान रहें। राजनैतिक दलों के प्रति उन्हें तटस्थ रहना होता है, परंतु कुछ राजनैतिक दल या नेता अपेक्षा करते हैं कि अधिकारी उनके प्रति निष्ठावान बने रहें। इससे अपेक्षा से विनाश की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(घ) साठ-गाँठ–कभी-कभी राजनेता तथा प्रशासनिक अधिकारी दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं तथा अपने-अपने स्वार्थों के लिए एक दूसरे को सहयोग देते हैं। इससे राष्ट्र व जनता का भयंकर नुकसान होता है।

टास्क नीतियों की क्रियान्वयन की प्रक्रिया में राजनेताओं तथा नौकरशाही के बीच क्या संबंध हैं?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए (Choose the correct Option)–

1. किसी भी देश की उन्नति को मापने का पहला सूत्र है–

(क) आर्थिक प्रगति (ख) आर्थिक विकास

(ग) आर्थिक नीति (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

2. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में किस प्रकार की सरकार है–
   (क) जनतांत्रिक (ख) लोकतांत्रिक
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. स्वतंत्रता प्राप्ति के समय सम्पूर्ण भारत की सत्ता किसके हाथों में केन्द्रित थी?
   (क) सचिवालय के (ख) नौकरशाही के
   (ग) गवर्नर जनरल के (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. भारतीय लोकतन्त्र में किस प्रकार की प्रणाली मौजूद है?
   (क) एक दलीय (ख) बहुदलीय
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. तकनीकी अनुचिंतन के पहलू हैं–
   (क) व्यवहार्यता की जाँच (ख) आर्थिक विश्लेषण
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
6. भारतीय प्रशासन की प्रमुख विशेषता है–
   (क) केन्द्रीकरण (ख) प्रौद्योगिकी
   (ग) नियोजन (घ) इनमें से कोई नहीं।

29.2 सारांश (Summary)

- सरकार नौकरशाही के माध्यम से कार्य करती है, इसीलिए विकास के लिए काफी हद तक नौकरशाही पर ही निर्भर करती है। विकास कई तरह का हो सकता है–आर्थिक भी और सामाजिक भी।
- आर्थिक प्रगति के साथ-साथ राज्यों को कुछ ऐसे कार्य भी करने पड़ते हैं, जिनसे जनता के पिछड़े वर्गों का कल्याण हो। ये कार्य हैं–रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना, बच्चों, अपंगों व विधवाओं के लिए कल्याण योजनाएँ बनाना आदि।
- नीति निर्माण व क्रियान्वन दोनों में नौकरशाही एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। विकासशील देशों में यह भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण से जाती है।
- नीति-निर्माण एक जटिल व दुष्कर कार्य है। इसके लिए काफी तैयारी करनी पड़ती है तथा काफी सूचनाएं भी इकट्ठी करनी पड़ती हैं। यह सूचनाएं पुरानी नीतियों की असफलताओं के बारे में भी हो सकती हैं तथा नई आवश्यकताओं के बारे में भी।
- स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय नौकरशाही की शक्ति और प्रतिष्ठा बनी हुई है। यह विकसित देशों की तुलना में कहीं अधिक है। ब्रिटिश शासन के दौरान राजकाज भारत में स्थित अधिकारियों के हाथ में होता था। वे ही नीति बनाने और लागू करने का काम करते थे। इंग्लैण्ड में उन पर नाममात्र का नियंत्रण रखा जाता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में लोकतांत्रिक सरकार है। इसमें जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल करते हैं।
- भारत में सामान्यत: केवल युवाओं की भर्ती की जाती है, जिनके पास शैक्षणिक योग्यता तो होती है, परंतु अनुभव नहीं होता। न्यूनतम व अधिकतम आयु सीमा भी रहती है; योग्यता व आयु-सीमा के चलते पार्श्व प्रवेश भी नहीं हो पाता। वे नियम सार्वजनिक क्षेत्र की उन्नति की राह में बाधक भी हैं।
- नौकरशाही के कुछ रीति-रिवाज ऐसे थे, जिनका विकास औपनिवेशिक राज के दौरान संगठनिक परिवेश के कारण हुआ।

नोट

- अंग्रेजी शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू था सत्ता का केन्द्रीकरण। सम्पूर्ण भारती की सत्ता गवर्नर जनरल के हाथों में केन्द्रित थी। उसके नीचे सचिव कार्य करते थे। उनके एकात्मक रूप को सचिवालय कहा जाता था। सचिवालय सम्पूर्ण शासन की धुरी था। पूरे भारत का शासन इसी सचिवालय के माध्यम से चलता था।
- अंग्रेजों ने लगभग दो शताब्दियों तक हम पर शासन किया। इससे भारतीय नौकरशाही पर न केवल ब्रिटिश शासन प्रणाली की छाप पड़ी, बल्कि नौकरशाही पर ब्रिटिश संस्कृति यानि पहनावा, खानपान और बोलचाल का भी काफी प्रभाव पड़ा।
- पैतृक व्यवसाय उच्च नौकरशाही की पृष्ठभूमि जानने का सबसे सरल और प्रचलित तरीका है। विगत में किए गए सर्वेक्षणों के अनुसार स्वतंत्रता के प्रथम दशक तक प्रशासनिक सेवा में आए 94% भारतीय लोगों के अभिभावक भी इसी वर्ग के थे।
- भारतीय प्रशासनिक सेवा में 70% से अधिक लोग उस जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो कुल जनसंख्या का 10: से भी कम है, इसलिए कहा जा सकता है उच्च नौकरशाही समाज का समग्र रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती। इससे प्रशासन पर अनेक तरह के प्रभाव पड़ते हैं।
- तटस्थता का अर्थ है–निष्पक्षता। विभिन्न प्रणालि के दोषपूर्ण होने, विभिन्न वर्गों के असंगत व अतार्किक होने से नौकरशाही का तटस्थ होना और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है।
- भारतीय समाज अनेक वर्गों से मिलकर बना है। यह वर्गीकरण कार्य-व्यवसाय के आधार पर किया जाता है। ये वर्ग हैं–कृषक, व्यवसायी, मजदूर, कर्मचारी इत्यादि। सरकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रत्येक वर्ग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तटस्थता और संतुलन बनाए रखे। चूँकि सरकार नौकरशाही के माध्यम से कार्य करती है, इसीलिए नौकरशाही के लिए तटस्थता का महत्त्व और भी व्यापक हो जाता है।
- भारतीय लोकतंत्र में बहुदलीय प्रणाली है, इसलिए उनके बीच प्रतियोगिता अनिवार्य है। दल घोषणापत्र के आध ार पर चुनाव लड़ते हैं तथा जीता हुआ दल सरकार बनाता है। सरकार चुनावी घोषणापत्र के आधार पर नीति निर्माण करती है, नीति क्रियान्वयन का काम नौकरशाही का होता है।
- आजकल लोक प्रशासन में विभिन्न कार्यों के विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। इन कार्यों में डॉक्टरी, इंजीनियरिंग इत्यादि शामिल हैं। इनमें दक्षता प्राप्त करने को वृत्ति कहा जाता है। वृत्तिक योग्यता प्राप्त करने के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ता है तथा ऐसी योग्यता प्राप्त लोगों को उच्च प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है।
- पहले आम धारणा यह थी कि नीति-निर्धारण का कार्य नेताओं का और नीति क्रियान्वयन का कार्य नौकरशाही का होता है। वस्तुत: नौकरशाही नीति-निर्धारण में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दोनों के संबंधों में समन्वय होने पर ही यह प्रक्रिया पूरी होती है।
- लोक नीति का गठन, समूह में कार्यरत लोगों, राजनेताओं और नौकरशाही के बीच अन्त: संबंध के आधार पर होता है। अंत: संबंध की प्रक्रिया में ये तीनों घटक आपस में सम्पर्क रखते हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करना चाहते हैं। राजनेता, लोगों के विशेष वर्ग से जुड़े होते हैं तथा एक सीमा तक उनके हिमायती भी होते हैं।

29.3 शब्दकोश (Keywords)

- **नौकरशाही**–अधिकारी तंत्र।
- **अनुमोदन**–सहमति देना।

29.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. विकास के विभिन्न पहलुओं में नौकरशाही का क्या योगदान है? नीति कार्यान्वयन की विभिन्न अवस्थाओं और नौकरशाही की जिम्मेदारी पर चर्चा कीजिए।

नोट

2. भारतीय नौकरशाही की औपनिवेशिक विरासत की विवेचना कीजिए।
3. नौकरशाही की सामाजिक पृष्ठभूमि की व्याख्या कीजिए।
4. नौकरशाही की क्षमता में किस प्रकार वृद्धि की जा सकती है?
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
   (*i*) तटस्थ बनाम प्रतिबद्ध नौकरशाही।
   (*ii*) नौकरशाहों और राजनेताओं के बीच संबंध

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. (क) 2. (ख) 3. (ग) 4. (ख)
5. (ग) 6. (क)

29.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।
3. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नोट

इकाई–30: आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन : पंचायत और दबाव समूह की भूमिका (Implementation of Economic Policies : Role of Panchayat and Pressure Groups)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

30.1 आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में पंचायत एवं दबाव समूह की भूमिका (Role of Panchayat and Pressure Groups in Implementation of Economic Policies)

30.2 सारांश (Summary)

30.3 शब्दकोश (Keywords)

30.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

30.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में पंचायत एवं दबाव समूह की भूमिका की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

दबाव समूह लोकतांत्रिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे लोगों की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। दबाव समूह राजनीतिक दलों से भिन्न होते हैं, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करवाना होता हैं। इसके लिए वे सरकार को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। दबाव समूह उन विभिन्न वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें कोई समाज बँटा होता है। इसमें कई समूह आते हैं, जैसे–कृषक, श्रमिक, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी व्यावसायिक व्यक्ति तथा छात्र आदि। यह उल्लेख मिलता है कि वैदिक काल में राज्य तात्विक रूप में देशीय राज्य था-जिसके अंतर्गत ग्राम प्रशासन की मूल इकाई था ग्राम का एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी ''ग्रामिनि'' कहलाता था। वह एक प्रतिष्ठित अधिकारी होता था। वह राजन के राज्याभिषेक में भी निर्वाय भूमिका निभाता था। वैदिक साहित्य में सभा तथा ग्रामीण समिति के भी प्रसंग मिलते हैं। इनमें पगमुख रूप से कृषि से सम्बन्धित समस्यओं पर विचार-विमर्श हुआा करता था। इनमें राजा भी भाग लिया करता था। रामायण महाभरत जैसे महाकाव्यों में हमें ग्राम पंचायतों के सुस्प ..... प्रसंग मिलते है। इनके अन्तर्गत उपग्राम के वृद्धों की सभा, ग्राम के वृद्धों की सभा तथा ग्राम के मुखिया के प्रसंग हैं। ग्राम का मुखिया राजकीय कर एकत्रित करने, ग्राम के अभिलेख रखने, झगड़ों काा निपटारा करने तथा अपराधों को नियंत्रित करने के लिये जिम्मेदार था। वृद्धों का परि.... ग्राम मुखिया पर नियंत्रण रखती थी। यह तथ्य अभी ज्ञात नहीं है कि ग्रामिणी का

नोट

पद निर्वाचन के माध्यम से। परन्तु उत्तर-महाभारत काल में मुखिया के राजा द्वारा मनोनीत किय जाता था तथा वह अपने से ऊपर ..... अधिकारी, जे गेप कहलाता था, के प्रति उत्तरदायी होता था। एक गोप के अधीक्षण में पांच से पच्चीस तक ग्राम होते थो।

30.1 आर्थिक नीतियों के कार्यान्वयन में पंचायत एवं दबाव समूह की भूमिक (Role of Panchayat and Pressure Groups in Implementation of Economic Policies)

समान हितों वाले लोगों का संगठन या संघ दबाव समूह कहलाता है। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों को अधिक से अधिक लाभ और सुविधाएँ प्राप्त करवाना होता है। दबाव समूहों का प्रयास होता है कि वे अपने पक्ष में कानून बनवाएँ। इसके लिए विधायिका, कार्यपालिका आदि पर दबाव डालते हैं। डेविड बी. ट्रू मैन ने हित समूहों के बारे में कहा है, "वे ऐसे समूह होते हैं जिनके सदस्यों का साझा दृष्टिकोण होता है तथा वे समाज के अन्य समूहों से कुछ दावे करते है।" लोकतांत्रिक समाजों में इसकी विशेष भूमिका है। हरमन फाईनर ने इस संदर्भ में कहा है कि जहाँ पर दबाव समूहों का अधिक प्रभाव होगा वहाँ पर राजनीतिक दल कम शक्तिशाली होंगे तथा जहाँ राजनीतिक दल सशक्त होगें वहाँ दबाव गुट कमजोर रहेंगे। अमेरिका में दबाव गुट काफी शक्तिशाली हैं क्योंकि संविधान की कठोर प्रकृति शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त तथा लोगों की शिकायतों का सरकार तक पहुँच पाना आदि इसके प्रमुख कारण हैं। इग्लैंड में दबाव समूहों का जुड़ाव राजनीतिक दलों से होता है। भारत में भी दबाव समूहों द्वारा कार्यपालिका पर दबाव डालकर सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने की कोशिश की जाती है।

यह उल्लेख मिलता है कि वैदिक काल में राज्य तात्विक रूप में देशीय राज्य था–जिसके अन्तर्गत ग्राम प्रशासन की मूल इकाई था ग्राम का एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी "ग्रामिनि" कहलाता था। वह एक प्रतिष्ठित अधिकारी होता था। वह राजन के राज्याभिषेक में भी निर्वाय भूमिका निभाता था। वैदिक साहित्य में सभा तथा ग्रामीण समिति के भी प्रसंग मिलते हैं। इनमें प्रमुख रूप से कृषि से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार-विमर्श हुआ करता था। इनमें राजा भी भाग लिया करता था। रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों में हमें ग्राम पंचायतों के सुस्पष्ट प्रसंग मिलते हैं। इनके अन्तर्गत उपग्राम के वृद्धों की सभा, ग्राम के वृद्धों की सभा तथा ग्राम के मुखिया के प्रसंग हैं। ग्राम का मुखिया राजकीय कर एकत्रित करने, ग्राम के अभिलेख रखने, झगड़ों का निपटारा करने तथा अपराधों को नियंत्रित करने के लिये जिम्मेदार था। वृद्धों की परिषद ग्राम मुखिया पर नियंत्रण रखती थी। यह तथ्य अभी ज्ञात नहीं है कि ग्रामिणी का पद निर्वाचन के माध्यम से भरा जाता था तथा वह अपने से ऊपर वाले अधिकारी, जो गोप कहलाता था, के प्रति उत्तरदायी होता था। एक गोप के अधीक्षण में पांच से पच्चीस तक ग्राम होते थे।

नोट्स

सभी देशों में दबाव समूहों की क्रियाविधि और प्रभाव एक-सा नहीं होता। उस पर देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का असर होता है।

दबाव समूहों की भूमिका

व्यक्तिगत गतिविधियों की तुलना में सामूहिक गतिविधियाँ सदैव अधिक प्रभावी होती हैं। अत: लोकतांत्रिक समाज में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे ऐसा समाज के किसी न किसी वर्ग के सामान्य हितों को अभिव्यक्त और उन्हें प्रोत्साहित करके सरकार को प्रभावित करने के द्वारा करते हैं। किसी भी दबाव समूह की उपयोगिता का मापदंड यही होता है कि वह सरकार को कितना प्रभावित कर सकता है। सरकार को प्रभावित करने का अर्थ है सार्वजनिक नीति के निर्धारकों को, विधायकों को तथा नीतियों और निर्णयों को लागू करने वालों को प्रभावित करना आदि। दबाव समूहों की भूमिका, राजनीति से निकटता से संबंधित है परन्तु, यहाँ हमारी यह धारणा है कि शक्ति, किसी भी राजनीति

नोट

का ऐसा अनिवार्य तत्त्व होता है जिसका अर्थ है प्रभाव का अध्ययन। इस संदर्भ में हैरल्ड डी. लासवेल ने राजनीति से संबंधित अपनी आरंभिक कृति में लिखा था कि–

"Who gets what, when, how?" और उत्तर में लिखा था कि "राजनीति का अध्ययन, प्रभावों और प्रभावित करने वालों का अध्ययन है।" यदि इस परिभाषा को ध्यान में रखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि लोकतांत्रिक देशों में दबाव समूह, राजनीति के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम होते हैं क्योंकि प्रत्येक दबाव समूह का मूलभूत उद्देश्य किसी विशिष्ट सार्वजनिक नीति से संबंधित मुद्दे अथवा समस्या पर सरकार को प्रभावित करना होता है। दबाव समूह चुनावों में भाग नहीं लेते हैं अर्थात् उनके सदस्य चुनाव नहीं लड़ते हैं। दबाव समूहों के प्राय: उनके कोई राजनीतिक कार्यक्रम भी नहीं होते हैं। दबाव समूह तो किसी सार्वजनिक मुद्दे पर, जिसमें उनके हित निहित होते हैं, सरकार को अनौपचारिक रूप से प्रभावित करने के प्रयत्न करते हैं।

सभी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सामान्यत: संघ बनाने की स्वतन्त्रता होती है। यह इसलिए आवश्यक होती है ताकि सामूहिक कार्रवाई के द्वारा लोगों के सामान्य हितों की पहचान की जा सके तथा उन हितों की अभिवृद्धि करवाई जा सके। यह दबाव समूहों की स्थापना का मूल कारण होता है। अत: हित निर्धारण और हित अभिव्यक्ति में दबाव समूह अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

दबाव समूह, जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ की भूमिका भी निभाते हैं। वे व्यक्ति के हितों और राष्ट्र के हितों में संतुलन स्थापित करते हैं। सामान्यतया व्यक्तियों के हित संगठित नहीं होते हैं। दबाव समूह, लोगों के हितों को सुनिश्चित आकार देने में योगदान करते हैं। अत: उन हितों का संगठन और उनकी अभिव्यक्ति का कार्य दबाव समूह करते हैं। लोगों की कठिनाइयों और शिकायतों को यह सरकार तक पहुँचाते हैं। लोगों की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप भी हितों का निर्धारण होता है। कुछ ऐसे विषय जिन पर लोगों की तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त हो सकती है उनमें शामिल हैं: गैट (GATT), परमाणु परीक्षण, आरक्षण नीति, पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दे, मूल्य वृद्धि, क्षेत्री असंतुलन, ग्राम विकास कार्यक्रम इत्यादि।

गैब्रियल (Gabriel) आल्मंड तथा बिंघम पॉवेल के अनुसार, माँगों को नीति-विकल्पों का रूप देना ही हित संवर्द्धन (Interest aggregation) होता है। इस प्रक्रिया में भी दबाव समूहों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि वे संभावित नीतिगत विकल्पों की सहायता करते हैं ताकि वे सबसे अधिक उपयुक्त विकल्प का चयन कर सकें। नीति-निर्माण प्रक्रिया में योगदान करना दबाव समूहों का एक प्रमुख कार्य है। समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि दबाव समूह, सार्वजनिक नीति और विधायन (law making) के लोकतंत्रीकरण में योगदान करते हैं। जहाँ ऐसा होता है कि राजनीतिक दल जनता की आंक्षाओं का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे होते, वहाँ दबाव समूह लोगों की अभिलाषाओं का प्रतिनिधित्व करने के साधन के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार, दबाव समूह प्रतिनिधित्व का कार्य भी करते हैं।

किसी भी कल्याणकारी राज्य में, सरकार के कार्यों में विस्तार के कारण राजनीतिक व्यवस्था की उत्तरदायित्व की क्षमता कम हो जाती है। राजनीतिक अभिजात या कुलीन वर्ग (elite) प्राय: राजनीतिक गतिविधियों में व्यस्त होते हैं, अत: सरकार के पास इस कार्य के लिए पर्याप्त समय नहीं होता कि वह किसी सार्वजनिक महत्त्व के विषय-विशेष पर विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सके। ऐसी स्थिति में, दबाव समूह किसी नीति-विशेष से संबंधित विवरण उपलब्ध कराने और लोगों की आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को सत्ताधारी राजनीतिक अभिजात अथवा कुलीन वर्ग तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। इस प्रकार विकास सम्बन्धी गतिविधियाँ अधिक प्रभावी रूप से चलाई जा सकती है।

सामूहिक रूप से किया गया कोई भी कार्य हमेशा अच्छे परिणाम देता है। लोकतांत्रिक समाज में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

क्या आप जानते हैं किसी भी दबाव समूह की उपयोगिता की जाँच उसकी सरकार को प्रभावित करने की शक्ति से होती है

नोट

दबाव समूह किसी भी चुनावी गतिविधि में भाग नहीं लेते और उनका कोई राजनीतिक कार्यक्रम भी नहीं होता। वे तो किसी सार्वजनिक मुद्दे पर, जिससे उनका हित होता है, सरकार को औपचारिक रूप से प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। प्राय: सभी लोकतंत्रीय देशों में जनता को संघ व संगठन बनाने की स्वतंत्रता होती है। इसकी आवश्यकता इसलिए होती है ताकि सामूहिक हितों को आसानी से पूरा किया जा सकें।

दबाव समूह जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। वे व्यक्तिगत हित और राष्ट्रीय हित में सामंजस्य और संतुलन स्थापित करते हैं। दबाव समूहों द्वारा लोगों के हितों को एक निश्चित दिशा मिलती है। यह व्यक्ति या समूह की शिकायतों को सरकार तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। जहाँ पर जनता की इच्छाओं को राजनीतिक दल पूरा नहीं कर पाते, वहाँ पर लोगों की आवश्यकताओं और मांगों को दबाव समूहों द्वारा उचित समाधान प्राप्त होता है।

दबाव समूहों के तरीके

दबाव समूहों के कार्य करने का तरीका राजनीतिक दलों से पूरी तरह अलग होता है। यह जनमत को अपनी इच्छानुसार मोड़ते हैं और विधायकों और प्रशासकों को समझा-बुझाकर प्रभावित करते हैं। उदाहरण के तौर पर, भारत में गुजरात की सरदार सरोवर तथा कर्नाटक की कायगा परियोजना में दबाव समूह सूचनाओं को जनता तक पहुँचाते हैं और पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा करते हैं।

प्रशासकों के द्वारा हित समूह नीतियों और निर्णयों को लागू करवाने का प्रयास करते हैं। इसके अलावा न्यायालयों में जनहित मुकदमों के द्वारा भी सरकार पर दबाव समूहों द्वारा दबाव डाला जाता है। दबाव समूह के तरीकों को जानने के लिए सरकार की प्रणाली को समझना आवश्यक है। भारत और अमेरिका में किसी विधेयक या कानून में कोई प्रावधान जोड़ने के लिए दबाव समूह के सदस्य विधायकों को प्रभावित करते हैं। अमेरिका में अध्यक्षीय शासन व्यवस्था हैं इसमें दबाव समूह काफी सक्रिय रहते हैं। भारत में संसदीय शासन प्रणाली है। यहाँ पर दबाव समूह बड़े स्तर पर काम नहीं करते। उनके तरीके स्पष्ट नहीं हैं। इसके विपरीत अमेरिका में दबाव समूहों की कार्यविधि और तरीके काफी हद तक स्पष्ट है।

दबाव समूह तथा राजनीतिक दल

जिन देशों में लोकतांत्रिक प्रणाली है वहाँ पर राजनीतिक दलों और दबाव समूहों का काफी प्रभाव रहता है। राजनीतिक दलों और दबाव समूहों की अधिकतर संविधानों में कोई व्यवस्था नहीं है, लेकिन फिर भी राजनीतिक गतिविधियों में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि दबाव समूह राजनीतिक दलों का रूप धारण कर लेते है। उदाहरण के तौर पर महाराष्ट्र में शिव सेना एक दबाव समूह था जो वर्तमान में एक प्रमुख राजनीतिक दल बन गया है। कुछ दबाव समूह राजनीतिक दलों के निर्माण में सहायता प्रदान करते हैं जैसे कि 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नामक सांस्कृतिक एवं धार्मिक संगठन ने 1951 में जनसंघ की स्थापना में सहयोग दिया जो कि 1980 में 'भारतीय जनता पार्टी' बन गया। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् (ABVP), स्टूडेन्ट्स फेडरेशन ऑफ इंडिया (SFI), अखिल भारतीय स्टूडेन्ट्स फेडरेशन (AISF) तथा नेशनल स्टूडेन्ट्स यूनियन ऑफ इंडिया (NSUI) आदि किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़े हुए हैं।

राजनीतिक दल दबाव समूहों की तुलना में बड़े आकार के होते हैं। राजनीतिक दलों का उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना होता है तथा सत्ता प्राप्त करने के पश्चात् वे शासन की बागडोर संभालते हैं, जबकि दबाव समूहों का उद्देश्य अपने हितों के लिए सरकार पर दबाव डालना होता है। चुनावों के समय राजनीतिक दल अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं, चुनाव अभियान चलाते हैं और सरकार बनाने के लिए हर संभव प्रयास करते हैं परंतु दबाव समूह प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार का कोई कार्य नहीं करते हैं। इनका कार्यक्षेत्र अत्यंत सीमित होता है।

दबाव समूहों के प्रकार

सभी देशों में आमतौर पर दबाव समूहों की स्थापना के पीछे एकसमान कारण होते हैं। इनके कार्य करने की विधियाँ भी लगभग समान होती हैं। अलग-अलग दबाव समूहों की उत्पत्ति अलग-अलग परिस्थितियों में होती है। ये परिस्थितियाँ

नोट

आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक किसी से भी संबंधित हो सकती हैं। दबाव समूहों का वर्गीकरण निम्नलिखित श्रेणियों में किया जा सकता है–

(1) **व्यापारिक समूह**–व्यापारिक समूह के अंतर्गत शामिल लोगों का उद्देश्य होता है, कुछ वस्तुओं के उत्पादन और वितरण पर कुछ प्रतिबंध लगाए जाए और कुछ वस्तुओं के आयात और निर्यात पर नियंत्रण लगाया जाए। इसमें व्यापारी संगठित होकर अपनी मांगों को सरकार तक पहुँचाते हैं। कुछ व्यापारिक समूह है–अमेरिका के उत्पादकों का राष्ट्रीय संघ, ब्रिटिश उद्योगों का संघ, फ्रांसीसी नियोक्ताओं की राष्ट्रीय परिषद, जर्मन उद्योगों का संघ तथा भारतीय वाणिज्य और उद्योगों का परिसंघ आदि।

भारत में सर्वप्रथम ब्रिटिश व्यापारियों ने 1830 में वाणिज्य संघ की स्थापना की। सन् 1926 में भारतीय व्यापारियों ने मिलकर देशव्यापी भारतीय व्यापारिक संगठन का निर्माण किया। 1927 में यह संगठन वाणिज्य और उद्योग का परिसंघ (FICCI) बन गया धनश्याम दास बिड़ला ने इसको और भी मजबूत बनाया। फिक्की के अलावा भारत में और व्यापारिक समूह हैं, जैसे–अखिल भारतीय निर्माता संगठन, एसोसिएटिड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री आफ इंडिया आदि। किसी भी व्यापारी समूह का मुख्य कार्य अपने सदस्यों के व्यापारिक हितों की सुरक्षा करना होता है।

(2) **श्रमिक संगठन**–श्रमिक संगठन में कारखाने में काम करने वाले मजदूरों को शामिल किया जाता है। इनका उद्देश्य समुचित मजदूरी, भत्तों का भुगतान, काम के औचित्यपूर्ण घंटे, उचित सेवा सुविधाएँ तथा दुघर्टना की स्थिति में उचित मुआवजे का भुगतान आदि होता है। श्रमिक संगठनों की शुरुआत अमेरिका में 1886 में अमेरिकी श्रम संघ की स्थापना से हुई। इसके पश्चात फ्रांस में क्रिश्चियन ट्रेड यूनियनों का परिसंघ, श्रमिक संघों का जर्मन परिसंघ, इंलैंड का यातायात एवं सामान्य श्रमिक संघ तथा भारत में ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस आदि को गिना जा सकता है। भारत में कई श्रमिक संगठन विभिन्न राजनीतिक दलों से जुड़े हुए हैं जो स्वायत्त तरीके से कार्य करते हैं।

(3) **कृषक समूह**–कृषक समूहों का कार्य कृषकों के लिए बेहतर परिस्थितियों की मांग करना है, जिसमें किसानों को मिलने वाली आर्थिक राहत, कृषि उत्पादों के लिए न्यूनतम मूल्य निश्चित करना, ऋण सुविधा आदि को शामिल किया जा सकता है। अमेरिका में अमेरिकन फार्म ब्यूरो फेडरेशन, दि नेशनल ग्रांज आदि कई प्रमुख कृषक समूह हैं। भारत मे कर्नाटक राज्य रैथ संघ, महाराष्ट्र में शरद जोशी का शेतकारी संघ तथा उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत का किसान संगठन प्रमुख हैं। इन संगठनों का मुख्य उद्देश्य सरकार से समुचित सुविधाएँ प्राप्त करना होता है।

(4) **व्यावसायिक संगठन**–व्यावसायिक संगठन किसी व्यवसाय विशेष से जुड़े संगठन होते हैं, जो उस व्यवसाय से जुड़े व्यक्तियों के हितों के लिए कार्य करते हैं। ये संगठन उचित सेवा शर्तें तथा अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। अध्यापक संघ, चिकित्सक संघ, वकीलों का संगठन आदि अन्य संघ व्यवसाय पर आधारित दबाव समूह हैं। अमेरिकी वकीलों का संघ, भारतीय राजनीति विज्ञान संघ तथा ब्रिटिश चिकित्सक संघ, व्यावसायिक संगठनों के उदाहरण हैं।

(5) **धार्मिक संगठन**–धार्मिक दबाव समूहों की स्थापना भी किसी धर्म-विशेष के हितों की रक्षा के लिए की जाती है। अमेरिका में गिरजाघरों की राष्ट्रीय परिषद, अमेरिकी यहूदी समिति तथा अमरीकी यहूदी कांग्रेस मुख्य धार्मिक दबाव समूह हैं। भारत की राजनीति में भी धर्म और जाति पर आधारित दबाव समूह देखे जा सकते हैं। भारत में बाबूलाल फड़िया ने दबाव समूहों को कई वर्गों में बाँटा है, जैसे–संस्थागत समूह, संघीय समूह, गैर संघीय समूह तथा उद्दण्ड समूह आदि।

भारतीय तथा पाश्चात्य दबाव समूहों की तुलना

(1) भारत में दबाव समूहों की कोई खास भूमिका नहीं है परन्तु अमेरिका में दबाव समूह सरकार का चौथा अंग कहलाता है और सरकार की नीतियों को काफी हद तक प्रभावित करता है।

नोट

(2) भारत और ब्रिटेन में दबाव समूह मंत्रियों और लोकसेवकों को प्रभावित करते हैं। संसद दबाव की राजनीति से मुक्त रहती है। इसके अलावा यहाँ पर लॉबिग का प्रयोग नहीं होता, जबकि अमेरिका में कांग्रेस और समितियों को प्रभावित किया जाता है। अमेरिका में कांग्रेस और समितियों को प्रभावित किया जाता है। अमेरिकी कांग्रेस और उसकी समितियों को लॉबिंग के द्वारा प्रभावित किया जाता है।

(3) भारत में जाति धर्म और क्षेत्र पर आधारित दबाव समूहों का बोलबाला है, जबकि अन्य देशों में अधिकांशत: व्यापारिक समूह अधिक प्रभावशाली होते हैं।

(4) अमेरिका की विदेश नीति के संचालन में दबाव समूहों की खास भूमिका रहती है। भारत में दबाव समूह विदेशी मुद्दों में रुचि नहीं दिखाते। उनका जुड़ाव मात्र आंतरिक समस्याओं से होता है और उनका कार्यक्षेत्र आंतरिक मामलों तक ही सीमित होता है।

लोकतांत्रिक समाज में दबाव समूह अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। यह उन विभिन्न वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके आधार पर कोई समाज विभाजित होता है। हित समूहों में मुख्य रूप से कृषक, श्रमिक, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, व्यावसायिक व्यक्ति तथा छात्र आदि आते हैं। इनमें से किसी भी वर्ग से जुड़ा हित समूह सामान्य हितों की अभिवृद्धि के लिए सरकार की नीतियों पर प्रभाव डालते हैं।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में जनसाधारण को संघ बनाने की स्वतंत्रता होती है ताकि सामूहिक कार्यवाही द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। दबाव समूह, जनसाधारण और सरकार के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। आमतौर पर व्यक्तियों के हित संगठित नहीं होते हैं। दबाव समूहों से व्यक्तियों के हितों को एक निश्चित दिशा मिलती है। ये लोगों की शिकायतों को सरकार के पहुँचाते हैं।

कोई भी दबाव समूह जनमत को किस हद तक प्रभावित कर सकता है। इसी से उसकी सरकार पर दबाव डालने की क्षमता का अनुमान लगाया जाता है। दबाव समूहों के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वे जनमत को प्रभावित करते रहें। प्रशासकों के माध्यम से दबाव समूहों द्वारा नीतियों और निर्णयों को लागू करवाने का कार्य किया जाता है। इसके अलावा न्यायालयों में जनहित मुकदमों के माध्यम से भी दबाव समूह सरकार को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। दबाव समूह के कार्य करने के तरीकों को जानने से पूर्व सरकार की प्रणाली का अध्ययन करना जरूरी हो जाता है, क्योंकि इस पर दबाव समूहों की क्रियाशीलता काफी हद तक निर्भर करती है। अमेरिका में अध्यक्षीय शासन काफी हद तक निर्भर करती है। अमेरिका में अध्यक्षीय शासन प्रणाली है जहाँ पर दबाव समूहों द्वारा काफी कार्य किया जाता है भारत जैसे देश में संसदीय शासन व्यवस्था है। यहाँ पर दबाव समूहों की भूमिका स्पष्ट और परिष्कृत नहीं है। इसके विपरीत अमेरिका में दबाव समूहों की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि वहाँ पर कार्यपालिका दोनों ही न्यायापालिका से स्वतंत्र हैं। वर्तमान में भारत में पर्यावरण के संदर्भ में दबाव समूह काफी सराहनीय भूमिका निभा रहे हैं। ऐसा गुजरात की सरदार सरोवर परियोजना तथा कर्नाटक की कायगा परियोजना में देखा जा सकता है।

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों और दबाव समूहों का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है अर्थात् किसी भी राजनीतिक प्रक्रिया में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है।

राजनीतिक दल विशाल राजनीतिक संगठन होते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह आकार में छोटे होते हैं और अत्यंत सीमित कार्य करते हैं। राजनीतिक दलों का मुख्य लक्ष्य सत्ता की प्राप्ति होता है, तत्पश्चात् वे शासन की बागडोर संभालते हैं जबकि दबाव समूहों का उद्देश्य अपने हितों की अभिवृद्धि करना होता है। इसके लिए वे सरकार पर दबाव डालते हैं। वे चुनावों में राजनीतिक दल एक निश्चित राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर उम्मीदवार खड़े करते हैं तथाचुनाव लड़ते हैं, लेकिन दबाव समूहों का कोई राजनीतिक कार्यक्रम नहीं होता और न ही वे चुनाव अभियान चलाते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल की एक निश्चित विचारधारा होती है और वे उसी के आधार पर अपने कार्यों को अंतिम रूप देते हैं जबकि दबाव गुट किसी निश्चित विधारधारा में विश्वास नहीं करते।

हर देश में कई प्रकार के दबाव समूह होते हैं तथा उनका एक निश्चित कार्यक्रम होता है जिसके आधार पर वे अपने सदस्यों के हितों की अभिवृद्धि के लिए कार्य करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनकी कार्यविधि हर देश में एक जैसी हो।

नोट

दबाव समूह आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक मुद्दों से जुड़े होते हैं तथा कुछ विशेष हितों के लिए कार्यशील होते हैं। दबाव समूहों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–(1) व्यापारिक समूह, (2) श्रमिक संगठन, (3) कृषक समूह, (4) व्यावसायिक संगठन, (5) धार्मिक समूह।

एस.सी. जैन के ग्रंथ "कम्युनिटि डेवलपमेण्ट एण्ड पंचायती राज इन इण्डिया" के अनुसार 600 वर्ष ईसा पूर्व से 600 ईस्वी तक का काल जैन धर्म, बौद्ध धर्म, मौर्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य आदि के उत्थान व पतन आदि घटनाओं के लिये महत्त्वपूर्ण था। जातक कथाओं के अनुसार ग्रामों को उनके आकार तथा उनके बनावट के ढंग के आधार पर वर्गीकृत किया जाता था। जैन तथा बौद्ध साहित्य में ग्राम्य जीवन के विविध आयामों पर प्रकाश डाला गया है। ग्रामीण अपनी सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिये सामूहिक रूप से श्रमदान करते थे। बुद्ध तथा महावीर द्वारा स्थापित धर्म संघों के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण निर्णयों हेतु अत्यन्त प्रजातांत्रिक पद्धति का प्रयोग किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन संस्थाओं की कार्यप्रणाली हेतु निश्चित विधि-विधान थे। ये अपने क्रियाकलापों के संचालन के हेतु स्वतंत्र थे। इसी प्रकार श्रेणियां तथा जातीय संगठन भी अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णस्वायत्ता का उपयोग करते थे।

कौटिल्य ने एक आदर्श काम की रूपरेखा प्रस्तुत की है, जिसके अंतर्गत ग्राम का आकार, उसका सीमांकन, दो ग्रामों के बीच की दूरी, पुलिस बल तथा अन्य राजकीय अधिकारियों की तैनाती एवं नियुक्ति के उद्देश्य से ग्रामों के समूह बनाना आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। ग्राम में कई अधिकारी होते थे; जैसे ग्राम में मुखिया, लेखाकार आदि। इन सब अधिकारियों को राज्य को इनके द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के बदले में कुछ भूमि का स्वामित्व प्रदान कर दिया जाता था तथा उससे वे अपना भरण-पोषण करते थे। ग्राम का मुखिया ग्राम से संबंधित अनेक दायित्वों तथा कर्त्तव्यों का निर्वाह करता था। ग्राम मुखिया "गोप" के अधिकार क्षेत्र में आता था। गोप के अधीन पांच से पच्चीस तक ग्राम होते थे। जिला स्तर पर राजुकों को कई कार्य सौंपे जाते थे, जिनमें भूमि का सर्वेक्षण करना तथा भू-राजस्व निर्धारित करना प्रमुख कार्य थे।

इन सभी अधिकारियों को राजा ही मनोनीत करता था। यद्यपि इस सन्दर्भ में **एस.सी. जैन** ने यह मत प्रकट किया है कि पहले जिन राजनीतिक सम्पर्कों के माध्यम से ग्राम के हितों का सर्वोच्च स्तर पर प्रतिनिधित्व किया जाता था, वे सम्पर्क आगे चलकर कस्बों तथा शहरों के बढ़ते हुए, प्रभुत्व, साम्राराजीय विचारों के विकास तथा अधिकारीतंत्र के प्रयोग के फलस्वरूप टूटे हुए प्रतीत होते हैं। अर्थात् पहले ग्राम तथा सत्ता के सर्वोच्च स्तर के मध्य जिस प्रकार के सम्पर्क सूत्र हुआ करते थे, वे आगे चलकर ऊपर लिखित कारणों से समाप्त हो गये थे। इन सब कारणों से धीरे-धीरे ग्रामीण स्वशासन का क्षेत्र सीमित हो गया। जिस प्रकार की ग्रामीण स्वशासन की व्यवस्था प्राचीन काल में विकसित हुई थी, वह गुप्त काल में यथावत् रही। यद्यपि कतिपय मामूली परिवर्तन किये गये थे, वे भी अधिकतर पदों के नामों पर ही किये गये थे। इस काल के दौरान दक्षिण भारत के शासकों ने विभिन्न स्तरों पर प्रशासनिक इकाइयां प्रारंभ की, जैसे मंडल (प्रांतीय स्तर पर), नाडू (जिला स्तर पर), कोट्टम (उपखण्ड स्तर पर), निकाय प्रमुख रूप से भू-प्रबन्ध, मंदिरों, शैक्षणिक संस्थाओं, सिंचाई व्यवस्था आदि के लिये उत्तरदायी होते थे।

सन् 600 ईस्वी से सन् 1200 ईस्वी तक, गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद राजनैतिक आधिपत्य के संघर्ष के दौरान अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इसके परिणामस्वरूप स्थानीय निकायों की कार्यप्रणाली में कई ऐसे पड़ाव आये, जिसमें यह व्यवस्था अस्त-व्यस्त स्थिति में रही। प्राचीन काल के ग्रामीण प्रशासन के तीन पक्षों का वर्णन किया जाना आवश्यक है–

प्रथम, उस समय लोगों में सामुदायिक प्रवृत्ति अथवा मनोवृत्ति सर्वाधिक थी।

द्वितीय, लोक अधिकारियों का प्रकार जो इसके प्रशासन से सम्बद्ध थे।

तृतीय, उन लोक निकायों की प्रकृति जिनके माध्यम से निवासी उसके कार्यों के प्रबन्ध में सहभागिता करते थे।

उस समय ग्राम में कई कार्यकर्ता या पदाधिकारी हुआ करते थे; जैसे आयगर, करनम, तलारी, ग्राह्मण इत्यादि, जो कि परम्परा के अनुसार अपने-अपने प्रशासनिक कर्त्तव्यों का निष्पादन करते थे। इस प्रकार ग्राम एक प्रशासनिक इकाई बन गया था।

नोट

आधुनिक काल के ग्राम प्रशासन के प्राचीन काल का ग्राम प्रशासन अधिक वास्तविक एवं व्यवहारिक था। इसका एक प्रमुख कारण यह कि प्राचीन ग्राम प्रशासन अथवा पंचायती राज प्रथाओं तथा परम्पराओं पर निर्भर था, जबकि आधुनिक पंचायती राज अपने अस्तित्व के लिये राज्य सरकार द्वारा निर्मित कानून पर निर्भर करता है। प्राचीन काल के ग्राम स्वशासन में कोई भी शासक, चाहे व निरंकुश ही क्यों न रहा जो कुछ प्रथा के अनुरूप निर्धारित होता था, उसमें हस्तक्षेप नहीं करता था। इस व्यवस्था ने ग्राम संस्थाओं को एक अद्वितीय दृढ़ता एवं दायित्व प्रदान किया।

भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना ने एक राजनीतिक परिवर्तन का संकेत दे दिया था। इस परिवर्तन का अर्थ उस राजनीतिक परिवर्तन में भिन्न और गहरा था जो कि मध्यकालीन हिन्दू राज्यों के मध्य संघर्षों के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। यद्यपि पतन के एक लम्बे समय से विद्यमान अव्यवस्था तथा राजनीतिक अस्थिरता के परिणामस्वरूप विकास में बाधा पड़ी, फिर भी केन्द्रीय स्थानीय सम्बन्धों से सम्बन्धित मूलभूत सिद्धान्तों में राजशाही के परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर नहीं आया। मुस्लिम शासक अपने साथ कई धारणायें लाये। ये धारणायें इस के लिये नई थीं। नये शासकों की प्रथायें, रीति-रिवाज तथा धारणायें भिन्न थीं। ब्रिटिश शासन के दौरान ग्रामीण समुदायों की युगों से चली आ रही आत्मनिर्भरता भी समाप्त हो गयी। संचार माध्यमों, सड़कों, रेलों, मोटर, यातायात, तार, टेलीफोन आदि के विस्तार से ग्रामीण समुदायों बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित हो गये। जिस सामान का उत्पादन ग्राम के अपने स्वयं के उपभोग के लिये किया जाता था, वह सामान जब बाजारों में बिकने लगा। कारीगरों तथा शिल्पियों को अपने लिये लाभदायक राजगार की खोज में अपने ग्रामों से बाहर जाना पड़ा। जो वस्तुयें पहले ग्रामवासी अपने ही ग्राम के कारीगरों से प्राप्त करते थे, अब उन वस्तुओं को वे पास के कस्बों में लगने वाले बाजार से प्राप्त करते थे। उत्पादन की दृष्टि से ग्राम अब एक आर्थिक इकाई नहीं रहा था।

सिंचाई व्यवस्था, सड़कों, स्कूलों आदि के निर्माण व रख-रखाव तथा इनको अनुदान देने की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने अपने ऊपर ली थी। कृषि ऋणों का नियंत्रण तथा प्राकृतिक आपदाओं के समय लोगों की दी जाने वाली सहायता की जिम्मेदारी भी केन्द्रीय सरकार ने ली अर्थात् जिन कार्यों से युगों से ग्रामीण पदाधिकारी जुड़े हुए थे, उन कार्यों में से अधिकांश को उनसे छीन लिया गया तथा बाहरी राजकीय अभिकरणों द्वारा सम्पादित करवाया जाने लगा। अत्यधिक केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आया। इस व्यवस्था ने ग्रामीणों को अधिक से अधिक सहायता प्राप्त करने हेतु जिले, प्रान्त या केन्द्रीय सरकार की ओर ताकते रहने के लिये मजबूर कर दिया। ग्रामों जो झगड़े सदियों से प्रथाओं तथा लोकाचार के आधार पर ग्राम के वृद्धों द्वारा सुलझाये जाते थे, वे अब ग्राम से बाहर न्यायालयों को भेजे जाने लगे तथा विदेशी शासकों द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार निपटाये जाने लगे।

अंग्रेजों द्वारा प्रारंभ की गई शिक्षा प्रणाली भी ऐसे प्रभाव उत्पन्न करने वाला एक अन्य कारक था। नई आंग्ल शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत शिक्षित लोग रोजगार की तलाश में शहरों तथा कस्बों में पलायन करने लगे। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, इसाई धर्म के प्रचार तथा ग्रामीण प्रथाओं तथा परम्पराओं के घटते प्रभाव ने भी ग्रामीण समुदाय के पतन में योगदान किया। ब्रिटिश शासन के अन्त तक ग्रामों की वैसी स्थिति नहीं रही, जैसी कि प्राचीन काल में थी।

औपनिवेशिक शासकों ने ग्राम की बजाय जिले को प्रमुख प्रशासनिक इकाई बनाया। रॉयल कमीशन ऑन डिसेण्ट्रलाइजेशन की रिपोर्ट प्रस्तुत होने के बाद ही ग्राम के महत्त्व को समझा गया एवं लगभग सन् 1920 ई. में जाकर ही पंचायतें स्थापित करने एवं उनके माध्यम से पुराने समुदायों को पुनः शुरू करने की दिशा में गंभीर प्रयास किया गया। सन् 1920 ई. के बाद पंचायतों की कार्य प्रणाली से सम्बन्धित सभी प्रतिवेदनों में उन अनेक कारणों का वर्णन किया गया था, जो कि इनके पतन के लिये जिम्मेदार थे। वे कारण इस प्रकार थे–

(1) ग्रामीण गुटबंदी का प्रभाव,

(2) जातिगत तथा साम्प्रदायिक फूट,

(3) ग्रामवासियों की उदासीनता, तथा

(4) इस संगठन को योगदान देने में ग्रामवासियों की अरुचि।

वास्तव में ये सभी ग्रामों की अवनति की स्थिति के लक्षण हैं, जो कि अंग्रेजों के द्वारा प्रशासन की व्यवस्था में परिवर्तन

नोट

प्रारम्भ करने के कारण पैदा हुए। केन्द्रीकरण इन सभी परिवर्तनों का आधारभूत कारण था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष में पंचायती राज के विकास ने एक निर्णायक मोड़ लिया। यह एक विस्तृत आंदोलन का अंग था, जिसने सारे राष्ट्र को प्रभावित किया। कई ऐसे कारण रहे हैं जो भारत में पंचायती राज के उद्भव और विकास के लिये जिम्मेदार रहे हैं तथा समय के साथ एक ऐसी नयी संरचना का मार्ग प्रशस्त किया, जो ब्रिटिश शासन काल की अपनी संरचना से बहुत अधिक भिन्न थी। चार प्रमुख कारकों का विवरण निम्नलिखित है–

टास्क दबाव समूह तथा राजनीतिक दल में क्या संबंध है ?

1. महात्मा गांधी का प्रभाव

महात्मा गांधी का भारत की जनता पर गहन प्रभाव था। उन्होंने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया। गांधीजी के दर्शन का मूल विचार ग्राम समुदाय के पुनरुद्धार से सम्बद्ध था। इससे ग्राम की पूर्ण आत्मनिर्भरता तथा बाह्य जगत पर उसकी कम से कम निर्भरता पर जोर दिया गया था। "वापस गांवों में जाओ" उनका प्रमुख संदेश था। ब्रिटिश शासन के दौरान ग्रामीण जीवन की घोर उपेक्षा की गयी थी, अत: उन्होंने ग्रामीण जीवन की पुनर्रचना पर अपना ध्यान केन्द्रीय करने के लिये लोगों का आह्वान किया। उनका विश्वास था कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को क्षति पहुंचाने के लिये शहर जिम्मेवार थे तथा उनको बचाने के लिए एकमात्र रास्ता था जितना संभव हो उतना जीवन का वास्तविक आवश्यकताओं के लिये उन्हें आत्मनिर्भर बनाना। उनका मानना था कि ग्रामों को आर्थिक रूप से ही नहीं, बल्कि राजनीतिक व प्रशासनिक मामलों में भी आत्मनिर्भर होना चाहिए। अत: प्रांतीय सरकारों ने विकास सम्बन्धी अनेक कार्य पंचायती राज संस्थाओं को सौंप दिये और यदि प्रजातंत्रात्मक विकेन्द्रीकरण इन सरकारों का सिद्धान्त वाक्य बन गया है, तो इसका श्रेय गांधीजी के सिद्धान्तों के प्रभावों को दिया जाना चाहिए।

2. राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्त

डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय ग्रामों में व्याप्त स्थिति के सन्दर्भ में उपेक्षापूर्ण ढंग से विचार व्यक्त किये। उनका तर्क था कि ग्रामों के लिये स्वशासन की व्यवस्था करने से वहां के तथाकथित ऊँची जातियों के लोगों को अधिक अधिकार मिलेंगे तथा उन अधिकारों का प्रयोग वे गरीबों के विरुद्ध और अधिक निर्दयता के साथ करेंगे। संविधान सभा में एक अत्यन्त शक्तिशाली वर्ग था, जिसने ग्राम पंचायतों के पक्ष में सशक्त तर्क दिये। उनका तर्क था, कि ग्रामों की उपेक्षा नहीं की जा सकती तथा प्रजातन्त्र को उच्च स्तर की सरकारों तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिये, बल्कि इनका विस्तार निम्न स्तर तक विद्यमान इकाइयों तक किया जाना चाहिये। इस मत का बहुत-से सदस्यों द्वारा समर्थन करने के फलस्वरूप संविधान का अनुच्छेद 40 बनाया गया तथा इसको राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों के प्रबन्धों के शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया। यह अनुच्छेद राज्य से यह अपेक्षा करता है कि "ग्राम पंचायतों के गठन के लिये कदम उठाये जाये जो कि उनको स्वशासन की इकाई के रूप में कार्य करने के योग्य बना सके।"

3. पंचवर्षीय योजनायें

तृतीय कारक जिसका पंचायती राज के विकास के सन्दर्भ में उल्लेख किया जाना आवश्यक है, वह है, सरकार द्वारा योजनाबद्ध आर्थिक एवं सामाजिक विकास कार्यक्रमों का संचालन। पंचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों का सक्रिय सहयोग एवं उनकी सहभागिता सुनिश्चित करना आवश्यक हो गया। उनकी सक्रिय सहभागिता विशेष रूप से उन योजनाओं में आवश्यक हो गई तो कि कृषि विकास से सम्बन्धित थी।

4. सामुदायिक विकास आन्दोलन

सामुदायिक विकास आंदोलन का उद्घाटन 2 अक्तूबर, 1952 को किया गया। इसका पंचायती राज पर सीधा प्रभाव पड़ा, जो भारत राष्ट्र निर्माण की गतिविधियों में एक नये अभिगम को महत्त्व देता है। सामुदायिक विकास आन्दोलन

नोट

स्थानीय समुदाय-एक ग्राम, ग्रामों के समूह, एक जिले के चौतरफा विकास पर बल देता है। सामुदायिक विकास आन्दोलन का सिद्धान्त यह है कि लोगों के लिये ऐसे अवसर सर्जित किये जायें, जिनमें वे अपनी आवश्यकताओं को पहचान करने तथा उन्हें पूरा करने के ढंग खोजने के लिये आगे आ सकें। इस प्रकार पंचायती राज देश में जनता के एक कार्यक्रम के रूप में अग्रणी रहा, जिसमें राजकीय अधिकारियों ने भी अपने तकनीकी ज्ञान एवं मार्गदर्शन करने हेतु सहभागिता की।

स्थानीय विकास में पंचायती राज की क्या भूमिका

प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में पंचायती राज को महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। भारत में सभी राज्यों ने इसे अपना लिया है। पंचायती राज अब शक्तिशाली आंदोलन बन गया है। पंचायती राज के उद्‌भव की रूपरेखा प्रस्तुत करने के पश्चात् पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका का विश्लेषण करना आवश्यक है।

1. **राजनीतिक चेतना**–पंचायती राज की भूमिका के अध्ययन में सर्वप्रथम आयाम का सम्बन्ध पंचायती राज द्वारा ग्रामीण जनता में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने की भूमिका का है। पंचायती राज निकायों ने नागरिकों को उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन के लिए तैयार होने की राजनीतिक शिक्षा प्रदान की। वास्तव में पंचायती राज्य निकायों ने ऐसे नेता तैयार किये हैं जो कि प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर प्रजातांत्रिक संस्थाओं को नियंत्रित कर सकते हैं। पंचायती राज वहां एक शक्तिशाली साधन बन गया है, जहां की जातिगत एवं स्थानीय स्वार्थ परस्पर प्रभाव डालते हैं, विरोध होते हैं, समझौते होते हैं तथा विभिन्न मुद्दों पर एक सामान्य सहमति पर पहुंचना होता है।
2. **योजना तथा विकास**–पंचायती राज संस्थाओं की रूपरेखा, योजना तथा विकास में एक निर्णायक भूमिका निभाने के उद्देश्य से तैयार की गयी थी। योजना तथा विकास की एक इकाई के रूप में, चाहे वह जिला स्तर पर हो या नीचे के स्तर पर, पंचायती राज संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, पश्चिमी बंगाल तथा कई राज्यों में स्थानीय स्तर की योजनाएं सफलतापूर्वक तैयार की गई तथा इन संस्थाओं द्वारा कार्यान्वित की गयी।
3. **व्यवस्था संस्थायें**–पंचायती राज संस्थाएं स्वशासन की एक इकाई के रूप में कार्य करती है। इनका मुख्य कार्य ग्रामीण स्थाई व्यवस्था, जन-स्वास्थ्य, रास्तों में रोशनी की व्यवस्था, पीने के पानी की आपूर्ति, ग्राम की सड़कों तथा पुलियाओं का रख-रखाव, प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध, इत्यादि होता है। कुछ राज्यों में सभी विकास सम्बन्धी कार्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है–केन्द्रीय खण्ड, प्रान्तीय खण्ड व स्थानीय खण्ड। स्थानीय खण्ड से सम्बन्धित कार्यक्रमों की योजना तथा क्रियान्वयन पंचायती राज निकायों को सुपुर्द किये गये हैं। इनमें कृषि, लघु सिंचाई, ग्रामीण स्वास्थ्य, पशुपालन, ग्रामीण सड़कें, समाज-कल्याण, सहकारिता, कुटीर उद्योग, ग्रामीण आवास आदि जैसे विषय सम्मिलित हैं।

पंचायती राज के उभरते हुए प्रतिमान (Emerging Patterns of Panchayati Raj)

आन्ध्र प्रदेश ने 1959 में पंचायती राज अपनाया। दोनों राज्यों में विधायन मुख्य रूप से मेहता दल द्वारा प्रस्तावित नमूने के आधार पर ही था। आन्ध्र प्रदेश में 1959 से 1983 तक तीन स्तरीय संरचना व 1983 में चार स्तरीय संरचना गठित की गई। इस प्रकार, आंध्र प्रदेश प्रतिमान के पंचायती राज में दो प्रावस्थाएं है–

भारत में पूंजी बाजार को दो भागों में बांटा जाता है–

(क) प्रथम प्रावस्था (1959 से 1983 तक)

(ख) द्वितीय प्रावस्था (1983 से आगे)।

(क) प्रथम प्रावस्था (1959 से 1983 तक)–ग्राम पंचायत को इस प्रावस्था के अंतर्गत एक ग्राम के लिये या ग्रामों के समूह के लिये गठित किया गया था। ग्राम पंचायत इस योजना के अंतर्गत सबसे निचली इकाई है। आंध्र प्रदेश में प्रत्येक जिले के लिये पंचायती राज का शीर्षस्थ निकाल जिला परिषद् है। इसमें भी पदेन और सहयोजित सदस्य थे। पंचायत समिति और जिला परिषद् की सात स्थायी समितियां। उनमें से प्रत्येक समिति महत्त्वपूर्ण कार्यों का संचालन

नोट

करती थी। 1983 तक तीन स्तरीय संरचना में कोई बड़ा संरचनात्मक परिवर्तन नहीं किया गया। 1970 के ग्राम पंचायतों और ग्राम समितियों को मुख्य रूप से नागरिक और कल्याण संबंन्धित कार्य सौंपे गये हैं। इस क्षेत्र में जिला परिषदों के कार्य स्थापना, माध्यमिक, व्यावसायिक और औद्योगिक स्कूलों के रख-रखाव तथा विस्तार तक सीमित रखा गया है। 1970 के दशक में पंचायती राज संस्थायें खराब स्थिति में थी। अत: केन्द्र ने पंचायती राज संस्थाओं के कार्यक्रम की समीक्षा करने और उपचारी उपाय सुझाने के लिए अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। यद्यपि इस समिति ने अपनी रिपोर्ट पर भी कोई कार्रवाई नहीं हुई।

(ख) द्वितीय प्रावस्था (1983 से आगे)–आंध्र प्रदेश में सरकार के बदलने से अशोक मेहता समिति की रिपोर्ट के प्रति फिर से रुचि ली गयी। रिपोर्ट के आधार पर आंध्र प्रदेश में पंचायती राज संरचना में कई परिवर्तन किये गये। वर्तमान ढाँचा आंध्र प्रदेश प्रजा परिषद्, जिला प्रजा परिषद और जिला प्रणाली का अभिवृद्धि मंडल अधिनियम, 1986 पर आधारित है। अधिनियम में चार स्तरीय संरचना का प्रावधान है–गावों के लिये ग्राम पंचायत, गावों के समूह के लिये मंडल प्रजा परिषद्, प्रत्येक जिले के लिये जिला प्रजा परिषद् और प्रत्येक जिले के लिये जिला अभिवृद्धि समीक्षा मंडल।

(1) **ग्राम पंचायत**–इस प्रणाली की सबसे निचली इकाई ग्राम पंचायत है। राज्य में लगभग 19,500 ग्राम पंचायतें हैं। सरपंच का निर्वाचन सभी ग्राम मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। ग्राम पंचायत स्तर पर सभी निर्वाचक पदों में अनुसूचित जातियों के लिए 15 प्रतिशत, अनुसूचित जनजातियों के लिए 6 प्रतिशत, पिछड़े वर्गों के लिए 20 प्रतिशत और महिलाओं के लिए 9 प्रतिशत तक के आरक्षण की व्यवस्था है।

(2) **मंडल प्रजा परिषद्**–सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य यह है कि पिछली 330 पंचायत समितियों को समाप्त किया गया तथा उनके स्थान पर 1,104 मंडल प्रजा परिषदें बनाई गईं। मंडल प्रजा परिषद् के अध्यक्ष पद की प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली अपनाई गई है। ग्राम पंचायतों के सरपंच मंडल प्रजा परिषदों के पदेन सदस्य होते हैं। विधानमंडल और संसद के सदस्य भी पदेन सदस्य हैं। मंडल प्रजा परिषद की शक्तियों और कार्यों में कोई परिवर्तन तथा सुधार नहीं किये गये हैं। लगभग पूर्व समिति के सभी कार्य नये निकायों को सौंप दिये गये हैं।

(3) **जिला प्रजा परिषद्**–जिला प्रजा परिषद् अर्थात् जिले के लोगों की परिषद् के गठन में कुछ परिवर्तन किये गये हैं। इसमें सभापति जिला परिषद् का अध्यक्ष होता है। इसका चुनाव संपूर्ण जिले के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। सरकार ने जिला परिषद् के सभापति को राज्य मंत्री का दर्जा दिया है। आरक्षण का भी प्रावधान है। कुल 22 जिला परिषदों में अनुसूचित जनजाति के लिए एक, अनुसूचित जाति के लिए तीन, पिछड़े वर्गों के लिये चार और महिलाओं के लिए दो स्थान आरक्षित हैं। दल-बदल विरोधी कानून भी इस संगठन पर लागू किया गया है।

(4) **जिला अभिवृद्धि समीक्षा मंडल**–जिला अभिवृद्धि समीक्षा मंडल, जिला प्रजा परिषद् के ऊपर एक मनोनीत निकाय है। राजधानी को छोड़कर प्रत्येक जिला के लिये जिला अभिवृद्धि समीक्षा समिति की व्यवस्था की गई है। इसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री द्वारा मनोनीत मंत्री होता है। जिला प्रजा परिषद् का सभापति, जिले के सभी विधायक, जिला कलक्टर और सरकार द्वारा मनोनीत पांच विशेषज्ञ सदस्य जिला अभिवृद्धि समीक्षा समिति में होते हैं।

वर्तमान प्रयोग पंचायती राज संस्थाओं की स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं कर सका है। फिर भी, ऐसे दो पहलू हैं जिनका मूल्यांकन करना आवश्यक है। पहला है, प्रशासन की छोटी-छोटी इकाइयाँ बनाने से ग्रामीण लोगों की पहुँच बेहतर हुई है। दूसरा, सभी स्तरों आरक्षण से समाज के सुविधा वंचित वर्गों के काफी लोगों की सत्ता में भागीदारी और उनकी स्थिति में सुधार हुआ है।

1960 में महाराष्ट्र ने वी.पी.नाईक की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। नाईक समिति की रिपोर्ट के फलस्वरूप राज्य सरकार ने 1961 में एक अधिनियम पारित किया, जो 1967 में लागू हुआ। नाईक समिति के अनुसार, विकास कार्य को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया–(क) राज्य क्षेत्र स्कीमें, (ख) स्थानीय क्षेत्रक स्कीमें, और (ग)

नोट

सामुदायिक विकास कार्यक्रम। नाईक समिति पंचायती राज संस्थाओं में जिला कलक्टर और विधानमंडल तथा संसद के सदस्यों को शामिल करने के पक्ष में नहीं था। समिति ने महसूस किया कि कलक्टर को निकाय से बाहर रखने में सरकार के पास ऐसा स्वतंत्र अधिकारी रहेगा जो स्थानीय निकाय के कार्यकरण का मूल्यांकन निष्पक्ष ढंग से कर सकेगा और अपनी मूल्यांकन रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर सकेगा। समिति ने सुझाव दिया कि स्थानीय क्षेत्र के सभी अधिकारियों को जिला परिषद् के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के एकीकृत प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन रखा जाना चाहिए। वह अधिकारी जिला परिषद् के पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण में काम करेगा। इसी प्रकार, खंड स्तर के कर्मचारियों को पंचायत समिति के अधीन रखा जाना चाहिए।

1961 में गठित की गई महाराष्ट्र में पंचायती राज प्रणाली महाराष्ट्र जिला परिषद और पंचायत समिति अधिनियम की मुख्य विशेषताऐं निम्नलिखित हैं–

(*i*) **जिला परिषदें**–मुम्बई शहर व उपनगरीय जिले के अलावा प्रत्येक जिले के लिए जिला परिषदें गठित की गयी हैं। जिला परिषद केन्द्रीकरण की प्रमुख इकाई है। इसमें कम से कम चालीस और अधिक से अधिक साठ पार्षद होते हैं। इन्हें 35,000 वयस्क मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षण की भी व्यवस्था की गई है। जिला परिषद् अपने सदस्यों में से अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और विषय समितियों के दो सभापति चुनती है। जिला परिषद का अध्यक्ष, पंचायती राज निकायों के प्रमुख के रूप में काम करने के अलावा, स्थायी समिति की बैठकों की भी अध्यक्षता करता है। शेष विषय समितियों की अध्यक्षता उपाध्यक्ष और विषय समितियों के सभापतियों द्वारा की जाती है।

1961 के अधिनियम में जिला परिषद् के विभिन्न कार्य निर्धारित किए गए हैं। इनमें कृषि, पशु पालन, वन, सहकारिता, शिक्षा स्वास्थ्य, सिंचाई, कुटीर उद्योग आदि शामिल हैं। अत: योजना निर्माण और विकास संबन्धी कार्यों का निष्पादन जिला परिषद् का मूल कार्य है।

प्रशासनिक सेवाओं के अनुसार, जिला परिषद् का प्रमुख अधिकारी जिला कलक्टर के रैंक का अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिये उपमुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। यह जिला परिषद् का सचिव भी होता है।

(*ii*) **पंचायत समिति**–महाराष्ट्र में पंचायत समिति जिला परिषद् की संवैधानिक समिति है। समिति के सदस्यों में खंडों से निर्वाचित जिला परिषद् के पार्षद, सहयोजित सदस्य, और ऐसे सदस्य होते हैं जो खंड के प्रत्येक निर्वाचक मंडल से पंचायत के सदस्यों द्वारा निर्वाचित पंच या सरपंच होते हैं। पंचायत समिति का सभापति तथा उपसभापति उसके सदस्यों में से चुना जाता है। कानून के अनुसार, वे जिला परिषद् की किसी भी विषय समिति के सदस्य नहीं हो सकते। 1961 के अधिनियम में पंचायत समिति को कई कार्य आवंटित किये गये हैं। ये कार्य जिला परिषद् के कार्यों की सूची में भी हैं, फिर भी व्यवहार में, विभिन्न विकास स्कीमें पंचायत समिति के माध्यम से ही निष्पादित होती हैं।

(*iii*) **ग्राम पंचायतें**–जिला परिषदों की स्वतंत्र रूप से गठित ग्राम पंचायत ही महाराष्ट्र में पंचायती राज की मूल इकाई है। पंच वार्ड के आधार पर चुने जाते हैं। अनुसूचित जातियों व जनजातियों तथा महिलाओं के लिए आरक्षण होता है। ग्राम पंचायत के कार्य अधिकतर नागरिक और विकासात्मक प्रकृति के होते हैं जिसमें कृषि, सामाजिक शिक्षा, स्वास्थ्य, सहकारिता, सामाजिक कार्य आदि शामिल हैं। सम्पूर्ण, भू-राजस्व ग्राम पंचायतों को दिया जाता है। पंचायती राज संस्थायें न केवल योजना और विकास की इकाइयां ही है, बल्कि जहां की विकास कार्य शुरू किया जाता है, विकास स्कीमें शुरू करने का निर्णय लेने की शक्ति का प्रयोग भी करती हैं। यह कहा जाना ठीक होगा कि महाराष्ट्र में जिला परिषदों की सफलता का श्रेय मुख्य रूप से प्रशासनिक सेवाओं को है।

कर्नाटक में 1959 में पंचायती राज लागू किया गया था। इस अधिनियम से पहले राज्य में ग्रामीण शासन का कोई एक समान प्रतिमान नहीं था। अत: विभिन्न समितियों की अलग-अलग सिफारिशों के अलावा मेहता दल की सिफारिशों को 1959 के विधायन (अधिनियम) सम्मिलत किया गया। कर्नाटक में पंचायती राज के उभरते हुए प्रतिमानों की दो प्रावस्थाएं हैं–पहली, 1959 से 1983 तक है तथा दूसरी व्यवस्था 1985 से आरम्भ है।

नोट

(क) प्रथम प्रावस्था 1959 से 1985 तक–अधिनियम में तीन स्तरीय संरचना का प्रावधान है–आधार स्तर पर ग्राम पंचायते हैं मध्यवर्ती स्तर पर ताल्लुका विकास बोर्ड का और शीर्ष स्तर पर प्रत्येक जिले में जिला विकास परिषद् है।

(*i*) **ग्राम पंचायतें**–ग्राम पंचायतें अपने सदस्यों को प्रत्यक्ष रूप से चुनती हैं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं के लिये सीटें आरक्षित होती हैं। ग्राम पंचायत के सभापति और उपसभापति उसके सदस्यों में से ही चुने जाते हैं। पंचायतों को मुख्य रूप से नागरिक कार्य, जैसे सफाई, संक्रामक रोगों का नियंत्रण, सड़कों, गलियों की प्रकाश व्यवस्था आदि सौंपे गये हैं। उनकी आय का मुख्य स्रोत राज्य सरकार द्वारा दिये गये अनुदान और कर हैं, जो बहुत ही मामूली होते हैं।

(*ii*) **तालुका विकास बोर्ड**–मध्यवर्ती स्तर की इकाई ताल्लुका विकास बोर्ड के नाम से जानी जाती है। बोर्ड के सदस्यों का चुनाव सीधे मतदाताओं द्वारा किया जाता है। अनुसूचित जातियों, जनजातियों और महिलाओं के लिये सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया गया था। तालुका बोर्ड को कुछ अनिवार्य कार्य, जैसे सार्वजनिक सड़कें, सार्वजनिक कुएँ, प्राइमरी विद्यालयों के भवन, सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्र आदि सौपे गये है। उन्हें वित्तीय सहायता के लिये पूरी तरह से राज्य सरकार पर निर्भर रहना पड़ता है।

(*iii*) **जिला विकास परिषदें**–प्रत्येक जिले के लिए जिला परिषद् थी। जिला विकास परिषद् में सभी ताल्लुका विकास बोर्ड का अध्यक्ष, उस जिले के संसद सदस्य, विधान सभा और विधान परिषद् के सदस्य होते थे। इसके अलावा, सरकार द्वारा 15 से अधिक सरकारी अधिकारी मनोनीत किए जाते थे। सरकारी समाज के कमजोर वर्गों से वे भी सदस्यों को मनोनीत करती थी। जिले का डिप्टी कमिश्नर परिषद् का पदेन सभापति होता था।

(ख) द्वितीय प्रावस्था-1985 से आगे–1985 के अधिनियम में कई परिवर्तन किये गये, जो पिछली प्रणाली से पूर्णत: भिन्न है। कर्नाटक पंचायती राज प्रणाली जिला परिषद्, ताल्लुका पंचायती राज समिति, मंडल पंचायत और न्याय पंचायत अधिनियम, 1985 पर आधारित है। इस पंचायती राज संरचना में चार स्तर-जिला परिषद्, ताल्लुका पंचायत समिति, मंडल पंचायत और ग्राम सभा हैं। इनमें प्रत्येक का विश्लेषण निम्नलिखित है–

(*i*) **जिला परिषदें**–प्रत्येक जिले के लिये जिला परिषद् गठित की गई है। इसमें विधानसभा के स्थानीय सदस्य, विधान परिषद का स्थानीय सदस्य और संसद सदस्य होते हैं। मनोनीत सदस्यों की संख्या बहुत कम है। एक सह-सदस्य अर्थात् जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक का अध्यक्ष भी होता है जिसे मताधिकार नहीं होता है। 18 वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति मतदान के पात्र होते हैं, परन्तु 25 वर्ष से कम आयु का व्यक्ति चुनाव नहीं लड़ सकता है। महिलाओं के 25 प्रतिशत तक का आरक्षण है। इसी प्रकार कम से कम 18 प्रतिशत सीटें अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लिए आरक्षित हैं। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष सदस्यों में से चुने जाते हैं। अनुसूचित जनजातियों व महिलाओं के लिये महत्त्वपूर्ण निर्वाचक पदों पर कोई आरक्षण नहीं है।

प्रत्येक जिला परिषद् को प्रतिवर्ष 40 करोड़ रुपये से अधिक मिलने की संभावना है। आय के कई स्रोतों, जैसे राज्य की संचित निधि से आवंटन, अनुदान, ऋण, अंशदान आदि का प्रावधान किया गया है। संसाधनों का आवंटन निर्धारित करने के लिये राज्य द्वारा वित्त आयोग गठित करने का भी प्रावधान है। इससे अवश्य ही जिला परिषदों का संसाधन-आधार सुधरेगा।

(*ii*) **ताल्लुका पंचायत समिति**–ताल्लुका पंचायत समिति के सदस्य संपूर्ण ताल्लुका या उसके भाग का प्रतिनिधित्व करने वाले विधानमण्डल के सदस्य, संपूर्ण तालुका या उसके भाग का प्रतिनिधित्व करने वाले जिला परिषद् के सदस्य, ताल्लुका में मंडल परिषदों के प्रधान, सहकारी संस्थाओं के अध्यक्ष होते हैं, तालुका पंचायत समिति द्वारा सहयोजित और जिला परिषद् द्वारा अनुमोदित अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों व महिलाओं के लिये पांच सीटें होती हैं। समिति को ताल्लुका में काम करने वाले जिला परिषद् के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के कार्यों का पर्यवेक्षण करने, समीक्षा करने तथा समन्वय करने की शक्ति है। समिति को मंडल पंचायत के कार्यों की समीक्षा करने तथा एक से अधिक सम्बद्ध मंडलों से संबंधित कार्यों में समन्वय करने की भी शक्ति प्राप्त है।

नोट

(*iii*) **मंडल पंचायत**–मंडल पंचायत की अवधारणा अशोक मेहता समिति की रिपोर्ट पर आधारित है। यह राजस्व ग्रामों या कम से कम 8,000 और 12,000 से अधिक जनसंख्या के गाँवों के समूह के लिये गठित निगमित निकाय है। महिलाओं, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये सीटों का आरक्षण है। सभी सदस्यों का चुनाव वार्ड के आधार पर होता है।

मंडल पंचायत का पूर्णकालिक सचिव होता है, जिसे जिला परिषद् द्वारा नियुक्त किया जाता है। इसके कार्यकलाप का वित्त-पोषण सरकार या जिला परिषद् द्वारा किया जाता है। मंडल पंचायत का फंड बनाया जाता है। भवन, मनोरंजन, बाजार आदि के कर मंडल पंचायत के राजस्व के कुछ अन्य स्रोतों में से है। कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक मंडल पंचायत को एक वर्ष में कम से कम 5 से 6 लाख तक रुपये मिल जाते हैं।

(*iv*) **ग्राम पंचायत**–नये अधिनियम में ग्राम सभा को सर्वाधिक आधार प्रदान किया गया है। ग्राम सभा की प्रत्येक बैठक संबंधित मंडल के प्रधान की अध्यक्षता में होती है। गाँवों के विकास कार्यक्रमों की समीक्षा करने के लिए इसकी बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। अधिनियम में मंडल स्तर पर न्याय पंचायतों की संस्था का प्रावधान है। परन्तु सरकार ने इसे पांच वर्ष की अवधि के लिये स्थगित कर दिया, ताकि सरकार स्कीम के ब्योरे तैयार कर सके।

(1) **संरचना**–पंचायती राज की स्थापना के समय इसकी इकाईयों के निर्माण के लिए एवं विकास और योजना की इकाइयों को पहचानने के लिये कोई भी एक जैसी पद्धति नहीं अपनायी जाती। असफलता का कारण यह नहीं है, अपितु संरचना जो विभिन्न राज्य सरकारों के द्वारा अपनायी गयी है, वह प्रत्याशित कार्य को सम्पादित करने के लिये समर्थ नहीं है।

(क) पंचायती राज संस्थाओं के बीच,

(ख) राज्य सरकार एवं पंचायती राज संस्थाओं के बीच; तथा

(ग) पंचायती राज संस्थाओं एवं केन्द्रिय सरकार के बीच कार्य एवं शक्ति का वितरण किसी अच्छे सिद्धान्त पर आधारित नहीं किया गया है। कार्य में बहुत ही भ्रम रहता है, परस्पर व्यापी तथा राज्य सरकार के कार्यों के बीच सीमांकन करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त अन्य राज्यों ने इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास नहीं किया है।

(2) **वित्तीय संसाधन**–पंचायती राज संस्थाओं के द्वारा सामना किये जाने वाली सबसे विशेष समस्या वित्त सम्बन्धी है। संसाधन का आधार मुख्य रूप से स्थानीय अर्थव्यवस्था पर तथा राज्य और केन्द्र सरकार द्वारा आबंटित धन पर निर्भर करेगा। परन्तु आज की स्थिति में अर्थव्यवस्था बहुत कमजोर है। भारत में राजस्व संसाधन का केन्द्रीकरण किया गया है, जो कि राज्य एवं केन्द्र सरकार के लिये उच्च स्तरीय पदाधिकारियों के पास जाना पड़ता है। इस प्रकार से, अनुपातिक रूप से संसाधनों को स्थानान्तरित करने के लिये केन्द्र या राज्य सरकार आगे नहीं आ रही है। इस प्रकार अधिकांश संस्थाओं को संसाधनों के अभाव में कार्य करना पड़ता है।

(3) **सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक परिस्थिति**–भारतीय समाज के वर्तमान सामाजिक-आर्थिक संरचना एक प्रमुख कारण है, जो पंचायती राज संस्थाओं के सीमित सफलता के लिये उत्तरदायी है। निस्संदेह यह साबित हो चुका है कि पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित सदस्य और कार्यालय अधिकारी सामान्यता ग्रामीण समाज के धनवान और बलवान वर्ग से होते है। वर्तमान पद्धति को बनाये रखने में उनका निहित स्वार्थ होता है और कमजोर वर्गों के लोगों की स्थिति को मजबूत करने में उन्हें कुछ भी लेना-देना नहीं रहता है। वास्तव में कहा जा सकता है कि ग्रामीण समुदाय के कमजोर वर्ग के लोगों को मिलने वाली सुविधाओं व लाभों को रोकने के लिए पंचायती राज संस्थाओं का नेतृत्व द्वारपाल का कार्य करती है।

(4) **सिविल सेवा की स्थिति**–भारत में जहां तक सिविल सेवा संबंध है, इसमें हम बहुत ही भिन्न और कठिन परिस्थितियां पाते हैं। इससे नौकरशाही को दूर किया जा रहा है और वे इन संस्थाओं से कतराना शुरू कर

नोट

रहे हैं। पंचायती राज संस्थाओं को बिना शामिल किये उनको कई कार्यक्रमों में शामिल किया गया है। ये कार्यक्रम नौकरशाही को समीप से बचाने वाले हो गये तथा प्रतिनिधि संस्था एवं स्थानीय स्वशासी सरकार के रूप में ये पंचायती राज संस्थाओं को नष्ट एवं विफल कर रहे हैं। पंचायती राज संस्थाओं के हस्तक्षेप को सिविल सेवा अधिकारियों के द्वारा अनुग्रहपूर्वक नहीं लिया गया है। यह सिविल सेवा के लयात्मकता के प्रति अग्रसर हुआ है तथा सिविल सेवा के अधिकारियों की भूमिका के सीमांकन के अभाव और भ्रम एवं गलतफहमी को भी बढ़ाया है।

(5) **उच्च राजनीतिक समर्थन का अभाव**–उच्चस्तरीय विशिष्ट वर्ग के लोग सामान्यता निम्न स्तर पर प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को मजबूत करने के लिये राजनैतिक समर्थन नहीं देते है। लोक सभा तथा विधान सभा के सदस्य हर वक्त यह सोचते हैं कि पंचायती राज का नेतृत्व, उनके अपने क्षेत्रों में उनके लिए संकट के रूप में उभरेगा।

(6) **राज्य का नियंत्रण और निरीक्षण**–पंचायती राज संस्थाओं का कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जिस पर राज्य के अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकता है। फलस्वरूप राज्यों में राज्य स्तरपर शासकों ने अनेक वास्तविक और काल्पनिक समस्याओं जैसे संरचनात्मक, कमजोरी, संगठनात्मक दोष, क्रियात्मक त्रुटी, अकुशलता कार्य सम्पादन, पर्याप्त संसाधनों के अभाव इत्यादी को खोज निकाले। तदर्थ उपाय के कार्यवाही के रूप में पंचायती राज संस्थाओं को या तो निलंबित कर दिया गया या हटा दिया गया तथा अवधि की समाप्ति के बाद निर्वाचन को प्राय: स्थगित कर दिया गया।

यह कहना गलत होगा कि पंचायती राज संस्थाएं पूर्ण रूप से असफल हो गयी हैं और उनका कोई भविष्य नहीं है। इस प्रकार के निराशावादी विचार से सभी सहमत नहीं हैं। विषय की वास्तविकता तो यह है कि पंचायती राज संस्थाओं को भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के अग्रणी के रूप में सेवा करने का अवसर नहीं दिया गया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–

1. यह किसने कहा है कि जहाँ राजनीतिक प्रभाव होगा वहाँ पर राजनीतिक दल कम शक्तिशली होंगे तथा जहाँ राजनीतिक दल सशक्त होंगे वहाँ दबाव गुट कमजोर रहेंगे–
   (क) हरमन जाईनर (ख) हैरल्ड डी. लासवेल
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनें से कोई नहीं।
2. जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं–
   (क) प्रशासक (ख) दबाव समूह
   (ग) अध्यक्षीय शासन (घ) इनमें से कोई नहीं
3. अमेरिका में दबाव समूह सरकार का कौन-सा अंग कहलाता है?
   (क) दूरा अंग (ख) चौथा अंग
   (ग) छठा अंग (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. दबाव समूह किन मुद्दों को जुड़े हेते हैं-
   (क) अर्थिक (ख) सामाजिक
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. सामुदायिक विकास आंदोलन का उद्घाटन कब किया गया–
   (क) 1 अक्टूबर, 1952 (ख) 2 अक्टूबर, 1952
   (ग) 3 अक्टूबर, 1952 (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

6. आन्ध्र प्रदेश ने पंचायती राज कब अपनाया था–
   (क) 1954 में (ख) 1956 में
   (ग) 1959 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
7. मंडल पंचायत की आवधारणा किसकी रिपोर्ट पर आधारित है–
   (क) अशोक मेहता (ख) हरमन काईनर
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

30.2 सारांश (Summary)

- समान हितों वाले लोगों का संगठन या संघ दबाव समूह कहलाता है। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों को अधिक से अधिक लाभ और सुविधाएँ प्राप्त करवाना होता है। दबाव समूहों का प्रयास होता है कि वे अपने पक्ष में कानून बनवाएँ। इसके लिए विधायिका, कार्यपालिका आदि पर दबाव डालते हैं।
- व्यक्तिगत गतिविधियों की तुलना में सामूहिक गतिविधियाँ सदैव अधिक प्रभावी होती हैं। अत: लोकतांत्रिक समाज में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे ऐसा समाज के किसी न किसी वर्ग के सामान्य हितों को अभिव्यक्त और उन्हें प्रोत्साहित करके सरकार को प्रभावित करने के द्वारा करते हैं। किसी भी दबाव समूह की उपयोगिता का मापदंड यही होता है कि वह सरकार को कितना प्रभावित कर सकता है। सरकार को प्रभावित करने का अर्थ है सार्वजनिक नीति के निर्धारकों को, विधायकों को तथा नीतियों और निर्णयों को लागू करने वालों को प्रभावित करना आदि।
- दबाव समूह, जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ की भूमिका भी निभाते हैं। वे व्यक्ति के हितों और राष्ट्र के हितों में संतुलन स्थापित करते हैं। सामान्यतया व्यक्तियों के हित संगठित नहीं होते हैं। दबाव समूह, लोगों के हितों को सुनिश्चित आकार देने में योगदान करते हैं। अत: उन हितों का संगठन और उनकी अभिव्यक्ति का कार्य दबाव समूह करते हैं।
- कुछ ऐसे विषय जिन पर लोगों की तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त हो सकती है उनमें शामिल हैं: गैट (GATT), परमाणु परीक्षण, आरक्षण नीति, पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दे, मूल्य वृद्धि, क्षेत्री असंतुलन, ग्राम विकास कार्यक्रम इत्यादि।
- सामूहिक रूप से किया गया कोई भी कार्य हमेशा अच्छे परिणाम देता है। लोकतांत्रिक समाज में दबाव समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी भी दबाव समूह की उपयोगिता की जाँच उसकी सरकार को प्रभावित करने की शक्ति से होती है।
- दबाव समूहों के कार्य करने का तरीका राजनीतिक दलों से पूरी तरह अलग होता है। यह जनमत को अपनी इच्छानुसार मोड़ते हैं और विधायकों और प्रशासकों को समझा-बुझाकर प्रभावित करते हैं।
- जिन देशों में लोकतांत्रिक प्रणाली है वहाँ पर राजनीतिक दलों और दबाव समूहों का काफी प्रभाव रहता है। राजनीतिक दलों और दबाव समूहों की अधिकतर संविधानों में कोई व्यवस्था नहीं है, लेकिन फिर भी राजनीतिक गतिविधियों में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।
- सभी देशों में आमतौर पर दबाव समूहों की स्थापना के पीछे एकसमान कारण होते हैं। इनके कार्य करने की विधियाँ भी लगभग समान होती हैं। अलग-अलग दबाव समूहों की उत्पत्ति अलग-अलग परिस्थितियों में होती है। ये परिस्थितियाँ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक किसी से भी संबंधित हो सकती हैं।
- कौटिल्य ने एक आदर्श काम की रूपरेा प्रस्तुत की है, जिसके अंतर्गत ग्राम का आकार, उसका सीमांकन, दो ग्रामों के बीच की दूरी, पुलिस बल तथा अन्य राजकीय अधिकारियों की तैनाती एवं नियुक्ति के उद्देश्य से ग्रामों के समूह बनाना आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। ग्राम में कई अधिकारी होते थे; जैसे ग्राम में मुखिया, लेखाकार आदि। इन सब अधिकारियों को राज्य को इनके द्वारा दी जाने वाली सेवाओं

नोट

के बदले में कुछ भूमि का स्वामित्व प्रदान कर दिया जाता था तथा उससे वे अपना भरण-पोषण करते थे।

- सन् 600 ईस्वी से सन् 1200 ईस्वी तक, गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद राजनैतिक आधिपत्य के संघर्ष के दौरान अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इसके परिणामस्वरूप स्थानीय निकायों की कार्यप्रणाली में कई ऐसे पड़ाव आये, जिसमें यह व्यवस्था अस्त-व्यस्त स्थिति में रही।
- भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना ने एक राजनीतिक परिवर्तन का संकेत दे दिया था। इस परिवर्तन का अर्थ उस राजनीतिक परिवर्तन में भिन्न और गहरा था जो कि मध्यकालीन हिन्दू राज्यों के मध्य संघर्षों के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। यद्यपि पतन के एक लम्बे समय से विद्यमान अव्यवस्था तथा राजनीतिक अस्थिरता के परिणामस्वरूप विकास में बाधा पड़ी, फिर भी केन्द्रीय स्थानीय सम्बन्धों से सम्बन्धित मूलभूत सिद्धान्तों में राजशाही के परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर नहीं आया।
- सिंचाई व्यवस्था, सड़कों, स्कूलों आदि के निर्माण व रख-रखाव तथा इनको अनुदान देने की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने अपने ऊपर ली थी। कृषि ऋणों का नियंत्रण तथा प्राकृतिक आपदाओं के समय लोगों की दी जाने वाली सहायता की जिम्मेदारी भी केन्द्रीय सरकार ने ली अर्थात् जिन कार्यों से युगों से ग्रामीण पदाधिकारी जुड़े हुए थे, उन कार्यों में से अधिकांश को उनसे छीन लिया गया तथा बाहरी राजकीय अभिकरणों द्वारा सम्पादित करवाया जाने लगा।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष में पंचायती राज के विकास ने एक निर्णायक मोड़ लिया। यह एक विस्तृत आंदोलन का अंग था, जिसने सारे राष्ट्र को प्रभावित किया। कई ऐसे कारण रहे हैं जो भारत में पंचायती राज के उद्‌भव और विकास के लिये जिम्मेदार रहे हैं तथा समय के साथ एक ऐसी नयी संरचना का मार्ग प्रशस्त किया, जो ब्रिटिश शासन काल की अपनी संरचना से बहुत अधिक भिन्न थी।

30.3 शब्दकोश (Keywords)

- **विधायन**–कानून बनाना
- **विधेयक**–कनून

30.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. दबाव समूह का अर्थ स्पष्ट करते हुए आर्थिक नीतियों में इसकी भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. दबाव समूह के क्या तरीके है? दबाव समूह तथा राजनीतिक दल में क्या संबंध है?
3. दबाव समूह का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके प्रकार बताइए।
4. आर्थिक नीति में पंचायती राज के उद्‌भव और भूमिका का वर्णन कीजिए।
5. पंचायती राज के उभरते हुए प्रतिमान को स्पष्ट कीजिए।
6. पंचायती राज का भविष्य एवं समस्याओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. (क)	2. (ख)	3. (ख)	4. (ग)
5. (ख)	5. (ख)	6. (क)	

नोट

30.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. *विकास नियोजन एवं नीतियाँ*– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. *भारतीय अर्थव्यवस्था*– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
3. *भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन*– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in